नैषध-परिशीलन

डॉ॰ चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

मालवी लोक-साहित्य

डॉ० श्याम परमार

१९६९

हिंदुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९६६
मूल्य : ~~बीस रुपये~~ 50=00
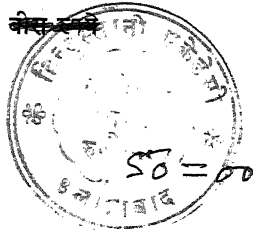
मुद्रक
सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस, दारागंज
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिंदुस्तानी एकेडेमी की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत डॉ० श्याम परमार लिखित "मालवी लोक-साहित्य" शीर्षक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है।

लोक-साहित्य जन-जीवन के मनोभावों तथा संस्कृति का निचाट अभिव्यक्ति होता है। किसी भी देश का सांस्कृतिक इतिहास वहाँ के लोक-साहित्य के माध्यम से लिखा जा सकता है। 'मध्यदेश' की परंपरागत सांस्कृतिक चेतना, जीवन-प्रवाह और जातीय विशेषताओं के अध्ययन के लिए मालव-जनपद के लोक-साहित्य से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। डॉ० श्याम परमार ने इस पुस्तक में मालव-प्रदेश के लोक-साहित्य को मनोयोग तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'लोक' की व्याख्या करते हुए जो निष्कर्ष उन्होंने निकाला है, वह नया होने के साथ-साथ लेखक की अध्ययन-दृष्टि को रेखांकित करता है।

परिशिष्ट में लेखक ने मालवी गीतों और कथाओं के संग्रह के साथ-साथ गीतों की जो स्वर-तालिका दी है, वह निश्चय ही बहुत उपादेय है।

विश्वास है, यह पुस्तक एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगी।

१५ दिसम्बर, १९६९
हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

प्रस्तावना

[अ]

'लोक' की व्याख्या—आधुनिक युग में अध्ययन की नवीन प्रवृत्तियों ने साहित्य-मनीषियों की दृष्टि में 'लोक' की महत्ता निर्विवाद रूप से प्रस्थापित कर दी है। अतएव 'लोक' से संबंधित विषयों का शास्त्रीय पक्ष 'लोक' की सर्वग्राही व्याख्या के अभाव में सर्वथा अपूर्ण है। 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में निश्चित मत उपलब्ध नहीं है, न ही भारतीय एवं पाश्चात्य-भाषाविदों में मतैक्य है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का स्थान के अर्थ में एक प्रयोग मिलता है। वेद—(अथर्ववेद और ऋग्वेद) दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त करते हैं।[1] पर ब्राह्मण-ग्रंथों, वृहदारण्यक एवं वाजसनेयि-संहिता में किसी भेदात्मक स्थिति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

आर्यों के आगमन पर आर्येतर जातियों से मुठभेड़ दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई। परिणाम स्वरूप 'वेद' और 'वेदेतर' अवस्था प्रकट हुई। इससे एक और अर्थ की उद्भावना सहज ही सम्भव हो गई, जिसके अनुसार 'लोक' का दूसरा अर्थ स्पष्टतः वेद-विरोधी (वेदेतर) हुआ। वेद और लोक की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ लोक के स्वतंत्र महत्त्व को क्रमशः समुन्नत किया। किन्तु आज 'लोक' का प्रयुक्त प्रभाव वेदेतर संस्कृति के सीमित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों क्षेत्रों को स्वाभाविक रूप से स्पर्श करने लगी है। आज वह परम्परा का सहेजक एवं अनुभूति का सतत संवाहक है। उसके पास अपने शब्द, भाषा और प्रभावशाली शैली है। जीवन से जुड़े हुए समस्त उपकरणों के लिये उसका अपना सामूहिक व्यक्तित्व है। वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है, वह लोक से अभिन्न है। उसका उत्स 'लोक' ही है। अतएव लोक का महत्त्व सर्वकालीन है। गीता के 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' के द्वारा लोक-शास्त्र तथा लौकिक आचारों का महत्त्व स्पष्टतः मान्य है। अशोक के शिलालेखों में 'लोक' का प्रयोग समस्त प्रजाजनों के हित में हुआ है।[2] बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ 'लोक' मानव मात्र के भावों से भूषित हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त लोकजत्ता

---

[1] ऋ० १०।१४।६, अथर्ववेद ८।६।१, ११।५।७ और ४।३८।५

[2] 'मनुवतर सर्वलोकहिताय' और 'नास्तेहिकम्मतरे सर्वलोकहितप्प।'

(लोक-यात्रा), लोग्रप्पवाय (लोक-प्रवाद) आदि शब्द लौकिक-नियमों (लोक-शास्त्र) की सत्ता स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद में लोक (समाज) की एक विराट कल्पना की गई है। वह पुरुष रूप ईश्वर है। उसके सहस्त्रों मुख, सहस्त्रों नेत्र और सहस्त्रों पद हैं—

सहस्त्र शीर्षा: पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपाद्।[1]

यह 'लोक' अनेक रूपों में परिव्याप्त है—

बहु व्याहितो वा अयं बहुशोलोकः।[2]

अतः 'लोक' जनसाधारण है जिसमें भू-भाग पर उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के मानव-वंश सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं के श्रेष्ठ तत्त्वों से पूरित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नगर एवं ग्राम्य दो भिन्न संस्कृतियों का प्राय: उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है, वही समाज का गतिशील अंग है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है; उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक, राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक, कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक, सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव—यही हमारे जीवन का अध्यात्म-शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[3]

आधुनिक साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर, साधारण जनसमाज जिसमें पूर्व संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित है तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़, किन्तु ठोस रत्न छुपे हैं, के अर्थ में होता है। कदाचित् इसीलिये सामूहिक एकता की प्रवृत्ति उत्पन्न करने के हेतु ऋषियों ने 'संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्'[4] में लोक-कल्याण के सिद्धान्त का अनुभव किया है।

भारतीय-लोक साहित्य इसी क्षेत्र का साहित्य है, जो नवीन प्रवृत्तियों के रूप

---

[1]ऋ० १०।६०; यजु० ३१। [2]जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।२८। [3]सम्मेलन पत्रिका : लोक-संस्कृति विशेषांक, २०१०, पृष्ठ ६५। [4]ऋ० ८ अ० १०, म० १६१, सू० २ ऋचा।

में भावी भारत के लिये मंगल-संदेश लेकर आ रहा है, जो युगों से भगवती भागीरथी की भाँति प्रवहमान होते हुए भी (लोक के भीतर व्याप्त होकर) शताब्दियों से विद्वज्जनों के समक्ष उपेक्षा की वस्तु रहा है, किन्तु अब 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' मंत्र अध्येताओं के लिये नया दृष्टिकोण लेकर आ रहा है। 'यह भूमि माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ' (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः)[1] अथर्ववेद का यह सूक्त आज के मनीषियों की आत्मा में 'लोक' के सन्नैकट्य के प्रति प्रेरणा का संचार कर रहा है। भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। वह युगों से उक्त सूक्त का धारणकर्ता रहा है। अतएव वही लोक-साहित्य की आधारशिला है, वही जेम्सग्रिम के Das Volksdicher (जन-समुदाय) का प्रधान अंग है।

'फोक' एवं लोक—'फोक' (Folk) शब्द की उत्पत्ति Folc से हुई है। यह ऐंग्लो सेक्सन शब्द है, जो जर्मनी में Volk रूप में प्रचलित है।[2] आँग्ल-भाषी प्रयोग की दृष्टि से 'फोक' शब्द असंस्कृत और मूढ़-समाज अथवा जाति का द्योतक है, पर सर्वसाधारण जन एवं राष्ट्र के समस्त निवासियों के लिये भी इसका प्रयोग होता है।[3] अतः इसके संकुचित एवं व्यापक दोनों ही अर्थ उपलब्ध हैं।

हिन्दी का 'लोक' शब्द 'फोक' का पर्यायवाची है। 'जन' या 'ग्राम' यद्यपि 'फोक' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; तथापि अपने सीमित क्षेत्र के कारण उन्हें लोक की व्यापकता के अनुरूप नहीं मानना चाहिये। 'जन' प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पाली ग्रंथों में मानव समाज का बोध 'जन' से ही कराया गया है। इस दृष्टि से 'जन' और 'लोक' में पर्याप्त सप्राणता है। पर प्रयोग और परम्परा के प्रचार में आधुनिक 'फोक' की अनुरूपता के लिये 'लोक' ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिविम्बात्मक है। न केवल इतना ही, बल्कि पूर्व संस्कारों के कारण वह 'फोक' (Folk) से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करता है।

लोक वार्ता : प्रयोग—लोकवार्ता अँग्रेजी के 'फोकलोर' (Folklore) शब्द का पर्यायवाची है। हिन्दी में इसके प्रचार का अधिकांश श्रेय डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल एवं श्रीकृष्णानन्द गुप्त को है। जिस प्रकार 'फोक' का हिन्दी रूप 'लोक' कहीं अधिक विशदार्थी है, उसी भाँति लोकवार्ता 'शब्द' फोकलोअर से अधिक विस्तृत भावों का वहनकर्ता है। 'लोर' (Lore) की व्युत्पत्ति ऐंग्लों सेक्सन lar से हैं जिसका अर्थ है 'वह जो सीखा जाय।' इस प्रकार 'फोकलोर' का शाब्दिक अर्थ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान' है, जो वस्तुतः

---

[1]अथर्व० १२।१।११। [2]ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी, १९२६। [3]वही।

लोकवार्ता का तात्पर्य नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार स्थूलरूप से समाज दो वर्गों में विभक्त है—उच्चवर्ग (सुसंस्कृत) एवं निम्नवर्ग (असंस्कृत)। इसी असंस्कृत वर्ग में लोक की संस्कृति, परम्परागत विश्वास, किंवदंतियाँ, आचार-विचार, गीत, कथाएँ, कहावतें और नृत्यादि मिलते हैं। सभ्य-जातियों में उपलब्ध होने वाले असभ्य जन के इन्हीं विश्वासों, रूढ़ियों, भ्रान्तियों, कथाओं, गीतों और मूढ़भावों आदि का परिज्ञान कर कदाचित् डब्ल्यू० जे० थाम्स ने १८४६ ई० में प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया है।[1] ठीक इसी वर्ष अगस्त मास में विलियम जॉन थाम्स ने एक अन्य नाम से 'फोकलोर' शीर्षक लेख प्रकाशन के लिये प्रेषित किया, जो बाद में यूरोप की अन्य भाषाओं में परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ उद्धृत किया गया। इसी शब्द का वाच्यार्थ 'लोक-ज्ञान' अथवा 'लोक-विद्या' भी है। किन्तु हिन्दी में 'लोकवार्ता' विशेष रूप से प्रचलित है। सन् १९३० में श्री म० म० पोतदार ने मराठी में 'फोकलोर' के लिये 'लोक-विद्या' शब्द सुझाया था,[2] जो अधिक प्रचार में न आ सका। श्री गो० म० कालेलकर ने इसके लिये 'लौकिक-दंत कथा' का प्रयोग किया एवं मराठी के पारिभाषिक शब्दकोष में 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है।[3] 'फोकलोर' के लिये 'लोकवाङ्मय' अथवा 'लोक-साहित्य' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः अनजाने किया जाता है। चूँकि पर्याय का निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है, अतएव समय-समय पर इसी प्रकार के प्रयोग सम्मुख आते रहे हैं। जहाँ तक मराठी का प्रश्न है, श्री चि० ग० कर्वे ने 'लोक-विद्या' शब्द ही प्रचलित करने का आग्रह किया है।[4] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में वैष्णवों के 'वार्ता' संज्ञक (८४ वैष्णवों की वार्ता, घरू-वार्ता आदि) ग्रंथों के अनुरूप 'लोक-वार्ता' पर्याय स्वीकार किया है। भाषाविज्ञानवेत्ता डॉ० भोलानाथ तिवारी के मतानुसार 'लोक-वार्ता' शब्द में अधिक से अधिक 'लोक-कथा' का भाव वहन करने की क्षमता है।[5] (डिंगल में 'वारता' अथवा 'बारता' का प्रयोग कथा के अर्थ में ही होता है) संस्कृत-साहित्य में इसी शब्द का अर्थ 'अफवाह' या किंवदंती है—(संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, द्वारकाप्रसाद शर्मा)। संस्कृत-कोशकार श्री आप्टे ने 'लोक-वार्ता' का अर्थ 'पापुलर रिपोर्ट' या 'पब्लिक रूमर' दिया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी शब्द के लिये 'लोक-

---

[1]इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइन्सेज़, जि० ५, पृष्ठ २८८। [2]लोकविद्या आणि लोक वाङ्मय, सत्यकथा, अक्तूबर १९५२, पृष्ठ ५९। [3]वही। [4]मुंबईची लोकगीतें, प्रसाद, अप्रैल १९५२। [5]सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति अंक), सं० २०१०, पृष्ठ ४३६।

संस्कृति' का प्रयोग किया है[1], जो फोकलोर का पर्याप्त आशय व्यक्त नहीं करता। डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा प्रयुक्त 'लोकायन' (फोकलोर) शब्द के लिये विशेष आग्रह करते हैं।[2] सुनीतिकुमार के शब्दों में "पितृ परम्परागत जीवन-यात्रा की पद्धति जिन सामाजिक अनुष्ठानों, विश्वासों, विचारों तथा वाङ्मय से अपने लौकिक प्रकाश को प्राप्त करती है उन्हें अँग्रेजी में 'फोकलोर' कहते हैं। इस शब्द का भारतीय प्रतिशब्द हमने 'लोकायन' यों बना लिया है।"[3] 'फोकलोर' के लिये वैसे लोक-शास्त्र, लोक-विज्ञान, लोक-परम्परा, लोक-प्रतिभा, लोक-प्रवाह, लोक-पथ, लोक-विधान, लोक-संग्रह, लोक-अयन जैसे नौ शब्दों की ओर डॉ० तिवारी ने संकेत किया है, किन्तु विशेष आग्रह 'लोकायन' के प्रति है।[4]

'लोक-वार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है। नवीन पर्यायों के सुझावों और आग्रहों से 'लोकवार्ता' के प्रति जमी हुई आस्था और भी दृढ़ होती जा रही है। कुछ वर्षों पूर्व श्री कृष्णानन्द गुप्त के सद्प्रयत्नों से प्रकाशित 'लोकवार्ता' त्रैमासिक ने इसकी जड़ें गहरी कर दीं और आधुनिक हिन्दी रचनाओं में इसका निरन्तर प्रयोग इसके अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुआ है। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में 'फोकलोर' के पर्याय के रूप में 'लोक-वार्ता' शब्द ही स्वीकार किया गया है।

लोक-वार्ता : शास्त्रीय स्वरूप—१९वीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने पिछड़ी जातियों के साहित्य के प्रति अन्वेषण-कार्य आरंभ किया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय, भाषा-विज्ञान और भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि नीति-कथासाहित्य का अन्य देशों के कथा-साहित्य से पारस्परिक संबंध आदि की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई। ज्यों-ज्यों भाषाविज्ञान, समाज-विज्ञान, नृतत्व-शास्त्र जैसे विषयों का विकास होने लगा, लोकवार्ता को क्रमशः एक विज्ञान का रूप प्राप्त होता गया। क्योंकि उक्त विषयों की अधिकांश सामग्री लोकवार्ता से ही संबंधित है। लोकवार्ता का स्वतंत्र अस्तित्व है। अतएव वह एक शास्त्र है और उसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन होना चाहिये, यह निश्चित होने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। सन् १८५८ में विल्हेम हेरिच री (Williem Heinrich Rich) ने उक्त सभी विषयों में समन्वय स्थापित कर मनुष्य की भाषा, रहन-सहन, आचार-विचार तथा जाति संबंधी वैशिष्ट्य आदि का उसमें

---

[1]जनपद, खण्ड १, अंक १, पृष्ठ ६६। [2]सम्मेलन पत्रिका, (लोक-संस्कृति अंक), पृ० ४३७। [3]राजस्थानी कहावतां, भाग १ की भूमिका, पृष्ठ ११, कलकत्ता, २००६। [4]सम्मेलन पत्रिका (लोक सं० अं०), पृष्ठ ४३७।

समावेश करने के लिए आग्रह किया। सन् १६०८ में जी० एल० गोमे (G. L. Gomme) ने 'फोकलोर एज ए हिस्टॉरिकल साइन्स' ग्रन्थ लिखकर इस बात का प्रतिपादन किया कि लोकवार्ता का इतिहास स्वतंत्र विषय है, उसके अपने नियम और सिद्धान्त हैं। उसकी मान्यताएँ शास्त्रों की मान्यताओं की तरह अपनायी जानी चाहिये। परिणामत: विद्वानों ने पूर्णरूपेण गोमे की स्थापनाओं का स्वागत तो नहीं किया, किन्तु नृतत्व-शास्त्र के क्षेत्र में लोकवार्ता का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। सन् १६२० में आर०-आर० मरेटे (Marett) लिखित 'सायकोलॉजी एण्ड फोकलोर' शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया कि लोकवार्ता का केवल समाज-शास्त्रीय पक्ष ग्रहण करना एकांगी है, उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाना चाहिये क्योंकि लोकवार्ता निर्जीव विज्ञान नहीं है। वाह्यरूप से इसका अध्ययन जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक इसका आन्तरिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है।

लोक-वार्ता : गतिशील विज्ञान—लोक-जीवन की क्षिप्रा सदैव प्रवहमान रही है। परम्पराएँ धाराओं के वेग में नष्ट नहीं होतीं ; बल्कि वे नये स्वरूपों और आवरणों में प्रकट होकर 'लोक' के मध्य गत्यात्मक बनी रहती हैं। युगों से सजग लोक के भीतर लोकवार्ता की गंगा बह रही है। किसी समय-विशेष में लोकवार्ता का आकस्मिक जन्म नहीं हुआ। वह सर्वकालीन, सर्वदेशीय और सर्वसम्मत है। समग्र रूप से लोकवार्ता लोक-मात्र का विषय है। लोक की अपरिमित शक्ति, साहस, मनोभाव, मान्यताएँ, विश्वास, रागद्वेष, परम्पराएँ, अड़ाके, टोने-टोटके, अनुष्ठान, रीति-रिवाज, गीत-कथाएँ और वेषभूषा आदि संयुक्त रूपेण लोकवार्ता के चैतन्य अस्तित्व की घोषणा करते हैं। बोटकिन ने कहा है—"लोकवार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है, अपितु वह तो हमारे मध्य सत्य और चेतन है। क्योंकि यहाँ भूतकाल को वर्तमान से और पुस्तकहीन समाज को उस समाज से कुछ कहना है, जो अपने ही विषय में पढ़ना चाहता है, जिसका संबंध हमारे मौखिक और लोकतांत्रिक संस्कृति के मूल कलाओं, प्रारूपों और इतिहास के कतिपय अंगों के प्रकाशन से है।"[१]

[१] "फोकलोर इज़ नाट समथिंग फार अवे एण्ड लांग अँगो बट रीयिल एण्ड लीविंग अमंग अस...हीयर दी पास्ट हेज़ समथिंग टू से टू दी प्रेजेण्ट एण्ड बुकलेस वर्ल्ड टू ए वर्ल्ड लाइक्स टू रीड अबॉउट इट सेल्फ, कनर्सानिङ्ग आवर बेसिक, ओरल एण्ड डेमोक्रेटिक कल्चर एज़ दी रूटस् ऑफ आर्ट्स एण्ड एज़ ए साइड लाइट्स ऑन हिस्ट्री।"—अमेरिकन फोकलोर (पॉकेटबुक), भूमिका, पृ० १५।

लोकवार्ता में लोक की परम्परागत भावनाएँ एवं चेतनागत सभी अभिव्यतियों का लेखा-जोखा निहित है। अतः लोकवार्ता केवल प्राचीन अवशेष मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता, वरन् जीवित लोकभावों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है।'

लोकवार्ता का विस्तार—लोकवार्ता के सम्बन्ध में जी० एल० गोमे का कथन है—"लोक-वार्ता लोक के बीच व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों, स्थानों अथवा जिले के निवासियों के रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और विश्वासों पर आधारित है एवं उनके अतिरिक्त और प्रायः राज्य अथवा देश, जिसके कि लोग अथवा लोक-समूह सहवासी होते हैं—के स्वीकृत रिवाजों, अनुष्ठानों और मान्यताओं के निश्चित विपक्ष से भी सम्बन्धित हैं।"[1] लोकवार्ता के विस्तार के संबंध में सी० एस० बर्न के उद्धरण का अनुवाद डॉ० सत्येन्द्र ने इस प्रकार किया है —"यह एक जाति बोध शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, कहावतें तथा गीत आते हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के संबंध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के संबंधों के विषयों में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग और मृत्यु के संबंध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी, विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज, अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं। धर्मगाथाएँ, अवदान (लीजेंड) लोक-कहानियाँ, साके (वैलेड) गीत, किंवदंतियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेपतः लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ आ सकती हैं, वे सभी इसके क्षेत्र में हैं। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोकवार्ताकार को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं जो किसान हल को भूमि जोतने के काम में लेने के समय करता है। जाल अथवा वंशी की

---

[1] "फोकलोर कन्सिस्ट्स ऑफ़ कस्टम्स, राइट्स, एण्ड बीलिफ्स बिलांगिंग टू इण्डीविज्युअल्स अमंग दी पीपुल, टू ग्रुप ऑफ़ पीपुल, टू इनहेबिटंट्स ऑफ़ डिस्ट्रीक्टस ऑर प्लेसेज; एण्ड बीलांगिंग टू देम अपार्ट फ्राम एण्ड ऑफन टाइम्स इनडेफीनेट एण्टागोनिज़्म टू दी एक्सेप्टेड कस्टम्स, राइट्स एण्ड बीलिफ्स ऑफ दी स्टेट ऑर नेशन टू विच दी पीपुल ऑर दी ग्रुप ऑफ पीपुल बीलांग"—इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, खंड ६, पृ० ५७, १६३७।

बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है; पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं, वरन् वह बलि, जो उसके बनाते समय दी जाती है और उसको उपयोग में लाने वालों के विश्वास। लोकवार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है; वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषध के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।"[१]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—"लोकवार्ता एक जीवित शास्त्र है। लोक का जितना जीवन है उतना ही लोकवार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीनों क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोकवार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है।"[२]

लोकवार्ता में पारस्परिकता एवं मौखिकता के लक्षण प्रधान हैं।[३] लोगों की स्मृति में सदैव सन्निविष्ट होने के कारण तुरन्त ही मुँह से उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है।[४] इसीलिये लोकवार्ता में संरक्षित सब प्रकार की प्रथाओं, अनुष्ठानों तथा विश्वासों को प्रागैतिहास-काल की महत्त्वपूर्ण सामग्री स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। तथा यह सामग्री निश्चित ही भूगर्भ-शास्त्र एवं पुरातत्त्व के बाहर की वस्तु है।[५]

लोकवार्ताविषयी-तालिका पर्याप्त विस्तृत है। बर्न ने उन्हें तीन प्रधान समूहों में विभक्त किया है—

(१) वे विश्वास, आचरण और अभ्यास जो नीचे लिखी वस्तुओं से जुडे हैं—

पृथ्वी और आकाश; वनस्पतिजगत्; पशुजगत्; मानव, मनुष्यनिर्मित वस्तुएँ, आत्मा तथा दूसरे जीवन, परा-मानवी व्यक्ति, शकुन-अपशकुन, भविष्यवाणी, आकाशवाणी; जादू-टोनों तथा रोगों एवं स्थानों की कला।

---

[१]ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४-५। [२]पृथिवी पुत्र, पृष्ठ ८५। [३]डिक्शेनरी ऑफ लिटरेचर—ए० डी० शीपले (Shipley), पृष्ठ २४४। [४]स्टैण्डर्ड डिक्शेनरी ऑफ़ फोकलोर, मइथोलॉजी एण्ड लीजेण्ड, पृष्ठ ४४। [५]"आल दी कस्टम्स, ऑल दी राइट्स एण्ड ऑल दी बीलिफ्स, सर्वायविंग इन दी फोकलोर ऑफ़ ए पीपुल मेकअप ए कन्सीडरेबल चेप्टर इन दी प्री हिस्ट्री ऑफ़ देट पीपुल, ऑर इण्डीड दी ओनली मटेरियल विच एग्ज़िस्ट फार प्री हिस्ट्री आउट-साइड जियालॉजिकल एण्ड आर्क्योलॉजिकल रेकार्ड"—इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रीलिजन एण्ड एथिक्स, खंड ६, पृ० ५६।

(२) रीति-रिवाज—

सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ; व्यक्तिगत जीवन के अधिकार; व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग; तिथियाँ, व्रत तथा त्योहार; खेलकूद तथा मनोरंजन।

(३) कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—

कहानियाँ—(अ) जो सच्ची मानकर कही जाती हैं; (आ) जो मनोरंजन के लिये होती हैं।

सभी प्रकार के गीत।

कहावतें तथा पहेलियाँ—पद्यबद्ध कहावतें तथा शास्त्रीय कहावतें।[1]

अतएव मोटे रूप में लोकवार्ता के विषयों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) लोक-गीत, लोक-कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि ; (२) रीति-रिवाज, त्योहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि; (३) जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत संबंधी विश्वास आदि; (४) लोक-नृत्य, लोक-नाट्य तथा आंकिक अभिव्यक्ति; (५) बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल, तथा गीत आदि।

इस प्रकार लोकवार्ता की गठन उसके मूल स्वरूप में विद्यमान है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले परिणामों में मतभेद होते हैं।[2]

लोक-साहित्य—लोकवार्ता का क्षेत्र बहुत व्यापक है और स्पष्ट है कि लोक-साहित्य उसका एक अंग है। जहाँ मानव के विभिन्न आचारों और विचारों का स्पर्श लोक-साहित्य से होता है वहाँ तक लोकवार्ता के अन्य विषय लोक-साहित्य के लिए सहायक होते हैं।

लोक-साहित्य, लोकवार्ता का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का गद्य एवं पद्य वाङ्मय आता है। इसका विस्तार इस प्रकार होगा :—

---

[1]हैण्डबुक ऑफ फोकलोर, पृ० ४। [2]"दी यूनिटी ऑफ फोकलोर एग्ज़िस्ट इन इट्स ओरिजिन दी डिफरेन्स एग्ज़िस्ट इन दी रिजल्ट वी डिराइव्ह फ्राम इट"—इन्साइक्लोसीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, खंड ६, पृष्ट ५७।
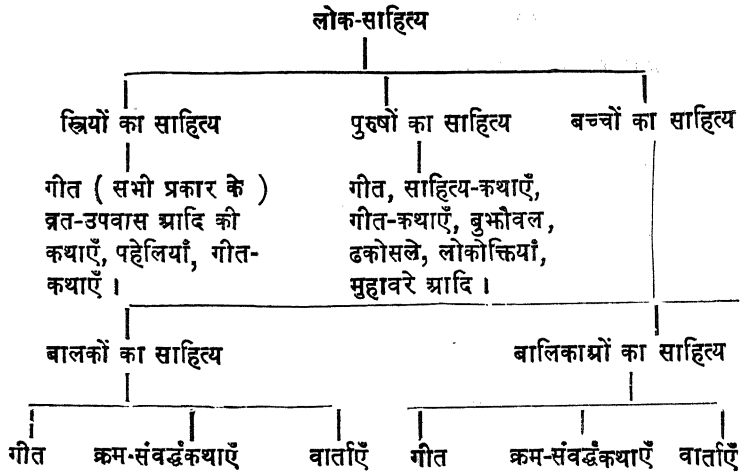
कतिपय विद्वानों का कथन है कि यह साहित्य मौखिक होता है, अतः इसे 'साहित्य' की संज्ञा न देते हुए वाङ्मय कहा जाना चाहिये। महाराष्ट्र के स्वर्गीय वि० का० राजवाड़े ने 'साहित्य' की अपेक्षा 'वाङ्मय' शब्द ही अधिक पसन्द किया है, जिसे केवल 'लोक' के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना उनका दृष्टिकोण था। ज्ञानेश्वरी की टीका करते हुए उन्होंने लिखा था कि "प्रान्तीय, जातीय और अपभ्रष्ट लोक-कथाएँ, गीत, पवाड़े, लावनियाँ, कहावतें आदि वाङ्मय की सही-सही खोज होना अभी शेष है।"[१] एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है—"स्त्रियों की कहानियाँ व बालकों के सो जाने पर बैठकर गायी जाने वाली ओवियाँ, 'सारस्वत' के धागे हैं। स्त्रियों के गीत, कहानियाँ, और ओवी आदि सभी प्रकार के समाज में सभी अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं।"[२] इससे स्पष्ट है कि 'सारस्वत' शब्द उस कोटि में नहीं आता जिसमें वाङ्मय लिखा गया है।

निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति—लोक-साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता। उसके पीछे परम्परा होती है, जिसका संबंध समाज से भिन्न नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक है। व्यक्ति से रहित समानरूप में समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियाँ लोक-साहित्य की श्रेणी में आती हैं। लोक के सहज मनोभावों से उसका संबंध है।[3] जहाँ तक लोकवार्ता और लोक-साहित्य का संबंध है, लोक-साहित्य का कुछ अंश ही उसके क्षेत्र में

---

[१]ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ १४। [२]महराष्ट्र सारस्वत "(भाग दो), पृष्ठ २७६। [3]नेचुरल एक्सप्रेशन ऑफ दी पीपुल्स स्प्रीट...ओरिजिनेटिंग अमंग दी पीपुल।"—आक्सफोर्ड क्लासिकल डिक्शनरी, पृष्ठ ३६६।

आता है। ऐसा साहित्य भी है जो उसके बाहर है। लोकवार्ता में केवल वही साहित्य समाविष्ट होता है जो लोक की आदिम परम्परा को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखता है। अतः इस लोकवार्ता का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि इनमें सुरक्षित उन परम्पराओं की है, जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इस साहित्य को हम आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों का कोष कह सकते हैं। इस प्रकार लोक-साहित्य की व्याख्या करने में जब यह विदित हो कि उसके मूल में किसी आदि भौतिक-तत्त्व का ही प्रतिबिम्ब है, कि आदिम मानव ने सूर्य और अन्धकार के संघर्ष को अथवा सूर्य और उषा के प्रेम को अथवा साहचर्य को ही विविध रूपकों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है, तो उसका यह रूप धर्मगाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह कि लोक-साहित्य का वह अंश, जो रूप में प्रकटतः तो होता है, कहानी पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है, किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जिसे साहित्यस्रष्टा ने आदिमकाल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है—वह धर्मगाथा कहलाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त समस्त कथा तथा गीत-साहित्य भी लोक-साहित्य कहलाता है।[1]

वैदिक भाषा एवं लोक-भाषा—लोक-भाषा और साहित्य की भाषा में सदैव ही अन्तर रहा है। वेदों की भाषा तद्कालीन साहित्य की भाषा—काव्य-भाषा है। तद्कालीन साहित्य-भाषा से तात्पर्य उस काल की भाषा से है जिस समय वेद लिपिबद्ध किये गये। अतएव उसका उपलब्ध स्वरूप साहित्यिक एवं ग्रांथिक है। जिस समय वेदों की रचना हो रही होगी और वे श्रुति-सम्मत रहे होंगे, उस काल की लोक-भाषा अथवा लोक-काव्य की भाषा वेदों की उपलब्ध भाषा से (जिसमें वे लिपिबद्ध हैं) कुछ शिथिल अवश्य होगी। आर्यों की तद्कालीन सामाजिक एवं यायावरी अवस्था के परिणामस्वरूप सूत्रबद्धता का अभाव निश्चित रूप से उस काल की भाषा पर परिलक्षित होता है। इसलिये उस युग की भाषा में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूपों का उपलब्ध होना आश्चर्य की वस्तु नहीं है। ऋग्वेद में शब्दों का यह रूप-बाहुल्य-पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। प्राकृत में यह बाहुल्य अधिक उपलब्ध होता है। इसका कारण यही है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के जनसमूह एक-दूसरे के सन्निकट बसते रहे।[2] वर्तमान युग

---

[1]ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५-६। [2]महाराष्ट्र शब्दकोष (चौथा भाग), प्रस्तावना, पृष्ठ, ७; सन् १९३५, पूना।

में भी भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के पड़ोस में निवास के कारण इस प्रकार की भाषागत रूपविविधता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

अतः वेदों की भाषा तद्कालीन अथवा वेद पूर्वीय सामान्य लोकभाषा का सुसंस्कृत रूप है, ऐसा कहा जा सकता है। आधुनिक लोक-गीतों में जिस प्रकार एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं, उसी प्रकार उस युग की भाषा में लोकभाव होने के कारण रूपभेद द्रष्टव्य हैं। उच्चारण-भिन्नता भी ध्यान देने योग्य है। संहित स्वरों का असंहित उच्चारण करने की प्रवृत्ति वर्तमानयुग में पर्याप्त मात्रा में अनुभव की जाती है। वैदिक भाषा में स्वरों के जो असंहित उच्चारण शेष हैं, उनमें 'तितउ', 'प्रउग' जैसे कुछ बोलचाल के शब्द उस स्वरूप के मध्य में आ जाते हैं। इसके पूर्व की अवेस्ता भाषा में भी असंहित स्वर अधिक ग्रंथों में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, अवेस्ता अएईब्यो = सं० एभ्यः, अवे० दएव = सं० देव, अवे० पइरि ददहुत्ति, अवे० पओऊर्वीम् = सं० पौर्व्वीम्; यही पद्धति हमें प्राकृत में भी मिलती है।[1]

वैदिक वाङ्मय में प्राकृत के कतिपय रूप दृष्टिगत होते हैं जिनसे प्रकट है कि उस युग की ग्रांथिक भाषा पर तत्कालीन लोकभाषा का प्रभाव पड़ता रहा है। ऋग्वेद की गाथाओं को यद्यपि मूल लोकगीत नहीं कहा जा सकता तथापि यह संभव है कि तद्कालीन प्रचलित लोकगीतों का परिष्कृत रूप उनमें आ गया हो। अतएव यह निश्चित है कि इस प्रभाव के कारण वेदों में हमारे पूर्वैतिहासिक एवं सामाजिक गतिविधियों के साथ जन के स्पन्दन संचित हैं।

गाथाएँ एवं प्राचीन लोकगीत—ऋग्वेद की ऋचाएँ सामूहिक हर्ष और विषाद की व्यंजना करती हैं। उनमें प्रकृति के साथ लोकजीवन के ऐसे चिरपरिचित चित्र प्राप्त होते हैं जिनकी अनुरूपता लोकगीतों में प्रायः देखने में आती है। लोकगीतों के अनेक तत्त्वों से युक्त ये ऋचाएँ अथवा गाथाएँ लोक-भावना की सतत परम्परा से अपनी कड़ी मिलाती हैं। श्रम करते समय कुछ ऋचाएँ गायी गई हैं। सपत्नी पीड़ित नारी के ओषधि खोदते हुए गाने का उल्लेख श्रम से सम्बन्धित है—

इमां खनाम्योषधिं वीरूधं बलवत्तमाम्।
यथा सपत्नीं वाधते यथा संविन्दते पतिम्।[2]
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नी मे पराधम पति मे केवलं कुरु॥[3]

---

[1]महाराष्ट्र शब्दकोष, पृष्ठ ८। [2]ऋ० ८। १०। १४५। १। [3]वही ८। १०। १४५। २।

परवर्ती गीतों अथवा पदों में जो टेक की परिपाटी मिलती है, वह ऋग्वेद में भी पायी जाती है। जहाँ गायन के साथ इस प्रकार की टेकों की पुनरावृत्ति मिलती है, वहाँ पङ्क्ति-छंद का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के १०वें मंडल के ८६वें सूक्त में इन्द्र, वृषाकपि तथा इन्द्राणी के कथोपकथन में टेक है, 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। इन्द्र जब स्वयं कथन करते हैं तो उत्तर में वह भी यही कहते हैं। दूसरा स्वरूप है जिसमें कवि प्रत्येक ऋचा के अन्त में टेक दुहराता है।

वैदिक साहित्य में पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि उत्सवों पर मनोहारिणी गाथाओं के गाने के उल्लेख प्राप्त हैं। मैत्रायणी संहिता[1] में विवाह के गीत-गाने की विधि का निर्देश है। पारस्कर गृह्यसूत्र[2] में वीणा पर गाथाओं के गाने के प्रमाण मिलते हैं। अश्वलायन गृह्यसूत्र[3] में भी सीमन्तोन्नयन के समय गाथाएँ गाने की पद्धति का उल्लेख किया गया है। अवश्य ही ये गाथाएँ लोकगीतों के परिष्कृत रूप में रही होंगी। आर्यों की लोक-भाषा, ऋषियों के संस्कार से इन गाथाओं में परिमार्जित होकर रूपबद्ध हो सकी है। क्या इस काल की भाषा पर अनार्यों की भाषा का प्रभाव नहीं पड़ा होगा ? इस प्रश्न के साथ ही युगों से चले आते हुए सांस्कृतिक एवं संस्कारगत आदान-प्रदान के क्रम का चित्र सामने आ जाता है जिससे यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि अवश्य ही अनार्यों के लोक-साहित्य ने वैदिक-साहित्य पर अपना प्रभाव छोड़ा होगा जिसका अध्ययन किया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण एवं श्रीमद्भागवत (दशम स्कन्ध) में जन्म के प्रसंग पर स्त्रियों द्वारा सामयिक गीतों के गाने के वर्णन आये हैं। श्रम के साथ गीतों के गाने की प्रवृत्ति मानवमात्र में स्वाभाविक रही है। १२वीं शताब्दी की कवयित्री विजका ने धान कूटने वाली स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

> विलासमसृणोल्लसन्मुसल-लौलदोः कन्दली-
> परस्परपरिस्खलदवलयनिःस्वनोद्बन्धुराः ।
> लसन्ति कलहुङ्कृतिप्रसभकम्पितोरः स्थल-
> त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनी-गीतयः ॥

"धान कूटने वालियों का गाना बड़ा ही मनोहर है। वे बड़े ढंग के साथ मूसल हाथ में लिये हुए हैं। मूसल के उठाने तथा गिराने के कारण चूड़ियाँ बज

[1] ३।७।३। [2] १।७। [3] १ अ०, १२ खण्ड।

रही हैं। उन चूड़ियों के शब्द से वह गान और भी मनोहर हो गया है। जब वे मूसल गिराती हैं, उस समय उनके मुँह से हुंकार निकलता है और हृदय-कम्पित हो जाता है। वह गान का गमक बनता है।"[1]

वैदिक साहित्य में उपलब्ध गाथाएँ भारतीय लोकगीतों की प्राचीन (पूर्वैतिहासिक) परम्परा की सीमा तक संवाहक हैं। गाथाएँ वस्तुतः गेय पद हैं। कण्वइन्द्रस्य गाथया (८।३२।१) अथवा ऋग्वेद की कुछ अन्य गाथाएँ (८।७१। १४, ८।९८।९ एवं ९।९९।४) इस अर्थ की द्योतक हैं। गाने वाले के लिये गाथिन् शब्द का व्यवहार प्राप्त है (ऋ० १।७।१, 'इन्द्रमिद गाथिन् वृहत्')। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१८) में गाथा की उत्पत्ति मानुषी बतायी गयी है जो ऋक् से भिन्न है। इसीलिये गाथाएँ मंत्रवत् व्यवहृत नहीं होती थीं, क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा रची गईं थीं। निरुक्त (४।६) में गाथाओं को ऋचाओं के साथ इतिहास का पोषक बताया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे हम आजकल लोकगीतों में लुप्त इतिहास के निबद्ध होने का अनुमान करते हैं।

महाभारत (आदिपर्व ७४ अ०, ११०-११३), ऐतरेय ब्राह्मण (८।४) एवं शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४) में गाथाओं का निर्देश है। अतएव गाथाएँ किसी सुकृत को लक्ष कर कही जाने वाली प्रचलित गीत ही थीं, जिन्हें संभवत परिष्कृत कर ऋषियों ने अपना लिया हो। यही कारण है कि उन्हें लौकिक ही बना रहने दिया गया, मंत्र की प्रतिष्ठा नहीं दी गई। यजुः और साम से पृथक् एवं रैभी और नाराशंसी से अलग उन्हें स्वीकार किया गया।

हाल की गाथा सप्तशती (तीसरी शताब्दी) असंख्य गाथाओं में से चुनी हुई उत्तम गाथाओं का संग्रह हैं। एक गाथा के अनुसार कवि-वत्सल हाल ने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर इन सात-सौ पद्यों का संग्रह किया था। एक मज़ेदार कहानी में तो यह भी कहा गया है कि सरस्वती के वरदान से हाल के राज्य का प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दिन के लिये कवि हो गया था और सबने अपनी कविताएँ हाल को दी थीं।[2] संभवतः लोगों की ये कविताएँ लोक-प्रचलित मुक्तक ही होंगीं जिन्हें हम लोकगीतों से अभिन्न कह सकते हैं। आज के 'दूहा', 'दोवल' या दोहा की पूर्वजा ये ही गाथाएँ हैं। 'गाथा-सप्तशती' में तद्कालीन लोक-जीवन का सजीव वर्णन मिलता है, जिसमें लोक-साहित्य के अपरिमित तत्त्वों का समावेश हैं। जो प्रसंग और अवसर गाथाकार ने चुने हैं, वे प्रायः सभी लोक-गीतों के स्रष्टाओं की दृष्टि में आते हैं। सुसंस्कृत एवं बौद्धिक व्यक्ति की दृष्टि

---

[1]अनु०—कविता-कौमुदी (५ वाँ भाग), पृष्ठ १३-१४। [2]डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिन्दी साहित्य का आदिकाल ; पृष्ट ५५।

से भिन्न होकर गाथाकार की दृष्टि लोक-गायकों के मानस के अधिक सन्निकट है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लोक-साहित्य के प्रश्रय की परम्परा बराबर बनी रही। एक ओर संस्कृत के कवियों ने सुसंस्कृत काव्य-परम्परा का निर्वाह किया तो दूसरी ओर अनपढ़ सिद्धों और संतों ने लोक-भाषा का आश्रय लेकर लोक-साहित्य की प्रवृत्तियों के अनुरूप लोक-काव्य की सृष्टि की। हेमचन्द्र के व्याकरण में संग्रहीत दोहे इस बात का आभास दिलाते हैं। वररुचि और गुणाढ्य को अनेक अंशों में लोक-साहित्यकार माना जा सकता है। गुणाढ्य को विंध्याचल पर्वत के क्षेत्र का लोक कथा-संग्राहक और वररुचि को स्त्रियों के परम्परागत गीतों को एकत्र करके उनके आधार पर परिष्कृत रचनाएँ अथवा उनका काव्य-संस्कार करने वाला कवि कहा जा सकता है। कथासरित्सागर ने वररुचि के गौरव की रक्षा की है। उसकी एक आख्यायिका के अनुसार वररुचि को गुणाढ्य के गुरूपद का सम्मान प्राप्त हैं। हेमचन्द्र के ग्रन्थ के आठवें सर्ग में ऐसी कथा का उल्लेख आया है, जो न केवल सरित्सागर और जैन-परम्परा की कथा में निहित परस्पर भिन्न स्वरों की द्योतक है अपितु नये निष्कर्षों की ओर भी इंगित करती है।[1]

कथा इस प्रकार है कि मगध के नन्दवंशी अंतिम राजा का मंत्री शकट जैन-धर्मावलम्बी था। एक समय वररुचि नामक ब्राह्मण नन्द के दरबार में आया और उसने अपने द्वारा रचित एक सौ आठ वृत्त राजा को सुनाये। शकट ने उसे असत्य बोलने वाला घोषित कर प्रशंसा नहीं की, अतएव राजा ने वररुचि को पारितोषिक प्रदान नहीं किया। वररुचि शकट की पत्नी के पास गया और अपनी रचनाएँ सुनाकर उसे प्रसन्न किया तथा यह निवेदन किया कि वह अपने पति से कहकर उसे किसी तरह राजा द्वारा सम्मानित होने का अवसर दिला दे। पत्नी ने वररुचि के हेतु शकट के सम्मुख हठ धारण किया। शकट ने किसी तरह यह स्वीकार कर लिया। जब वररुचि पुनः राजा के दरबार में पहुँचा तो काव्यपाठ की प्रशंसा करते हुए शकट ने इतना भर कहा—'अहो सुभाषितमिति' (उत्तम कहा)। राजा ने वररुचि को पुरस्कृत किया। पुरस्कार का यह क्रम जब नित्य चलने लगा तो शकट ने आपत्ति की। राजा ने कारण पूछा। शकट ने कहा कि यह आपके सम्मुख दूसरे की काव्यरचनाओं को अपनी बताकर पाठ करता है—'एतत्पठितकाव्यानि पठन्ति बालिका अपि।'

---

[1]देखिए, डॉ० दुर्गाभागवत का लेख 'लोकगीतांचा प्राचीन प्रचारक वररुचि' सह्याद्रि मासिक, खण्ड ३७, अंक १।

अतः महाराज मैंने तो 'काव्यानि परकीयाणि प्राशंसिषमहं तदा' (मैंने दूसरे के काव्य की प्रशंसा की है और फिर ये गीत तो मेरी पुत्रियाँ भी गाती हैं। शकट का प्रयोग सफल हुआ और वररुचि का नियमित पुरस्कार बन्द हो गया।

कथा का उत्तरार्ध भी वररुचि की लोक-काव्यसंग्राहक वृत्ति पर प्रकाश डालता है। डॉ० दुर्गाभागवत ने इस सम्पूर्ण कथा को उद्धृत करते हुए कतिपय निष्कर्ष प्रकाशित किए हैं।[1] हेमचन्द्र ने जिस शब्द का भाषानुवाद परकीय काव्य किया है, वह शब्द वस्तुतः 'लोककाव्यानि' है। उक्त कथा से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—शकट ने अपनी कन्याओं द्वारा वररुचि के काव्य को असत्य प्रमाणित करने की जो योजना बनाई थी वह सफल इसलिए हो सकी कि वह काव्य, लोक-प्रचलित काव्य का परिष्कृत स्वरूप था। अतः उनका स्मरण रखना कन्याओं के लिये कठिन न था।

२—जैनधर्मावलम्बी शकट की चेष्टाओं में वैदिक प्रथाओं के विरोध का स्वर था। यह विरोध वररुचि के इस प्रसंग द्वारा प्रकट होता है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय का आधार लोक व्यापी था तथापि पण्डितों द्वारा वररुचि का यह प्रयोग अप्रशंसित हुआ।

३—वररुचि के प्रयत्नों से ही कदाचित् कवि-सम्प्रदाय में लोकप्रचलित छन्दों का प्रवेश हुआ।

यह निर्विवाद है कि लोकभाषा का साहित्य प्रत्येक युग में रहा है। राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि राजदरबार में लोकभाषा के कवियों का आदर होता था। क्या वे कवि लोकगीतों के ढंग पर रचना करने वाले नहीं हो सकते? संस्कृत की रूढ़प्रवृत्तियों से सभी परिचित थे। कदाचित् इस सत्य का साक्षात्कार कबीर ने 'कबिरा संस्कृत कूपजल भाषा बहता नीर' और विद्यापति ने 'देसल बअना सब जन मिट्टा' कहकर किया है। सूर, विद्यापति, चंडीदास आदि कवियों की रचनाएँ लोकभाषा में हैं पर उनके परिष्कृत रूप का आधार लोकगीत ही प्रतीत होता है। "इसके पूर्व निश्चय ही लोक-मुख में ऐसी अनेक गीतियाँ काफी प्रचलित रही होंगी।"[2]

बौद्धवाङ्मय में लोकसाहित्य का स्वरूप—लोकसाहित्य की दृष्टि से बौद्ध-वाङ्मय भी उल्लेखनीय है। 'दीग्घनिकाय' और 'मज्झिम निकाय' के अंशों

---

[1]डॉ० दुर्गाभागवत का लेख, 'लोकगीतांचा प्राचीन प्रचारक वररुचि' सह्याद्रि मासिक खण्ड ३७ अंक १। [2]हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १२१।

में भी अनेक गेय सूत्र हैं। त्रिपिटक में भी गाथामय अंश है। प्राचीन आचार्यों द्वारा गेय सूत्र गाथा ही कहे गये हैं। बौद्ध-वाङ्मय में प्राप्त होने वाली गाथाएँ पाली में हैं। अनेक गाथाएँ ऐसी भी हैं, जो बुद्ध के उपदेशों से अलग ग्राम्य जीवन के चित्र प्रस्तुत करती हैं। उनमें निरन्तर चलने वाली टेक, उपकरण और वर्णन-शैली लोकगीतों की परम्परा का स्पर्श करते हैं। यह द्रष्टव्य है कि पाली में प्रयुक्त छन्द वैदिक हैं और वैदिक छन्द अक्षर छन्द हैं। मात्रिक छन्द सबसे पहले पाली में ही पाया जाता है। पाली का परमप्रिय वैतालीस छन्द मात्रिक है जिसमें धनियगोप के संवाद उपलब्ध हैं। धनिय की उक्तियाँ लौकिक हैं और उनमें लोकगीतों का सा प्रभाव मिलता है।

महानदी के तीर पर कुटिया छवाकर गोप अपने कुदुम्ब के साथ रहता है। वर्षा का समय है, वह कहता है—

पक्कोदनो दुद्धखीरोऽहमस्मि
अनुतीरे महिया समान वासो।
छन्ना कुटि अहितोऽगिनि
अथ चे पत्थयसी पवस्य देव ॥ १ ॥
गोपी मम अस्सवा अलोला
दीघरतं संवासिया मनापा।
तस्सा न सुणामि किंचि पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्य देव ॥ २ ॥
अत्ते वेतनमतोऽहमस्मिऽइति धनियगोपो
पुत्ताच मे समानिया आरोगा।
तेसं न सुणामि किंची पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्य देव ॥ ३ ॥
अस्थि वसा अस्थि धेनुपा
गोधरणियो पवेणियौऽपि अत्थि।
उस भोऽपि गवं पती च अत्थि
अथ चे पत्थयसी पवस्य देव ॥ ४ ॥[1]

अर्थात् "भात पका है। दूध दूह लिया है। महीनदी के किनारे अपनों के साथ रहता हूँ। कुटिया छा ली है। आग रख ली है। अब देव, बरसना चाहो, तो बरसो" ॥ १ ॥

---

[1]सुत्तनिपातो उरगवग्गो धनियसुत १-२ १। वही, १-२ ५। वही १-२ ७। वही १-२ ६।

—"मेरी ग्वालिन मेरी बात मानने वाली है। वह चंचलता रहित है। वह बहुत दिनों से साथ रहो है, वह सुन्दर है, (फिर भी) उसकी कोई बदनामी सुनाई नहीं देती। अब देव, बरसना चाहो तो बरसो" ॥ २ ॥

—"अपना काम अपने आप कर जी रहा हूँ। मेरे पुत्र मेरे साथ हैं। उन्हें कोई रोग नहीं है। उनकी बदनामी भी नहीं सुनी। अब देव, बरसना चाहो, तो बरसो" ॥३॥

—"ऐसी गौवें हैं जिनके बछड़े काढ़े नहीं गये हैं (हल आदि में), ऐसी गौवें भी हैं देव जिनके बछड़े दूध पी रहे हैं, ऐसी गौवे भी हैं जो गाभिन हैं, ऐसी गौवें भी हैं जो बहिला हैं। गोपति साँड भी हैं। अब देव, बरसना चाहो, तो बरसो" ॥४॥

थेरीगाथा के विसतिनिपाती में अम्बपाली के संबंध में गाथाएँ हैं। उसमें 'सच्चवादि वचनं अञ्ञथा'[1] अर्थात् सत्यवादी का वचन मिथ्या नहीं होता की टेक दुहराई गई है। उसमें भी लोकगीत-सा प्रभाव है।

जातककथाओं की आत्मा लोकोन्मुखी है। उनमें लोकप्रचलित कथाओं का आधार ग्रहण कर उपदेश का उद्देश्य पूर्ण किया गया प्रतीत होता है।

अपभ्रंश एवं जैन साहित्य में लोककाव्य का स्वरूप—अपभ्रंश के चरितकाव्यों के प्रति जैसे कि 'कथा' संज्ञा का प्रयोग किया है, वह वस्तुतः परम्परागत कथा के तत्वों को ग्रहण किये है, किन्तु "विशिष्ट अर्थं में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[2]" कीर्तिलता को 'कहाणी' (कहानी) और रासो को 'कीर्तिकथा' कहे जाने के जो प्रमाण मिलते हैं वे चरितकाव्य के साहित्य रूप में अवस्थित लोककाव्य के द्योतक हैं। 'बृहत्कथा' को तो हम लोककथाओं का संग्रह कह सकते हैं और निश्चय ही गुणाढ्य इस प्रकार लोककथा संग्राहकों की श्रेणी में अग्रणी है। काव्यालंकार के रचनाकार रूद्रट ने तो यह स्पष्ट लिखा है कि केवल संस्कृत में कथाएँ गद्य में लिखी जायें और अन्य भाषाओं में वे पद्य-बद्ध की जावें। ये अन्य भाषाएँ अवश्य ही संस्कृत-भिन्न अपभ्रंश (लोक-प्रचलित) भाषाएँ होनी चाहिये। यह बात नवीं शताब्दी के लगभग कही गई है। रूद्रट का संकेत गाथाओं में कथाएँ कहने की ओर था। लोकगीतों में गीतकथाओं की प्रवृत्ति का इससे गहरा संबंध है। वास्तव में लोककाव्य का यह लक्षणीय प्रभाव कहा जा सकता है जो तत्कालीन साहित्य पर पड़ा है। गुणाढ्य ने वृहत्कथा पद्य में लिखी थी या गद्य में, यह

---

[1] थेरीगाथा १३, विसतिनिपाती, २५२। [2] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ५२।

विवादास्पद है, पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि "मूल कथा पद्यबद्ध थी और वहीं से प्राकृतभाषा या लोकभाषा में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है।"[1]

इस प्रकार लोकगीतों में प्रश्नोत्तर प्रणाली से जो बात कही जाती है उसके प्रमाण भी अपभ्रंश की कथाओं और गाथाओं में दीख पड़ते हैं। संवादात्मक प्रणाली लोक की देन है। कीर्तिलता में भृंग और भृंगी, रासो के कुछ स्थलों में—विशेष रूप से चन्द और उसकी पत्नी एवं शुक-शुकी के संवाद द्रष्टव्य हैं। जैन-साहित्य के 'हियालिएँ' और 'पहेलिकाएँ' लोक-परम्परा की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। रास, सज्झाया आदि भी जैनकवियों द्वारा रचे गये। उनमें प्रचलित लोकगीतों की ढालबद्धता पायी जाती है। 'उमादे भठियाणी' का गीत, 'फतमल का गीत' एवं 'आश्रो मोरिया' जैसे गीतों को प्राचीन ही समझा जाता है। श्री भँवरलाल नाहटा ने "रामतियाला शिष्य प्रबन्ध" जो जैनाचार्य यशोभद्रसूरि के शिष्य से संबंधित एक प्राचीन गीत है, को प्रकाशित किया है।[2] वह उनके अपने संग्रह में सुरक्षित है। विषय की उपादेयता की दृष्टि से वह गीत यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा। आपने लिखा है—"हमारे संग्रह में इस गीत की मूल एवं सटीक प्रतियाँ १७ वीं शताब्दी की लिखी हुई प्राप्त हैं। इसलिये यह गीत कम-से-कम ६०० वर्ष पुराना तो अवश्य होना चाहिये। इतना प्राचीन लोकगीत और उस पर संस्कृत भाषा में लिखे गये विवेचन का यह एक उदाहरण जैन कवियों की कृपा से बच पाया है।"[3] संस्कृत विवेचन को छोड़कर गीत ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत है :—

बाई हे, मइं कउतुग दीठ, काणो डोलो आंजियउ ए
बाई हे, मइं कउतुग दीठ, हाथ बिछूटउ हथिउ ए
बाई हे, मइं कउतुग दीठ, मोड़इ माथइ राखड़ी
बाई हे, मइं कउतुग दीठ, त्रिसीयु पाणी नवि पियइ
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, फलियउ आंबउ कपियउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, सूअरि हाथी मरियउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, बेटइ बाप विणासियउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, विष पीधइ हरखित हुअउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, विण पुरुषे रमणी रमइ
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, एक नारी परणइ पणा ए

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ५६। [2] अजन्ता, जून १९५५, पृष्ठ ४१-४३। [3] वही।

बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, गरुड़ नाग विष मरियउ ए
बाई हें, मइं कउतिगु दीठ, गयवर सीहइ साम्हउ गल्पउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, साथर माछा सवि गल्या ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, एकिणिह पांच विणासिया ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, माई मुँइ रोवइ नहीं
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, बदूरी घर मांहइ रहइ
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, नारी प्रियतम बांधियउ ए
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, बांधउ चोर चोरी करइ
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, पन्थ लही भूलउ फिरइ
बाई हे, मइं कउतिगु दीठ, विण सुखइ सुखइ सूखियउ किम थयउ[1]

संतों ने लोककाव्य की प्रसिद्ध शैलियों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। कबीर ने ऐसे काव्यरूपों के प्रयोग अपने ढंग से किये। बीजक में जो विरहुली सर्प का विष उतारने का गीत है[2] वह तो अपनी लौकिकता के लिये प्रसिद्ध ही है। ढोलामारू और कबीर के कुछ दोहों में बड़ा साम्य पाया गया है।[3] ये दोहे बहुत अधिक लोक-प्रचलित होंगे जिन्हें कबीर के प्रेमी जनों ने कबीर की छाप देकर अपना लिया होगा। 'ढोला मारू रा दूहा' में एकरूपता वाले ऐसे अनेक दोहे दिये गये हैं। इस लोककाव्य का रचनाकाल संभवतः ११ वीं या १२ वीं शताब्दी का होगा। जिनदत्तसूरी (१३ वीं शताब्दी) ने चर्चरी गीतों का प्रयोग किया है। चर्चरी गीतों का पता अन्य ग्रन्थों से भी मिलता है। श्री हर्ष, कालिदास के मालविकाग्निमित्र एवं बाणभट्ट की कादम्बरी में चर्चरी के उल्लेख पाये जाते हैं। 'फाग' नामक लोकगीत के उदाहरण जैन-साहित्य में अनेक हैं। 'थूलीभद्द फागु' अथवा—'नेमीनाथ फागु' इसके प्रमाण हैं। सूरदास के पदों के संबंध में तो पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[4] जयदेव के गीत गोविन्द की शैली के संबंध में लोकगीतों का आरोप प्रायः किया जाता है, जो चण्डीदास और विद्यापति पर तो अधिक अंशों में प्रमाणित होता ही

---

[1] अजन्ता, जून १९५५, पृष्ठ ४२-४३। [2] बीजक, (टीकाकार विचारदास शास्त्री) तीसरी आवृत्ति, पृष्ठ २९७। १९५४। [3] देखिए, 'ढोला मारू रा दूहा', भूमिका-पृष्ठ १६६-१७५, प्रथमावृत्ति। [4] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६५ (आठवाँ संस्करण)।

है। इन कवियों ने अपने स्थानों के लोकगीतों से घनिष्ठ संबंध रखा। अब प्रश्न यही है कि ये गीत कौन से थे? यह तो स्पष्ट है कि लोकगीतों की परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। आज तो कुछ प्रयत्नों द्वारा कुछ सौ लोकगीत लिपिबद्ध किये जा सके हैं, पर प्राचीनकाल में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं हुआ। यदि ऐसा हुआ होता तो आज लोकगीतों के प्राचीन रूप अध्ययनार्थ प्राप्त हो सकते थे। काल-निर्णय के लिये इसी कारण कठिनाई उपस्थित होती है। गीतों की परम्परा कण्ठस्थ ही रही। चूँकि प्रवृत्ति के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीनकाल में संभव नहीं थी, इसलिये लोकगीतों की प्राचीन परम्परा का ज्ञान् हमें प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त संकेतों द्वारा ही करना पड़ता है। प्रमुख रूप से अपभ्रंश साहित्य इस दिशा में उपयोगी है।

अपौरुषेय वाङ्मय—अपौरुषेय वाङ्मय भारतीय भाषाओं में प्रायः उस साहित्य के लिये रूढ़ार्थी प्रयोग है, जो साधारण मानव-कृत नहीं अर्थात् वह साहित्य जिसका सृजन देवताओं द्वारा हुआ है। आर्यों के आदि ग्रन्थ इसी के अन्तर्गत आते हैं; किन्तु यहाँ उक्त आशय की दृष्टि से 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग नहीं किया जा रहा हैं। कुछ वर्ष पूर्व मराठी-साहित्य की प्रौढ़ लेखिका कमलाबाई देशपाण्डे ने 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग उस लोक-साहित्य के लिये किया जो पुरुषों द्वारा रचित नहीं,[1] वरन जिसके सृजन का सम्पूर्ण श्रेय स्त्रियों को प्राप्त है। ऐसा साहित्य स्त्रियों के जीवन में निरन्तर उपयोगी है और जिसके अभाव में युगों से चले आते हुए उसके जीवन-क्रम में भारी व्यवधान उपस्थित होने की सम्भावना है। इस प्रकार का साहित्य (विशेष रूप से लोक-साहित्य) भारतीय-अभारतीय सभी भाषाओं और बोलियों में विद्यमान है।

स्त्रियों ने अपनी वृत्तियों के अनुरूप, सहज स्फूर्तिवश आनुष्ठानिक, औपचारिक एवं मनोरंजक साहित्य का निर्माण किया है। उसके सृजन का कोई निश्चित समय नहीं। वह परम्परागत 'श्रुत' संपत्ति है जिसमें प्रत्येक अवस्था में स्त्रियों ने अपनी ओर से कुछ योग दिया है।

समग्र लोक-साहित्य को यदि पुरुष-वाङ्मय और स्त्री-वाङ्मय, इन दो स्थूल वर्गों मेंविभक्त करें तो निश्चय ही स्त्री-वाङ्मय (अपौरुषेय) का भंडार पुरुष-वाङ्मय की अपेक्षा अधिक बड़ा होगा। यह ऐसा साहित्य है जिसे 'अक्षरों' का बन्धन नहीं है, जो पुस्तकों और ग्रन्थों में स्याही द्वारा स्थिर नहीं किया गया है, जिसके रचयिताओं का किसी को ज्ञान नहीं हैं और फिर, जीवन में जिसके बिना स्त्रियों के विभिन्न आचार-विचार और अनुष्ठानों की गति नहीं है। वह स्त्रियों की

[1] देखिए, 'अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री-गीतों', पूना १९४९।

वाणी द्वारा पोषित है, वह उनके हृदय पर कोरा गया है। उसे परम्परात्मक संस्कारों का स्पर्श प्राप्त है, जिसके द्वारा युगों पूर्व की नारी अपनी वेदना, हर्ष, विषाद, आनन्द, उद्वेग, उत्साह, संयोग, वियोग, प्रताड़ना, घृणा, ग्लानि आदि से गुम्फित भावों को आज की नारी तक 'वाचिक' अभियान द्वारा पहुँचा रही है। अपौरुषेय वाङ्मय रूपी वृक्ष की जड़ें भूतकाल में फैली हुई हैं, पर वर्तमान में अवस्थित-बाह्य शाखाओं, पत्र एवं पुष्पों के भीतर एक सामान्य रस का संचार हो रहा है। यह श्रुति परम्परा के आश्रय से ही प्राप्त हुआ है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्रियों का यह साहित्य क्रमशः वृद्धि पाने लगा। यदि हम उसे वेदों के पूर्व ही आरंभ किया हुआ वाङ्मय मानें तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि आज हमें उस काल के साहित्य का ज्ञान नहीं किन्तु उपलब्ध होने वाले साहित्य में अवशिष्ट स्त्रैण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन तत्कालीन नारी के मनोवेगों से भिन्न कदापि न होगा। अपने निबन्ध में कमलाबाई देशपाण्डे ने मराठी भाषा की दृष्टि से इस बात पर विचार किया है। अपौरुषेय वाङ्मय का विषय-विस्तार कहाँ तक है, इस पर भी उन्होंने चर्चा की है।[1]

भारतीय लोक-साहित्य के अध्येताओं को स्त्रियों के लोक-साहित्य का अध्ययन साहित्य की दृष्टि से करते हुए उसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं की कसौटी पर भी कसना चाहिये। वर्षों से सन्तप्त, सास, ननद और भौजाई के तानों से बिद्ध, पति की अनुगामिनी, बेटे की दबेलदार और बुढ़ापे में उपेक्षिता नारी के भिन्न-भिन्न रूप उसी के वाङ्मय में मिलते हैं। मराठी में तो स्त्रियों के गीतों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। 'सावित्री चे गाणें', 'स्त्री गीत रत्नाकर', 'स्त्री गीतें[3]' आदि इसी तरह के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त 'अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री-गीतें' कमलाबाई देशपाण्डे का स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्ध भी है।

काल-निर्णय की समस्या—अपौरुषेय वाङ्मय का काल-निर्णय करना दुष्कर कार्य है। यदि इस उद्देश्य से प्रयत्न किये जायँ तो निश्चय ही उपयोगी सामग्री सामने आ सकेगी। स्त्रियों के अधिकांश गीतों का क्षेत्र घर है। अतः प्रायः घरों के सभी गीत अपौरुषेय हैं, यह स्वीकार कर लिया जाये तो अनुचित न होगा। खाली समय में स्त्रियाँ मिल-जुल कर प्रायः गीत जोड़ती हैं। कोई टेक जमाती हैं तो कोई आगामी पंक्तियाँ। यह सहज, स्वभावगत स्त्रियों की वृत्ति कृषि सभ्यता के आपद्काल की अपेक्षा समृद्ध शान्तिकाल में अधिक प्रभावी होती है। जहाँ संघर्ष और दैनन्दिन जी तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, वहाँ नारी को

---

[1] अपौरुषेय वाङ्मय, पृष्ठ ५-६। [2] पार्वतीबाई गोखले। [3] सानेगुरू।

इधर वर्षा ऋतु आ गई, उधर चन्दा बन्दीखाने में पड़ी है। रुपयों की ढेरी लगी है। लाख मुहरें रखी हैं। हे मुगल, मेरी बेटी को छोड़ दो।२।

न हम रुपया लेंगे न पैसा, और न लाख मुहरें। चन्दारानी को हम नहीं छोड़ेंगें। इसके साथ व्याह करेंगे।३।

मुगल हँस-हँस कर डोली तैयार करा रहा है और रोते-रोते चन्दा से रहा नहीं जाता है।४।

चन्दा ने कहा, हे दादा अपने घर जाओ. मैं तुम्हारी पगड़ी की लाज रखूँगी।५।

मुगल डोली में बैठा कर चन्दा को अपने घर ले गया। गेहूँ और चने की रोटी बनाकर उसने ऊपर से उस पर गाय का मट्ठा डलवाया और कहा—हे चन्दारानी यह जेवनार जें न लो।

रो-रो कर चन्दारानी ने कहा—हे मुगल, मेरी बात सुन। मैं खाना बनाऊँ और तुम उठकर खाओ।६।

हँस-हँस कर मुगल ने ईधन मँगाया। चन्दा से रोते-रोते रहा नहीं जाता। चंदा चिता जलाकर जल मरी और राख हो गई।७।

चन्दा की चिता ऐसी धधकी कि घर-घर में धुँआ भर गया। मुगल की दाढ़ी जल गई और वह भी मर मिटा।८।

निश्चय ही उक्त गीत मुगलों के समय का है या उससे थोड़े बाद का। यह भी संभव है कि इसमें काफी रूपपरिवर्तन हो गया होगा। सन् १८५७ के गदर की घटनाएँ तो गीतों में खूब मिलती हैं। कुवर सिंह का ही गीत लीजिए।[१] उसने विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया और अँग्रेजों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं। डगलस की सेना से '५७ की २० अप्रैल को वे बुरी तरह घायल हुए। घायल अवस्था में ही २३ अप्रैल को उन्होंने कप्तान ग्रैण्ड की सेना से युद्ध किया। ग्रैण्ड मारा गया। तीन दिन बाद कुँवर सिह की भी मृत्यु हो गई। सम्पूर्ण बिहार में कुँवर सिंह के गीत कई रूपों में प्रचलित हैं। इसी प्रकार सहारनपुर के गूजरों में प्रचलित मेरठ की लूट, अवध के राणा बहादुर तथा अवध के हरदोई जिले के बरवाबटेला के गुलाब सिंह के पराक्रम के गीत उल्लेखनीय हैं। लड़ाइयों के अनेक गीत उपलब्ध है।[२] राजस्थान तो ऐसे ऐतिहासिक गीतों

---

[१] देखिए, 'कविता कौमुदी' (भाग ५), पृष्ठ २६७ एवं 'नई धारा' अप्रैल १९५५ में प्रकाशित श्री दुर्गाप्रसाद सिंह का लेख 'कुँवरसिंह का पँवारा।'

[२] इण्डियन एण्टीक्वेरी, अप्रैल एवं जून, १९११।

का भंडार है। पहाड़ी जातियों के गीतों में भी स्थायित्व अधिक होने से काल-क्रम का सूत्र मिल सकता है।[1]

इसी प्रकार रेलगाड़ी, नये आभूषण, खादी विषयक प्रसंग; गांधी जी का उल्लेख, नई वस्तुओं के नाम, स्थान-वर्णन, आदि संकेतों से गीतों के सृजनात्मक समय का ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी परम्परा से प्रचलित गीतों में भी नये शब्द स्थान पा जाते हैं; किन्तु उससे गीतों की आयु नहीं बदलती। पुरानी शैली नवीन शैली से भिन्न होती ही है। उसे पहचानने में कठिनाई नहीं होती। दो धाराओं का संयोग भी ज्ञात हो सकता है, केवल दृष्टि और पकड़ की आवश्यकता है। अधिकांश गीतों का काल-निर्णय अधिकतर केवल अनुमान-गम्य ही संभव है। व्यक्ति-विशेष का नाम गीत में आ जाने से भी गीत का समय मिल जाता है। युद्ध की मँहगाई का परिणाम स्त्रियों के गीतों में उपयोगी वस्तुओं के उल्लेख के समय झलकता है। ऐसे कई गीत हमें उपलब्ध हुए हैं। सतियों से संबंधित गीतों की भी कमी नहीं है।[2] काल-निर्णय की दृष्टि से इनके के गीत अत्यन्त ही उपयोगी हैं।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में अनेक स्थानों पर गीतों के गाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। ११वीं शताब्दी के "अभिलाषार्थ चिन्तामणि" ग्रंथ में सोमदेव ने स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख किया है।[3] 'संगीत-रत्नाकर' में 'ओवी' (मराठी) को एक गेय प्रकार बताया है।[4] यद्यपि उस काल की 'ओवी' उपलब्ध नहीं है किन्तु गीतों की यह परम्परा अत्यन्त ही पुरानी है। जब हम अपौरुषेय गीतों पर विचार करते हैं तो हमें उनकी प्राचीनता पर पौरुषेय गीतों की अपेक्षा अधिक विश्वास करना पड़ता है। पुराने शब्दों के अनेक विकृत रूप आज के गीतों में मिलते हैं जो गीत की आयु की ओर संकेत करते हैं। शताब्दियों पूर्व के शब्द, गीतों के माध्यम से चले आ रहे हैं। 'कंथ' शब्द को ही लीजिए। इसका अर्थ है पति। शब्द पुराना है। राजस्थान, मालवा, निमाड़, गुजरात, बुन्देलखण्ड, तथा अवध आदि में

---

[1] देखिए, सी० आई० लुअर्ड द्वारा लिखित 'जंगल ट्राइब्स ऑफ़ मालवा' एथनोग्राफिकल सर्वे ऑफ़ दी सेण्ट्रल इण्डिया एजेन्सी, मोनोग्राफ सं० २, पृष्ठ ७५, लखनऊ, १९०९ (कचूमर डामौर, मनौता भील, नरसिंग भील और भूरिया भील सम्बन्धी गीत) तथा कैप्टन जे० फोरसीय लिखित" दी हाइलैण्ड्स ऑफ़ सेण्ट्रल इण्डिया, अध्याय चार, पृष्ठ १४९-१७०, लन्दन १९१९। [2] भारतीय लोक-साहित्य, पृष्ठ ११९-१२५। [3] अपौरुषेय वाङ्मय, पृ० ११। [4] वही।

इसका प्रयोग बराबर मिलता है। एक मराठी गीत में इसके प्रयोग को देखकर विश्वास किया जा सकता है कि इस प्रकार के गीत अधिक प्राचीन होंगे :—

माझें सारें दुःख भी ग मनांत ठेवीन।
कंथाला पाहुन गोड-गोड भी हांसेन।।[1]

परम्परा से चले आते हुए गीतों में भाषागत अन्तर नये शब्दों के कारण आ जाता है किन्तु ऐसा केवल नगरों के निकटवर्ती गाँवों के गीतों में ही होता है। सुदूर ग्रामों के भीतर कम से कम तीन-चार पीढ़ी पुराने अर्थात् दो-तीन शताब्दी पूर्व के गीत मिलते हैं।

गीत की तीन अवस्थाएँ—'अपौरुषेय वाङ्मय' में गीत-निर्माण की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट दीखती हैं—१ लयवद्ध शब्दरचना; २ लयवद्ध शब्दरचना में अर्थ की संगति; ३ अर्थ प्रधान लयबद्ध रचना।

मनुष्य स्वभावतः नाद-प्रिय होता है, अतः नादयुक्त शब्दरचना की प्रथम स्थिति ही उसके लिये सहज संभव थी। बाद में विशेष ढंग से किसी बात को कहने का ज्ञान उत्पन्न हुआ। नाद के माध्यम से अर्थ की अवस्था प्रकट हुई और यह संगति अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। अर्थ के संसर्ग से नाद को महत्त्व मिलने लगा। नाद भी अर्थ पर कभी-कभी हावी होकर अपने प्रभुत्व को बनाने का प्रयत्न करता रहा। यह दूसरी अवस्था थी जिसमें नाद और अर्थ के बीच विकास-क्रम की दृष्टि से संघर्ष हुआ। अंतिम अवस्था में अर्थ का प्राधान्य हुआ और नाद का सहयोग उसके लिये अनिवार्य सिद्ध हुआ। आज जो गीत एवं कथाएँ प्राप्त हैं वे सभी सार्थक हैं, नाद अनेक अर्थों को उत्कर्ष प्रदान करता है।

पहेलियाँ, बच्चों के खेल-गीत अथवा मध्यवर्ती उत्तर-भारत की स्त्रियों के ख्याली गीतों में अधिकांशतः लयबद्ध शब्दरचना मिलती है। टेसूँ, भाँझी, छल्ला (निमाड़ में 'सल्ला'), धाड़ल्या, घत्तोड़ तथा गोगो आदि बच्चों के गीतों में लयबद्धता के साथ अकल्पित संयोग एवं बार-बार आने वाली टेक लय की स्थिति बनाने के लिये आवश्यक होती है।

कुछ पद अर्थहीन होते हैं। अर्थहीनता का यह लक्षण प्रथमावस्था का द्योतक है। दूसरी अवस्था में शब्द रचना में अर्थ की संगति आने लगी। एक पंक्ति के पश्चात् दूसरी पंक्ति सार्थक हो, इस बात का प्रयत्न गीतों में मुखर हुआ। टेक का सहारा छोड़ देना कभी सम्भव न था और न रहेगा। बिना टेक के आगामी पंक्तियों की दौड़ में बाधा पहुँचती है। लययुक्त अर्थगत

[1] साने गुरुजी द्वारा संग्रहीत 'स्त्री जीवन' भाग १, पृष्ठ १५१।

शब्द बिना उसके प्रकट हो ही नहीं सकते। टेक तो वास्तव में 'पार्श्व संगीत का काम करती है।

स्त्रियों द्वारा रचित लोरी गीतों में बच्चों के अन्य गीतों की अपेक्षा अर्थ की मात्रा अधिक पायी जाती है। धुन अथवा टेक यहाँ केवल प्रभाव हेतु प्रयुक्त होती है। वस्तुओं के नाम बार-बार दुहराने अथवा नवीन वस्तुओं के नाम जोड़ने की प्रवृत्ति स्त्रियों और बालिकाओं के गीतों में सर्वकालीन है। अर्थ की संगति के साथ लघु-कथानकों का प्रवेश भी हुआ। 'टेसूं या भाँभी', 'संजा', 'फुलाबाई' या 'फेरा' के गीतों (फेरा चीं गाणी) में ऐसे कथानक प्राप्त होते हैं।

स्त्रियों के गीतों में जिन कथानकों का प्रवेश है वे उन्हीं के जीवन से अवतरित हुए हैं। उल्लेखनीय पात्रों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने वर्ग की घटनाएँ गुम्फित कर देती हैं। इसी अवस्था में प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। विचारों का उदय प्रश्नोत्तर शैली के गीतों में लक्षणीय है।

मराठी गीतों में 'जात' के गीत (लटपटे वृत) व्यवस्थित छंद रचना है। अन्य गीतों में बैठकी गीत प्रायः शिथिल होते हैं। फेरों के गीतों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। 'ओवी' पूर्णता को पहुँचा हुआ रूप है। संत ज्ञानेश्वर ने अपनी ओवी के संबंध में कहा था कि उसे जो गा सकता है वही गाये, अन्यथा पढ़कर ही कहे। 'ओवी' की व्यवस्था के पीछे यह परम्परा मराठी लोक-साहित्य में उल्लेखनीय है।

'उखाणा' मराठी लोक-साहित्य की दूसरी सम्पत्ति है। स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों का नाम नहीं लेतीं। हिन्दू स्त्रियों का यह प्रधान लक्षण है। प्रसंग-विशेष पर उन्हें अपने पति का नाम लेना पड़ता है और तब मनोरंजक शब्द-रचना के माध्यम से वे अपने पति का नाम व्यक्त करती हैं। ऐसा विश्वास है कि पति का नाम लेने से पति की आयु क्षीण होती है। इसलिये प्रथम बालक अथवा बालिका के नाम भी नहीं लिये जाते हैं। उन्हें किसी घरू नाम से पुकारा जाता है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी प्रान्तों में पाई जाती है। ज्ञानेश्वर के समय 'उखाणा' की परम्परा विद्यमान थी। 'रुक्मणीस्यंवर' में एकनाथ ने भी विवाह के प्रसंग में इस परम्परा का यथोचित वर्णन किया है। 'उखाणा' अनेक रूप में सम्पूर्ण महाराष्ट्र समाज में प्रचलित है। इसमें नयी रचनाओं के लिये मार्ग प्रस्तुत हुआ है।

'अपौरुषेय वाङ्मय' जैसा कि ऊपर बताया गया है, विभिन्न रूपों में उपलब्ध है। इसका विस्तार पुरुषों के लोक-साहित्य की अपेक्षा अधिक विशाल है। गद्यके क्षेत्र में उपवास, व्रत, त्यौहार और आनुष्ठानिक लोक-कथाएँ आदि

इसके अन्तर्गत आते हैं। इस दिशा में स्वतन्त्र ग्रंथ का होना हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अत्यन्त अपेक्षित हैं। गुजराती में नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा लिखित 'नागर स्त्रियों माँ गावता गीत' और मारवाड़ी में ताराचन्द ओझा द्वारा लिखित 'मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह' ध्यान देने योग्य ग्रन्थ हैं।[१] प्राथमिक आवश्यकता स्वतंत्र रूप से अपौरुषेय वाङ्मय के प्रकाशन की है। तत्पश्चात् उसका आलोच्य स्वरूप अपेक्षित होगा।

---

[१] हिन्दी में विद्यावती कोकिल का 'सुहागगीत' या श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी के 'मानव' नामक रूपक में स्त्रियों के गीत आये हैं।

आ

लोकगीत—पॅरी के कथनानुसार लोकगीत आदि-मानव का उल्लासमय संगीत है। गुफाओं में पनपते हुए आदिम-मानव में जब प्रकृति से संघर्ष करते हुए तनिक असम्बद्ध भावनाओं के अंकुर फूटे तो उन्हें व्यक्त करने के लिये उसने विकृत अलाप लेना आरंभ किया। यही आदि संगीत पॅरी के शब्दों में लोकगीत है।[1] अँग्रेजी का शब्द Folksong (फोकसांग) जर्मनी के Volkslied का अपभ्रंश है।[2] समस्त जन-समाज में—चेतन-अचेतन रूप में जो भावनाएँ गीतबद्ध होकर व्यक्त हुईं उनके लिये लोकगीत उपयुक्त शब्द है। ग्रिम के शब्दों में "लोकगीत अपने आप बनते हैं।..."[3]

जनजीवन के भाव अभिव्यक्त होते हैं, अंकित नहीं। जहाँ वे अंकित हो जाते हैं, देश, काल और परिस्थितियों की छायाएँ उनमें उभर आती हैं। जीवन का रंग उनमें चमकता है। उनके अंकन में सृजन और विनाश एक प्रकार से गति की सूचना के वाहक हैं। गीतों के रूपों में जहाँ जन के भाव उठे हैं वहाँ उनके बोल बिखरकर व्यर्थ नहीं गये। खेतों में, नदियों और पहाड़ों में, मैदानों और पथों में, घरों में, आपसी बातों में, विरह में, संयोग में, श्रम करने में, युद्ध में, कलह और झंझट में, खेलकूद या हास-परिहास में, जहाँ भी हो भिन्न-भिन्न अवसरों पर गीत बनकर कण्ठों से विस्तृत हुए हैं। इस प्रकार फूटकर खेलते, मचलते, नये शब्दों और शब्दों की जोड़-तोड़ के साथ वे कुछ काल तक टिकते अवश्य हैं। नये गीतों के साथ पिछले गीत घुलते जाते हैं। नई पीढ़ी, नये भाव यही गीतों की परम्परा है। गीतों में विज्ञान की तराश नहीं, मानव-संस्कृति का, सारल्य और व्यापक भावों का उभार है। भावों की लड़ियाँ लम्बे-लम्बे खेतों सी स्वच्छ, पेड़ों की नंगी डालों सी अनगढ़ (Rough) और मिट्टी की भाँति सत्य है।

गीतों की परम्परा तब तक जीवित रहेगी जब तक मानव का अस्तित्व विद्यमान है। आदि मानव के कण्ठ से जो विकृत भाव कभी प्रकट हुए थे; कालान्तर में वे गीत बन गये। गीतों के प्रारम्भ के प्रति एक कल्पित अनुमान मात्र है, किन्तु उसके अन्त की कोई कल्पना नहीं। यह वह बड़ी धारा है जिसमें

---

[1] 'दिस स्पाण्टेनियस म्युजिक हैज बीन काल्ड फोकसांग—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (६), १४वां संस्करण (१६२६-३२), पृष्ठ ४४७। [2] वही।
[3] वही (ए फोकसांग कम्पोजेस इटसेल्फ़)।

अनेक छोटी-मोटी धाराओं ने मिलकर उसे सागर की भाँति अथाह बना दिया है। शताब्दियों के घात-प्रतिघातों ने इसमें आश्रय पाया है। मन की विभिन्न स्थितियों ने इसमें अपने ताने-बाने बुने हैं।

आदिकाल में जब सामाजिक चेतना विकास की ओर गतिशील थी, उस समय ऐसी कविता का जन्म हुआ जिसका जीवन से उत्कट लगाव था। धीरे-धीरे प्रकृति के कुछ भागों पर जब मानव की विजय के आसार प्रकट हुए तो गीतों में भी इस विजय का विश्वास दमकने लगा। प्रकृति के विकराल रूप से संघर्ष करते हुए मनुष्य उसके सम्मुख नत भी हुआ है। विभिन्न इकाइयों में इस प्रकार नत होने की अपेक्षा सामूहिक रूप से उसका सामना करने का विवेक थोड़े ही काल के पश्चात् आ गया। उसने संगठन की महत्ता और सामाजिकता की आवश्यकता को समझा अतः सामाजिक तत्त्वों को व्यक्त करने वाले समूह के गीत मनुष्य की दुष्प्रवृतियों को दूर करने तथा उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने में उपयोगी सिद्ध हुए। स्पष्ट है कि आदिकाल के गीतों में मनुष्य की सामूहिक भावनाएँ बँधी हुई थी। यह प्राप्त होने वाले अपर्याप्त उदाहरणों और प्रमाणों से लक्ष्य किया जा सकता है। ऋतु-उत्सवों के समय गेय-गीतों में मनुष्य के सामूहिक श्रम की आपसी कथाएँ निबद्ध हैं। इन गीतों में सुखी जीवन और अच्छी उपज की कल्याणमयी भावनाएँ हैं। बीते युगों के निरन्तर संघर्ष मानव के राग-द्वेष और अभावों की छायाएँ उनमें झलकी हैं, फिर भी उनका स्वस्थ दृष्टिकोण कविता की संज्ञा पा सकने की क्षमता रखता है।

राल्फ़ विलियम्स ने लिखा है—"लोकगीत न पुराना होता है न नया। वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें तो दूर जमीन में (भूतकाल) धँसी हुई हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पल्लव और फल फूलते रहते हैं।" यही कारण है कि गीत सदा से चले आ रहे हैं और भावों में एक देश के गीत दूसरे देश के गीतों से बराबर मेल खाते हैं। प्रान्तों के गीतों में तो यह भेद प्रायः लुप्त ही है। प्रान्त, देश और भाषा का भेद भले ही हो, पर मानव के शाश्वत भावों में सदैव समानता रही है। अतएव गीतों की यह व्यापकता सम्पूर्ण मानव समाज से संबंधित है।

लोगगीत 'प्रकृति के उद्गार', तड़क-भड़क से दूर, पारदर्शी शीशे की तरह स्वच्छ है। सरलता, रस, माधुर्य और लय इसके गुण हैं। प्रकृति के इन उद्गारों को पल्लवित करने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ रहा है जिस पर प्रबन्ध के अगले पृष्ठों में अपेक्षित विवेचना की गई है।

लोकगीतों का अपना विशेष महत्त्व है। इस संबंध में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी ने लिखा है—"ग्रामों का

समस्त महत्त्व उनके काव्य-सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है, एक विशाल सम्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। आर्य आगमन के पूर्व बहुत ही समृद्ध आर्येतर सभ्यता भारतवर्ष में फैली हुई थी। आर्यों ने राजनीतिक रूप में तो भारतवर्ष को जीत लिया था, पर वे सांस्कृतिक रूप में पूर्ण रूप से यहाँ के मूल निवासियों के द्वारा प्रभावित हो गये थे। वहाँ की मूल सभ्यता वैदिक सभ्यता से एकदम भिन्न थी और आज भी लोकाचार, स्त्री-आचार, पौराणिक परम्परा आदि के रूप में विद्यमान है। ग्रामगीत इसी सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं। वेद भी तो अपने आरंभिक युग में श्रुति कहलाये थे। वेद भी आर्यों की महान् जाति के गीत ही थे और ग्रामगीतों की भाँति ही सुन-सुनकर याद किये जाते थे। सौभाग्यवश वेद ने बाद में श्रुति से उतरकर लिपि का रूप धारण कर लिया, पर हमारे ग्रामगीत अब भी 'श्रुति' ही हैं। जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य-सभ्यता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ग्रामगीतों द्वारा आर्य पूर्व सभ्यता का ज्ञान हो सकता है। ईंट-पत्थर के प्रेमी विद्वान यदि धृष्टता न समझें, तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्रामगीत का महत्त्व 'मोहेनजोदड़ों' से कहीं अधिक है। मोहेनजोदड़ों सरीखे भग्न-स्तूप ग्रामगीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।"[1]

लोकगीत हमारे विकास की अमूल्य निधि के समान है। जातीय-हृदय की उथल-पुथल, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि की भावनाएँ भिन्न-भिन्न प्रथाओं के गीतों के रूप में व्यक्त हुई है। इस अमूल्य रत्न-राशि को यदि हम एकत्र न कर सके तो आगामी वर्षों में इसका स्वरूप विकृत हो जायगा। "देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में ऐसा सुरक्षित है कि इसका नाश हमारे लिये दुर्भाग्य की बात होगी।"[2]

लोकगीत लय के बिना अधूरा है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार—"कोई भी गीत, यहाँ तक कि कैसा भी संगीत लोकगीतों पर निर्भर है। संगीत की दृष्टि से ये गीत बिना किसी वाद्य-यंत्र के स्वाभाविक हृदयस्पर्शी स्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं।...लोकगीत मानव जाति के हृदय से, अपने अभावों द्वारा जन्य, प्रकृति-प्रदत्त आवाज के द्वारा अचानक घुमड़कर प्रकट होने वाला संगीत है, जो हृदय का बोझ हल्का करने के लिये भावों की

---

[1] श्यामचरण दुबे लिखित—'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' पुस्तक की भूमिका से उद्धृत। [2] कविता कौमुदी (पाँचवाँ भाग) पृष्ठ ७७, लाला लाजपतराय के पत्र से उद्धृत।

अभिव्यक्ति के निमित्त बोलने की अपेक्षा गाकर गीतों द्वारा व्यक्त किया जाता है।"[१]

लोकगीत की व्याख्या कई विद्वानों ने की है। मराठी लेखक डॉ० सदाशिव फड़के का कथन है—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके जो सामान्य लोक-व्यवहार के उपयोग में लाने के लिये मानव, आनन्द तरंग में छन्दोंबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।"[२]

विशेषताएँ—डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार "प्रबन्ध की द्रुतगति, शब्द विन्यास की सादगी, विश्व-व्यापक मर्मस्पर्शिता प्राकृतिक और आदिम मनोरोग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र-चित्रण, क्रीड़ास्थली अथवा देशकाल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार—सच्चे लोक-गीत की नितान्त आवश्यक विशेषताएँ हैं।"[3]

फ्रेञ्च विद्वान् मोशिए आपरे ने सन् १८५२-५३ में लोकगीतों के सामान्य लक्षणों पर लोकगीत संग्राहकों के समक्ष अपने विचार प्रकट किये थे। उसके अनुसार लोकगीतों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(१) 'अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि-साम्य का प्रयोग; (२) पुनरुक्ति (कथोपकथन में); (३) तीन, पाँच, सात आदि संख्याओं का बार-बार प्रयोग; (४) दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने-रूपे की कहना।[४]

भारतीय गीतों में इन लक्षणों के अतिरिक्त और भी लक्षण उल्लेखनीय है—

(१) **नाम जोड़ने की प्रवृत्ति** :—यह प्रवृति प्राचीनता की द्योतक है। गहनों के नाम, कुटुम्बियों के नाम, मिठाइयों के नाम तथा दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नाम, आदि गीतों में बार-बार आते हैं। इन नामों से गीत के क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। कतिपय नाम अवश्य परम्परावश गीतों में बार-बार दुहराये जाते हैं, पर नये नामों का प्रवेश भी उनमें स्वाभाविक है।

(२) **बाट जोहना** :—ऊँची अटारी पर चढ़ कर बाट जोहना, यह कृषि-सभ्यता के उस युग का संकेत है जबकि गाँव बस रहे थे। दूर की वस्तुओं को देखने के लिये ऊँचे वृक्ष, डूँगर अथवा समृद्ध ग्रामों में ऊँची अटारी पर चढ़ना पड़ता था। बाट जोहने की यह दृष्टि भारतीय इतिहास में कलात्मक चित्रों की प्रेरक रही है।

---

[१] १४वाँ संस्करण, पृष्ठ ४४७। [२] सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक) मराठी लोकगीत, पृष्ठ २५०। [3] देखिये, 'ढोला मारू रा दूहा', पृष्ठ ४२। [४] डिक्शनेरी ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर, शिपले द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २४४।

(३) प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति—सीधे प्रश्नों के सीधे उत्तर। गीतों में प्रश्नोत्तर-प्रणाली सादगी और विकार रहित सामाजिक भावना से संबंधित है।

(४) संख्या—सात, नौ, पाँच, चार, आदि संख्याओं के अतिरिक्त छत्तीस और बत्तीस संख्याओं का भारतीय गीतों में अनेक बार उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार लोकगीतों की कतिपय अन्य विशेषताएँ भी हैं जो सभी देशों के सभी गीतों पर लागू होती हैं। इस संबंध में पहले हमें लोकगीतों को कलागीतों से पृथक् करना होगा। कलागीत साहित्य के अंग हैं, पर लोकगीत परम्परा, अनुश्रुति और अनुष्ठान से संबंधित हैं। कहीं-कहीं भारतीय गीत परम्परा में हमारे साहित्य के दोनों अंग एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए दीखते हैं। संत-साहित्य का अधिकांश परम्पराश्रुत होकर भी लोक से इस तरह घुला-मिला है कि उसे हम कला की श्रेणी में स्वीकार करते हुए भी लोक की ही सम्पत्ति कह सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मौखिक परम्परा से प्राप्त गीत-साहित्य को कलापूर्ण साहित्य में नहीं माना है। कतिपय भारतीय विद्वानों की भी यही धारणा है। स्वाभाविक रूप से परम्परागत अथवा पैतृक सम्पत्ति होकर किन्हीं अंशों में कला उन्हें छू लेती है। उसी भाँति कलागीत अपने मूल रूप में लोकभावनाओं से परे नहीं हैं। दोनों की समन्वित स्थिति ही रस-सृष्टि का कारण होती है।

लोकगीतों की परम्परा मौखिक रूप में ही अधिक मान्य है। ग्राम में हजारों गीत कण्ठों पर बिखरे हुए हैं। प्रत्येक विषय के, प्रत्येक समय के और प्रत्येक भावों के गीत उपलब्ध हैं। प्रो० किटरिज का कहना है कि शिक्षा इस मौखिक साहित्य की शत्रु है। सभ्यता उसे गति से नष्ट करती है। कोई भी व्यक्ति अथवा जाति ज्योंही लिखना-पढ़ना जान लेती है त्योंही वह अपनी परम्परागत निधि को हेय समझने लगती है।[2]

लोकगीत निर्वैयक्तिक हैं। उन्हें समूह द्वारा निर्मित माना जाता है, इसलिये व्यक्तित्व का अभाव और समूह अथवा जातीय विशेषताओं के लक्षण उनमें मिलते हैं। संक्षेपतः (१) अकृत्रिमता, (२) सामूहिक भावभूमि, (३) परम्परात्मकता, अथवा मौखिक-परम्परा के गुण, (४) रूढ़ अतिशयोक्ति, और (५) संगीतात्मकता आदि गीतों की विशेषताएँ हैं।

---

[1]भारतीय लोकसाहित्य, पृ० ५६-६०। [2]ढोला मारू रा दूहा (भूमिका), पृष्ठ ४४।

एम्ब्री के शब्दों में लोकगीत—(१) एनानिमस् (२) फेमिलियर टू एव्हरीवन, (३) रिफ्लेक्ट दी सोशियल वैल्यूज़ ऑफ़ दी ग्रूप, (४) ऑर लर्नट् एज़ ए पार्ट ऑफ़ टीचिंग[२] अर्थात्—(१) नाम रहित, (२) सार्वजनीन, (३) समूह के सामाजिक मूल्य को व्यक्त करने वाले और, (४) उपदेशात्मक होते हैं।[१]

भारतीय गीतों में इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त रससृष्टि का वैशिष्ट्य है। इसलिये वे आज भी सभ्य-समाज के हृदय को छूने की सामर्थ्य रखते हैं।

गीतों के प्रकार—लोकगीतों का सामान्य वर्गीकरण—(१) जातियों की दृष्टि से, (२) संस्कारों और प्रथाओं की दृष्टि से, (३) धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, (४) कार्य के संबंध की दृष्टि से तथा (५) रससृष्टि की दृष्टि से किया जा सकता है। जहाँ तक भारतीय गीतों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उन्हें श्रेणियों में विभक्त किया जाये। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने गीतों को (१) संस्कार संबंधी गीत, (२) चक्की और चरखे के गीत, (३) धर्म गीत—त्यौहारों पर गाये जाने वाले गीत-भजन, आदि, (४) ऋतु संबंधी गीत—सावन, फागुन और चैत्र के गीत, (५) खेती के गीत, (६) भिखमंगों के गीत, (७) मेले के गीत, (८) भिन्न-भिन्न जातियों के गीत, जैसे अहीर, चमार, धोबी, पासी, नाई, कुम्हार, भुजवा, आदि, (९) वीरगाथा—जैसे, आल्हा, लोरिक, हीर-राँझा, ढोला-मारू, आदि, (१०) गीत-कथा—छोटी-छोटी कहानियाँ जो गा-गाकर कही जाती हैं और (११) अनुभव के वचन—(जैसे घाघ, भड्डरी आदि के) श्रेणियों में विभक्त किया है।[२]

पच्चीस-वर्ष पूर्व मध्यभारत के इतिहास-शोधक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने गीत-संग्रह की एक योजना बनाई थी। उस समय उन्होंने गीतों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की जिसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। लोकगीतों को चार बड़े समूह में उन्होंने बाँटा है।

संस्कार-विषयक—(१) पुत्र जन्म सोहर, (२) चरुवा के गीत, (३) चौक के गीत, (४) साध के गीत, (५) करोंधनी-कंदोरा बाँधने के गीत, (६) मुंडन, (७) जनेऊ, (८) मामा के यहाँ पहिली मर्तबा जाने के गीत, (९) पहिली दफा बरात में जाने के गीत, (१०) टीका, (११) विवाह, (१२) द्विरागमन, (१३) तिरागमन अर्थात् रोने के गीत, (१४) समधियों के आने के गीत, (१५) गोदान,

---

[१]जॉन एफ० एम्ब्री, जापानीज़ पीजेण्ट सान्गज़, पृष्ठ २। [२]कविता कौमुदी पाँचवाँ भाग, पृ० ४५।

देवस्थान, पुराण बैठाने, कूपखनन, गृहप्रवेश के गीत, (१६) तीर्थयात्रा और गमन-आगमन के गीत, (१७) अन्नप्राशन के गीत, (१८) पलने के गीत (१६) अगरनी—गर्भवती स्त्री विषयक, (२०) माता कढ़ने के गीत-भेंट, (२१) जेवनार, (२२) पत्तल बाँधना व खोलना, (२३) भरनी या ढाक के गीत (साँप काटने पर), (२४) मेले के गीत, (२५) जन्मगाँठ के गीत, (२६) छत्री—स्थापना के गीत।

माहवारी-गीत—(१) बारहमासा, (२) नौरता-नौरात्र—चैत्र-आश्विन (३) रामनौमी, (४) आखातीज, (५) दशहरा (जेठ-आश्विन), (६) देवशयनी-देवउठान, (७ सावन-हिंडोला, (८) साँझी, (झंझी-हुडी के गीत), (६) झाँझी, (११) बीजामिट्टी के गीत—टेसू, (११) कृष्णजन्माष्टमी, (१२) करवा चौथ, (१३) महालक्ष्मी, (१४) बछवा छठ, (१५) मोर छठ, (१६) नौदुर्गा, (१७) गनगौर, (१८) कार्तिक और माघ-स्नान के गीत, (१६) होली, (२०) अहोरी आँठें—कार्तिक के गीत, (२१) कजरिया तीज श्रावण, (२२) भुजरिया।

लोक-गीत—सामाजिक, ऐतिहासिक—(१) चन्द्रावल, (२) बेला सती, (३) ढोला-मारू, (४) हरदौल, (५) बाबू के गीत, (६) कारसदेव के गीत, (७) कुँवर के गीत, (८) हीरामन, (६) नगरा, (१०) मन्नादेव, (११) पैंडेत मेहतर, (१२) जाहरापीर, (१३) अलख, (१४) हीड़ (गूजरों के गीत), (१५) कन्हैया, (१६) सलगा-सदावृक्ष, (१७) गोरा-बादल, (१८) बुलाकीदास, (१६) घासीराम पटेल, (२०) पापूजी के गीत, (२१) राजा केवट, (२२) ओखाजी, (२३) तेजाजी, (२४) गोराजी, (२५) भेरूजी।

विविध—(१) खेती की कहावतें, (२) ऊख की फसल खत्म होने के गीत, (३) बारी-पूजने के गीत, (४) जांत व चक्की के गीत, (५) लावनी, (६) रसिया (७) ख्याल, (८) कूँदरा, (६) दोहे-साखी, (१०) सोरठे, (११) सवैये, (१२) भजन, (१३) कवित्त, (१४) सिन्धु, (१५) घौल।

लोकगीतों का विषयानुसार वर्गीकरण काफी व्यापक होगा। मानव के जन्म से उसका क्षेत्र आरम्भ होकर मृत्यु पर समाप्त होता है। उपरोक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय लोकगीतों का वर्गीकरण संलग्न सारणी से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

ग्रामगीत, लोकगीत तथा जनगीत—राजस्थानी लोक-साहित्य के उन्नायक स्वर्गीय श्री सूर्यंकरणजी 'पारीक' ने 'राजस्थानी लोकगीत' (संवत् १९९९) पुस्तिका के आरंभिक पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में 'लोकगीत' एवं 'ग्रामगीत' शब्दों के समानार्थी प्रयोग के विषय में लिखते हुए हिन्दी में उस समय तक की इस प्रचलित मान्यता को कदाचित् प्रथम बार भंग करने का प्रयत्न किया। उन्होंने उक्त पुस्तिका में लिखा है कि "कुछ लोगों ने लोकगीतों को 'ग्रामगीत' भी कहा है। परन्तु हमारे ख्याल से लोकगीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उनके व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगरों के भेद अर्वाचीन काल में बढ़े हैं। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है जितना कि सर्वसाधारण का 'लोक' का।"[1]

इससे स्पष्ट है कि लगभग बीस वर्ष पूर्व हिन्दी में 'ग्रामगीत' शब्द प्रचार में आ गया था। इससे बहुत पहले पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग किया है।[2] किन्तु पारीक जी ने सन् १९३८ में राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित राजस्थानी गीतों में वृहद्-संग्रह को 'राजस्थान के लोकगीत'[3] शीर्षक से ही अभिहित किया। यद्यपि इसके चार वर्ष पूर्व राजस्थान के श्री जगदीश सिंह गेहलोत द्वारा संकलित मारवाड़ी गीतों का शीर्षक 'मारवाड़ी ग्रामगीत' ही था। अतएव सन् १९४० के लगभग 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' शब्दों के व्यवहृत प्रयोग-विषयक प्रश्न का उठ आना स्वाभाविक था। यह प्रश्न मूलतः 'लोक' शब्द से संबंधित रहा। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजी के 'फोक' (Folk) शब्द के पर्याय स्वरूप हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति 'लोक' शब्द का व्यवहार आरंभ हुआ। अंग्रेजी में 'फोक' का अर्थ है लोग, राष्ट्र, जाति, सर्वसाधारण अथवा वर्ग-विशेष।[4] इसी शब्द से बने 'फोक लिटरेचर', 'फोक लोअर', 'फोकटेल्स', 'फौकसांग' आदि शब्दों के अनुरूप 'लोक-साहित्य', 'लोक-वार्ता', 'लोक-कथा', 'लोक-गीत' आदि शब्द हिन्दी में गढ़े गये। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'लोक' शब्द का अर्थ है—नगरों और ग्रामों में फैली हुई समूची जनता, जिसका आधार

---

[1]हिन्दी साहित्य-प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १। [2]हिन्दी साहित्य का इतिहास (८वाँ संस्करण), पृष्ठ ६००। [3]यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित है। श्री 'पारीक' के अतिरिक्त ठाकुर राम सिंह एवं नरोत्तम स्वामी भी इसके संपादक हैं। [4]चैम्बर्स ट्वन्टिएथ सेन्चुरी डिक्शेनरी, १९४६, पृष्ठ ३५६।

पोथियाँ नहीं हैं।"[1] इसी व्यापक अर्थ में गीत के साथ 'लोक' शब्द जोड़ा जाना अभीष्ट प्रतीत होता है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन् १९२४ के पश्चात् उत्तरभारत में गीत-संकलन का आन्दोलन आरम्भ किया। ये सन् १९२७ (८ नवम्बर) को प्रयाग से बम्बई रवाना हुए। वहाँ जाकर आपने गुजराती और मराठी गीतों की पुस्तकें खरीदीं। तब तक मराठी और गुजराती में 'लोक-गीत' शब्द का प्रयोग होने लगा था। विशेषत: गुजराती में यह शब्द बहुत परिचित-सा हो चुका था, क्योंकि श्री झवेरचन्द मेघाणी के सद्-प्रयत्नों से लोक-साहित्य की ओर सन् १९२३ के पहले ही गुजराती विद्वानों की दृष्टि जा चुकी थी। उक्त सन् में प्रकाशित श्री मेघाणी जी की पुस्तक 'सोराष्ट्र नी रसधार' के प्रथम भाग के 'बे-बोल' (दो शब्द) में इस प्रकार के पूर्वप्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। सन् १९३० के लगभग रणजीतराय मेहता लिखित ग्रन्थ, 'लोक-साहित्य' के नाम से ही प्रकाश में आ चुका था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, जो इन दिनों अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध हो रहे थे, सन् ३६ तक 'ग्राम-गीत' शब्द का ही प्रयोग करते रहे।[2] इस सन् के काफ़ी पहले श्री त्रिपाठी जी का गीत संग्रह 'कविता-कौमुदी' (५वां भाग) प्रकाशित हुआ था।[3] जिसमें 'ग्राम-गीत' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, 'लोकगीत' का तो संकेत भी नहीं है। उसमें अंग्रेजी के 'फोकसांग' का उल्लेख अवश्य है, जिसका हिन्दी अनुवाद आपने 'ग्रामगीत' ही किया है। श्री रविठाकुर द्वारा लिखित एक पत्र में प्रयुक्त 'रूरलसांग' (Rural Song) और 'फोक-लिटरेचर' (Folk Literature) के पर्याय श्री त्रिपाठी जी ने क्रमश: 'ग्रामगीत' और 'ग्राम-साहित्य' लिखे हैं। अत: फोकसांग और 'रूरलसांग' दोनों ही त्रिपाठी जी के अनुसार ग्रामगीत ही हैं। इतना ही नहीं, आपने श्री लाजपतराय द्वारा प्रयुक्त 'फोकलोअर' (Folklore) का अनुवाद भी 'ग्रामगीत' ही किया है।[4] डॉ० सत्येन्द्र ने 'फोकसांग' के लिये 'ग्रामगीत' और 'फोकलोअर' के लिये 'गीत-कथा' का प्रयोग किया है।[5] इन शब्दों के निश्चित प्रयोग की समस्या अधिकांश में आज भी बनी हुई है। आज भी भूल से लोकगीत को

---

[1] 'जनपद' त्रैमासिक (अंक १), लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ६६। [2] देखिये 'हंस' फरवरी, १९३६ में प्रकाशित श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का लेख—'हमारे ग्राम-गीत'। [3] प्रथम संस्करण संवत् १९८६ में प्रकाशित हुआ। [4] देखिये त्रिपाठी जी को लिखे गये पत्र, कविता-कौमुदी ५वाँ भाग, पृष्ठ ७७-७८। [5] ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६।

'ग्रामगीत' और लोक-साहित्य को 'जन-साहित्य' कहा जाता है।[1] अस्तु, जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, श्री त्रिपाठी जी का 'ग्रामगीत' के प्रति विशेष मोह है। उन्होंने इस विषय पर एक बार पुन: विचार किया था और 'ग्रामगीत' शब्द को ही अधिक उपयुक्त बताया है। श्री त्रिपाठी जी ने लिखा है—"गीतों का नामकरण 'ग्रामगीत' शब्द से किया है। क्योंकि गीत तो ग्राम की संपत्ति है, शहरों में तो वे गये हैं, जन्मे नहीं, फिर ग्रामों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय?—ग्रामगीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, जातीय त्योहारों और सार्वजनिक उत्सवों में गाये जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार 'ग्रामगीत' शब्द द्वारा स्थायी हो जाये।"[2] गाँवों के प्रति विशेष रागमय होकर वह भावोद्वेग वश यह भी कह जाते हैं कि "मेरी राय में ग्राम-गीत किसी पुरुष या स्त्री-विशेष की रचना नहीं हैं, बल्कि स्वयं प्रकृति का गान हैं और वेदों की तरह 'ग्रामगीत' भी अपौरुषेय हैं।"[3] अपने इस भावावेशी कथन को आगे की पंक्तियों में व्यवस्थित करते हुए शहरी जनता द्वारा इस गौरव का व्यर्थ लूटा जाना उन्हें स्वीकार नहीं, क्योंकि 'लोकगीत' 'लोक' के संयोग से बना है और उसका तात्पर्य शहरी और ग्रामीण दोनों जनता से है। पर चूँकि गीतों के रचयिता गाँव वाले हैं तो शहरी लोगों को व्यर्थ श्रेय क्यों दिया जाय। "अतएव मैं फिर भी यह उचित समझता हूँ कि लोकगीत की अपेक्षा 'ग्रामगीत' शब्द ज्यादा उपयुक्त और न्याययुक्त है।"[4]

'ढोला-मारू रा दूहा' (संवत् १९९१) में लोकगीत 'बेलेड' का पर्यायवाची बताया गया है। लेखक ने 'गीत-काव्य' को भी इसी कोटि में माना है।[5] सिजविक ने अपनी संकुचित दृष्टि से इस विषय में अपनी मौलिक परिभाषा दी है। उसके शब्दों में 'इट इज ए लोअर एण्ड विलांग्ज् टू दी इल्लिटरेट' (यह अनुश्रुति का अंग है और जनता की संपत्ति है)।[6] 'राजस्थान के लोकगीत' के सम्पादकों ने आदिम मनुष्यों के इन्हीं गीतों का नाम लोक-गीत बताते हुए लिखा है कि—'लोक-गीत' सच्चे काव्य हैं।[7] क्योंकि रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-विषयक व्याख्या

---

[1]देखिये, काका कालेलकर लिखित 'जीवन विहार' (१९४७) पुस्तक (व्होरा एण्ड कंपनी, बम्बई) के निबन्ध; लोकगीत, ग्रामगीत, तथा हमारा लोकसाहित्य (जनसाहित्य), ।[2], [3], [4]'जनपद' त्रैमासिक (अंक१), ग्राम-साहित्य, पृष्ठ ११। [5]नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित (प्रथमावृत्ति) पृष्ठ ४१। [6]ढोला मारू रा दूहा, पृष्ठ ४०। [7]प्रथमावृत्ति, रा० के० लो०, पृष्ठ ५।

के अनुसार उनके द्वारा 'शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा होती है तथा सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रवृत्ति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है'—इस परिभाषा के अनुकरण से लोक-गीत स्वभावतः 'काव्य' की संज्ञा पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

कृष्णदेव उपाध्याय ने 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' दोनों को दो भिन्न कोटि का माना है। उनके अनुसार 'फोकसांग' 'ग्राम-गीत' है और 'बैलेड' 'लोक-गीत'। 'ग्रामगीत' से मेरा आशय उन गीतों से है जो गेय हैं—लोकगीत वे हैं जो प्रबन्धात्मक हैं और जिनमें कथा की प्रधानता है, गान नहीं।[1] कमलाबाई देशपाण्डे के अनुसार मराठी में 'लोकगीत' 'जानपद गीत' एवं 'ग्राम-गीत' तीनों ही शब्द एकार्थी हैं तथापि 'लोकगीत' शब्द ही ज्यादा प्रयोग में आता है।[2] इसमें संदेह नहीं कि लोकगीत शब्द विशदार्थी है, उसकी व्यापकता में कोई कसर नहीं। अंग्रेजी के एक कोष में 'फोकसांग' का अर्थ है—'कोई भी गीत या वीर-गीत जो लोक में उत्पन्न होकर परम्परा द्वारा दूसरों को सौंपा जाये, या कोई गीत जो इसके अनुरूप लिखा जावे।[3] स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने अपनी एक पुस्तक में 'गीत' के स्थान पर 'गीतें' शब्द का प्रयोग किया है।[4] मराठी में यही शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है और अनेक पुस्तकों के शीर्षक में भी राहुलजी की भाँति प्रयुक्त किया गया है जैसे—'वर्हाड़ी लोक-गीतें', 'जानपद गीतें', 'जूनी मराठी-गीतें', आदि। हिन्दी के लिये यह प्रयोग अवश्य नया है।

उक्त प्रकरण से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन दिनों प्रचलित लोकगीत, ग्रामगीत तथा जनगीत आदि शब्दों के प्रयोग निश्चित कर लिये जायें। गीत शब्द की व्याख्या तो हिन्दी में बहुत हो चुकी है। अब केवल इसके वंशजों पर विचार करना है।

'लोक' वस्तुतः ग्रामीण एवं नागरिक जन के सामान्य अर्थ में सदैव व्यवहृत होता आया है, अतएव जब 'लोकगीत' का प्रयोग किया जाय तब सामान्य जनता द्वारा उद्भूत मौखिक गीत के ही अर्थ में उसे ग्रहण किया जाये। इस प्रकार लोक-नाट्य, लोक-कथा, लोक-साहित्य, आदि शब्दों के अर्थ भी

---

[1]जनपद (त्रैमासिक), भोजपुरी लोक-गीत, पृष्ठ ३८। [2]'मराठी भाषेत लोक-गीत, जानपद गीत व ग्राम गीत हे सर्व शब्द एकमेकाचे अर्थी वापरतात। तरी हल्लीं लोकगीत हा शब्द जास्त उपयोगांत येत आहे' (लेखक को लिखे गये एक पत्र से उद्धृत)। [3]चेम्बर्स ट्वन्टियथ सेन्च्युरी डिक्शनरी, १६४६, पृष्ठ ३६५। [4]'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें', १६५१।

व्यवस्थित हो जाते हैं। लोक की भावनाओं का प्रतिनिधित्व केवल ग्राम मात्र की जनता से नहीं हो सकता। ग्राम की सीमाएँ संकुचित हैं और ग्राम एवं नगर के भेद को मिटाने वाले 'लोक' शब्द की परिधि दोनों को अपने में समेट लेती है। 'ग्रामगीत', जैसा कि पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बताया है, ग्राम की संपत्ति है और लोकगीत के ही अन्तर्गत आते हैं। 'लोकगीत' का सृजन कहीं भी हो सकता है किन्तु 'ग्रामगीत' तो केवल ग्राम में ही जन्म लेते हैं। 'ग्राम-गीत' के संबंध में निम्नलिखित परिभाषाएँ विचारणीय हैं—

१. 'ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं।'[१]—हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. 'ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं।'[२] —रामनरेश त्रिपाठी
३. 'ग्रामगीत छोटे होते हैं और रचनाकाल की दृष्टि से आधुनिक भी हो सकते हैं।'[३] —कृष्णानन्दन गुप्त
४. ग्रामगीत छोटा ही नहीं बड़ा भी हो सकता है।[४] —डॉ० सत्येन्द्र

परिभाषाओं की यह खींचतान वस्तु के चित्र को सवाँरने मे कम सहायक होती है। परिवर्तन का प्रभाव निश्चित रूप से नगर और ग्राम की सभ्यता एवं उसके संबंध पर पड़ता है। अतएव लोक-साहित्य और ग्राम-साहित्य की स्थिति काल-क्रमानुसार बदलती रहती है। मानव-सभ्यता के कृषि-अवस्था में आते ही ग्रामों और नगरों की सभ्यता में भेद उपस्थित हुए, यद्यपि दोनों का संबंध बराबर बना रहा और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित भी करते रहे। नगर में ग्राम की अपेक्षा किंचित् परिष्कृत-रुचि पनपने लगी। परिष्कार की यह स्थिति जब काफ़ी ऊँची उठ गई तो ग्राम और नगर संस्कृति का भेद स्पष्ट दीखने लगा। इससे असंस्कृत (सर्वसाधारण) और संस्कृत (परिष्कृत जन) ये दो वर्ग प्रकट हुए। लोक-साहित्य इसी समय का मौलिक परम्परागत साहित्य है जो सामाजिक स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ किसी समय मौखिक थीं। लिपि-बद्ध होकर वे इस मौखिक परम्परा से छूट गईं। संस्कृत, पाली तथा अपभ्रंश, आदि का अधिकांश साहित्य परिक्रुष्त-रुचि-सम्पन्न जन के हाथ पड़कर लिपिबद्ध हुआ और इस प्रकार लोक-परम्परा के प्रवाह से एक ओर जाकर लिपिबद्ध होकर रुक गया। तत्कालीन स्थिति में वही

---

[१]'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' को भूमिका, पृष्ठ ५। [२]'कविता-कौमुदी (५वाँ भाग) ग्रामगीतों का परिचय, १। [३]'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन' पृष्ठ ७५। [४]वही।

लोक-साहित्य था, आज नहीं। लोकगीत लोक-साहित्य का ही गीत-प्रधान अंग है जिसका उद्भव नगर और ग्राम के संयुक्त साधारण-जन के मध्य होता है और वही वर्ग 'लोक' है। किन्हीं अंशों में लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का सुसंस्कृत-जन भी इस 'लोक' का अंग बन जाता है, अतः ग्रामगीत इस दृष्टि से लोकगीत के पूरक ही हैं। एक 'ग्रामगीत' 'लोकगीत' हो सकता है, किन्तु 'लोकगीत' 'ग्रामगीत' नहीं हो सकता। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कहीं-कहीं 'जनगीत' शब्द का प्रयोग लोकगीत के अर्थ में किया जाता है किन्तु 'जनगीत' विशिष्ट वर्ग के गीत का द्योतक है। लोकगीत जिस प्रकार लोक-साहित्य का अंग है, उसी प्रकार जनगीत भी जनसाहित्य के अन्तर्गत है। जन-साहित्य की व्याख्या करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है—"जन-साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य-जन का साहित्य है। इसलिये जन-साहित्य, लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिये जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिये व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।"[१] यही व्याख्या-जनगीत और लोक-गीत पर लागू होती है। इसी तुलनात्मक प्रसंग में मराठी की लेखिका सौ० मालती दाडेंकर के लोक-साहित्य संबंधी एक वाक्य का उद्धृत किया जाना अनिवार्य प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—"हे साहित्य लोकांनींच रचले, लोकांसाठींच व लोकांसंबंधीत तें रचलें गेलें म्हणून लोकाचें लोकांसाठींच रचलें गेलेलें व लोकांनींच रचलेलें तें लोक साहित्य।"[२] श्री नामवरसिंह ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट बताया है कि लोक-साहित्य का रचयिता लोक-समाज के भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। उसका व्यक्तित्व लोकभावों में तिरोहित होकर लोक-स्वरूपी हो जाता है। जन-साहित्य के रचयिता का व्यक्तित्व अपना वैशिष्ट्य नहीं खोता। उसका साहित्य 'लोक-साहित्य' की तरह मौखिक नहीं होता बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। संक्षेप में, 'जन-साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह-संवेदना के फलस्वरूप सामान्य जन के लिये अभिव्यक्त होता है।[3] दुहराने की आवश्यकता नहीं कि यही भेद 'लोकगीत' और 'जनगीत' पर घटित होता है।

लोकगीत का सृजन संगीत के माध्यम से लोक-रंजक होकर परम्परा में सम्मिलित होने के क्रम में व्यष्टि और समष्टि के भेद को नष्ट कर देता है।

---

[१]'जनपद' त्रैमासिक (अंक २), पृष्ठ ६३-६४। [२]लोक साहित्याचें लेणें (१९५२), ओलख, पृष्ठ १। [3]जनपद (अंक दो) पृष्ठ ६४।

किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित कोई गीत जन-मानस को आन्दोलित कर उसके स्पन्दन के स्वरों में मेल खाने लगे और कालान्तर में उसी भाँति अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ जीवित रहे तथा निरन्तर प्रयोग में आता रहे तो वह गीत 'लोकगीत' ही कहलायेगा। उसे 'लोकगीत' की संज्ञा इतिहास और प्रयोग के सहारे प्राप्त होगी। मूल में कोई गीत, लोकगीत नहीं कहा जायगा। परिस्थितिवश समाज में आनुष्ठानिक अथवा औपचारिक मूल्य पाकर विशेष संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही वह लोकगीत बनता है। प्रत्येक गायक अथवा गीत-निर्माता के साथ कर्म-रत समाज होता है। समाज की प्रतिक्रिया गायक अथवा गीत-निर्माता पर होती है। यह समाज ग्राम अथवा नगर कहीं का भी हो सकता है। यदि व्यक्ति-प्रसूत कोई गीत समाज के भावों को आन्दोलित कर टिक गया तो कालान्तर में वही लोकगीत होगा, इसमें सन्देह नहीं। अस्तु, 'लोकगीत' और 'जनगीत' शब्दों का यह पारस्परिक भेद लोक-साहित्य के प्रति बढ़ती हुई रुचि को देखते हुए ध्यान देने योग्य है।

त्रिधाभिव्यक्ति : गीत, सङ्गीत और नृत्य—गीत मनोभावों की अभिव्यक्ति का वह माध्यम है, जिसमें संगीत का अस्तित्व धुन के रूप में निहित होता है। 'लोक' से संबंधित होते ही उसकी व्यक्तिपरक महत्ता सामूहिक तत्त्वों के अनुरूप ढल जाती है। व्यक्तित्व का जो आभास कला-गीतों में मिलना सहज और अनिवार्य है, वैसा लोकगीतों में नहीं; क्योंकि लोकगीत व्यक्ति-गीत नहीं हैं—उनमें मानव के समूहगत भावों की अभिव्यक्ति होती है।

लोकगीत का निर्माण—विशेषज्ञों का मत है कि लोकगीतों का निर्माण कोई व्यक्ति नहीं, जन-समूह करता है। यह प्रश्न किंचित् विवाद का विषय भी रहा है। प्रोफ़ेसर किटरिज और जेम्स ग्रिम की राय तो यही है कि लोकगीतों का निर्माण-कर्त्ता जन-समूह (Das Volksditcher) होता है।[१] नृतत्त्व-शास्त्र एवं समाज-विज्ञान के सिद्धान्तों ने इस मत को अनेक प्रमाणों से पुष्ट किया है। आदिम मानव समाज के अध्येता यह मानते हैं कि मानव ने अपने मूल भावों की अभिव्यक्ति सदैव ही सामूहिक गीतों में की है। वह अवस्था ऐसी थी, जब कि जन की समस्त बिखरी भावनाएँ एक होकर गीत-रूपी अभिव्यंजना के सागर की ओर दौड़ी होंगी, यह असंभव नहीं। कॉडवेल का मत है कि 'आदिम अवस्था में मानव की सामाजिक चेतना अपने साधारण रूप में थी जो क्रमशः प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए गहरी होती गई।[२] मानव और प्रकृति का यह संघर्ष

---

[१]देखिए, 'ढोला मारू रा दूहा', प्रस्तावना, पृष्ठ ४६। [२]इल्यूजन एण्ड रीयलिटी।

सामूहिक चेतना को बढ़ाता गया। प्रकृति के विकराल रूप से मानव भयभीत हुआ और किसी पशु को मारने पर अपनी विजय में प्रफुल्लित भी। प्रकृति से उसका सान्निध्य उसके विकास के आरंभ से बना हुआ है। पशु-पक्षियों की किलकारियाँ और शब्दों का लयबद्ध उच्चारण, मन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप घटित होता रहा। अतः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में मानव के वे तत्कालीन मनोभाव, अपने अनपढ़ रूप में, शारीरिक मुद्राओं के साथ गीत, संगीत और नृत्य के जन्म की कहानी बने।

लोकगीतों के निर्माण का संबंध शब्दों की उत्पत्ति के साथ है। किसी व्यक्ति के गीत-बद्ध मनोभाव यदि जनभावों के अनुरूप हुए, तो वह सहज ही उन्हें अपनाकर उनमें अपने स्वभाव और सुविधानुसार परिवर्तन कर लेता है। गीत का यही संस्कार लोकगीत है। डब्ल्यू० जी० आर्चर ने लिखा है—"दे कम्पोज देम इन एक्साइटमेण्ट एण्ड रेप्चर ऑफ़ दी डान्स बिफोर दे नो व्हाट हैज़ हैपेण्ड, दे हैव बिकम पब्लिक ट्रेजर।"[1]

लोकगीत एवं लोकसंगीत—लोकगीतों के साथ लोकसंगीत का उल्लेख आवश्यक है। एक पाश्चात्य विद्वान् पेरी के अनुसार कालान्तर में सहज संगीत ही लोकगीत कहलाया। लोकगीत के लिये कहा गया है कि वह संगीत के क्षेत्र में सचाई और दृढ़ता के नाते अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमें दो मत नहीं कि लोकसंगीत लोकगीत के अभाव में केवल अर्थहीन ध्वन्यालापमात्र है। लोक-मानस अपने मनोभावों की धुनों में शब्दों का प्रयोग इसलिये करता है कि उनकी अभिव्यक्ति निरर्थक न हो। या यों कहिए कि सार्थक शब्दों के माध्यम से धुनों के सहारे लोकभावों को नैसर्गिक विकास मिलता है। वैसे तो किन्हीं अंशों में निरर्थक शब्द-व्यंजना भी गीतों में मिलती है, पर धुनों को सँभाले रखने में उनकी निरर्थकता सार्थक हो जाती है। विशेष रूप से यह निरर्थक शब्द-व्यंजना आदिम अवस्था की सूचक है, जो अपनी परम्परा के कारण आज तक स्वभावतः लोकगीतों में बनी हुई है। आज भी आदिमवासियों के गीतों में अर्थहीन शब्दों का बाहुल्य है। हो-हो-हो-हो-हो—, डिम्-डिम्-डिम्-डि-र-र-र—अथवा आ-आ-आ-आ-आ, रे-रे-रे, जी-जी, जी, जी, आदि ऐसी शब्द-ध्वनियाँ हैं, जिनका आश्रय गीतों के लिये अब अनिवार्य बन गया है।

लिखित रूप के अभाव में शब्दों का संबंध सदा ही ध्वनि और अर्थ से रहा है। अर्थ-तत्त्व ध्वनियों (धुनों) के द्वारा लोकगीतों में अभिव्यक्ति पाता है। उसमें

---

[1]प्रस्तावना, फोकसांग्ज़ ऑफ़ छत्तीसगढ़ (वैरिया-एलविन), पृष्ठ ५० ।

जन-मानस के मनोवेगों और रंगों का समावेश स्वाभाविक है, क्योंकि लोक-भाषाओं के शब्द इस दृष्टि से अपने आप में समृद्ध हैं। उनमें एक वैशिष्ट्य होता है। प्रयोगकर्त्ता एवं उनको सुनने-समझने वाला ही उनकी निश्चल और परिवेश-युक्त अभिव्यक्ति परख सकता है। अतएव चिरपरिचित मुहावरे में कहें, तो लोकगीत एवं लोकसंगीत एक ही रथ के दो पहिये हैं—एक की अनुपस्थिति में दूसरा अनुपयोगी है।

सामुदायिक गान की प्रवृत्ति——व्यक्ति आरंभ से ही समूह में रहने का आदी रहा है। वही उसका स्वभाव है, प्रवृत्ति है। अत: इस प्रवृत्ति-विशेष के कारण सामूहिक अभिव्यक्तियों को प्रश्रय मिला। संगीत मानव की विकासवादी अवस्था में उसके हर्ष, विषाद और उल्लास आदि का द्योतक रहा है। इस संगीत में निरर्थक शब्दों के जाल से वह धीरे-धीरे छूटता गया, सामूहिक-गान सार्थक होने लगे। छंदों का ज्ञान अथवा आविष्कार न होने पर भी बन्धन लय में सुविधाजनक हुए। ध्वन्यान्तर और स्वरों का ज्ञान शब्दों के सार्थक प्रयोगों के साथ मानव समझने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी, जब अपने पशुओं के लिये चरागाहों की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढ़ रहा था। कृषि का ज्ञान होने पर अपनी फसल की वृद्धि के विचार से उसकी घुमक्कड़ वृत्ति को पहली बार चोट पहुँची। उसके कदम रुके, गाँव बसे और तभी उसके गीत और संगीत का वह रूप प्रकट हुआ, जिसे हम ग्रामगीत अथवा ग्रामसंगीत कहते हैं। अत: अपनी आदिम अवस्था से निकल कर मनुष्य जब पूर्णरूपेण कृषि-अवस्था का मनुष्य कहलाने योग्य हुआ अथवा जब उसमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति और बुद्धि का उदय हुआ, तभी गीत और संगीत के स्वरूप कुछ निश्चित हो पाये। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में गाथाओं का उल्लेख हमें मिलता है, जो वस्तुत: व्यवस्थित सामाजिक अवस्था की सूचक है। ये गाथाएँ गीत अथवा पद्य ही हैं जो ऋग्वेद में एक भिन्न साहित्य की द्योतक भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार ये गाथाएँ मानव-सृजित हैं, जिनका उद्देश्य विशेषत: किसी महान् व्यक्ति के सत्कर्मों का बखान करना रहा है। शतपथ ब्राह्मण में, अवदान के रूप में, महाभारत में तथा अन्य संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में गाथाएँ गाने की परम्परात्मक प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अपभ्रंश, पाली आदि में भी गीतों की यह परम्परा धुन और गेय-पद्धति सहित विद्यमान रही है। यज्ञ जो वैदिक युग में आर्यों का परम धर्म था, संगीत शून्य कभी न रहा। यह वही संगीत था, जो अपने आदिम रूप से क्रमश: विकसित होता हुआ सामुदायिक गान के रूप में प्रतिफलित हुआ। यद्यपि ग्रन्थों में उसे धार्मिक ही माना गया है, तथापि वह लौकिक संगीत के

अनुरूप रहा होगा, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। प्राचीन ग्रंथों में सामूहिक गान, नृत्य, उत्सव आदि का उल्लेख यदि लोकगीत अथवा लोकसंगीत की ओर संकेत नहीं करते, तो उन्हें काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता।

लोकगीतों के सामान्य लक्षण—संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बसने वाले मानव अपने पर्व-उत्सवों के अवसर पर गाते और नाचते हैं। उनकी भाषाएँ अपनी होती हैं, जिन्हें पूर्वजों से सीखकर वे बराबर प्रयुक्त करते-रहते हैं और उनमें एक प्रकार की ग्रामीणता होने के कारण वे अपनी स्वाभाविक सचाई और लोकस्वरूपा अभिव्यक्ति की दृष्टि से हृदय-स्पर्शी होती हैं। इस प्रकार भाषाएँ गीतों की कसौटी बन जाती हैं।

गीतों में पायी जाने वाली एक सामान्य स्वच्छन्दता उनकी दूसरी विशेषता है और अधिकांश रूप से इस स्वच्छन्दता में निहित संगीत भी बहुत कुछ मिला-जुला होकर परम्परा रहित नहीं होता।

लोकगीत अपने आप में लय-प्रधान होते हैं। अध्येताओं का कथन है कि प्राय: दुनिया के सभी लोकगीतों की धुनें भारतीय धुनों से मिलती हैं तथा उनके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के ज्ञाताओं के मत से गीत **लयबद्धभावशबलताजन्य** वस्तु हैं, जिसमें व्यक्ति और समूह दोनों के द्वारा ही गाये जाने वाले गीत सम्मिलित हैं। पाश्चात्य संगीतज्ञों का अनुमान है कि लोकगीत केवल अपनी सामूहिक वृत्ति के कारण ही १५वीं शताब्दी के पश्चात् टिके रह सके। किन्तु भारतीय गीतों में पायी जाने वाली स्थिति से यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अलग-अलग भू-भागों के लोकगीतों में भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जाते हैं जिसके द्वारा हम उनके स्थायित्व अथवा अस्थायित्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

लोकगीत और नृत्य—संगीत के साथ नृत्य को हम भुला नहीं सकते। जहाँ तक लोक-नृत्यों का प्रश्न है, वे गीतों से जुड़े हुए हैं। दोनों ही आदिम मानव की प्रधान अभिव्यक्तियाँ रही हैं। गीत में संगीत, भावप्रधान शाब्दिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और नृत्य में भावनाएँ अभिव्यक्ति के हेतु आंगिक मुद्राओं के रूप में प्रकट होती हैं। एक मूलत: लय-प्रधान है और दूसरी ताल-प्रधान। नृत्य, ताल के बिना संभव नहीं, वैसे ही गीतों का भी लय के अभाव में सृजन होना असंभव है। गीत में एक धुन होती है, किन्तु धुन के माध्यम से किसी एक कड़ी को एक ही ढंग से अधिक समय तक गाया जाना प्राय: पसन्द नहीं किया जाता। यह आवृत्ति-पद्धति कहलाती है जो प्राचीन गीतों में विशेष रूप से पायी जाती है। ध्रुवक (Refrain) भी आवृत्ति ही है, किन्तु वह किसी विशेष पंक्ति की होती है। आवृत्ति का प्रयोग 'ढोला

मारू' जैसी गीत-कथा अथवा 'हीड़' जैसे गुर्जर लोककाव्य में विशेष परिलक्षित होता है। जो गीत नृत्य से संबन्धित होकर चलते हैं, उनमें आवृति अधिक सहायक सिद्ध होती है। वैसे तो कई गीत ऐसे होते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न धुनों में गाया जा सकता है, पर ताल से संबंधित होते ही उनकी लय भी निश्चित हो जाती है। वस्तुत: लोकगीत और लोकनृत्य में अलग-अलग गुण होने पर भी उनका आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

गीत और नृत्य, ये दोनों संगीतात्मक अभिव्यक्तियाँ आज भी भारतीय एवं पश्चिमी लोकसंगीत में समानरूप से निहित हैं। सन्थाली कर्मा, रिंचा, लगरो, सोहराई, दोंग, मारवाड़ी झूमर या मेवाड़ी, मैथिली के 'झरनी' अथवा मालवा के खड़े या आड़े नृत्य, भीलों के 'ओली', 'दुईपाली' आदि नृत्य गीतों से संबंधित हैं। पश्चिम का तो आधुनिक संगीत इससे बचा नहीं। 'बैचसूट' (Bach Suite) आदि नृत्य का और 'बैचफ़्यूग' (Bach Fugue) गीतों का ही विकसित रूप है। बैथोवन के गीतों की मन्दध्वनि लोकगीतों से और 'शैरो' (Scherro) के पीछे नृत्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार स्ट्राविन्सकी के 'राइट ऑफ़ स्प्रिग' का प्रारंभ भी एक गीत-तत्व पर आधारित है। वास्तव में जिसे पश्चिम में 'सिम्फोनिक' संगीत कहा जाता है, वह नृत्य और संगीत के संयोग का ही प्रतिफल है।

अचिन्त्य अभिव्यक्ति—प्रोफ़ेसर चाइल्ड्स इसे स्पष्टतया स्वीकार नहीं करते कि लोकगीत की उत्पत्ति संगीत और नृत्य से होती है, किन्तु जब हम कतिपय अँग्रेजी शब्दों की उत्पत्ति-विषयक चर्चा करते हैं, तो इसमें हमें सन्देह नहीं रहता। उदाहरणार्थं अंग्रेजी के 'बैलेड' (Ballad) शब्द की उत्पत्ति फ्रेञ्च शब्द 'बैलेर' (Ballare) से हुई है, जिसका तात्पर्य है नृत्य। ऐसा प्रतीत होता है कि सामूहिक नृत्यों में ही 'बैलैड' लोकगीत की उत्पत्ति निहित है और संगीत इसमें निश्चय ही अलग नहीं। पर सामूहिकता के ठीक विपरीत 'इम्प्रोवायीजेशन' परिवर्द्धन के सिद्धान्त के प्रणेताओं का मत है कि लोकगीत अचिन्त्य-अभिव्यक्ति है। किसी अवसर-विशेष पर उल्लास और हर्ष में डूबा हुआ जन-समुदाय किसी एक की प्रेरणा से अचिन्त्य रूप से, गीत रचना करने लगता है।

अन्ततः यह स्पष्ट है कि गीत, संगीत और नृत्य तीनों ही लोक-मानस की पूरक अभिव्यक्तियाँ हैं, तीनों ही एक-दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। जहाँ हर्षोल्लास का सामूहिक रूप प्रकट होता है, वहाँ तीनों ही संयुक्त होकर व्यक्त होती हैं। संक्षेप में इन्हें हम लोक-मानस की 'त्रिधाभिव्यक्ति' कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

———

लोक साहित्य-संकलन की परंपरा—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य देशों में लोकसाहित्य संबंधी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी में ही जिज्ञासा के भाव प्रकट हो गये थे।[1] नृतत्व-शास्त्र, समाज-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषाविषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोकभाषाओं की मौखिक निधि के प्रति सभी देशों को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक में प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार-विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यञ्जनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गये, जो समग्र रूप से लोकवार्ता-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं।

विशप पेरी द्वारा प्रारम्भ की गई इस विषय की चर्चा (१६वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित् वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, काक्स और मैक्समूलर के वैदिक साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पाकर, टेलर के कार्यों के रूप में अवतरित हुई और फ्रेजर के 'दि गोल्डन बो' (१८६० ई०) ग्रन्थ के रूप में उत्तम रूप से निखरी। संक्षेप में, लोकसाहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा-भाव से प्रेरित होता हुआ क्रमशः एक स्वतन्त्र विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशों को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर पूर्वी देशों को भी प्लावित करना आरंभ कर दिया।

भारतवर्ष में इस कार्य की लहर लोकवार्ता के समग्र अंशों को छूते हुए यकायक नहीं आई। १६वीं शताब्दी के मध्य में जब अंग्रेजों ने शासकीय बागडोर पूरी तरह से अपने हाथ में सँभाली, तब लोक-मानस के अध्ययन की आवश्यकतावश अंग्रेजी विद्वानों ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। शेर-चीतों, जंगली जातियों, विशिष्ट प्रथाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का यह देश उन्हें कम आश्चर्यजनक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोकसाहित्य के अध्ययम और सङ्कलन की नींव पड़ी।

यों तो कर्नल जेम्स टॉड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ़ राजस्थान' (सन् १८२६ ई०) से भारतवर्ष में लोकवार्ता संकलन का श्रीगणेश मानना

---

[1] ऑब्रे ने सन् १६८७ ई० में 'रिमेन्स ऑफ़ जैण्टिलिस्मे एण्ड गुडाइस्म' पर अपने विचार लिखे जो सन् १८८१ ई० में प्रकाशित हुए।

चाहिये, किन्तु उसमें वार्ता-तत्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः इसके पूर्व शासकीय-पत्रों, संस्मरणों और अन्य सूचनात्मक कागजों की बिखरी हुई सामग्री के अतिरिक्त सी० ई० गोव्हर की पुस्तक 'फोक सांग्ज ऑफ़ सदर्न इण्डिया' (सन् १८६२ ई०) को एक प्रयत्न के रूप में प्राथमिकता दिया जाना अनुचित न होगा। कदाचित् भारतवर्ष में यही लोकगीतों का प्रथम संग्रह है।

यों तो उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व लोकगीतों के संरक्षण की दृष्टि से १६वीं शताब्दी के लगभग जैनमुनियों ने देशी ढालों में जिन भक्ति-प्रधान गीतों की सृष्टि की है, वे तत्कालीन लोकगीतों की धुनों और वैभिन्य को प्रकट करते हैं। 'जैन गुर्जर कवियों' (भाग—३) के परिशिष्ट में चौबीस-सौ देशियों की सूची दी गई है। संदेह नहीं कि अनेक विस्मृत गीतों के अंश जैनमुनियों की अनुकम्पा से बच सके हैं। इसीलिये अगरचन्द नाहटा ने सम्भावना व्यक्त की है कि जैनमुनियों ने भारतीय लोकगीतों के संग्रह का कार्य विदेशी विद्वानों के पूर्व आंशिक रूप में आरम्भ कर दिया था।[1] नाहटा जी के संग्रह में 'उमादे भटियाणी' (लगभग तीन-सौ वर्ष प्राचीन), 'फतमल्ल' का गीत (सवा-सौ वर्ष पूर्व का), लगभग दसवीं शताब्दी की एक लोरी गीत (जैनागमसूत्र कृतांग की शीलाचार्य की टीका में उद्‌धृत) और सं० १६२५ की लिखी एक प्रति में समस्यामूलक एक विचित्र प्रकार का लोकगीत 'रामतियाला शिष्य प्रबन्ध' के नाम से उपलब्ध है।[2]

इस क्षेत्र (लोक साहित्य) के भारत संबंधी प्रकाशित ग्रन्थों को सुविधा के लिये दो भागों में बाँटना उचित होगा—(१) हिन्दी जनपद संबंधी ग्रन्थ और (२) अहिन्दी जनपद सम्बन्धी ग्रन्थ।

हिन्दी जनपद संबंधी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य भारतीय जातियों के संबंध में लिखे गये हिस्लप के लेख (सन् १८६६) जिनमें कुछ मूल लोककथाएँ भी आई हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डॉ० वेरियर एलविन् के ग्रन्थ —'फोक टेल्स ऑफ़ महाकोशल', 'फोक सांग्ज़ ऑफ छत्तीसगढ़,' फोक सांग्ज़ ऑफ़ माइकल हिल (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्ज़ ऑफ़ दी फारेस्ट' (हिवाले सहित), 'मिथ्ज ऑफ़ मिडिल इण्डिया', 'मुरिया एण्ड देअर घोटुल', 'दी बैंगा', 'दी अंगरिया', शरतचन्द राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देअर कण्ट्री' (सन् १६१२), बस्तर के मुड़ियाओं के कुछ गीत जो डब्ल्यू० व्ही० ग्रिग्सन द्वारा 'न्यू बर्स' (फरवरी-मार्च १६३७) में संकलित किये गये हैं,

---

[1]देखिये, 'राजस्थानी लोकगीतों का संग्रह एवं प्रकाशन कार्य' लेख, वीणा, पौष, सं० २०१२। [2]वही।

क्रिश्चियन जौन द्वारा संग्रहीत 'बिहार प्रॉवर्ब्स', जार्ज ग्रियर्सन द्वारा भोजपुरी और अन्य भाषाओं के गीतों पर लिखे गये लेख (जे० आ० ए० एस०, खं० १६, नया संस्करण), भा० २, सन् १८८४, वही खं० १८, सन् १८८६ तथा वही, खं० ५३, भाग १, सन् १८८४। इसके अतिरिक्त जे० ए० एस० बी० के और भी अंकों की सामग्री है) ह्यूग फ्रेज़र का लेख 'फोक्लोर फ्राम इस्टर्न गोरखपुर' (जे० ए० एस० बी०, खं० ५२ सं० १,सन् १८८३) तथा आर्चर लिखित 'ब्लू ग्रोह' उल्लेखनीय हैं।

अहिन्दी जनपद संबंधी ग्रंथों में 'ओल्ड डेकन डेज़' (१८६८),[१] 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी ऑफ़ बेंगाल' (१८७१)[२], 'फोक सांग्ज़ ऑफ बैंगाल' (१८८३)[३], 'एन्शियण्ट बैलेड्स एण्ड लीजेन्ड्स ऑफ हिन्दुस्तान' (१८८२)[४], 'लीजेण्ड्स ऑफ पंजाब (१८८४)[५], 'वाइल्ड अवेक स्टोरीज़' (१८८५)[६], 'फोकलोअर इन सदर्न इण्डिया'[७], 'इण्डियन फोकलोअर',[८] 'शिमला विलेज टेल्स'[९], 'रोमाण्टिक टेल्स फ्राम पंजाब'[१०], 'बंगाली हाउस ओल्ड टेल्स'[११], ओरियण्टल पर्लस्'[१२], 'इण्डियन फेबल्स'[१३], 'फोक लोअर ऑफ तेलगूज़'[१४], 'ईस्ट बैंगाल बैलेड्स'[१५], 'फोक लोअर ऑफ बाम्बे'[१६], 'फोक लोअर नोट्स' 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बाम्बे'[१७], आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ और भी हैं जिनका विस्तार भय से यहाँ उल्लेख अपेक्षित नहीं प्रतीत होता। लेखक के 'भारतीय लोकसाहित्य' ग्रन्थ के परिशिष्ट में इनकी विस्तृत सूची दी गई है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जनरल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी', 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', 'नार्थ इण्डिया नोट्स एण्ड क्वेरीज़', 'बिहार, उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जनरल', आदि में छपे हुए डैमेण्ट, कुक, जे० एच० नॉलीज, बोम्पस, बोर्डिंग, ब्लूम फील्ड, शरच्चन्द्र राय, पैंजर, ग्रियर्सन, जोगेन्द्रनाथ, हॉफ़मैन, ब्राउन आदि के फुटकर लेखों में पर्याप्त उपयोगी सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हुआ है।

---

[१]मिस फ्रेयर, [२]डाल्टन, [३]लाल बिहारी दे, [४]तोरूदत्त, [५]आ० सी० टेम्पल, [६]श्रीमती स्टील, [७]नटेश शास्त्री, [८]आर० सी० मुकर्जी, [९]श्रीमती डेकार्ट [१०]सी० स्वीण्टर्न, [११]एम० कुलक, [१२]शोभनादेवी, [१३]रामस्वामी राजू, [१४]जी० आर० सुब्राह्म्य पंतालु, [१५]दिनेशचन्द्र चन्द्र कुमार (कलकत्ता विश्व-विद्यालय), [१६-१७] आई० ई० एन्थोवेन।

'लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' (१६०७-८ ई०) की जिल्दों में ग्रियर्सन ने कुछ सामग्री अनुवाद सहित प्रस्तुत की है।[१]

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह प्रकट होता है कि हिन्दी जनपदों की अपेक्षा अहिन्दी जनपदों में भारतीय और अभारतीय विद्वानों द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो हिस्लप, एल्विन, आर्चर और ग्रियर्सन के ही बाँटे आये। एक और उल्लेखनीय बात यह है कि लोक-कथाओं पर ही अधिक ध्यान दिया गया, लोकसाहित्य की अन्य दिशाएँ छुई भर गई हैं। आंग्लभाषियों द्वारा लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्य अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर प्रत्यक्ष यही है कि उसमें लोक-जीवन के नैकट्य की जिज्ञासा थी। कहा जाता है कि ईसाई मिश्नरियों ने फैलाव और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता से संकलन-कार्य को भी प्रेरणा दी।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय चेतना और भाषागत जागरूकता आरंभ हो गई थी। उसने पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न से प्रेरणा ग्रहण कर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना प्रारम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के पृष्ठ में राष्ट्रीय आन्दोलन और इने-गिने साहित्यिकों में निहित लोकोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की सरल और भोली 'त्रिधा' अभिव्यक्तियों का आकर्षण भी काम कर रहा था।

हिन्दी में मुद्रित लोकसाहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गये कार्यों पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक है। उनमें गुजराती, मराठी, बंगला और पंजाबी विशेष रूप से अग्रणीय रही हैं।

गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढियाली रात', (भाग ३), 'चून्दड़ी' (२ भाग), 'सौराष्ट्र नी रसधार' (५ भाग), 'सोरठी बहार वटिया' (३ भाग) तथा 'लोकसाहित्य', रणजीतराय-मेहता लिखित 'लोक-गीत' तथा नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संग्रहित 'नागर स्त्रियों मा गावता गीत'' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त 'छेल्लु प्रयाण', 'परकम्मा' और 'परिभ्रमण' विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'रासमाला' को (गुजराती विद्यासभा, अहमदाबाद) भी इस प्रयास के अन्तर्गत माना जा सकता है। विस्तृत सूची 'भारतीय लोक-साहित्य के परिशिष्ट में दी गई है।

मराठी में 'स्त्री जीवन,' दो भाग (सानेगुरू), 'साहित्याचें मूलधन' (कालेलकर व वामन चोरघड़े), 'अपौरुषेय वाङ्मय' (कमलाबाई देशपाण्डे), 'बरहाड़ी

---

[१]देखिये, 'लोकवार्ता' (जनवरी १६४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोककथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह लेख' शीर्षक लेख।

लोकगीतें' (पा० श्र० गोरे), 'लोकगीतें व लोककथा' (वि० वा० जोशी), 'लोक साहित्याचें लेणें' (मालती दांडेकर), 'जान पद गीतें' (अनुसूया भागवत) और का० न० केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाड़े' एवं डॉ० दुर्गा भागवत तथा डॉक्टर सरोजनी बावर आदि के फुटकर लेख उल्लेखनीय हैं। ये लेख मराठी के 'प्रसाद', 'सत्यकथा', 'सह्याद्रि', 'केसरी', 'साहित्य पत्रिका,' 'चित्रमय जगत्,' 'जनवाणी' एवं 'दीपावली' अंकों में प्रकाशित होते रहे हैं।

बङ्गला में 'खूकूमणीर छड़ा' (योगीन्द्रनाथ सरकार), 'बंगला व्रत' १६१६, (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर), 'हारामणी' (महम्मद मनसूरूद्दीन), 'बंगला बाउल' (जासीमुद्दीन), 'रंगलानायरे माझि, 'लोक-साहित्य,' (रवीन्द्रनाथ), 'मयमन सिंह गीतिका' (दिनेशचन्द्र सेन) आदि उल्लेखनीय सामग्री हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री अलग है।

पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं० रामशरणदास), 'गिद्धा' १६३६ (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'पंजाब दी आवाज' १६५२, (अमृता प्रीतम), 'असली रंग बरंगे गीत' (किशनचन्द मोगा) तथा हरभजन गियानी एवं ब्रह्मदास की कुछ रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। यह कार्य तो गुरुमुखी माध्यम में हुआ। उर्दू माध्यम में दीन महम्मद कुरता का 'पंजाब दे हीर' एवं रामशरण एडवोकेट का 'पंजाब दे गीत' तथा संतराम बी० ए० का हिन्दी में 'पंजाबी गीत' संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

नेन्दूरी गंगाधरन ने लगभग पाँच हजार तेलगू लोकगीत एकत्र किये हैं। के० व्ही० जगन्नाथम् ने तामिल लोककथाओं के दो संग्रह, गोपाल पिल्लई ने मलयालम लोकगीत तथा 'मालिगे डण्डे' काप्से लिखित प्रयत्न इस दिशा में सराहनीय सामग्री है।

लोकसाहित्य के संकलन के संबंध में जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समक्ष थीं वे सभी हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासि[illegible] से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा-सा संग्रह सन् १६१३ में प्रकाशित हुआ। बताया जाता है कि बाँकीपुर निवासी लाला खंगबहादुर 'मानव' ने सन् १८८४ में 'सुधा-बूँदा' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था किन्तु वह अभी तक लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो कम से कम यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य के संकलन का कार्य आरम्भ हो गया था।

हिन्दी में लोक-साहित्य के संकलन का कार्य यहीं से आरंभ होता है। सन् १६१४ के लगभग झूँझनूवाले खेताराम माली द्वारा संग्रहीत "मारवाड़ी गी[illegible]

संग्रह' कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। हिन्दी में सुव्यवस्थित प्रयत्नों के पूर्व, कहना होगा कि राजस्थान के मारवाड़ियों ने अनेक छोटे-मोटे सस्ते संग्रह व्यापारिक दृष्टि से प्रकाशित कर दिये थे। सन् १९२० के आसपास संतराम बी० ए० ने 'सरस्वती' में कुछ लोकगीत प्रकाशित किये। पं० रामनरेश त्रिपाठी उनसे निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। सन् १९२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणामस्वरूप 'कविता कौमुदी' 'पाँचवाँ भाग', 'हमारा ग्राम-साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत संग्रह' पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। 'कविता कौमुदी' की भूमिका में ग्रामगीत संग्रह के कार्य में आने वाले कष्टों का उल्लेख त्रिपाठी जी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरंभ करने के पूर्व 'सरस्वती' में कुछ गीतों को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चाँद' मासिक का भी उस समय पर्याप्त सहयोग रहा। त्रिपाठी जी की लगन और तपस्या का अनुमान उनके एक पद्य-पत्र से किया जा सकता है—

मैं विरही हूँ गीत का, धर मजनूँ का भेस।
झोली डाली गीत की, घूम रहा हूँ देस॥
अन्न वस्त्र लेता नहीं, नहीं विभव की चाह।
मुझे चाहिये गीत वह, जिसमें हो कुछ आह॥[1]

त्रिपाठी जी की ही भाँति १९३० ई० के पश्चात्, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतों की खोज में जुट गये। त्रिपाठी जी का क्षेत्र संकुचित और तनिक वैज्ञानिक रहा, पर सत्यार्थी जी का विस्तृत, छितराया हुआ और भावना-प्रधान। उन्होंने भारतीय ग्रामों में दूर-दूर तक भ्रमण कर गीतों का संकलन किया और उन्हीं गीतों पर 'माडर्न रिव्यू','रूरल इण्डिया' और हिन्दी उर्दू के पत्रों में क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थी जी के कठोर परिश्रम और प्रकाशन का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि ३० दिसम्बर, १९४७ में इनसे वार्तालाप करते हुए गाँधीजी ने कहा था——"पचास से अधिक भाषाओं में कोई तीन लाख गीत संग्रह कर डालना कोई छोटा-मोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गये हैं।'[2] गाँधी जी के इस कथन से यही संकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी १९२७ से ही गीतों को जुटाने में व्यस्त हो गये थे और प्रतिदिन औसतन ४१-४२ गीत एकत्र करते रहे। (यद्यपि यह सम्भव प्रतीत नहीं होता है)।

प्रथमोत्थान—लोक-साहित्य संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १९५२ तक समझनी चाहिये। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं में रसीले-चटकी ले लोकगीतों

---

[1]कविता कौमुदी (५वाँ भाग) की भूमिका, पृष्ठ ३३। [2]देवेन्द्र सत्यार्थी, 'धरती गाती है', आमुख-पृष्ठ ३।

की शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति 'आह' 'और' वाह' की प्रवृत्तियों से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड़ अवश्य इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गये थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नों से राजस्थानी गीतों का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरंभ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान पं० रामनरेश त्रिपाठी की कविता कौमुदी और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखों से प्रभावित होकर केवल लोकगीतों के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १९४२ के पश्चात् हिन्दी में अपने-अपने इस मूलधन' के प्रति एक नवीन जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के विकेन्द्रीकरण योजना तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद कल्याणी योजना प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थी। राहुल सांकृत्यायन लिखित 'मातृ-भाषाओं का प्रश्न' लेख तथा शिवदानसिंह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध रूप में लिखी गई रिपोर्ट[1] भी अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे। इस वैचारिक ऊहापोह का परिणाम यह हुआ कि कुछ विद्वान् लोकवार्ता-साहित्य के संकलन के विषय में सोचने लगे कि किस प्रकार यह कार्य आगे बढ़ाया जाय। कुछ लोगों ने ये भी प्रश्न उपस्थित किये कि लोक-साहित्य अथवा लोकवार्ता-साहित्य के संकलन से क्या होगा, तथा उत्तम साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की संभावना है? किन्हीं अंशों में प्रथम प्रश्न का निराकरण अभी भी अस्पष्ट बना हुआ है। स्पष्ट चित्र सबके सामने नहीं है। काम करने का प्रश्न तो साधनों के अभाव में भविष्य में भी बना रह सकता है। स्व० राहुल सांकृत्यायन ने सन् १९३७ में लोक-साहित्य सङ्कलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय में साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा :—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।
(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।
(३) जहाँ भाषा-तत्वज्ञ तथा भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।
(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों।
(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्त्ता सुलभ हों।
(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[2]

---

[1]देखिये, चौहानजी की पुस्तक—प्रगतिवाद। [2]देखिये, 'पुरातत्व निबन्धावली'—'हिन्दी की स्थानीय भाषा' निबन्ध।

द्वितीयोत्थान—द्वितीय उत्थान में लोकसंस्कृति के अध्ययन और लोकसाहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय संस्थाओं का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज में 'ब्रज-साहित्य मंडल', गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य परिषद्', बघेलखण्ड में 'रघुराज साहित्य परिषद्', बुन्देलखण्ड में 'लोकवार्ता साहित्य परिषद्' भोजपुर में 'भोजपुरी लोक-साहित्य परिषद्', राजस्थान में 'भारतीय लोककला मंडल', तथा मालवा में 'मालवा लोक साहित्य-परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। वैसे संस्थाओं के निर्माण आदि की दृष्टि से द्वितीयोत्पादन का काल अभी समाप्त नहीं समझना चाहिये। सौभाग्य से भारत सरकार के कुछ विभागों में इस साहित्य के प्रति जिज्ञासा भाव का उदय हुआ है। परिणामस्वरूप पुनरुत्थान की दृष्टि से राजधानी की गतिविधियों में उसे स्थान मिलने लगा है। संगीत-नाटक अकादमी और बाद में रक्षा-मंत्रालय द्वारा आयोजित गणराज्य-दिवस पर लोकनृत्य-महोत्सव और आकाशवाणी द्वारा प्रसारित विभिन्न लोक-गीतों के कार्यक्रम प्रभावित किये बिना नहीं रहते हैं। प्रकट है कि प्रथमोत्थान की अपेक्षा बहुमुखी प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीयोत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिये उक्त काल के प्रयत्नों पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है—

(क) लोकगीतों का संकलन—

(अ) शास्त्रीय अनुशीलनयुक्त लोकगीतों के संग्रह और,

(आ) भावानात्मक ढंग से लोकगीतों पर लिखे गये लेखों के संग्रह

(ख) लोककथाओं का संकलन,

(ग) लोकोक्तियों और कहावतों के संग्रह,

(घ) आलोचना-प्रधान लोकवार्ता संबंधी, प्रबन्ध अथवा ग्रंथ,

(ङ) लोकवार्ता-संबंधी पत्र-पत्रिकाएँ और,

(च) फुटकर प्रयत्न।

(क)—(अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियों में, द्वितीयोत्थान के अर्धशतक में प्रमुखरूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखंडी तथा मालवी आदि बोलियों के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियों के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशकों के अभाव में उनका प्रकाशन बहुत कम हो पाया है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार है—

मारवाड़ी

(१) 'मारवाड़ी गीत संग्रह' (खेताराम माली), कलकत्ता १९१४ के लग-भग प्रकाशित; (२) 'असली मारवाड़ी गीत' (विद्याधरी देवी), कलकत्ता, संवत्

१६६०; (३) 'मारवाड़ के ग्रामगीत' (जगदीशसिंह गहलोत), सं० १६८६; (४) 'मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह' (ताराचन्द ओझा); (५) 'मारवाड़ी गीत माला' (मदनलाल वैश्य); (६) 'मारवाड़ी गीत' (निहालचन्द्र वर्मा); (७) 'मारवाड़ के मनोहर गीत' (रामनरेश त्रिपाठी)।[१]

राजस्थानी

(१) जैसलमेरीय संगीत रत्नाकर' (रघुनाथसिंह), नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ संवत १६८६; (२) मरुधर गीत माला' पाँच भाग, (कुँवर सरदारमल थानवी) सन् १६३०; (३) 'घुड़ला' (सरदारमल थानवी), सं० १६६०; (४) 'पुष्करणों के सामाजिक गीत' (पुरुषोत्तमदास पुरोहित); (५) 'राजस्थान के लोकगीत' (पारीक, ठाकुर रामसिंह तथा नरोत्तम स्वामी), दो भाग, राजस्थान रीसर्च सोसायटी, कलकत्ता, सन् १६३८; (६) राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी), गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा, सं० १६६७; (७) 'राजस्थानी लोक गीत' (पारीक), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १६६६; (८) 'राजस्थानी संगीत' (सागरमलगोपा) सं० १६६६, (६) राजस्थान रा दूहा (नरोत्तम स्वामी) सन् १६३५)!

भोजपुरी

(१) भोजपुरी ग्राम-गीत' (कृष्णदेव उपाध्याय), दो भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००२; (२) 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह) सन् १६५०; (३) 'भोजपुरी ग्राम्य गीत' (आर्चर तथा संकटाप्रसाद) और अंग्रेजी में किये गये प्रयत्न।

छत्तीसगढ़ी

(१) 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' (श्यामाचरण दुबे) १६४०; (२) 'छत्तीसगढ़ के लोकगीत' (छत्तीसगढ़ी शोध-संस्थान)।

---

[१] इन संग्रहों के अतिरिक्त अगरचन्द नाहटा ने कलकत्ते के प्रकाशक बैजनाथ केड़िया के हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित 'मारवाड़ी गीत' तथा सन् १६२६ में ईश्वरलाल बुक्सेलर द्वारा प्रकाशित 'बृहद् मारवाड़ी गीतसंग्रह' और कुछ छोटी मोटी पुस्तकों का उल्लेख भी किया है।—वीणा, सन् १६५६ जनवरी।

मैथिली-बिहारी

(१) 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश') हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९; (२)' सरायकेला खरसवा के ग्राम्यगीत : कैसे अकुहा आषा, कैसे उतला आशा (देवकीनन्दन प्रसाद), पटना, १९५५।

बुन्देलखण्डी-बघेली

(१) 'ईसुरी की फागें' (सं० कृष्णानन्द गुप्त), लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़; (२) 'ईसुरी प्रकाश' (गौरीशंकर द्विवेदी); (३) 'बाघेली लोकगीत' (ललन प्रताप 'उरगेश') कटिया, १९५४; (४)' 'विन्ध्य प्रदेश के लोकगीत' (श्रीचन्द्र जैन) दिल्ली, १९५३।

कौरवी

(१) 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें' (राहुल सांकृत्यायन), पटना, १९५२।

अवधी

(१) 'कविता कौमुदी' (रामनरेश त्रिपाठी), सं० १९९९; (२) 'सोहाग गीत' (विद्यावती कोकिल), प्रयाग, १९५३।

निमाड़ी

(१) 'निमाड़ी ग्राम्य-गीत' (रामनारायण उपाध्याय) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर, १९४९; (२) 'सन्त सिंगाजी' (सुकुमार पगारे), खण्डवा, १९४६।

मालवी

(१) 'मालवी लोकगीत' (श्याम परमार), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर, संवत् २००९।

उक्त संग्रहों में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त भूमिकाओं में संपादकों द्वारा लिखे गये लोक-गीत संबंधी विवेचन पठनीय हैं। 'भोजपुरी ग्राम्य-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ४५ पृष्ठों में लिखी है, जिसमें गीतों के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्पराएँ, गाने के ढंग, प्रकार तथा भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए अन्त में भोजपुरी व्याकरण तक की रूपरेखा दी है। इसी प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका में लोकगीतों की तह

तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोक-गीत' यद्यपि छोटा संग्रह हैं, पर सूर्यकरण पारीक ने ३२ पृष्ठों में राजस्थानी गीतों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक पद्धति से किया है। गीतों की तुलनात्मक टिप्पणियाँ और उपमानों की तालिका, इनकी गीतों में गहरी पैठ के द्योतक हैं। 'इसुरी के फागे' बुन्देलखण्ड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागों का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोक-कवि के जीवन और रचनाओं पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी लोक-गीत साहित्य में प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहों के प्रति समग्र रूप से यही कहना उचित होगा कि उनमें यद्यपि लोक-वार्ता का वैज्ञानिक स्वरूप पूर्ण रीति से निखरा नहीं है, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नींव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावनात्मक ढंग से लिखे गये लोक-गीत संबंधी लेखसंग्रहों के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित—(१) 'धरती गाती है' (१९४८), (२) 'धीरे बहो गंगा' (१९४८), (३) 'बेला फूले आधी रात' (१९४९) और (४) 'बाजत आवे ढोल' (१९५२) पुस्तकें आती हैं। यों तो उन्हें हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल में हुआ। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बहुत समय तक बना रहा। इसमें संदेह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थी जी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतों के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता संबंधी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान और फिर उसका काव्याभासित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमें उनके लेखों में मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहों में मूल गीतों की संख्या कम है। यद्यपि गीतों के लिये उन्होंने अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होंने अपने लिये केवल गीतों की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं। अपनी शैली को उन्होंने स्वतंत्र निजी चर्चा की शैली[2] कहा है, इसलिये वह साधारण पाठकों को तत्काल छू लेती है। सत्यार्थी जी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतों के अनुवाद संबंधी शैली के विषय में है। उन्होंने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है।" सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा, न एक शब्द कम, पंक्तिवार अनुवाद, यही है अन्ताराष्ट्रीय लोकगीत विशेषज्ञों की शैली।

---

[1]'राकेश जी' ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतों को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूल रूप नष्ट हो गये हैं। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता। [2]धरती गाती है, आमुख, पृ० ६।

'जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी न किसी दो-भाषिए की सहायता से गीतों का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा—प्रत्येक शब्द का अनुवाद, प्रत्येक कड़ी का अनुवाद...अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रयत्न में क्रमशः अधिक से अधिक सफल होता चला गया।' सत्यार्थी जी अपने कुछ लेखों में लोकगीत संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गये हैं, जिनसे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमें कहानी-तत्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोककथाओं के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ॰ वेरियर एल्विन ने अपने ग्रंथ 'फोक टेल्स ऑफ़ महाकोशल' की भूमिका में प्रसिद्ध नृशास्त्रवेत्ता नार्मन ब्राउन के अनुमान का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग तीन हजार लोककथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंजाब, संथाल परगना और मध्यभारत से लगभग छः सौ कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉक्टर एल्विन ने अपने संग्रह 'फोक टेल्स ऑफ महाकोशल' में १५० तथा अन्य रचनाओं में ५५ कथाएँ संकलित की हैं। ब्लूम फील्ड का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओं में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। अंग्रेज विद्वानों द्वारा लोककथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिकता की दृष्टि से संदेहास्पद है। इसके कारण अनेक हैं पर मुख्य कारण उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरंजन एवं रोमांच तक ही सीमित रहा है।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिये अधिक सुलभ है जो अपने क्षेत्र की बोलियों और वहाँ के जन-जीवन की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास स्वर्गीय पं॰ शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोककथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोककथाओं की परम्परागत शैली नष्ट न होने दी। इसी प्रकार राजस्थानी और मालवी कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं। आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हिन्दी और अहिन्दी प्रान्तों के अनेक लोक-कथा संग्रहों के अतिरिक्त, पब्लिकेशन डिवीजन द्वारा प्रकाशित संग्रह तथा सस्ता साहित्य मंडल ने जो लोककथा-माला आरंभ की है उसका प्रथम संग्रह 'हमारी लोककथाएँ उल्लेखनीय है। ब्रजकथाओं के संग्रह का उल्लेख भी अपेक्षित है।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी के माध्यम से बहुत काम होना शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक, संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, असमी तथा ऐशियायी देशों में फैले हुए लोककथाओं के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं (बिना कतरव्योत) के लिपिबद्ध किये जाने से पूर्ण नहीं हो सकता।

कथाओं की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती हैं, जिनका संकलन साधारणतः नहीं के बराबर है। अतः संबंधित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा में काम तब तक न होगा जब तक आंग्लभाषी संग्रहों से उत्पन्न प्रतियाँ नष्ट नहीं होती।

(ग) लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी में किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी कन्हैयालाल सहल के लेखों में सधा हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। लोकोक्तियों के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव-प्रसूत सांकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं। हिन्दी भाषियों के लिये जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमें प्रान्तीय बोलियों की अनेक लोकोक्तियों का समावेश हुआ है। फेलन की 'डिक्शनरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्रावर्ब्स' में भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की लोकोक्तियों को भी स्थान दिया गया है। वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे-लोकोक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों की संपत्ति हैं, पर उन्हें मूलरूप में संकलित करना अनेक कारणों से आवश्यक है। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में आधुनिक लोकोक्तियों के अनेक प्राचीन स्वरूप विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियों के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारंभ से अब तक के उनके भिन्न-रूपों का पता लगाकर उनका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाय।

हिन्दी में जनपदीय लोकोक्तियों की प्रकाशित पुस्तकें केवल पाँच-छः ही हैं—(१) मेवाड़ की कहावतें, भाग एक (लक्ष्मीलाल जोशी), (२) मालवी-कहावतें (रतनलाल मेहता), (३) राजस्थानी भीलों की कहावतें, भाग एक (मेनारिया), (४) राजस्थानी कहावतें (कन्हैयालाल सहल), (५) राजस्थानी कहावतां (कलकत्ता, २००६) और (६) 'कहावती कहानियाँ' आदि।

अंग्रेजों ने भी इस ओर ध्यान दिया था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' में पंजाबी मुहावरों पर एक अच्छा निबन्ध दिया है। पहेलियों के संकलित प्रयास संतोषजनक नहीं हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' (५ वाँ भाग) में उत्तरप्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं। 'ग्राम-साहित्य' (भाग तीन) में भी कुछ पहेलियाँ संकलित हैं। पहेलियों का पर्याप्त साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा हुआ है। वर्षा, आँधी-पानी तथा खेती आदि के संबंध में घाघ और भड्डरी तथा अन्य जन-कवियों द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियों के प्रामाणिक संग्रह के प्रकाशन का श्रेय भी त्रिपाठी जी को ही प्राप्त है। पं० गणेशदत्त इन्द्र (म० भा०) ने पौष, आषाढ़, श्रावण, भादों, तथा ग्रहों संबंधी एक लेख-माला सन् १९४१ में 'जयाजी प्रताप' ग्वालियर में लिखकर प्रकाशित की थी, जिसमें बहुत-सी लोकोक्तियों का समावेश हो गया है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते हैं, तब उनके रूपों में परिवर्तन हो जाना असंभव नहीं। परिस्थिति की मार से कई कहावतें जो किसी वर्ग तक सीमित होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। नई बातों के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतों और लोकोक्तियों के उपकरण बदलने लगते हैं, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है।

पहेलियाँ जिन्हें संस्कृत में 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा में संकलित की गईं, यह स्पष्ट है। डॉ० वैरियर एल्विन और आर्चर ने सन् १९४३ में 'मेन इन इण्डिया' में एक लेख लिखा था[1] जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते हिन्दी में किये गये प्रयत्नों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियों के विकास पर अपने विचार व्यक्त किये हैं—"भारतवर्ष में तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोदय' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' में तो 'ब्रह्मोदय' अनुष्ठान का ही एक भाग था। अश्व की वास्तविक बलि से पूर्ण, होतृ, और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियों का प्रयोग भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी मिलता है।"[2]

(घ) लोक-साहित्य संबंधी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा-दर्शक) हिन्दी में केवल दो ग्रन्थ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी-पुत्र' और डॉ० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' उल्लेखनीय हैं। यों राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों में मार्ग-दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह भी दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और डॉ० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा। यहाँ 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' के लेखक डॉ० उदयनारायण तिवारी तथा आगरा, नागपुर, सागर और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में लोक-साहित्य संबंधी अन्वेषण-कार्यों का उल्लेख करना भी आवश्यक है।

(ङ) जनपदीय साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में वर्षों से सचेष्ट रही। उसमें प्राय: बुन्देलखण्ड की लोक-साहित्य संबंधी सामग्री छपती रही है। 'मधुकर' के माध्मम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तों का बहुत-

---

[1] 'एन इण्डियन रिडल बुक', अंक ११, सं० ४, 'नोट आन दी यूज़ ऑफ़ रिडल्स इन इण्डिया।' [2] 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ५२०-२१।

सा लोकसाहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकी टिप्पणियों और अन्य लेखों में 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना पर बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा में वैचारिक सूत्र प्राप्त हुआ। ब्रजमंडल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। प्रारंभ में वह अवश्य ही लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही, पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभाव स्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १९४५ ई० में श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका 'लोकवार्ता' प्रकाशित होने लगी। छः अंकों के बाद पत्रिका का प्रकाशन स्थगित हो गया। इश बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित प्रणाली के कारण पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई थी। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता संबंधी कार्य करने वाली कुछ पत्रिकाएँ और प्रकाशित हुईं। राजस्थान से 'शोधपत्रिका' (उदयपुर) और 'राजस्थान भारती' [बीकानेर]—दो पत्रिकाएँ इतिहास, साहित्य और लोकवार्ता-प्रकाशन के उद्देश्य को लेकर आजकल बराबर प्रकाशित हो रही हैं। राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता से प्रकाशित 'राजस्थान' तथा 'राजस्थानी' त्रैमासिक, पिलाणी से प्रकाशित 'मरु भारती', जयपुर की 'मरुवाणी', मारवाड़ी, छात्रसंघ, कलकत्ता का त्रैमासिक 'मारवाड़ी' तथा 'विकास' [कोटा] आदि अन्य उल्लेखनीय पत्र-पत्रिकाएँ हैं। भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर का 'लोक-कला' त्रैमासिक भी उल्लेखनीय है।

सन् १९५३ में हिन्दी जनपद परिषद् का मुखपत्र 'जनपद' त्रैमासिक प्रकाशित होकर चार अंकों के पश्चात् बन्द हो गया। 'लोकवार्ता' के पश्चात् यही पत्र प्रौढ़ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर आगे आया था। वैसे सन् १९५२ से आरा [बिहार] की भोजपुरी समिति द्वारा 'भोजपुरी' तथा छत्तीसगढ़ी शोध-संस्थान, रायपुर से सन् १९५५ में 'छत्तीसगढ़ी' मासिक का आरम्भ हुआ है।

(च) फुटकर प्रयत्नों के अन्तर्गत मासिक, साप्ताहिक और त्रैमासिक लोकवार्ता संबंधी विशेषांकों को स्थान प्राप्त है। 'आजकल' मासिक के 'लोककथा अंक' और 'आदिवासी अंक', 'सप्तसिन्धु' (मासिक, पंजाबी-विभाग, पटियाला) का लोक-गीत अंक, (अक्टूबर, १९५५), 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक का 'लोक-साहित्य अंक', 'बिन्ध्य-भूमि' (त्रैमासिक, रींवा) और 'साहित्य सम्मेलन पत्रिका' प्रयाग के 'लोक-संस्कृति अंक' उल्लेखनीय प्रकाशन हैं। इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होने वाले भी हैं, जिनमें अधिकतर अभी भी 'आह' और 'वाह' की ध्वनि मिल जाती है। यद्यपि इन फुटकर प्रयत्नों में

सार कम है तथापि प्रचारात्मक दृष्टि से इस बहाने लोकसाहित्य-संकलन का आन्दोलन आगे ही बढ़ता जा रहा है। अधिकांश लेख मुद्रित सामग्री पर ही आधारित होते हैं। मासिकों और त्रैमासिकों में प्रकाशित होने वाला साहित्य अवश्य उत्तम कोटि का होता है।

आन्दोलन की गति के साथ ज्यों-ज्यों इस युग के साहित्यिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ त्यों-त्यों लेखकों और आलोचकों में लोक-साहित्य ही महत्ता बखान करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, कुछ तो वास्तव में सचाई के समर्थन के नाते और कुछ 'फैशन' के नाते। प्रान्तीय लोक-साहित्य परिषदें इस स्थिति को लाने में सहायक सिद्ध हुईं।

(छ) आज से तीस वर्ष पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय भाषाओं और उसके साहित्य की सुरक्षा के लिये संकेत किया था। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने भी समय-समय पर प्रस्तावों द्वारा इस ओर पग बढ़ाने की प्रवृत्ति प्रकट की और नाम के लिये दो-गीत संग्रहों का प्रकाशन करके कार्य रोक दिया। यह परम्परा द्रुत गति से नहीं बढ़ी। साधनों के अभाव में प्रामाणिकता की कमी भी बहुत कुछ बनी रही। कुछ संग्रहों को छोड़कर शेष ग्रंथ या तो छोटी-मोटी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित हुए या फिर व्यक्तिगत प्रयत्न ही बने। अतएव निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकलित लोक- साहित्य कहाँ तक प्रामाणिक है। अब तक के समस्त प्रयत्न भारत जैसे विशाल देश के लिये अत्यन्त साधारण हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखन के पश्चात् इसके प्रकाशन की स्थिति तक आते-आते हिन्दी और इतर भाषाओं में इस विषय से सम्बन्ति कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनका विस्तार से उल्लेख करना यहाँ उचित नहीं होगा, तथापि संक्षेप में कतिपय महत्त्वपूर्ण सामग्री का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है :—

हिन्दी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (षोड़श भाग) नागरी प्रचारिणी सभा के सद्प्रयत्नों से प्रकाशित हुआ। इसमें उत्तर भारत की बीस बोलियों के लोकसाहित्य का उनके अधिकारी विद्वानों द्वारा सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध-ग्रन्थों में इधर 'भोजपुरी लोकगाथा' (डॉ० सत्यव्रत सिन्हा), 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन' (डॉ० सत्येन्द्र) 'हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य' (डॉ० शंकरलाल यादव), 'मैथली लोकगीतों का अध्ययन', (डॉ० तेजनारायण लाल) तथा 'कन्नौजी साहित्य' (संतराम अनिल) उल्लेखनीय हैं। विवेचनात्मक गीत संग्रहों में 'बासुरी बज रही' (जगदीश त्रिगुणायत), 'बुन्देलखण्डी लोकगीत' (हरप्रसाद शर्मा), 'उत्तरप्रदेश के

लोकगीत' (सू०वि०, उत्तरप्रदेश), 'राजस्थानी लोकगीत' (रानी लक्ष्मी चूडावत), 'धूल धूसरित मणियाँ' (सीतादेवी), 'गढ़वाली लोकगीत' (डॉ० गोविन्द चातक) तथा 'परम्परा' (जोधपुर) के अंक और लोककला मंडल, उदयपुर के प्रकाशन, अध्ययन की दृष्टि से काम की सामग्री हैं। राजस्थानी संगीत नाटक अकादेमी की प्रेरणा से लोककथाओं के विशाल संग्रह का सिलसिला 'वाताड़ी-फुलवाड़ी' (तीन भाग) में देखा जा सकता है। साथ ही द्रष्टव्य है श्री कोमल कोठारी के फुटकर लेख जिनका प्रकाशन एक संग्रह के रूप में राजस्थान से ही हुआ है।

विस्तारभय से इस सम्बन्ध में अधिक लिखना सम्भव नहीं किन्तु इतना स्पष्ट है कि लोक-साहित्य के अध्ययन की जो धारा प्रवाहित हुई, उसने अनेक नयी दिशाओं को उजागर किया।]

प्रथम अध्याय

(अ)

मालव—'मालव' शब्द की उत्पत्ति के संबंध में मतवैभिन्न्य है। स्थूलरूप से अनेक विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि मालवगण के आगमन के पश्चात् इस जनपद का नाम मालव अथवा मालवा पड़ा।[1] किन्तु मालवा के संबंध में प्रचलित मत के विरोध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया है कि मालवगण बाहर से यहाँ नहीं आये अपितु यहाँ से ही भिन्न-भिन्न स्थानों में गये हैं।[2] संदेह नहीं, इस जनपद के प्राचीन होने के अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालवों का उसके साथ युद्ध हुआ था।[3] मद्र और पौरव जाति के साथ मालवों का उल्लेख बृहत्संहिता में इस प्रकार आया है—

अम्बरमद्रकमालवपौरु-वकच्छारदण्ड-पिंगलकाः।
माणहलहूणको हलशीतकमाण्डव्य भूतपुराः ॥[4]

श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'मल्ल' से 'मालवा' शब्द आया है। बुद्ध के समय और उसके भी बहुत पीछे तक मालव अवन्ति जनपद कहलाता रहा। अनेक ग्रंथों में 'मालव' शब्द का उल्लेख आया है।[5] महाभारत में प्रसिद्ध कीचक और उसकी भगिनी सुदेष्णा, मालव कुमारी से उत्पन्न बताये गये हैं। अश्वपति कैकय की कन्या सावित्रि मालवी थी जिसे यम द्वारा मालव नाम के सौ पुत्र होने का वरदान हुआ था—

पितुश्चते पुत्रशतं भविता तव मातरि।
मालव्यां मालवा नाम शाश्वता पुत्रपौत्रिणः ॥[6]

---

[1]इम्पीरियल गज़ेटियर आफ़ इण्डिया; सेण्ट्रल इण्डिया, कलकत्ता, १९०८, पृष्ठ १८। [2]सूर्यनारायण व्यास, मालव, मालव-जनपद और उसका क्षेत्र विस्तार, भा० लो० सा० परिषद्, उज्जैन, पृष्ठ ६-१२। [3]राखलदास वन्द्योपाध्याय, प्राचीन मुद्रा (अनुवाद), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९८१, पृष्ठ १४३। [4]वृहत्संहिता—१४-२७। [5]देखिये, स्कन्धपुराण, कुमारखण्ड, ३४, ३९; महाभारत—सभा पर्व, ७०-७८; भीष्म पर्व ११७।३३।, ११९।८५; द्रौण पर्व ७।१५। आदि। [6]वनपर्व, २९७।

'मालव' अथवा 'मालवा' के नाम से ज्ञापित ग्राम युक्तप्रदेश अथवा पंचनद के कुछ स्थानों में मिलते हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मालवगण एक स्थान पर स्थायीरूप से नहीं रहे। मालव जाति की प्राचीन मुद्राएँ राजपूताना के कुछ भागों में मिली हैं, जो ई० पूर्व दूसरी शताब्दी की सिद्ध हुई हैं। उनमें से अधिकांश मुद्राओं पर 'मालवानां जयः' अथवा 'जय मालवनां-जयः' लिखा है। कुछ मुद्राओं पर मालव जाति के राजाओं के नाम भी हैं।[1] पुराणों के आधार पर विन्ध्य-पर्वत के पृष्ठवर्ती बारह जनपदों में मालव भी एक था।[2] पाणिनि ने ई० पू० पाँच सौ वर्ष पूर्व मालवों का उल्लेख दिया है।[3] डॉक्टर आर० डी० बनर्जी ने मालवों को पंजाब निवासी बताया है जो बाद में आकर अवन्ती जनपद में बस गये।[4] प्रकट है कि मालव जाति अत्यन्त प्राचीन है और उसकी प्राचीनता के साथ ही 'मालव' अथवा 'मालवा' शब्द की प्राचीनता सन्दिग्ध है।

'मालव' शब्द उपजाऊ अर्थ का भी द्योतक है। मालवा में 'माल' शब्द उस भूमि के लिये प्रयुक्त होता है जहाँ फसल बोयी जाती है। यह भूमि ग्राम के निकट होती है। 'मरू' शब्द के ठीक विपरीत 'माल' है - 'मरु मालव महिदेव गवासा'—(तुलसी)। अतः मालवा उपजाऊ प्रदेश का सूचक है और संभवतः 'माळ' से बना हो। प्रकृति की कृपा से यह भूमि धनधान्य से समृद्ध भी है। अन्य प्रान्तों के गीतों में अकाल-अनावृष्टि के समय मालवा जाने की सलाह दी गयी है।

मालवा की सीमा—भारतवर्ष के मध्य भाग में थोड़ा पश्चिम की ओर हटकर चार प्रमुख भाषाओं से घिरा हुआ मालव प्रदेश वर्तमान मध्यभारत प्रान्त के अन्तर्गत दक्षिण भाग में स्थित एवं उसके निकटवर्ती राज्यों में फैला हुआ एक उन्नत भू-भाग है।[5] भौगोलिक परिसीमाओं से समृद्ध यही भू-भाग मालवा का पठार कहा जाता है—'मालमुन्नत-भूतलम्' किन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि यह पठार अपने आप में एक ही भाषा, संस्कृति और जन का द्योतक है। यह तो उन्नत भू-भाग के लिये भौगोलिकों द्वारा निर्धारित संज्ञा मात्र है।

---

[1]कनिंघमस् आर्क्योलिजीकल सर्वे रिपोर्टस्, खण्ड ६, पृष्ठ १६५-७४ तथा खण्ड १४, पृष्ठ ४६। [2]वायुपुराण, ४५।१३१,१३४, ब्रह्माण्ड, २।१६१।६३।६६ तथा मत्स्य—११४।५१।५४। [3]जायसवाल, हिन्दु पोलिटी, अध्याय ४। [4]प्रिहिस्टोरिक एन्श्यण्ट एण्ड हिन्दु इण्डिया, पृष्ठ १६४। [5]यह प्रदेश उत्तर अक्षांश २३·३० से २४·३० और पूर्व रेखांश ७४·३० से ७८·१० के मध्य में स्थित है।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार मालवा विशेषरूप से उन्नत पहाड़ी पठार का द्योतक है, जो विन्ध्याचल की श्रेणियों से घिरा हुआ उत्तर में चम्बल नदी तक व्याप्त है तथा जो दक्षिण की ओर अपने में नर्मदा घाटी को सम्मिलित करता है।[१] इस प्रकार निमाड़ भी मालवा का ही अंग बन जाता है। भाषा की दृष्टि से उसका कुछ भाग तो प्राकृतिक रूप से है ही। वस्तुत: इसके मानचित्र पर दृष्टि डालते ही सहज में समझा जा सकता है कि यह 'पठार' मालवा का पठार इसलिये है कि इसमें मालव जनपद का अधिकांश भाग सम्मिलित है। सेन्ट्रल इण्डिया गजेटियर के अनुसार इस पठार की समुद्रतल से आनुपातिक ऊँचाई १६०० फुट है और इसके प्रति वर्गमील में १०२ व्यक्ति निवास करते हैं।[२] सीमा के संबंध में गजेटियर का कथन है कि नर्मदा-उपत्यका के उत्तरी किनारों का निर्माण करती हुई तथा ग्वालियर के दक्षिण की ओर झुकी हुई विन्ध्या की श्रेणियाँ तथा भेलसा के निकट से आरंभ होने वाली दक्षिण से उत्तर की ओर जाती हुई पूर्वी सीमापट्टी तथा पश्चिमी सीमा रेखा जो राजपूताना की ओर बढ़ती है—के मध्य का समस्त भू-भाग मालवा है।[३] मालकम ने अपने 'मेमायर ऑफ़ सेण्ट्रल इण्डिया' में डेञ्जर फील्ड (सर्वेइंग आफ़िसर) द्वारा सूचित सीमाओं का उल्लेख करते हुए उसे चारों ओर से पहाड़ी भू-भागों से घिरा हुआ बताया।[४] केवल विन्ध्या की बिखरी हुई श्रेणियों को छोड़कर सम्पूर्ण पठार अपने आप में सुगठित एवं स्वतंत्र है।[५]

---

[१] 'स्ट्रिक्टली, दी नेम इज़ कनफाइन्ड टू दि हिल्ली टेब्ल लैण्ड बाउण्डेड बाय विन्ध्या रेञ्जेस ह्विच डेन्स नार्थ इन्टू दी रिवर चम्बल : बट इट हैजबीन एक्सटेण्डेड टू इन्क्लूड दी नर्वदा बेली फरदर साउथ'—१४वाँ संस्करण, पृष्ठ ७४७। [२] इम्पीरियल गजेटियर, ऑफ़ इण्डिया, सेण्ट्रल इण्डिया, १६०८, पृष्ठ २। [३] वही। [४] मालवा इटसेल्फ़, दो आन आल साइड्स बाउण्डेड बाय हिली ट्रैक्ट्स एण्ड आन दी वेस्ट एण्ड नार्थ-वेस्ट बाय ए ग्रेण्ड प्रिमिटिव्ह रेन्ज, ह्विच डिवाइड्स इट फ्राम दी अलयूव्हियल प्लेन्स ऑफ़ गुजरात एण्ड बिच-कान्स्टीट्यूट्स आल दी प्रोविन्स ऑफ़ मेरवाड़ (एण्ड प्रावेबली मारवाड़) कान्टेन्स नन वट दी स्माल कोनीकल एण्ड टेबल क्राउण्ड हिल्स फ्राम वन ऑफ़ दी थ्री हण्ड्रेड फीट हाम, कामन टू ह्वाट आर कन्सीडर्ड दी नेह्वर ट्रेप्ट कण्ट्रीज—" अपेण्डीक्स नं० २, मेमायर ऑफ़ सेन्ट्रल इण्डिया इन्क्लूडिङ्ग मालवा, खण्ड २, पृष्ठ ३२१, लन्दन, १८२४। [५] रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ़ सेन्ट्रल इण्डिया ऐजेन्सी, १६३१ : व्हाल्यूम २०, सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, १६३१, अध्याय १, पृष्ठ २।

डॉ० यदुनाथ सरकार ने अपने 'इण्डिया ऑफ़ औरंगजेब' नामक ग्रन्थ में मालवा के विषय में लिखा है—"स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूरब में बेतवा एवं उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थी। पश्चिम में कांठल एवं बाँगड़ के प्रदेश मालवा को राजपूताना तथा गुजरात से पृथक् करते थे और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा हाड़ौती प्रदेश तक पहुँचती थी। मालवा के पूर्व एवं उत्तर-दक्षिण में बुन्देलखण्ड और गोण्डवाना के प्रान्त फैले हुए थे।"[1]

डॉ० सरकार की यह मान्यता मालव-सीमा संबंधी प्रचलित इन पंक्तियों के बहुत कुछ अनुरूप है—

इत चम्बल, उत बेतवा, मालव-सीम सुजान।
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहचान॥

जहाँ तक कि विशेष जन, संस्कृति और भाषा का संबंध है, सीमा विषयक मान्यता अनुचित नहीं है। इसमें किसी जनपद के लिये भाषा की दृष्टि से अनिवार्य एवं संगठित रूप विद्यमान है। स्पष्ट है कि यह भाग सम्पूर्ण मालव-पठार का सूचक नहीं है, अपितु एक खण्ड मात्र है। अतः मालवा की बोली का उल्लेख करते हुए सहसा यह मान लेना कि मालवी समस्त पठार पर बोली जाती है, अनुपयुक्त होगा। किन्तु यह स्पष्ट है कि पठार की बोलियाँ एक दूसरे के पर्याप्त निकट हैं और उनके सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सूत्र एक-दूसरे से गुम्फित हैं।

जातियों का आगमन और अन्तरावलम्बन—मालव की इन बोलियों पर विस्तार से चर्चा करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मालवा में आने वाली भिन्न-भिन्न जातियों एवं उनके सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन के ऐतिह्य पर संक्षेप में विचार किया जाय।

मालवा में आगमन का प्रमुख प्रवाह सिन्धु और गंगा के मैदान की ओर से आया। मुख्यतः यह गुजरात के पश्चिम की ओर चम्बल के ऊपर का खण्ड था। प्रमाणों के आधार पर पूर्व ऐतिहासिक युग में और पर्याप्त बाद में भी नर्मदा-उपत्यका के भीतर आवागमन चक्र बना रहा। यों बुद्ध के काल में मालवा और गुजरात के सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। राजपूतों के उदय के पश्चात् चम्बल के पार्श्ववर्ती भाग से आगमन का क्रम आरंभ हुआ। विन्ध्य की श्रेणियाँ दक्षिण के प्रवाह को बहुत समय तक रोके रहीं, यद्यपि नर्मदा के तटवर्ती ओंकार

---

[1] डॉ० रघुबीर सिंह (सीतामऊ) लिखित 'मालवा में युगान्तर' नामक प्रबन्ध ग्रन्थ से उद्धृत।

मान्धाता के निकट से दक्षिण की ओर जाने वाले मार्ग में विन्ध्य की श्रेणियाँ खुली हुई हैं जहाँ से आने-जाने के साधारण सम्बन्ध अवश्य बने रहे होंगे।[1]

उत्तरी मालवा (अकारा) की अपेक्षा पश्चिम मालवा (अवन्ती) सांस्कृतिक समन्वय का क्षेत्र अधिक बना रहा, क्योंकि वही राजनीतिक कारणों से आकर्षण का केन्द्र था। शक और हूणों के आक्रमणों का सामना इस भाग को करना पड़ा। मालवा का उपजाऊ होना एवं कम आबादी होने के कारण आने वाली जातियों को अपने में स्थान देने की क्षमता भी आगमन के प्रमुख कारण हैं।

आगमन के अन्य कारणों में उत्तर की गतिविधि, भोजन, आबादियों का दबाव, धर्म, अकाल और नये क्षेत्रों की खोज भी है। आवागमन के इतिहास को सुविधा के लिये निम्नकालों में विभाजित किया जाता है—[2]

प्रथम काल **(आर्यों के आगमन से बुद्ध धर्म के उत्थान तक)**—ऋग्वेद के रचयिता ऋषि और आर्यगण मालवा में नहीं आये थे, क्योंकि मध्य-भारत की नदियों और विन्ध्या का उल्लेख प्रारंभिक वैदिक-साहित्य में नहीं पाया जाता। सम्भवत: बुद्ध के पूर्व दोआब की ओर से आये हुए आर्यों के द्वारा मालवा की नयी बस्ती बसी। उज्जयिनी का राज्य आर्यों की प्रमुख सोलह जातियों में से एक के आधीन था।[3] बुद्ध-धर्म के उदय के साथ ही उज्जयिनी का सम्बंध, साँची और विदिशा के मार्ग द्वारा मगध से स्थापित हुआ। आर्यों की बस्तियाँ जंगलों में बसी हुई अनार्य आदिवासी बस्तियों के बीच इन खुले स्थानों में बस गई थीं।[4] मेगेस्थनीज़ ने चारमी (Charmae) नामक एक जाति का उल्लेख किया है जो चर्मामण्डल में निवास करती थी।[5] सम्भवतः उसका संबंध चर्मवती (चम्बल) के बीहड़ों में बसी हुई सभ्यता से हो, यद्यपि विद्वानों ने बुन्देलखण्ड के चमारों का उस जाति से सम्बंधित होना अनुमानित किया है।[3]

द्वितीय काल **(मौर्यों के उदय से हूण और अन्य जातियों के आक्रमण तक)**—कदाचित् मौर्यों के काल में जाति-व्यवस्था का उद्योग के आधार पर विभाजन हो चुका था। इसके साथ ही दुरूहता भी बढ़ गई थी। मौर्यों के पतन के बाद सम्भवत: आर्य राजाओं की दुर्बलता के कारण मध्यवर्ती भारत के उत्तरी-क्षेत्र में आदिवासियों का बल बढ़ गया था। पश्चिमी मालवा शक और सीथियनों से आतंकित था और कहा जा सकता है कि इन जातियों ने अपने रक्त का बहुत अंश यहाँ की जातियों में मिलाया होगा, जबकि पश्चिमी मालवा में उज्जैन में

---

[1]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया (सेण्ट्रल इण्डिया ऐजेन्सी), खण्ड २०, १९३१, पृष्ठ २६८। [2]वही, पृष्ठ २७२। [3,4]वही। [5]मैक्रिण्डल, एन्श्यण्ट इण्डिया, पृष्ठ १५०-५१। [6]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, १९३१, पृष्ठ २७२।

शक राज्य कर रहे थे और उत्तर की ओर मालव और अभीरों के गणतंत्र सचेत हो गये थे। यह बताया गया है कि मालव-गण के कारण ही 'मालवा' नाम पड़ा, पर संभव है कि काल के प्रवाह में यह जाति आवागमन के साथ कहीं दूर निकल गई होगी अथवा साधारण आबादी में धीरे-धीरे घुल-मिल कर लुप्त हो गई होगी।[1] हर्ष के समय कुछ शान्ति का वातावरण फिर से प्राप्त हुआ।

तृतीय काल (पूर्व हिन्दू धर्म का उदय और पतन)—मगध के पतन के पश्चात् दोआब की ओर गति उत्पन्न हुई। इस समय उत्तरी मध्यभारत पुनः आदिवासियों के बल से प्रभावित हुआ। इस काल में दो मुख्य बातें हुईं। प्रथम, नये हिन्दू धर्म ने अपने उदय के साथ क्रमशः अनेक अनार्य-तत्वों का अपने में समावेश करना प्रारंभ किया। उसने अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाकर काल के अनुरूप चरण बढ़ाये। द्वितीय, विदेशी तत्वों को भी उसी मात्रा में अपनाया जो उस युग में प्रभावशाली थे। इस प्रकार का सम्बन्ध आदिवासियों से भी स्थापित किया गया। इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रभाव उपयोगी सिद्ध हुआ।[2]

राज्य करने वाली विदेशी जातियों में शक्तिशाली जातियाँ अपना प्रभुत्व बनाये रख सकीं, पर प्रभावहीन विदेशी यहाँ की सभ्यता में घुल-मिल कर कृषक बन गये।[3] चम्बल के उत्तर-पश्चिम में ऐसी अनेक जातियाँ बसी हुई थीं। अग्निवंशी, परमार, परिहार, चौहान तथा सोलंकी, निरन्तर नये क्षेत्र की खोज करते रहे। मालवा के परमार आबू से आये थे। नर्मदा-उपत्यका में कलचुड़ी-चेंदी या हैहयवंशी थे। कदाचित् ये विदेशी सिदीयनों के ही वंश के थे।[4] परमारों के दबाव से ये मध्यदेश की ओर बढ़े। उनकी प्रथम राजधानी महेश्वर थी। स्मिथ का कहना है कि इस काल में विदेशी राजपूतों और पतनोन्मुखी राजपूतों में लगातार संघर्ष बना रहा।

चतुर्थ काल (मुगलों के पतन तक, इस्लाम का प्रभाव)—इस्लाम ने चौहानों और चन्देलों को समस्त उत्तर भारत में छितरा दिया और उनकी युयुत्सु-प्रवृत्ति को हमेशा के लिये समाप्त कर दिया। गुजरात में सोलंकी और अनिहलवाड़ापट्टन नष्ट हो गये। परिणामस्वरूप अनेक छोटी-छोटी इकाइयाँ फिर बनीं। कन्नौज के पतन के पश्चात् गहरवार, जो राठौर के नाम से जाने गये, मारवाड़ में चले आये। मुसलमानों के समय पश्चिमी मालवा में

---

[1]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, खण्ड २०, १९३१, पृष्ठ २७२-७३। [2,3,4]वही, १९३१, पृष्ठ २७३।

इनके कुछ राज्य स्थापित हुए थे। मालवा के परमारों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। तोमर और चौहान इस भूमि पर कुछ समय तक सचेष्ट रहे पर बाद में मालवा मुसलमानों के हाथ में आ गया।

यह उल्लेखनीय है कि आक्रमणकारी भारत में सदैव ही कुछ काल के बाद यहाँ की संस्कृति में मिला लिये गये। राजपूतों का उदाहरण ही पर्याप्त होगा कि वे जहाँ पहुँचे वहाँ की जातियों ने उनकी अनेक बातें सहज ही अपनायीं और अपने को राजपूत सिद्ध करने में गौरव अनुभव करने लगीं। मुसलमानों के समय कई जातियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान में गई हैं।[१]

पंचम काल (**मराठों का आगमन**)—मराठों का आगमन मालवा के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। यह अंकित किया गया है कि दक्षिण आन्ध्र के लोग मालवा में मौर्यों के पतन के पश्चात् आये थे, पर इसके बाद दक्षिण की ओर से दीर्घ काल तक जातियों का आगमन इस ओर नहीं हुआ। अतः मराठों का आगमन महत्वपूर्ण बात है जिससे मध्यवर्ती भारत की विभाजित जातियों के चित्र में उनके द्वारा एक प्रभाव और सम्मिलित हुआ है।[२]

वर्तमान युग में मालवा की जातियों का सुव्यवस्थित विभाजन कठिन है। भील, कोर्कू, गोण्ड, बैंगा जैसी आदिवासी जातियों का मैदानी जातियों से संबंध तो नहीं है, पर मैदानी जातियों का उन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। यह भी प्रकट है कि इन जातियों के अनेक आदिम विश्वास मैदानी-जातियों में प्रचलित हैं।

मध्यवर्ती भारत की आबादी स्वतंत्रता के पूर्व स्थूलरूप से छोटे-छोटे शासकीयवर्गों और साधारण लोगों में बँटी हुई थी। शासकीय जातियाँ निम्नजातियों के शोषण का अधिकार समेटे हुए शक्तिशाली बनी हुई थी। यह कहा जा सकता है, उस समय वास्तव में आज की तरह मध्यवर्ग अस्तित्व में नहीं आया था। साधारण समाज भूमि-सेवी था और कृषि ही उसका एक मात्र व्यवसाय था।[3]

राजपूतों ने मालवा की सभ्यता को बहुत प्रभावित किया। उनके कारण रक्तमिश्रित अनेक जातियाँ उत्पन्न हुईं। इधर मराठों के अधिकृत क्षेत्रों में पिण्डारियों का प्रवेश हुआ। यों तो पिण्डारियों की कई जातियाँ थी, तथापि उनके नेता मुसलमान ही थे। उन्होंने बच्चों और स्त्रियों को धर्म-भ्रष्ट किया। निम्नजातियों के कितने ही हिन्दू पिण्डारियों के साथ हो गये, पर

---

[१]मालकन, मेमायर, खण्ड २, ३। [२]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, १९३१, पृष्ठ २७५। [3]वही, अध्याय ११, खंड २०, १९३१, पृष्ठ १९२।

उनके अस्त-व्यस्त होते ही ये धर्मपरिवर्तित हिन्दू मुसलमानों में मिल गये। मुसलमानों की सेनाएँ धार, माण्डू और सांरगपुर में रहा करती थीं। उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये कितने ही हिन्दू अपने मूल रीति-रिवाजों का पालन करते हुए भी वाह्यरूप से मुसलमान हो गये थे। मराठों ने भी अनेक परम्पराएँ इसी तरह जन-समूह में प्रचलित की।

मालवा की जातियों में बलाई ही एक ऐसी जाति है जो अपने को यहाँ का निवासी बताती है। कदाचित् ये लोग आदिवासियों में से हों। शेष जातियों का संबंध राजस्थान, गुजरात या उत्तर के अन्य भागों से है। मालवा की जातियों की सूची निम्न प्रकार है, जिनका सेन्सस रिपोर्ट में उल्लेख है—

अहीर, आंजना, वागरी, बैंगा, बैरागी, बलई, बनिया, जैन, अग्रवाल, माहेश्वरी, औसवाल, पोरवाल आदि, बंजारा बँसफोड़, भंगी, भारेवा, बरूड़, भाट, भील, भीलाला, भोई, बौहरा, ब्राह्मण, चमार, छीपा, डाँगी, दरजी, देसवाली, धाकड़, धीमार, धोबी, गडरिया, गवली, गौंसाई, गूजर, जाट, जोगी, कच्छी, कहारी, कलाल, कलौटा, खडेरा, कायस्थ, केवल, खाती, कोली, कोतवार, कुरमी, कुमार, लोढ़ी, लुहार, माली, माझी, मराठा, नाई, पारथी, पाटलिया, पींजारा, सहरिया, सोंधिया, सुतार, सुनार, तँबोली, तेली, आदि।

इस सूची के साथ ही भाषा का प्रश्न उपस्थित होता है। प्रस्तुत-प्रबन्ध में संग्रहीत लोक-साहित्य का पर्याप्त अंश कुल मिलाकर इन्हीं जातियों से संबंधित है, केवल वे जातियाँ छोड़ दी जावें जो आदिवासी हैं। इनके साथ बाहर से आये प्रभाव भी साहित्य में उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में मालवा, जातियों के आगमन और परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान का केन्द्र बना रहा है। यही कारण है कि मालवा की संस्कृति में भिन्न-भिन्न सूत्र संयोजित हैं। प्रस्तुत मानचित्र में मध्यवर्ती भारत में जाने वाली प्रमुख जातियों के आगमन की दिशाएँ अंकित हैं। सेन्सस रिपोर्ट[1] से यह मानचित्र सादर यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

मध्यभारत की बोलियाँ और मालवा—लगभग ४६, ७८५ वर्गमील में ७, ६५४, १५४ जनसंख्या वाला मध्यभारत प्रान्त अनेक बोलियों में विभक्त है। एक ओर उत्तरी क्षेत्र में ब्रज और बुन्देली का प्रभाव है तो दक्षिण क्षेत्र में मालवी-निमाड़ी और आदिवासी बोलियों का प्रचार है। कहना न होगा कि समस्त मध्यभारत के सोलह जिलों में से देवास, धार, इन्दौर, मन्दसौर, राजगढ़, रतलाम, शाजापुर और उज्जैन जिलों में मालवी का प्रभुत्व है जो २८,७१८ वर्गमील के अन्तर्गत है। निमाड़ी तो निमाड़ और नर्मदा-उपत्यका की बोली है।

---

[1]सेन्सस ऑफ़ सेन्ट्रल इण्डिया एजेन्सी, १६३१, पृष्ठ २७८।

उत्तरी मध्यभारत के भिण्ड, मुरैना और ग्वालियर जिलों में ब्रज तथा शिवपुरी, गुना, और भेलसा में बुन्देली का प्रसार है। झाबुला और रतलाम के अधिक हिस्सों में तथा सेंधवा की ओर जहाँ आदिवासी बसे हैं, आदिवासी बोलियाँ प्रचलित हैं। मध्यभारत का कुछ भाग राजस्थानी से भी प्रभावित है जिसमें रामपुरा का चम्बल बीहड़ वाला खंड और शिवपुरी का बाँया भाग आता है। ब्रज का क्षेत्र ११,६८१ वर्गमील, बुन्देली का ६,६१३ वर्गमील, भीली तथा अन्य आदिवासी बोलियों का, ४,१४५ वर्गमील तथा निमाड़ी का ५,२०८ वर्गमील अनुमानित किया जा सकता है। इन बोलियों के भी उपभेद हैं। मालवी और उसके भेदों के संबंध में आगे विवेचन किया जा रहा है। शेष बोलियाँ अनुशीलन के क्षेत्र के बाहर है, अतः उनका विवेचन अप्रासंगिक होगा।

भाषा-विज्ञान के अनुसार मध्यभारत की बोलियाँ आर्यशाखा के अन्तरंगवर्ग से संबंधित है। ब्रज और बुन्देली पछाही हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं। आदिवासी बोलियाँ, आर्येतर शाखा में मानी जाती है। मालवी और निमाड़ी अपना सीधा संबंध अवंती अपभ्रंश से स्थापित करती हैं। स्थूलतः मध्यभारत की बोलियों का वर्गीकरण पृष्ठ ७३ पर देखें।

मालवी का क्षेत्र—मध्यवर्ती भारत, भाषा की दृष्टि से एक स्वतंत्र इकाई नहीं है। फिर भी चूंकि मालवा सांस्कृतिक दृष्टि से मध्यवर्ती भारत का स्वतंत्र क्षेत्र है, और जैसा कि सदैव से ही स्वीकृत है,[1] मालवी उसकी प्रधान भाषा मानी जाती है। राजनैतिक ऊहापोह के बने रहते हुए लोग मालवी का माध्यम अपनाये रहे।

मालवी, दक्षिण में नर्मदा नदी के और मध्य में निमाड़, भोपाल, नरसिंहगढ़, राजगढ़, दक्षिण झालावाड़, मन्दसौर, दशपुर, नीमच, रतलाम, पूर्व झाबुआ आदि क्षेत्रों को अपने अन्तर्गत लेती हुई उज्जयिनी, देवास और इन्दौर जिलों में बोली जाती है। यद्यपि मालवी का अधिकांश क्षेत्र मध्यभारत प्रान्त के अन्तर्गत आता है तथापि राजनीतिक सीमाओं के बाहर राजस्थान के कुछ हिस्सों में भी उसका प्रभुत्व है। मध्यप्रदेश के चान्दा और बैतूल जिलों में भी कुछ जातियों द्वारा मालवी बोली जाती है, जिसका उल्लेख आगामी सारणी में किया गया है। विशेषरूप से कोटा के डाँग प्रदेश में मालवी बोलने वालों की बस्ती है, जिनकी बोली को डंगेसरी कहते हैं।[2] रतलाम (मध्यभारत) के निकट 'डूंगरी' बोली का स्वरूप इस डंगेसरी के अनुरूप है।

---

[1]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, १६३१, पृष्ठ ४। [2]देखिये, रामक्षा द्विवेदी 'समीर' का लेख, 'हिन्दुस्तानी', जनवरी १६३२।

१०. मालवी भाषाक्षेत्र

मध्य भारत की बोलियाँ
उत्तरी क्षेत्र (ब्रज से प्रभावित)
बुन्देलखण्डी क्षेत्र
मालवी 'उज्जैनी' (दक्षिणी क्षेत्र)
आदिवासी बोलियाँ
तवरधारी
सिकरवारी
जटवारी
भदावरी
महाराजी (जटवारी से प्रभावित)
विशुद्ध बुन्देली
मालवी-बुन्देली
उत्तरी मालवी
दक्षिणी मालवी
पूर्वी मालवी
पश्चिमी मालवी
निमाड़ी
उमठवाड़ी
बांगड़ी
सोंदवाड़ी (उत्तर-पूर्व)
मन्दसौरी
डगेसरी (डूंगरी)
रतलामी
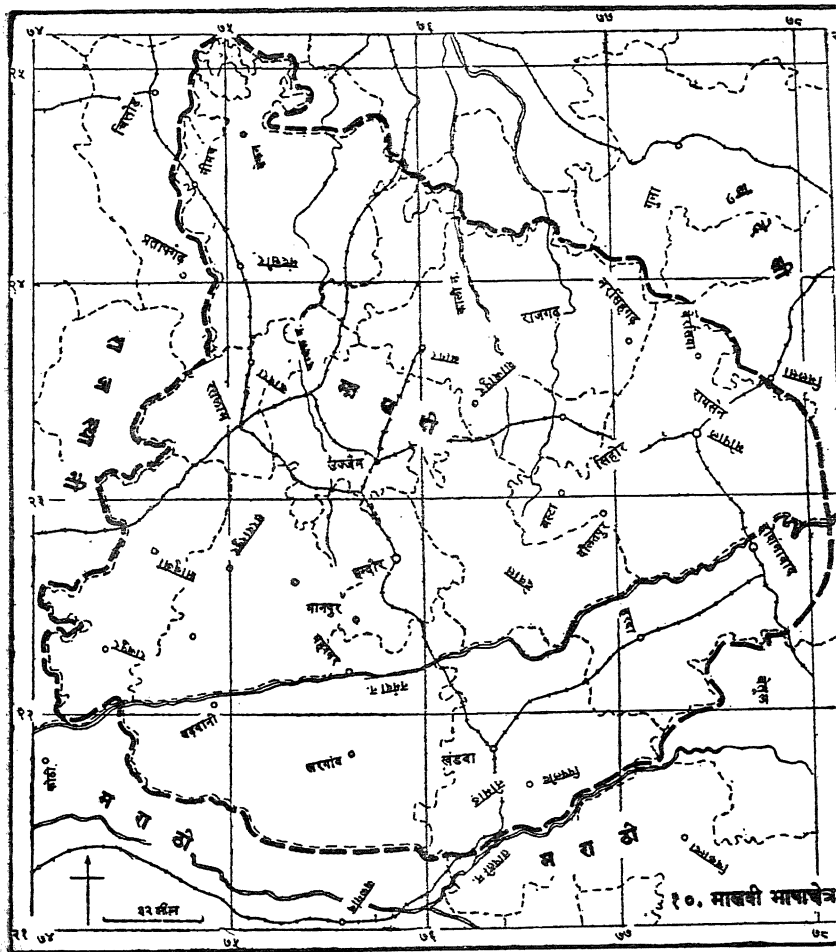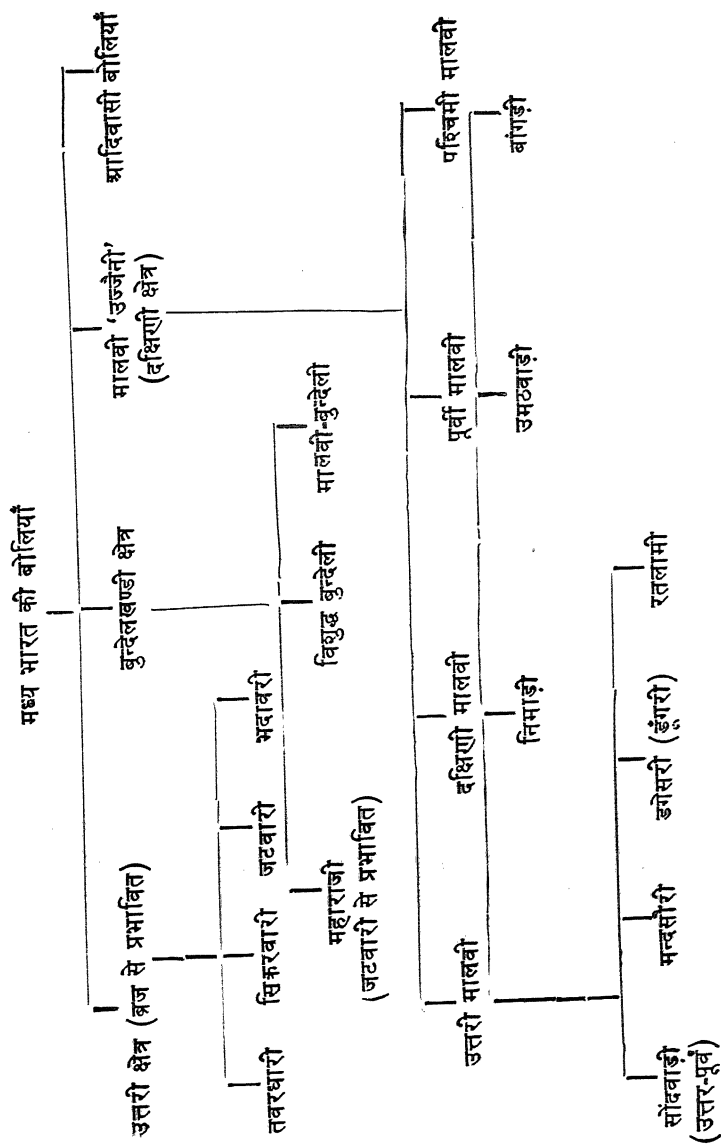
मालवी बोलने वालों की संख्या लाखों में है। यद्यपि शासकीय व्यवहार की भाषा हिन्दी है, पर सामान्यतः ग्रामों में, व्यापार-उद्योगों में तथा नगरों के घरों में मालवी का ही व्यवहार होता है। प्रकृति और स्वभाव के नाते मालवी सरल, धर्मभीरु, सौन्दर्यप्रिय, स्वस्थ और भोले लोगों की बोली है। ह्वेनसांग (७वीं शताब्दी) ने अपने भ्रमण-वृतान्त में यही बात दूसरे शब्दों में कही है। उसने मालवा की उपजाऊ मिट्टी, फसल और लोगों के स्वभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है—"इनकी भाषा मनोहर और सुस्पष्ट है।"[1]

विवादास्पद वर्गीकरण—मालवी शौरसेनी प्राकृत की सरणी से होती हुई अवन्ती अपभ्रंश से अपना सीधा संबंध स्थापित करती है। यद्यपि मध्यवर्ती शाखा के अन्तर्वर्ग की भाषाओं में राजस्थानी भी शौरसेनी से संबंधित है, तथापि यह धारणा विवादास्पद बनी हुई है कि मालवी राजस्थानी-उपशाखा की एक बोली है। विवाद का प्रश्न जार्ज ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण है। ग्रियर्सन के पूर्व भारतीय भाषाओं एवं उपभाषाओं का किसी ने समग्र रूप से वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया था। जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १६०७-८ में 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया' की जिल्दों में[2] राजस्थानी और उसके उपभेदों पर प्रकाश डालते हुए मालवी के संबंध में विचार किया है। उन्होंने सुविधा के लिये राजस्थानी को पाँच मोटे वर्गों में विभक्त किया। चौथा वर्ग दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी या मालवी का है जिसके मुख्य भेद रागड़ी और सोंधवाड़ी बताए हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने यह उचित समझा कि राजस्थानी भाषाओं को दो पृथक् शाखाओं[3] में विभक्त कर दिया जाय—(१) पूर्वी शाखा और (२) पश्चिमी शाखा। कुछ स्थूल विशिष्टताओं के कारण जिन भाषाओं को एक ही सूत्र में गूँथ दिया गया है, वह ठीक नहीं है। टेसीटरी के विचारों के आधार पर वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि 'सूक्ष्मतर वैयाकरण दृष्टि के कारण राजस्थान-मालवा की बोलियों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा।[4] साथ ही वह यह भी मानते हैं कि मेवाती, निमाड़ी और अहीरवाटी के साथ मालवी, पछाही हिन्दी से अधिक संबंधित है।[5] ग्रियर्सन ने निमाड़ी को दक्षिण राजस्थानी माना है,[6] किन्तु मालवी से उसका निकट संबंध भी बताया है। मालवी और निमाड़ी पर यहाँ थोड़ा विचार करना प्रसंगानुकूल होगा।

---

[1]देखिये, ह्वेनसांग का भारतभ्रमण (अनु०—ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश')। [2]खण्ड ६, भाग १, २। [3]चाटुर्ज्या, राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ६-१०। [4]वही। [5]वही, पृष्ठ १०। [6]देखिये, सर्वे रिपोर्ट, खण्ड दो, भाग २।

मालवी और निमाड़ी—निमाड़ी उज्जयिनी के दक्षिण में नर्मदा नदी के ऊपर भूतपूर्व इन्दौर राज्य के एक भाग में बोली जाती है। भौगोलिक दृष्टि से यह भाग मालवा से कुछ बातों में भिन्न है। समुद्रतल से मालवा जहाँ आनुपातिक तौर पर १६०० फीट[1] ऊँचा है, वहाँ निमाड़ पठार पर न होकर इस ऊँचाई से पर्याप्त नीचे है। इसे 'निमावड़' अथवा 'निमाड़' भी कहते हैं। पिछले पृष्ठों में 'माल' शब्द का उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ है उन्नत-भूमि। 'नि' प्रत्यय 'ना' के अर्थ में स्वीकार किया जाये एवं 'माड़' को माल का विकृत रूप माना जाये तो 'नि-माड़' का अर्थ होगा वह भूमि जो उन्नत नहीं है। निमाड़ की भूमि विन्ध्या और सतपुड़ा की श्रेणियों के बीच में फैली हुई है जिसके मध्य में नर्मदा बहती है। यह भूमि उपजाऊ है और नर्मदा की दोनों बाजू मैदान के खण्ड हैं, किन्तु अधिकांश भाग पहाड़ों और बनों से ढँका हुआ है। भूतपूर्व इन्दौर राज्य का यही भाग सबसे घनी आबादी[2] वाला एवं मालवा की अपेक्षा उष्ण रहा है। वाह्यरूप से संस्कृति और स्वभाव के नाते मालवा और निमाड़ में किंचित् भेद अवश्य है। यही भेद परिणामतः निमाड़ी में, मालवी की शाखा होकर भी उच्चारण एवं कतिपय प्रयोगों में अपनी प्रमुख प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होता है।

डॉ० ग्रियर्सन ने निमाड़ी को स्पष्ट ही मालवी से संबंधित बोली माना है, पर राजस्थानी की उपशाखाओं में उसे स्वीकार करना असंगत प्रतीत होगा। निमाड़ की अन्तर्वर्ती बोलियों में सबसे अधिक बोलने वाले निमाड़ी के ही हैं। सन् १९३१ ई० की 'होल्कर राज्य की सेन्सस रिपोर्ट' के अनुसार २,१७२,४७ व्यक्ति निमाड़ी बोलते हैं। ग्रियर्सन के सर्वे रिपोर्ट के अनुसार निमाड़ी के बोलने वाले ४,७४,७७७ हैं।[3] श्री राहुल सांकृत्यायन ने निमाड़ी का संबंध 'आश्मकी' से बताया है। उनके शब्दों में "आवन्ती और मालवी काल भेद से एक ही शब्द के दो नाम हैं। दोनों नाम ग्रंथों में आये हैं।......हो सकता है आवन्ती और आश्मकी में कुछ अन्तर रहा हो, पर आज के भेद को देखने से जान पड़ता है, वह बहुत कम रहा होगा......।"[4]

अतएव निमाड़ी और मालवी के प्रमुख भेदों को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना संगत है कि दोनों के लोक-साहित्य में एक ऐसी समानता है,

---

[1]इम्पीरियल गजेटियर, सेन्ट्रल इण्डिया, पृष्ठ २, १९०८। [2]सेन्सस रिपोर्ट, सेन्ट्रल इण्डिया, १९३१, पृष्ठ २६। [3]लिंग्वेस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया, खण्ड ९, भाग २। [4]लेखक को लिखे गये एक पत्र से (५नवम्बर, १९५४, परिशिष्ट ५९२)।

जो मालवो और राजस्थानी में कम देखी जाती है। राजस्थानी की अपेक्षा निमाड़ी, मालवा के अधिक निकट है। उदाहरण के लिये दोनों के कुछ लोकगीत नीचे दिये जा रहे हैं :—

"बीरा"

निमाड़ी : बहेण का ग्राँगणा म[१] पिपलई[२] रे ईरा[३] चूनर लावजे
लाव तो सब सरू[४] लावजे रे ईरा
नी तो रहिजे अपणा देस
माड़ी जाया[५] चूनर लावजे[६]

मालवी : गुया माय की पीपल रे बीरा
जां चढ़ जोऊँ तमारी बाट[७]
माड़ी रा जाया चूनर लाजो
चूनर लाजो तो सब सरू लाजौ
नी तो रीजो तमारा देस[८]

"भात"

निमाड़ी : झीणी-झीणी रैं ईरा उड़े छः खे बादल दीसै धूंघला जै
बलदारी[९] रे ईरा बाज छः टाळ[१०] गाड़ा चरवैता म्हे सुण्याजे
म्हारा ईराजो रा चमक्या छः सैल[११] भावजा रा—
चकक्या चूड़ला जे
म्हारी बहनड़ली रा चमक्या छः चीर, भतीजा रा—
मैमन[१२] मौलिया जे[१३]

"माहेरा" (भामेरा)

मालवी : गाड़ो तो रड़को रेत में रे बीरा, उड़ रही गगना धूल
चालौ म्हारा धौहरी[१४]उतावला रे म्हारी बेन्या बई जोवे वाट
धौहरी का चमक्या सींगड़ा, म्हारा भतीजा को झगल्यौ झाग
भावज बई को चमक्यो चूड़लो, म्हारा बीराजी री पंचरंगी पाग[१५]

निमाड़ी में वैसे बुन्देलखण्डी और मराठी की कुछ प्रवृत्तियों आ मिली हैं और कुछ प्रवृत्तियाँ भीली की भी हैं। इन सभी प्रवृत्तियाँ की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं, अतः संक्षेप में निमाड़ी के मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

---

[१]में, [२]पीपल वृक्ष, [३]बीरा, भाई, [४]के लिये, [५]भाता का जाया अर्थात् भाई। [६]निमाड़ी लोकगीत, रामनारायण उपाध्याय, पृष्ठ १६, १६ ६। [७]मार्ग। [८]मालवी-लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ८२। [९]बैल। [१०]घंटी। [११]भाले। [१२]पगड़ी। [१३]विशाल भारत, फरवरी, १६२६। [१४]बैल। [१५]मालवी-लोकगीत, पृष्ठ ८३।

निमाड़ी के मुख्य लक्षण—(१) 'ख' का बाहुल्य, जो कर्मकारक 'के' अथवा 'को' प्रत्ययों के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे—उनख (उनको), तमख (तुमको), म्हख (मुझको), वणख (उनके) आदि। यह बुन्देलखण्डी 'खे' का विकारी रूप है।

(२) क्रिया-पदों में 'ज' अथवा 'जे' या 'च' प्रत्ययों का चलन। जैसे—लावजे (लाना), जायगज (जायगा), आवेज (आयगा) इत्यादि।

(३) वर्तमान क्रिया 'है' के लिये गुजराती की 'छै' क्रिया का प्रयोग निमाड़ी में होता है।

(४) अधिकरण की विभक्ति 'में' के स्थान पर 'म' का सामान्य प्रयोग—उज्जन म (उज्जैन में), घर म (घर में) आदि।

(५) 'ना' प्रत्यय लगाकर बहुवचन बनाने की प्रवृत्ति निमाड़ी में है जो 'होण' या 'हुण' प्रत्यय के रूप में भी व्यक्त होती है। 'ना' बहुधा खातियों (इन्दौर जिला) की बोली में अधिक प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ :—

	एकवचन	बहुवचन
'ना' प्रत्यय :	आदमी	आदमीना
	बेंरा (स्त्री)	बेंराना (स्त्रियाँ)
	छोरा (लड़का)	छोराना (लड़के)
'होण' (हुण) प्रत्यय	आदमी	आदमी होण (हुण)
	बेंरा	बेंरा हुण (होण)
	छोरा	छोरा होण (हुण)

मालवी में 'हुण' या 'होण' प्रत्यय का 'ण' 'न' में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, सुनीति बाबू की दो शाखाओं वाली प्रतीति विश्वसनीय मानते हुए मालवी और निमाड़ी को एक ही शाखा की दो बोलियाँ स्वीकार करना असंगत न होगा।

अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाएँ—बोलियों के इतिहास का अध्ययन प्रमाणों के अभाव में कठिन विषय ही सिद्ध होता है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन जनपदों की अपनी-अपनी भाषाएँ कालावधि में 'प्राकृत' अथवा 'अपभ्रंश' और देश नाम से प्रसिद्ध हुई हैं;[१] किन्तु उन प्राकृतों एवं अपभ्रंशों का प्रमाणों के

---

[१]तानापि वैयाकरणनिबद्धानपभ्रंशभाषानियमानुल्लङ्घ्य प्रकृतिप्रवर्तमानो विविधजनपदभाषाव्यवहारः सामान्यसंज्ञया 'प्राकृत', 'अपभ्रंश' इत्युच्यमानोऽपि विशिष्टतया तत्तद्देशभाषानाम्ना प्रसिद्धि-जगाहे।—गा० ओ० सी० सं० ३७, पृष्ठ ७३।

अभाव में रूप निर्धारित करना कठिन विषय हो गया है। केवल शौरसेनी अपभ्रंश ही एक ऐसी भाषा है जिससे हम वर्तमान अनेक बोलियों की उत्पत्ति का अनुमान करते हैं। साथ ही, साहित्य की भाषा और साधारण जन की भाषा के अन्तर का ध्यान रखते हुए हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि जो साहित्य उपलब्ध है वह बोली जाने वाली भाषाओं से किञ्चित् सुसंस्कृत वर्ग की भाषाओं का ही है। इस दृष्टि से प्राकृत की स्थिरावस्था के परिणाम स्वरूप अपभ्रंश का विकास हुआ और अपभ्रंश की वैयाकरणिक नियम-बद्धतावश आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं का। असल में अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है, जो नाना कालों में, नाना स्थानों में, नाना रूपों में बोली जाती थी।[1] भारत अनेक भाषाओं के लिये प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। महर्षि व्यास रचित 'महाभारत' के शल्य-पर्व में इसका उल्लेख आया है :—

"नानाधर्माभिराच्छन्न नानाभाषाश्च भारत।"[2]

अतः आज की भाषाएँ सीधे-सीधे पूर्वकालीन अपभ्रंशों की बेटियाँ हैं। इन्हीं बेटियों में अवन्तिजा (मालवी) भी है।

अवन्तिजा : मालवी—'प्राकृतचन्द्रिका', 'कुवलयमाला' आदि में अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख देशी भाषाओं के नाम से हुआ है। श्री उद्योतन के 'कुवलयमाला' ग्रंथ (८वीं शताब्दी) में १८ देशी भाषाओं की चर्चा आई है। गोल्ल, मध्यदेश, मगध, कीर, टक्क, सिन्ध, मरु, गुर्जर, लाट, कर्णाटक, तमिल, कोशल, महाराष्ट्र आन्ध्र और मालवा में अपनी-अपनी भाषाएँ बोली जाती थी। भरतमुनि (दूसरी शताब्दी) ने 'नाट्य-शास्त्र' में संस्कृत के अतिरिक्त मागधी, अवन्तिका, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या—इन सात[3] भाषाओं और शबर, आभीर, चांडाल आदि जातियों की विभाषाओं का उल्लेख किया है।[4]

---

[1]हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १७। [2]शल्य पर्व, अं० ४६, श्लोक १०३।

[3]मागध्यावन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः॥

—नाट्यशास्त्र : अ० १७, श्लोक ४८

[4]शबराभीरचंडालसचरद्राविड़ौद्रजा।
हीना वनचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥

—वही, अ० १७, श्लोक ४९-५०

अवन्तिजा अवन्ती-प्रदेश (मालवा) की भाषा रही है, यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होना चाहिये। यही भाषा तत्कालीन राज्य सीमाओं के साथ अपना प्रचार करती गई, किन्तु उसका केन्द्र अवन्तिका (उज्जयिनी) ही रहा। राजकीय गौरव प्राप्त करने के फलस्वरूप नाटकों में अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार भी हुआ। राजशेखर के अनुसार अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपदों में था।[1] किन्तु अवन्ती, अपभ्रंश जन-भाषा के साथ खिचती चली। राजकीय शिथिलता ने क्रमशः इसके स्वाभाविक विकास में योग दिया। जनवाणी के रूप में अवन्तिजा प्रवाहित होती रही। अतएव आज जो मालवी, मालव-प्रदेश में बोली जाती है वह उसी अवन्तिजा की वंशजा सिद्ध होती है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने मालवी के सम्बन्ध में लिखा है—"मालवी सम्पूर्ण इन्दौर राज्य, ग्वालियर राज्य के दक्षिण भाग तथा मध्यप्रान्त के नीसर और बैतूल जिलों में बोली जाती है। यही प्रदेश अवन्ती[2] कहलाता था। बाद को यही मालवा कहलाने लगा।"[3] राहुलजी के मतानुसार—"सिद्ध-सामन्तयुग (७६०-१३०० ई०) की भाषा और आज की भाषा में काफ़ी अन्तर है, तो भी वह भाषा और आज की भाषा एक है। ..वह उससे भी कहीं अधिक हिन्दी भाषा है जितनी कि आज की मालवी, मारवाड़ी, मालवी और मैथिली।"[4] इस समय प्रान्तीय भाषाएँ भी काफी थी।[5]

आवन्त्य, प्राकृत अवन्ती प्रदेश की भाषा थी। सन् ८०० के पूर्व भी उसके होने के प्रमाण मिलते हैं। इसके ही आगे चलकर अपभ्रंश भेद हुए और सम्भवतः मालवी उसका एक मुख्य भेद है। मोटे रूप में मालवी उसी का वर्तमान रूप है, यह कहा जा सकता है। भाषाशास्त्र के अनुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

---

[1]ततः सोऽवन्तीन प्रयुच्चाल यत्रावन्ती वैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुद भृगुकच्छादयो जनपदाः।—काव्यमीमांसा, अ० ३, पृष्ठ ६ (गा० ओ० सी० सं० १)। [2]ह्वेनसांग (६२९-६४५ ई०) के अनुसार अवन्ती राज्य ६००० ली (१२०० वर्गमील) और राजधानी का क्षेत्र ३० ली (६ मील) था। पर उज्जयिनी (उशेयवना) का भी उसने यही क्षेत्रफल बताया है। कदाचित् मालवा (मोलापी), उज्जयिनी और अवन्ती उसके लिये एक ही थे। देखिये, अ०—ठाकुरप्रसाद। [3]धीरेन्द्र वर्मा, विचारधारा, पृष्ठ १८। [4,5]हिन्दी-काव्यधारा, पृष्ठ ८।
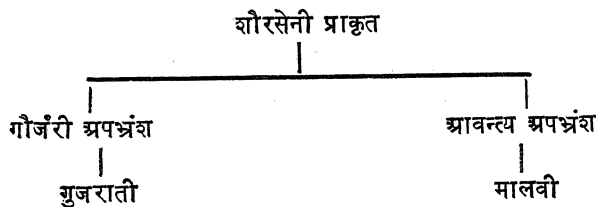
यहाँ केवल यही ध्यान रखा जाय कि अवन्ती प्रदेश राजकीय सीमा का द्योतक है और मालवा उसके अन्तर्गत सांस्कृतिक इकाई से युक्त एक जनपद। अवश्य ही अवन्ती प्रदेश की राजभाषा कुछ सुसंस्कृत रही होगी जबकि उसके समानान्तर जनभाषा अपने स्वाभाविक रूप में गतिशील थी। दोनों में उतना ही भेद होगा जितना आजकल हम लिपिबद्ध मराठी और बोलचाल की मराठी में देखते हैं। कदाचित् इन्हीं विचारों से अभिभूत होकर राइज़ डेविस के शब्दों में श्री भगवतशरण उपाध्याय ने अवन्ती को बौद्धों का दूसरा केन्द्र स्वीकार करते हुए पालि-पिटकों को अवन्ती-प्राकृत में लिखा गया घोषित किया है।[1] बौद्धधर्म का स्थायित्व प्रचार पर अवलम्बित था और प्रचार के लिये लोकभाषा का प्रयोग आवश्यक था। राजशेखर के समय लोकभाषाओं के कवियों का सम्मान होने लगा था। उनके लिये दरबार में व्यवस्था की गई थी, इसका उल्लेख 'काव्य-मीमांसा' में विस्तारपूर्वक दिया गया है। जहाँ तक मालवी का सम्बन्ध है, 'काव्य-मीमांसा द्वारा एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है। इसमें संदेह नहीं कि अवन्तिजा मालवी की जननी है। नवीन प्रश्न, भूतभाषा से सबंधित है। राजशेखर ने लिखा है कि अवन्ती (मध्य मालवा), परियात्रा (पश्चिमी विन्ध्यप्रदेश) और दशपुर (उत्तर मालवा) के लोग भूतभाषा का प्रयोग करते थे।

"आवन्त्याः परियात्राः सहदशपुरैर्भूत भाषा भजन्ते।"[2]

यह 'भूतभाषा' उसके अनुसार 'पैशाची' है। चार प्रकार की प्राकृतों की चर्चा में 'पैशाची' एक भेद स्वीकार किया गया है। वररुचि ने उसको प्राकृत शौरसैनी के अनुरूप बताया है, और रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में उसे एक साहित्यिक भाषा माना है।[3] 'ऋग्वेद में पिशाचों को अनार्य जाति का बताया गया है, अतः पैशाची अनार्य भाषा होना चाहिये। अभी तक के प्रचलित अनुमानित निष्कर्षों में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत हमें समीचीन जान पड़ता है कि "वह कोई स्वतंत्र भाषा नहीं थी, बल्कि आर्यभाषा का आर्येतर

---

[1]प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १०२। [2]'काव्य-मीमांसा' अ० १०, पृष्ठ ५१।[3] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २६।

भाषित विकृत रूप है। ठीक वैसे ही जैसे शान्ति-निकेतन में काम करने वाले संथालों की बंगला।"[1] अतएव पैशाची अथवा भूतभाषा को दक्षिण मालवा की भाषा कहना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त रुद्रट (९वीं शताब्दी) ने अपभ्रंशों के अनेक भेदों में मालवी को एक भेद स्वीकार किया है, जिससे मालवा की अपनी स्वतंत्र भाषा का अस्तित्व प्रकट होता है। यदि पैशाची मालवा की भाषा होती तो वह मालवी का उल्लेख क्यों करता ? इतना बड़ा कालान्तर आज की मालवी और आठवीं शताब्दी के बाद की मालवी में एक बड़ा भेद उपस्थित करने में सहायक हुआ है। रुद्रट के समय की मालवी अपभ्रंश तो है ही, किन्तु अवन्ती अपभ्रंश और उसमें अब भेद न समझा जाना चाहिये। अपभ्रंश भाषाओं की कविताओं में असंख्य मालवी शब्द[2] अवन्ती अपभ्रंश से अपना नाता जोड़ने में पीछे नहीं है। इससे यह भी प्रकट होता है कि प्राचीन मालवी की सीमाएँ संकुचित नहीं थी। नाटकों में प्रत्यक्षरूप से अवन्तिजा का प्रयोग उसके प्रभाव को सिद्ध करता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यद्यपि मालवों की मालवी के उदाहरण नहीं मिलते, पर यह निश्चित है कि आर्यों की बोली उत्तर मालवा से दक्षिण मालवा तक उस समय में लगभग प्रचलित हो

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १७।

[2] देखिये—हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन), १९४५

कुछ मालवी शब्दों के प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं :—

(स्वयंभू ई० ७९०) सक्कर खंडेहि पायस पाय सोही
लड्डुव-लावण-गुल इक्खु-रसेंहि—। (पृ० ४८)
उच्छंगो पडिउ वइदेहि हे,
णवई हरिसहों पौट्टलउ —(पृ० ६४)

(भुसुकुपा, ८०० ई०) 'राअ-नावड़ी पउँ अखंड बहिअ'—(पृष्ठ १३६)

(गोरखनाथ, ८४५ ई०) 'सहजि अँगीठी भरि-भरि राधे'—(पृ० १५८)
'जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा'—(पृ० १५८)
'सासूड़ी पालनड़े बहुड़ी हिंडौले'—(पृ० १६१)
'सोनेरूपे सीझै काज'—(पृष्ठ १६३)

(ढेंडण : तंति पा, ८४५ ई०) 'बलद बिआअल गविआ बाँझे'—(पृष्ठ १६४)

(देश अवन्तीनगर) 'पिटहु तुहिअई एतिनी साँझे'—(पृष्ठ १६४)

(जिनदत्त सूरी, ११८० ई०) 'जो व्वणत्थ जा नच्चइ दारी'—(पृ० ३५४)
'बेट्टा-बेट्टी परिणाविज्जहिं'—(पृ० ३५४)

गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् लोकभाषाओं ने बल पकड़ा और १४-१५वीं शताब्दी तक आते-आते अधिकांश रूप में इन भाषाओं के रूप निर्धारित हो गये।

डॉ० चाटुर्ज्या का मत—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मालवी के संबंध में लिखा है कि—"मालवे की बोली के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि दर-असल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है, पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ोसी मारवाड़ी-राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ स्थायीपन आ गया है।"[1] अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिये डॉ० चाटुर्ज्या दो भिन्न आर्य-संस्कृतियों की शाखाओं के ऐतिहासिक सत्य को भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों सहित प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इससे विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता किन्तु मालवी की स्वतंत्र धारा का सिद्धान्त-सूत्र अवश्य पुष्ट हो जाता है। ६वीं शताब्दी के लगभग मालवी के स्वतंत्र होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। मालवी उस समय लोक-व्यवहार की भाषा होकर भी शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो रही थी। 'कुवलयमाला' की एक गाथा में मालवी के प्रयुक्त होने की बात बताई गई है।

तणु-साम-मऽहदेहे कोवणए माण-जीविणोरोद्दे।
भाउअ भइणी तुम्हें भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥[2]

मालवी और अन्य भाषाओं का पारस्परिक प्रभाव—मालवी कोमल और कर्णप्रिय बोली है। इसमें अन्य भाषाओं के कई शब्द स्वाभाविक रूप से इस तरह आ मिले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आवागमन, व्यापार और राजनीतिक परिवर्तनों का महत्वपूर्ण स्थल होने के कारण कई संस्कृतियों और जातियों का यहाँ के निवासियों से सम्पर्क रहा है। मालवों के यत्र-तत्र जाने का भी प्रभाव संभवतः अन्य भाषाओं पर पड़ा होगा। जातियों के आवागमन के संगम की भाषा होने के कारण मालवी स्थानान्तर-गति की कायल रही है और उसमें शब्द के पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम निश्चित रूप से बना रहा है। यह बात इतिहास सम्मत है कि मालवों ने पहाड़ी प्रदेशों में प्रवेश करके अपनी बस्तियाँ बसाई थी, अतएव ये अपनी भाषा को भी दूर तक ले गये। आज भी पहाड़ी बोलियों और मध्य एशिया के घूमन्तुओं की

---

[1] राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ५७।

[2] तनु-श्याम-लघुदेहान् कोपनान् मानजीविनो रौद्रान्।
'भाउअ-भइणी तुम्हें' भणतोऽथ मालवीयान् दृष्टवान्॥—कुवलयमाला कथायाम् : जे० मा० ता० १३१-२; गा० ओ० सी० सं०३७, पृष्ठ ६३।

बोलियों में जो मालवी शब्द मिलते हैं अथवा जयपुर के निकटवर्ती प्रदेश या यों कहें—राजस्थान की कुछ बोलियों से उसका जो नैकट्य प्रतीत होता है, उसके मूल में यही कारण है। सैकड़ों मालवी शब्द, पंजाबी, मराठी, बुन्देली, भोजपुरी, मैथिली और गढ़वाली में मिलते हैं। भोजपुर परगने में नवका और पुरनका नामक दो गाँव उज्जैन और धार के परमारवंशीय राजपूतों द्वारा ११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच मालवा से जाकर अधिकृत किये गये थे। डॉ० बुकनिन ने सन् १८२६ में पटना से प्रकाशित जनरल में इस बात का उल्लेख किया है। अकबरनामा में और भी उल्लेख आये हैं।[1] मालवी शब्दों का भोजपुरी में पाये जाने का एक यह भी कारण हो सकता है कि वे इस ओर से जाकर वहीं बस गये थे। नैपाल के मल्ल राजाओं का प्रभुत्व मध्य-काल में रहा, उन्होंने नाट्य-साहित्य को प्रोत्साहन दिया और गीति नाव्य की परम्परा स्थापित की जो नैपाल में सन् १७६८ तक मल्ल-राजाओं के परास्त होने तक बनी रही। मालवा में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। गढ़वाली लोकगीतों में मालवी के अधिकांश शब्द भरे पड़े हैं और उनकी प्रथाएँ भी प्राय: मालवा से पर्याप्त साम्य रखती हैं। पवाड़े, मंगल-गीत, विवाह-गीत, देवी-देवताओं के गीत तथा परम्परा या लोक-साहित्य में मालवी शब्दों के रूप मिलना मालवी घुमन्तू-प्रभाव को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। नीचे कुछ गढ़वाली गीतों[2] में रेखांकित शब्द और पंक्तियों के मालवी रूप देखिये :—

पूरी देंदा पौणो कण्ठी ल्हांद दीठ
हमनानी जाणी, रूड़िया को जायो।
मिठे देन्द पौणो मिठाई ल्हांद दीठ
हमनानी जाणो हलवाई को जायो।
काला डाडा बीच बाबाजी कालीचकुएड़ी
बाबाजी, एकुली में लगदी चडर।[3]
हे ऊँची डांडियो, नीसी होवा,
घणी कुलाई छाँटी होवा।

---

[1]डॉ० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, प्रवेशक, पृ० ४-५५। [2]जनपद (अंक २), गढ़वाली लोकगीत, पृष्ठ ५५-५७। [3]पूरी-(मा०); पौणो मा० पावणो; हमनानी जाणो रूड़िया को जायो—मा०- हमनी जाणा रूड़ी का जाया, हलवाई, मा० हलवई;, काला डाडा बीच—मा० काला डाडा बिच; बाबाजी—मा० बाबाजी; एकुली मा०—एकली।

मैं कुलाई छ खुद मैंतुड़ा की,
देश बाबाजी को देखरगा देव ॥[1]

एक मालवीपन से पूरित सम्पूर्ण मंगल (मांगल) गीत देखिये :—

दे देवा बाबाजी, कन्या को दान ,
दानूं मा दो दान हो लो कन्या को दान ।
हीरादान, मोतीदान सब कोई देला
तम देल्या बावाजी कन्या को दान ।
जिमिदान, भूमिदान, सब कोई देला
को भागी देला, कन्या को दान ।

मराठी में मालवी के अनेक शब्द मिलते हैं। संभवत: यह प्रभाव मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में आया हो। कुछ शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

मालवी	मराठी
ओलखाण	ओलख
सासू	सासू
कंथ	कंथ
आंगणा	आंगणी
गंगाल	गंगाल (पात्र)
मालन	माळिणा
पावणा	पाहुणें

मराठी के गीतों में **घाड़ीजो, देजो** (देना), **करजो** आदि क्रियाएँ मिलती हैं। '**कन्थ** घाड़ीजो पाहुणा गोरे बाई'[2] जैसी पंक्ति में घाड़ीजो उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो मालवी में होता है। हिन्दी के 'ना' के लिये प्रयुक्त मालवी में 'जो' प्रयोग में आता है। वाक्य-प्रयोग या मुहावरे में भी यह साम्य प्रान्तीय भाषाओं के समान तत्वों का सूचक है।

मालवी में कुछ शब्द द्राविड़ या मुंडा परिवार की भाषाओं के भी उपलब्ध होते हैं। जैसे:—अल्लाणां (चिल्लाना), ऊबट (उन्मार्ग), एलाड़ी (उधर), कलो (झगड़ा), डाट (धौंस, धमक), पैलां (पहले), खो (गड्डा या गुफा), रीस (ईर्ष्या) आदि।

इन्हीं शब्दों के दक्षिणी (दक्खिनी) रूप क्रमश: यह हैं :—

अरडावना, अड़वाट, एलाड़, कला, दाट (सख्त), पेलाड़ (दूर) खो, रिस आदि। अरबी-फारसी के कुछ शब्द मालवी में इस प्रकार हैं :—जागा या जगा (जगह); सबूरी, नजीक, अजब, जनावर, जिनावर आदि।

[1]नीसी होवा—मा० नीची हुवे; घणी मा०; छांटी (मा०), देस बाबाजी को देखणा देव (मा० बाबाजी को देस देखण देवो)। [2]साहित्याचें मूलधन, पृष्ठ ६५, १९३८।

बहुत पहले से मालवी की भूमि पर आदिवासियों का अधिकार रहा है। कुछ निर्जन पहाड़ियाँ प्रागैतिहासिक मानवों के स्थान रही हैं।[1] इसकी उपजाऊ मिट्टी ने लोगों को सदैव यहाँ खींचा है, अतः आवागमन के चक्र चलते रहे। एक बार जो यहाँ बस गया, फिर वह कठिनाई से बाहर गया है। १९३१ के सेन्सस के अनुसार यदि राजपूताना से आने वालों की संख्या लें तो वह १,०५,४०५ है और जाने वालों की केवल २६,३३५। मध्यवर्ती भारत में इस प्रकार ७९,०७७ व्यक्ति आये। इन्दौर जिले में ५७ प्रतिशत, रतलाम में ८ प्रतिशत, धार में ५ प्रतिशत और अन्य भागों में ३० प्रतिशत बस गये।[2] इनमें से ८७ प्रतिशत लोग खेतीबारी में व्यस्त हो गये थे।[3]

जहाँ तक अन्य भाषा-भाषियों का प्रश्न है, मराठी बोलने वाले भूतपूर्व धार, देवास और इन्दौर राज्य में बसे हुए थे। पश्चिमी मालवा में राजस्थानी का प्रभाव रहा है जिसमें सीतामऊ और नीमच आदि मुख्य हैं। जावरा में मुसलमानों की बस्ती अधिक रही है। दक्षिण-पश्चिम में गुजराती का प्रभाव और भीली का प्राधान्य रहा है जिसमें राजस्थानी भी प्रचलित रही है; पर वह ३ प्रतिशत से अधिक नहीं कही जा सकती।

सेन्सस के मालवा संबंधी आकड़ों से यह तथ्य निकलता है कि इस भूमि पर संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन[4] बना रहा। यही कारण है कि मालवी जिस तरह दूसरों को प्रभावित कर सकी, उसी तरह अन्य भाषाओं ने भी उसे प्रभावित किया है।

मालवा का अन्तर्वर्ती विभाजन— वर्षों से यहाँ के निवासियों की दृष्टि में मध्यवर्ती भारत के पठार का वह भू-भाग जो २३·३०° और २४·३०° अक्षांश उत्तर एवं ७४·३०° और ७८·१०° पूर्व अक्षांश के मध्य स्थित है तथा जो दक्षिण और पूर्व में विन्ध्या की श्रेणियों को छूता हुआ पश्चिम में अमझेरा और चित्तौड़ तक फैली हुई पर्वतमाला एवं उत्तर में मुकन्दवाड़ा की श्रेणियों को स्पर्श करता है, मालवा है।[5] मुगलों के शासनकाल में मालवा सूबा के अन्तर्गत दक्षिण का निमाड़ प्रदेश भी सम्मिलित कर लिया गया था।[6] कुछ अन्य भागों को और मिला देने से उसकी इकाई यद्यपि भंग हो गई थी तथापि लोगों की दृष्टि में उतना ही उपजाऊ खण्ड मालवा माना जाता रहा है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

प्रायः सभी प्रान्तों में यह सदैव से होता आया है कि अपनी सुविधा के लिये उसके भीतरी भाग विभक्त कर लिये जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ के निवासियों

---

[1]सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, १९३१, पृष्ठ २-३। [2]वही, पृष्ठ ५०। [3]वही, पृष्ठ १३२। [4]वही, पृष्ठ १७४। [5] इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इण्डिया, सेण्ट्रल इण्डिया, १९०८ पृ० १२१। [6]वही।

द्वारा मालवा ६ भागों में बँटा हुआ है। निमाड़ का भाग अलग से है।[1] यह अन्तर्वर्ती विभाजन शासकीय नहीं, अपितु जातियों के प्रभुत्व के परिणाम-स्वरूप लोक प्रचलित धारणाओं पर आधारित है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस विभाजन द्वारा मालवी के अन्तर्वर्ती उपभेद भी प्रकट होते हैं जिन पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है। अन्तर्वर्ती भाग निम्न हैं जिनमें निमाड़ को और भी सम्मिलित किया जा रहा है –

१. कांठल —मन्दसौर जिसका मध्य है।
२. बागड़ —बाँसवाड़ा जिसका मध्य है तथा रतलाम का कुछ भाग जिसमें सम्मिलित है।
३. राठ —जिसमें झाबुआ और जोबट का अधिकांश भाग आता है।
४. सोंधवाड़ —सोंधिया राजपूतों का प्रदेश जिसका मध्य महिदपुर है।
५. उमठवाड़ —उमठ राजपूतों का प्रदेश, जो राजगढ़ और नरसिंगगढ़ आसपास व्याप्त है।
६. खिचीवाड़ा—खिची चौहानों का प्रदेश जो उमठवाड़ के निकट है तथा खिलजीपुर जिसका मध्य है।
७. नियाड़ —नर्मदा उपत्यका का मालवी (निमाड़ी) भू-भाग जिसका केन्द्र महेश्वर है।

मालवी के उपभेद—मालवी के कुछ अपने उपभेद हैं जिनका वर्गीकरण करना सुविधा के लिये अनिवार्य है। ऐसे उपभेद प्रमुख स्थानों और जातियों से जाने जाते हैं, जैसे रतलाम क्षेत्र की 'रतलामी', उमठवाड़ की 'उमठवाड़ी', काठल की 'मन्दसोरी', सोंधवाड़ की 'सोंधवाड़ी'[2], मेवातियों की मेवाती, भोयरों की 'भोयरी', पटवों की 'पटवी', राजपूतों की 'राँगड़ी या रायगड़ी' आदि। भेदों की पहचान, उच्चारण, विभक्ति, प्रत्यय, कारक चिह्न, सर्वनाम, क्रियापद, विश्लेषण आदि के प्रयोग से हो जाती है। केवल सर्वनाम 'मैं' के लिये 'हूँ', 'म्हूँ', 'म्हू', 'म्ह', अथवा 'तू' के लिये 'थें', 'तूं', 'तन' आदि रूप मिलते हैं। इसी प्रकार 'उनके' के लिये 'तमखे', 'तमख', 'तमारके', 'तमारखे', 'त्हाके' आदि अथवा क्रियापद 'कहा' के लिये 'कियौ', 'कयौ', आदि रूप सरलता से प्राप्त हैं।

---

[1]इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इण्डिया, सेण्ट्रल इण्डिया, १६०८, पृ० १२१।

[2]सोंधिया राजपूतों की भ्रष्ट जाति है। सौंधवाड़ का मध्य महिदपुर है, जो पूर्व में शाजापुर, उत्तर में रामपुरा, तथा पश्चिम में राजपूताना तक फैला है। इस क्षेत्र की मालवी सोंधवाड़ी है। स्थानसूचक होने के कारण इस प्रबन्ध में यह जातिसूचक उपभेद में नहीं रखा गया है।—'सोधिया' को

मालवी उपभेदों के मुख्य लक्षण

सोंधवाड़ी

१ स-कार (श-कार भी) के स्थान पर ह-कार का प्रयोग, जैसे—हमज्यो (समझा), होड़िग्रा (सोड़िया), हाथी (साथी), हक्कर (शक्कर, शकर), हाँझ (सांझ), हुपनो (सपना), हुण्यो (सुना) आदि। यह प्रवृत्ति राजस्थानी से प्रभावित गुजराती के कुछ उपभेदों में भी है। इसके अतिरिक्त सिंधी, लहन्दी तथा पुरानी मराठी में भी मिलती है। डॉ० चाटुर्ज्या इसे किसी बाहरी भाषा के प्रभाव से कुछ विशेष शब्दों या प्रत्ययों में आयी समझते हैं।

कभी-कभी ह-कार का लोप भी हो जाता है, पर यह बहुत कम होता है। जैसे 'ह्वया' का 'वयो', 'ल्होरो' का लोरो आदि।

२ सोंधवाड़ी में 'ल' का उच्चारण मराठी के 'ळ' के अनुरूप होता है।

३ मालवी के इस उपभेद में 'ब' का 'व' में परिणित होना सहज है, जैसे बात (बात), वाट, (बाट) आदि।

४ मराठी, सिन्धी, लहन्दी आदि में प्रयुक्त 'ण' मूर्धन्य ध्वनि सोंधवाड़ी में लक्षणीय है। उदाहरणार्थ—समजणो (समझना), रोवणो (रोना), कणी (कौन) आदि। शुद्ध या मध्यवर्ती मालवी में यह ध्वनि लुप्त होती जा रही है।

'सेड़िया' भी कहा जाता है। सन्' ३३ की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या दो लाख के लगभग मानी गई है। सर जान-मालकन के समय यह जाति अत्यन्त ही लुटेरा और खूँखार थी। 'नो रेस केन बी मोअर डेसपाइड्ज़ एण्ड ड्रडफुल देन दी सौंधियाज़'—(मेमायर, खं० २, पृ० १५३-५४)। सोंधियों को कुछ विद्वान् सन्ध्या का अपभ्रंश मानते हैं जिसका अर्थ हुआ मिश्रित। अपने विचित्र उच्चारण के कारण ये लोग अपने को 'होड़िया' कहते हैं। अपनी उत्पत्ति के विषय में एक अद्भुत कथा इनमें प्रचलित है। कथा के अनुसार एक राजकुमार का मुँह जन्म से ही सिंह की भाँति था। उसके माँ-बाप ने उसे जंगल में निकाल दिया और वह वहीं रहकर भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह करके सौंड़िया का आदि पुरुष हुआ—देखिये, श्री समीर का लेख, हिन्दुस्तानी, जनवरी १९३३। इतिहास के आधार पर सन् १६२७ ई० में उज्जैन के निकट फतेहाबाद में जोधपुर के जसवन्तसिंह की सेना के अंग होकर कुछ राजपूत औरंगजेब की सेना से हार गये थे। हार के कारण उन्होंने अपने प्रान्त लौट जाना उचित नहीं समझा और यहाँ बस गये। कहते हैं कि यहीं के आदिवासियों के मेल से इस जाति का विशुद्ध रक्त नष्ट हो गया—(सेन्सस ऑफ़ सेण्ट्रल इण्डिया एजेन्सी, १९३१, पृ० २३६)।

रागड़ी[1] या रायगढ़ी

१—रागड़ी में भूतकालीन क्रिया 'था' का 'थको' रूप लक्षणीय है, यथा—तू गयो थको (तू गया था), कुण आयो थको (कौन आया था) आदि।

२—आदरवाचक 'जी' या 'सा' (साहब) प्रत्यय राजस्थानी से होता हुआ रागड़ी में उसी प्रकार प्रयुक्त होता है। दोनों का संयुक्त प्रयोग भी नामोच्चारण के अभाव में होता है, जैसे —'जीसा, म्हन, कद कियो ?' (जी साहब, मैंने कब कहा ?), 'म्हार से जीसा बोल्या' (मुझसे जी साहब बोले) आदि।

३—'ण' और 'ल' मूर्धन्य ध्वनियाँ रागड़ी में विशेष प्रचलित है।

उमठवाड़ी

१—'है' कर्मकारक का चिह्न उमठवाड़ी में 'में' के स्थान पर प्रयोग में आता है, जैसे 'घर है' (घर में), 'बाड़ा है' (बाड़े में) आदि।

२—'इधर-उधर' के लिये 'अनांग-उनांग' प्रयुक्त होते हैं।

३—'थ' और 'ध' के स्थान पर 'त' और 'द' का विपर्यय साधारण बात है, जैसे सात (साथ), हात (हाथ), बान्द्यो (बांधा) आदि।

डँगेसरी या डाँगी

१—'थो', 'तुम', 'में' 'को' आदि पदों के स्थान में 'हों', 'थां', 'म्हां', 'है', 'ने' आदि बोले जाते हैं।

२—ण-कार की प्रवृत्ति इसमें भी है।

३—स्वर और व्यंजनों में प्राय; परिवर्तन होता है, जैसे—'विनती', दिन', 'हाथ' आदि के लिये 'वणती' 'दन', 'हात' आदि।

---

[1]मालकम के अनुसार १६ वीं शताब्दी में मध्यवर्ती भारत की पाठशालाओं में रागड़ी पढ़ाई जाती थी। यह रागड़ी उनके शब्दों में 'हिन्दुई' की एक बोली रही है। पाद-टिप्पणी में रागड़ी के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि यह शब्द 'रणगड़' से बना है। 'रण' का अर्थ है युद्ध और 'गड़' का अर्थ है किला। मराठी के अनुसार 'रन' का अर्थ है जंगल और 'गड़' या 'गुड़ी' का अर्थ है जंगली मनुष्य।—देखिये मेमायरस, खं० २, पृ० १६१।

मालकम के अनुसार 'रागड़ी' भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उच्चारण भिन्नता लिए हुए प्रचलित थी (पृ० १६१)। संभवत: मालकम को प्रान्तीय भाषाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों का ठीक से ज्ञान न था।

बागड़ी

१--स-कार के स्थान पर ह-कार की प्रवृत्ति है।

२—प्रेरणार्थक क्रिया 'ड' के संयोग से बनती है (मारवाड़ी की भाँति)।

३—कुछ शब्दों का उच्चारण-वैशिष्ट्य भी ध्यान देने योग्य है, जैसे—'भागे-भागे' की जगह 'भाग्या-भाग्या', 'खँखारना' के स्थान पर 'खूंखारना' आदि।

मालवी के सामान्य लक्षण

१ 'ए' उच्चारण का 'अ'-कार में परिवर्तन होना, जैसे—दन (दिन), हरण (हिरण), पंडत (पंडित) आदि। राजस्थानी में जहाँ 'सिरदार', 'मिनक' आदि शब्द होते हैं, वहाँ वे मालवी में 'सरदार' या 'मनक' रूप में प्रयुक्त होंगे।

२—'ए' और 'ओ' ध्वनियाँ मालवी उच्चारण में 'ए' और 'ओ' हो जाती हैं। जैसे—ओर (और)'चेन (चैन), जै (जय) आदि।

३—'य' और 'ब' का 'ज' और 'व' में परिवर्तित होना। यह नागरों और औदिच्यों की मालवी में विशेषरूप से पाई जाती है।

४—शब्द बिकृत करने की प्रवृत्ति भी मालवी में उपलब्ध है। जैसे—किसन्यो (किसन), बालूड्डों (बालक), मेर्‍यो (मेरू), रूपट्टी (रुपया) आदि।[1]

'उज्जैनी'—व्याकरण की दृष्टि से उपभेदों को हम स्थूल रूप से विभाजित करते हैं तो हमें मध्यवर्ती मालवी से ही आरंभ करना पड़ता है। मध्यवर्ती मालबी से तात्पर्य मालवा के केन्द्र में बोली जाने वाली मालवी है। ऐतिहासिक प्रमाणों से अधिक न उलझते हुए टकसाली या मध्यवर्ती मालवी का क्षेत्र उज्जैन जिला ही घोषित किया जा सकता है।[2] १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब अंग्रेज-ईसाईयों ने धर्मप्रचारार्थं भारतीय भाषाओं और बोलियों में 'बाइबिल' के अनुवाद तैयार किये तब कलकत्ता के समीपवर्ती श्रीरामपुर केन्द्र के ईसाई विद्वान् केरीवार्ड और मार्शमन ने उज्जैन की समीपवर्ती मालवी को ही उपयुक्त समझा। उन्होंने उसे मालवी न कहकर 'उज्जैनी'[3] कहा, और स्थान-विशेष नाम से ही अपनाया। अतः उज्जैनी को ही मध्यवर्ती मालवी मानना उचित होगा।

---

[1]परिशिष्ट में विभिन्न प्रकार के मालवी उदाहरण दिये गये हैं—(५७८-८०)। [2]कुछ विद्वानों ने इन्दौर राज्य को टकसाली मालवी का केन्द्र माना है। [3]चाटुर्ज्या—राजस्थानी भाषा, पृ० ८।

'बारह कोस पर बोली बदले' कहावत की सत्यता को हम मालवी पर घटित करके अच्छी तरह परख कर सकते हैं। मालवी के स्थान-सूचक एवं जाति-सूचक उपभेद आगे दिये जा रहे हैं।
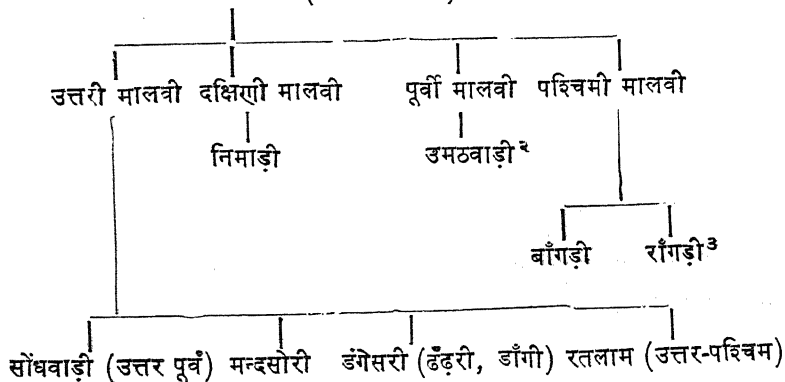
नाम	क्षेत्र	प्रभाव
'उज्जैनी'	उज्जैन मण्डल	आदर्श मालवी
उत्तरी मालवी	रतलाम, जावरा, मन्दसौर कोटा के समीप डाँग प्रदेश एवं कोटा रियासत (भूतपूर्व)	राजस्थानी, मालवी
दक्षिणी मालवी	नर्मदा उपत्यका का मध्य—उत्तर प्रदेश	निमाड़ी, मराठी
पूर्वी मालवी	नरसिंहगढ़, सीहोर, दक्षिण-झालावाड़ और भोपाल का पश्चिमी क्षेत्र	बुन्देलखण्डी
पश्चिमी मालवी	जोबट, अलीराजपुर, झाबुआ	भीली, गुजराती, बंजारी, खिचीवाड़ी

[1]लिंग्विस्टिक सर्वे, खण्ड ६, भाग २, पृष्ठ ४। [2]भोपाल एजेन्सी में मालवी कहलाती है, देखिये सेन्सस ऑफ़ इण्डिया, खण्ड २०, १९३१, अ० १०, पृ० १७०। [3]वही।

ग्रियर्सन के आधार पर निर्मित

मालवी उपभेदों की सूची

क्रम संख्या	उपभेद	बोलने वाली जाति	स्थान	सर्वे रिपोर्ट के अनुसार बोलने वालों की संख्या	प्रभाव	संदर्भ	विवरण
(१)	अहीरी*	अहीर	मालवा में जहाँ-जहाँ बसे हैं		अभीर	सर्वे रिपोर्ट, खंड ९, भा० २, पृ० ५३,२४०,२६३, ३०५	मालवी के उपभेदों में एक है। ग्रियर्सन ने मालवी उपभेदों के लिये अहीरी का प्रयोग बताया है।
(२)	भोयरी*	भोयर	मध्यप्रदेश का छिंदवाड़ा जिला	११,०००	विभिन्न	सर्वे रिपोर्ट, खंड ९, भा० २, पृष्ठ ५३,२८८,२९३	कहते हैं, भोयर पहले मालवा में रहते थे। उनका स्थान भोज की धार नगरी था।
(३)	ढोल्लेवाड़ी*	कुरमी	मध्यप्रदेश का बैतूल जिला	१,१९,०००	उमठवाड़ी, बैसवाड़ी और बुन्देली	सर्वे रिपोर्ट खंड ९, भाग २, पृ० २८८, २९१	कुरमी अपने को उन्नाव जिले की ओर से आया बताते हैं। इसे बैतूली मालवी भी कहा जा सकता है।

(४)	रागड़ी या रायगड़ी ※	मालवी राजपूत	मालवा में जहाँ रहते हैं	३८,७२,२८८	राजस्थानी और मारवाड़ी	सर्वे रिपोर्ट खं ६, पृ० ५२, २४८, २७७ और ३०५	राजस्थान से आकर बसने वाले राजपूतों की बोली जिन्होंने मालवी को अपनाया पर राजस्थानी उच्चारण वैसे ही रहने दिये।
(५)	डगसरी या डाँगी	—	कोटा के कुछ भाग में बोली जाती है	१,०१,०००	ग्वालियरी और राजस्थानी	—	—
(६)	कतियाई	—	छिंदवाड़ा, मध्य-प्रदेश	१८,०००	—	वही, पृ० ५४, २८८	ग्रियर्सन द्वारा स्वीकृत-मालवी का एक उपभेद।
(७)	किरसानी	—	—	—	—	—	इन्दौर राज्य की सूचना के आधार पर ग्रियर्सन ने इसे राजस्थानी का एक भेद माना है, पर जैसा कि बोली का स्वरूप है वह मालवी ही है, उसे अलग भेद स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है।
(८)	होशंगाबादी मालवी	—	—	१ २६,५२३	निमाड़ी, बुंदेली	वही, पृ० २८८, २८९	—
(९)	मिली-जुली मालवी	—	—	२ ७४,७२३	—	वही, पृ० ५२, २८८	मालवा के विकृत रूप जो मध्य-प्रदेश में बोले जाते हैं।

(१०)	निमाड़ी	—	निमाड़ और उसके निकटवर्ती क्षेत्र	४, ७४, ७७७	—	सर्वे रिपोर्ट खं० ६, ३,६०,१६६,३०५	—
(११)	पटवी❀	पटवा	मध्यप्रदेश का चान्दा जिला	२००	मराठी का विकारी रूप	वही, ५३, २८८, २६४	मालवा के बाहर प्रचलित उपभेद।
(१२)	सोंधवाड़ी	—	सोंधवाड़	२, ०३, ५५६	राजस्थानी	वही, ५२, २७३, २७८	मालवी का उपभेद जो पश्चिम-मालवा और झालावाड़ में प्रचलित है।
(१३)	उज्जैनी	—	—	—	—	वही, पृ० ४	मालवी का दूसरा नाम।
(१४)	गूजरी❀◆	गूजर	मालवा में जहाँ-जहाँ रहते हैं	एक लाख के लगभग	गुजराती	—	गूजरों के कई गाँव मालवा में हैं। इनकी बोली और नागरी में थोड़ा ही अन्तर है।
(१५)	नागरी❀◆	नागर ब्राह्मण और गुजराती माली	,, ,,	—	,,	—	ये जातियाँ गुजरात की ओर से कई शताब्दियों पूर्व आकर बसीं।
(१६)	मेवाती❀◆	मेवाती	,, ,,	—	विभिन्न प्रभाव	—	मालवा में मेवातियों के अनेक गाँव हैं।

[नोट—◆चिह्नित उपभेद लेखक द्वारा सम्मिलित किये गये हैं तथा ❀चिह्नित उपभेद जाति-सूचक है शेष सभी अचिह्नित और चिह्नित उपभेदों में भी क्रमसंख्या १, २, ३, ४ तथा ११ का उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है।

छोटे उपभेदों के लक्षण

(१) **पाटवी**—पटवी या पाटवी मध्यप्रदेश की एक छोटी-सी जाति के द्वारा बोली जाती हैं। मराठी और गुजराती के शब्द इसमें विकृत होकर प्रविष्ट हुए हैं। 'कौन' (कौन) को 'कोनो', 'खरच' को 'खरच्या' आदि रूप द्रष्टव्य है। गुजराती का एक भेद पलटूणी अथवा पटवेगारो है। पटवा रेशम बुनने का कार्य करते हैं। गुजराती के शब्द इसमें स्वाभाविक रूप से आये हैं।[१]

(२) **ढोलेवाडी**—मालवी की 'थो' क्रिया 'हत्थो', 'भया', 'हता' लक्षणीय है। उन्नाव की बैसवाड़ी का प्रभाव इस उपभेद पर है क्योंकि इसे बोलने वाले कुरमी अपने को उन्नाव जिले का ही बताते हैं।[२]

(३) **भोयरी**—'ला' प्रत्यय कर्मकारक का चिह्न है और उसके कुछ शब्द भी अपने हैं, जैसे जवर (पास), अवधी (सारा) आदि।[३]

(४) **डगेसरी**—कोटा के क्षेत्र में इसे कुंडली भी कहते हैं। मालवी के इस भेद में बहुत-सी विशेपताएँ हैं, जेसे—'थो' के स्थान में 'हो' (इसी प्रकार 'ही' तथा 'हा'), 'तुम के लिये' थां 'हम' के लिये 'म्हाँ', जो हूँ अर्थात् एकवचन में 'मैं' के लिये भी प्रयुक्त होता है। 'मैं के स्थान में है', को के स्थान में 'ने' जैसे गांव ने, गाँव को आदि बालते हैं।' मुझको को लिये 'म्हुई' और न-कार के स्थान पर ण-कार की प्रवृत्ति भी अधिक पाई जाती है।[४] स्वरों का विनिमय भी बहुत होता है जैसे—'गिरणो' के लिये 'गरणो' (गिरना), 'रहो हो' के लिये 'रो हो हो', आदि। इसी प्रकार व्यंजनों में भी परिवर्तन हो जाता है, जैसे—'साथ (साथी) को 'सात', 'बूझी' (पूछा) के स्थान में 'बूजी' कहते हैं।[५]

मालवी का विकास—देशी भाषाओं के विकास का युग कब से आरंभ हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्देश करना संभव नहीं है; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ये देशी भाषाएँ अपभ्रंश की बेटियाँ और पोतियाँ हैं। वर्तमान प्रादेशिक भाषाएं एवं उनकी उपभाषाएँ स्वतंत्र रूप से उत्पन्न नहीं हुई है। बीच-बीच में जो परिवर्तन का समय आया वह प्रधानरूप से राजनीतिक घटनाओं से और गौणरूप में अपने स्वाभाविक विकास से संबंधित है। विक्रम की ८वीं और ९ वीं शताब्दी से जो परिवर्तन-क्रम लागू हुआ, वह विक्रम की १३वीं और १४ वीं शताब्दी तक चलता रहा। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ

[१,२,३,४] देखिए 'हिन्दुस्तानी', जनवरी १९३३, पृ० ५६-५७। [५] वही, पृष्ठ ५७।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।[1] इस प्रवाह-परिवर्तन में भिन्न-भिन्न भाषाओं का स्वरूप स्पष्ट करना एक स्वतंत्र विषय है। किसी भाषा में साहित्य-निर्माण आरंभ हो जाने से वह काफी समय तक बोल-चाल की भाषा बनी रहती है। प्रसिद्ध संतों तथा प्रचारकों द्वारा माध्यम बनाये जाते ही उसे महत्व प्राप्त हो जाता है। ६ वीं शताब्दी के बाद सिद्धों ने अभिव्यक्ति के हेतु लोकभाषाओं का सहारा लिया। रामानन्द तथा कबीर आदि कवियों ने भी उसी परम्परा को अपनाया। इस तरह प्रयुक्त भाषाओं के आधार पर १२वीं शताब्दी तक भाषाओं का स्वतंत्र रूप प्रकट हो गया था।

अपभ्रंश के क्षेत्र में मालवा और उसके निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसमें कतिपय भेदों के साथ कुछ ऐसी उपभाषाएँ वर्तमान थीं जिनका संबंध अवन्तिका की भाषाओं से था। इन सभी भाषाओं पर अभीरों का बहुत प्रभाव पड़ा। अध्येताओं का कथन है कि तत्कालीन अपभ्रंश के निकट आधुनिक मालवी, राजस्थानी और गुजराती है। एक भाषा का प्रभुत्व होने से प्रादेशिक भेदों को उठने का अवसर नहीं मिला। अतएव मालवी में १२वीं शताब्दी तक स्वतंत्र साहित्य रचना होने की संभावना कम ही प्रतीत होती है। यदि कुछ रचनायें हुईं भी हो तो वे कालान्तर में नष्ट हो गई होंगी।

भोज के समय (संवत् १०६७-११०७) साहित्य और कला का प्रशंसनीय विकास हुआ। स्वयं भोज ने देशी भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन दिया। अत: उसके समय देशी भाषा मालवी में रचनाएँ अवश्य लिखी गई होंगी। १२वीं शताब्दी में परमारों की शक्ति क्षीण होने लगी और सौलंकियों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा अनेक छोटे-छोटे राज्य मालवा में बन गये। वह समय निश्चित रूप से लोकभाषा के व्यवहार का रहा होगा। उस समय ग्रंथों का लिखा जाना भी संभव न था। अनेक उपभेदों की सृष्टि इसी समय हुई प्रतीत होती है। १७वीं शताब्दी में परिवर्तन तेजी से हुए और उसके पश्चात् गति धीमी हो गई।

प्राचीन मालवी साहित्य अपभ्रशं की खोज से संबंधित है। इसी प्रकार मध्यकालीन मालवी साहित्य राजा-महाराजाओं के पत्रों, मंदिरों और माण्डलिकों की पोथियों और भण्डारों में दबा हुआ है। यही स्थिति पुर्वाधुनिक मालवी की है।

व्यक्तिगत रूप से कुछ प्रयत्न किये गये हैं जिससे केवल मध्यकालीन एवं पूर्वाधुनिक मालवी साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। इसमें लिखित और अलिखित दोनों प्रकार का साहित्य है।

[1]राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० १२।

लिखित के अन्तर्गत वह साहित्य, जिसकी खोज होनी शेष है, वह साहित्य जो खोजा जा चुका है और वह जो मुद्रित है।

अलिखित के अन्तर्गत मौखिक साहित्य ही होगा, जिसे हम लोकसाहित्य की संज्ञा से अभिहित करेगें और यही हमारे प्रबन्ध का आधार भी है।

वर्तमान साहित्य के दो रूप हैं—प्रथम ग्रामीण मालवी और द्वितीय नगर मालवी। केवल उच्चारण भिन्नता और परिष्कृत शब्द भेद के द्योतक विकास-क्रम की दृष्टि से मालवी का इतिहास किंचित् संदिग्ध है। किसी भी आयुध-जीवी जाति के साहित्य एवं उसकी भाषा के प्रति यह संदेह स्वाभाविक है। अतएव विवेचन के आधार पर मालवी के विकास की छः अवस्थाएँ निर्धारित की जा सकती हैं :—

(अ) प्राचीन मालवी	: १. अवन्ती प्राकृत २. अवन्ती अपभ्रंश	११वीं शताब्दी तक
(आ) मध्यकालीन मालवी	: ३. पूर्व मध्यकालीन ४. उत्तर मध्यकालीन	१८वीं शताब्दी के मध्य तक
(इ) आधुनिक मालवी	: ५. पूर्वाधुनिक मालवी	१९वीं शताब्दी के मध्य तक
	६ उत्तराधुनिक मालवी ;	२०वीं शताब्दी

[आ]

मालवी-लोकसाहित्य-संकलन का विवरण—पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी (५ वाँ भाग) में सहायकों की नामावली के अन्तर्गत इन्दौर के दो व्यक्तियों (श्रीमती राजकुँवरबाई और पण्डित जगन्नाथ टल्लू) के नामों का उल्लेख किया है।[1] यह उल्लेख वस्तुतः सन् १९२८ तक उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों से सम्बन्धित है; किन्तु गीतों के संग्रहकार्य में उक्त सहायकों द्वारा भेजी गई सामग्री का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके पूर्व नागपुर के फ्री चर्च ऑफ स्कॉटलैण्ड मिशन के स्टीफन हिस्लप द्वारा संकलित जो सामग्री उनकी मृत्यु के बाद आ० टेम्पल द्वारा सम्पादित होकर प्रकाश में आई, उसमें नर्मदा-उपत्यका और मालवा के निकटवर्ती कुछ भागों का लोकसाहित्य भी उपलब्ध है।[2] मालवा में लोकसाहित्य-संकलन की परम्परा का क्रम असम्बद्ध और संदिग्ध है, अतएव उस पर विचार करना यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत-प्रबन्ध में जिस सामग्री को विवेचन का आधार बनाया गया है वह पिछले कतिपय वर्षों में ही लिपिबद्ध की गई है। कहा गया है कि

---

[1]कविता कौमुदी, पृ० ७१, क्रमांक ७ एवं ६५। [2]देखिये केप्टन जे० फोरसीथ, दी हाई लेण्ड्स ऑफ सेण्ट्रल इण्डिया, पृष्ठ १४९।

पं० रामनरेश त्रिपाठी के प्रयत्नों ने भी इस क्षेत्र में लोकसाहित्य-संकलन को प्रेरणा प्रदान की। "सन् १९३२ एवं ३८ के बीच में भूतपूर्व इन्दौर राज्य के शिक्षा एवं रेवेन्यू-विभाग ने म० भा० हिन्दी साहित्य समिति के तत्वावधान में लोकगीतों के संकलन का कार्य प्रारम्भ किया। गाँवों की प्राथमिक शालाओं के शिक्षक एवं पटवारियों से लोकगीत लिखवाकर मँगाये गये।"[1] धार-राज्य में भी इस प्रकार की विज्ञप्तियाँ भेजकर संकलन का कार्य किया गया। हिन्दी-साहित्य समिति के महू अधिवेशन के अध्यक्ष के नाम भेजे गये एक पत्र में इस बात का उल्लेख है।[2] पत्र की प्रतिलिपि प्रबन्ध के परिशिष्ट में दी गई है। ग्वालियर राज्य से भी उस समय इस दिशा में कुछ सहायता प्रदान करने का अनुरोध सम्मेलन ने किया था; किन्तु तत्कालीन ग्रामविकास विभाग के अधिकारी ने अपनी असमर्थता प्रकट की थी।[3] फिर भी बताया जाता है कि ग्वालियर के भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने सन् ४० के पूर्व ही इस विषय में काफी सामग्री संचित कर रखी थी जिसका समुचित प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। जनवरी सन् १९३३ में श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' ने 'हिन्दुस्तानी पत्रिका' में 'मालवी के भेद और उनकी विशेषताएँ' शीर्षक लेख में लोकसाहित्य की सामग्री के सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त किया है। वैसे कतिपय उल्लेखनीय विद्वानों के लेख भी जिनका कि आगे उल्लेख किया जा रहा है, संकलन परम्परा की कड़ियों को सशक्त करने में सहायक प्रमाणित हुए। होल्कर राज्य द्वारा किये गये लोकगीतों का संकलन म० भा० हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर के पास सुरक्षित है। इस सामग्री के अवलोकन करने पर ज्ञात हुआ है कि इसमें मालवी गीतों के अतिरिक्त भीली और निमाड़ी गीतों का भी समावेश है। निश्चय ही इस संग्रह का यथासमय प्रकाशन न होने से लोकसाहित्य के प्रति बढ़ती हुई जिज्ञासा को आघात पहुँचा है। आज भी यह संग्रह ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। उसका इतना महत्व तो भुलाया नहीं जा सकता कि इसमें १९३२ और १९३८ के बीच लिपिबद्ध किये गये गीतों का समावेश है। इसके पश्चात् भी समिति बार-बार लोक-गीतों एवं लोकोक्तियों के संग्रह के लिये प्रस्ताव स्वीकृत करती रही, पत्र-व्यवहार किया गया एवं परिणाम स्वरूप सन्तोषजनक उत्तर सहयोग पाती रही।[4] जिन लेखों के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय है :—

[1]श्री चिन्तामणि उपाध्याय, मालवी लोकसाहित्य की स्थिति, मन्दसौर महाविद्यालय पत्रिका, १९५४-५५। [2]देखिये, म० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९४२, का कार्य विवरण, पृ० ४०। [3]वही, पृष्ठ ४०-४१। [4]वही, पृष्ठ ७, १९ एवं २८।

१—जी० आर० प्रधान—फोक सांग्ज़ फ्राम मालवा, दी जनरल ऑफ़ दी डिपार्टमेण्ट ऑफ मोशियालाजी, बाम्बे, जिल्द ७ और ६ ।[1]

२—रामनिवास शर्मा—गर्वं की एक अपूर्व साहित्यिक वस्तु, वीणा, इन्दौर, सितम्बर १६४१ ।

३—विश्वनाथ पौराणिक—मालवा के ग्रामगीत, वीणा, इन्दौर, मई १६४१ ।

४—चन्द्रसिंह झाला—मालवा के ग्रामगीत, वीणा, इन्दौर, सितम्बर १६४४ ।

यह निश्चित है कि सन् १६४४ के पूर्व मालवी लोकसाहित्य संबंधी इने-गिने जो भी लेख प्रकाशित हुए, उनमें संकलन के प्रति सजग दृष्टिकोण का अभाव था । चन्द्रसिंह झाला ने अपने समस्त लेखों में लगभग ४० गीतों को उद्धृत किया है । उनके अन्य लेख 'वीणा' मासिक में क्रमशः अक्टूबर[2] १६३६, एवं अप्रैल[3] १६४१ में प्रकाशित हुए हैं ।

श्री चिन्तामणि उपाध्याय ने मालव लोकसाहित्य संकलन के कार्य को दो काल में विभाजित किया है—१. सन् १६३२ से सन् १६४४ तक और २. सन् १६४४ से सन् १६५४ तक । प्रथम काल उनके अनुसार प्रयास का काल है, क्योंकि सङ्कलन का कार्य पूर्णरूप से प्रदेश व्यापी न होकर व्यक्ति-विशेष एवं क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित रहा ।[4] जहाँ तक दूसरे काल का प्रश्न है, हमारी नम्र राय में, उसमें यद्यपि लोकसाहित्य लिपिबद्ध करने की दिशा में पर्याप्त सफलता मिली है तथापि संकलन का कार्य प्रदेश व्यापी फिर भी न हो सका । यद्यपि दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो चला, किन्तु प्रयत्न व्यक्ति-विशेष तक ही सीमित रहे ।

उज्जैन की साहित्यिक संस्था, प्रतिभा निकेतन और मालव लोकसाहित्य परिषद् ने ग्रामीण-क्षेत्रों में जाकर लोकसाहित्य एकत्र करने के लिये जो प्रयत्न किया, यह मालवा के लिए उल्लेखनीय है । इन प्रयत्नों की पर्यवेक्षण रिपोर्ट म० भा० शासन के पास सुरक्षित है । व्यक्तिगत प्रयत्नों से संग्रहीत सामग्री की विवरण तालिका इस प्रकार है—

---

[1]लेख का आधार धार-राज्य द्वारा संकलित करवाये गये वे गीत हैं जिनका सम्बन्ध परिशिष्ट में दिये गये पत्र से है । [2]मालवा के किसानों का संगीत-प्रेम । [3]मालवा के किसान । [4]मन्दसौर महाविद्यालय पत्रिका, १६५४-५५ ।

संग्रहकर्ता	लोकगीत	कथागीत	प्रबन्ध-गीत	लोकोक्तियाँ	लोककथाएँ	संकलन-क्षेत्र
१. चिन्तामणि उपाध्याय[1]	६१५	५	५	७००	—	उज्जैन, बड़नगर, मन्दसौर, इन्दौर
२. बसन्तीलाल 'बंब'	२००	१०	१	१२००	५०	नेवरी, मंवरासा
३. हरीश निगम	५०	—	—	१५००	—	नागदा, सैलाना, आलौट
४. मनोरमा उपाध्याय	२१०	—	—	८००	४०	मनासा, रामपुरा-भानपुरा, रतलाम
५. अनूप	२००	—	—	—	३५	बड़नगर, देवास, जिला
६. सूर्यनारायण व्यास	—	—	—	७००	—	उज्जैन जिला
७. चन्द्रशेखर दुबे	१००	—	—	—	२५	इन्दौर
८. श्याम परमार	६००	५०	७	५००	१५०	उज्जैन, देवास, शाजापुर, इन्दौर, राजगढ़, मन्दसौर, धार, निमाड़ जिले और राजस्थान के सीमावर्ती कुछ ग्राम
९. फुटकर प्रयत्न	१००	—	—	२००	१००	—

[1]राजोद ग्राम के कैलाश त्रिवेदी द्वारा प्रेषित सामग्री इसमें सम्मिलित है। इसमें २५ गीत, ५७ पहेलियाँ और ९१ लोकोक्तियाँ थीं। साथ ही पत्र-पत्रिकाओं से भी एकत्र की गई सामग्री इसमें है। —देखिये, म० म० वि० पत्रिका, १९५४, ५५।

प्रस्तुत-प्रबन्ध का आधार मुख्यरूप से उक्त सामग्री का वह अंश है, जो लेखक द्वारा संकलित किया गया है। अन्य व्यक्तियों द्वारा एकत्रित सामग्री का कुछ अंश ही प्रबन्ध के उपयोग में आ सका है। जहाँ तक अनुशीलन का प्रश्न है, संकलित सामग्री में अनेक गीत, लोकोक्तियाँ और कथाओं की समानता होते हुए भी पाठान्तर-भेद की दृष्टि से इनका संकलन महत्त्वपूर्ण है। मालवा के पठारवर्ती अधिकांश मण्डलों से सामग्री प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है और भिन्न-भिन्न जातियों से सामग्री जुटाई गई है। अतएव समग्र रूप से प्रबन्ध का आधार वह सामग्री है, जो मालवा की सांस्कृतिक इकाई से संबंधित है।

जहाँ तक लेखक का मालवी लोकसाहित्य से परिचय है, वहाँ तक अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि जातियों के अपने स्वतंत्र अस्तित्वसूचक लोकसाहित्य का बहुत कम भाग वर्तमान में उपलब्ध है। स्थूलरूप से यहाँ की भूमिपरम्परागत गीत सभी जातियों में समान रूप से प्रचलित हैं। उच्चारण भिन्नता के कारण उनमें भले ही कुछ शब्दों की रूपभिन्नता लक्षित होती हो, पर भावों में प्रगाढ़ एकता है। यह बात लोककथाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों के संबंध में भी लागू होती है।

आनुष्ठानिक आकृतियाँ अवश्य ही जातिसूचक पायी जाती है, किन्तु यह हमारा विषय नहीं है। आलोच्य-सामग्री की दृष्टि से प्रबन्ध के हेतु उन सभी मुद्रित लेखों का सहयोग लिया गया है, जो मध्य भारत, राजस्थान और अन्य प्रान्तों के पत्रों में समय-समय पर मालवी लोकसाहित्य के संबंध में प्रकाशित हुए हैं।

———

द्वितीय अध्याय

लोकगीत-साहित्य

वृहद् मालवा का लोकगीत-साहित्य भाषा और बोलियों की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, किन्तु जहाँ तक केवल मालवी-गीत साहित्य का प्रश्न है, उसे छोटे-छोटे भाषा भेदों में बाँटना उपयुक्त नहीं है। मालवी के उपभेदों में गीतों की सामान्य प्रवृत्तियाँ ऐसी व्याप्त हैं, मानों वे एक ही व्यापक भाषा की अंग हों। जातीय गीतों का स्वतंत्र स्वरूप मालवी गीतों से भिन्न नहीं पाया जाता, क्योंकि यहाँ के सांस्कृतिक समन्वय के परिणाम स्वरूप लोक-साहित्य में अद्भुत इकाई लक्षित होती है। यों कतिपय पाठान्तर एवं पद-भेद इस अन्तर पर सामान्य प्रकाश डाल सकते हैं। स्थूलरूप से मालवी लोकगीत-साहित्य जातीय विशेषताओं से प्रभावित नहीं कहा जा सकता। प्रगाढ़ समन्वय के कारण तो उसका वर्गीकरण संभव नहीं किन्तु यदि सूक्ष्म अध्ययन का आश्रय लिया जाय तो उपभेदों की दृष्टि से वर्गीकरण संभवत: किया जा सकता है। मालवा की पठारवर्ती समस्त जातियों में उल्लेखनीय संस्कार और आचार-भेद नहीं पाये जाते। अतएव उनसे संबंधित गीतों की गेय-पद्धति और पदावली में भिन्नता लक्षित नहीं होती। प्रस्तुत-प्रबन्ध में जिन गीतों को विवेचन का आधार बनाया गया है, वे मालवा के भिन्न-भिन्न क्षेत्र और जातियों से एकत्र किये गये हैं। समस्त गीत सामान्यरूप से मालवा की प्रमुख जातियों में समय-समय पर गाये जाते हैं, अतएव विवेचन का दृष्टिकोण पूर्णत: सामान्य है।

गीतों का स्वभाव—मालवी गीतों में प्राय: शान्ति और सन्तोष की भावना देखने को मिलती है। यहाँ का जन, उपजाऊ भूमि का स्वामी होकर सदैव निश्चिन्त रहा है, उसमें उतावलापन नहीं है। मालवा की परम्पराएँ, विश्वास और धारणाओं से बँधी होकर भी उसकी धर्मभीरुता लक्षीय है। चूँकि संपूर्ण भू-भाग जीवन-संघर्ष से कम जूझा है, इसलिये उसमें शान्तिप्रियता समा गई है। इसीलिये मालवी लोकगीतों में वीररस एवं पुरुषत्व भाव का अभाव पाया जाता है। स्त्रियोचित विश्वासों का प्राधान्य गुजराती के संपर्क से मालवी में विकसित हुआ। वहाँ के लोगों की उदार मनोवृत्ति और उनके नैतिक आदर्शों की छाप मालवी गीतों में सहज व्यक्त होती है। स्वाभाविकता और खरापन इसकी जड़ों में है।

सामान्यप्रवृत्तियाँ—मालवी गीतों की सामान्य प्रवृत्तियाँ भी प्रधानतः राजस्थानी संस्कारों और गौण रूप से गुजराती मान्यताओं से प्रभावित प्रतीत होती हैं। प्रारंभिक पृष्ठों में जातियों के आवागमन पर प्रकाश डाला गया है। अतः स्पष्ट है कि मालवा की मूल जातियों का इतिहास अंधकार में है और इसी कारण मध्यकाल के संस्कार धीरे-धीरे मालवी लोकगीत-साहित्य में स्थायी हो गये। कृषि-प्रधान सभ्यता के प्राधान्य स्वरूप मालवी गीतों की मूल प्रवृत्तियाँ स्वस्थ और स्पष्ट हैं। यों मालवा सदैव से ही धन-धान्य पूरित रहा है। उसकी काली माटी ने सुदूर प्रान्तों को समय-समय पर आकर्षित किया है। इनके अनेक उदाहरण अन्य प्रान्तों के गीतों में पाये जाते हैं जिनमें मालवा की समृद्धि और उपजाऊ भूमि का अपरोक्ष रूप से संकेत है।[1] कबीर ने भी इसके 'गहन गंभीर' स्वरूप एवं 'डग डग रोटी पग-पग नीर' की प्रशंसा की है। अतएव समृद्ध परिवार के चित्र, लिपे-पुते आँगन की शोभा, ऊँची-अटारी का सौन्दर्य, उजले हरे मूँग और भात का भोजन, मोतियों से माँग का पूरा जाना, चंदन के किवाड़ और सोने की थालियों का बजना गीतों में सहज ही चित्रित नहीं हुए हैं, बल्कि उनके मूल में भौगोलिक साधनों का प्रभाव रहा है। राजस्थानी प्रवृत्तियों का प्रभाव मध्यकाल की राज्य-व्यवस्था और आने वाली राजस्थानी जातियों से आया है। मुगलों की अपेक्षा मराठों के कतिपय आचार निमाड़ी में भी दिखाई पड़ते हैं। कुछ गीतों के मूल स्वरूप एक-दूसरे से इतने प्रभावित पाये जाते हैं कि आश्चर्य होता है। उदाहरणार्थ, नीचे निमाड़ी और मराठी का एक ऐसा ही गीत प्रस्तुत है—

फुटगरी : निमाड़ी

बात की बात खुरापात
मुई रिंगणी को कांटो साड़े तीन हाथ
वां वस्या तीन गांव
दुई उजड़ एक वस्ताज नी कोई
वां वस्या तीन कुमार
दुई मांदा एक स उठायज नी

---

[1]सावन पेली पंचमी जो गरजे अधरात।
तुम जैयो पिया मालवा, हम जैहैं गुजरात॥
—"किसान" (त्रैमासिक) जुलाई १९४२

[2]मैंना तिलु-तिलु ढूंढी गुजराति
सबरों तो ढूंढ्यो मालुऔ
—ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० १९४

उनन बणाई तीन हांडी
दुई फुटली एक को बुंदोज नी
उनम रांद्या तीन चावल
दुई काचा एक सीज्योज नी
उणन जिमाया तीन बामण
दुई भुक्या एक धाप्योज नी
उनख करी तीन गाय
दुई वायरी एक फलीज नी
उनके वंची तीन रिपया में
दुई खोटा एक चलैज नी
सोनी का घरै परखाने गया
रात रतान ग्राव दिन रव देखायनी
उके मारी तीन लात
दुई चूक्या एक लागीज नी—किसनजी मौध्या, ग्राम धोट्या[1]

"मराठी"

कांट्याच्या अणिवर वसति तिन गांव
दोन ओसाड, एक वसेचि ना, वसेचि ना ।।
वसेचि ना, तेथें आले तीन कुंभार
दोन मोटे, एक घडेचिना, घडेचिना ।।
घड़ेचिना, त्यानें घडली तीन मड़को
दोन कच्चो, एक भाजेचिना, भाजेचिना ।।
भाजेचि ना, त्यांत घातले तीन मुगे
दोन कच्चे एक शिजैचिना-शिजैचिना ।।
शिजैचि ना, तेथें आले तीन पाहुणे
दोन रूसले, एक जेवेचि ना जेवेचि ना ।।[2]

गुजराती संस्कार तो मालवी लोकगीतों में राजस्थानी की भाँति ही प्रविष्ट हुए हैं। गीतों की अधिकांश धुनें और बोल भी उस प्रभाव से शून्य नहीं कहे जा सकते। मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पुस्तक में पृष्ठ २२ का चाँदनी "चटकड़ी-सी रात, मारूणी खैल्या निकल्याजी म्हारा राज" तथा पृष्ठ ४१ का

---

[1]निमाड़ सांस्कृतिक पर्यवेक्षण से, १९ ३। [2]साहित्याचें मूलधन, पृष्ठ १११-११२।

'मेंदी बोई खेत में, उगी बेलू रेत में' पंक्तियों से आरंभ होने वाले गीत झवेरचन्द मेघाणी द्वारा संग्रहीत रढ़ियाली रात (भाग १), के पृष्ठ ३५ (रिसामणा) तथा पृष्ठ १७ (मानेतीनी आँख) के गीतों से मिलाइये। इनमें पर्याप्त समानता पायी जाती है। ऐसे अनेक गीत हैं जिनकी आत्मा गुजराती है। अस्तु, मालवी लोकगीत-साहित्य राजस्थान और गुजरात की अनेक प्रवृत्तियाँ सहेजे प्रधानरूपेण कृषिसभ्यता का द्योतक है।

लौकिक आचारों का प्राधान्य और अनुष्ठानों की बहुलता इनसे संबंधित है। मांगलिक गीत औपचारिक हैं। बहुधा ऐसे गीत सभी प्रकार के मांगलिक अवसरों पर गाये जाते हैं। अतएव मालवी गीतसाहित्य की प्रवृत्तियाँ 'जन्म-विवाह-मृत्यु'—इन तीन मुख्य संस्कारों से संबंधित है। तीनों ही संस्कार त्रिकोण की रेखाओं के रूप में एक-दूसरे से आबद्ध हैं।
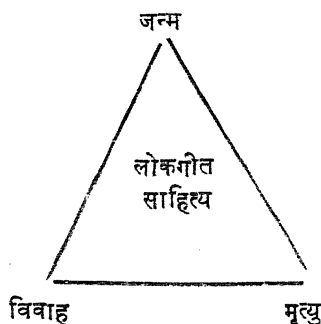
संस्कार-विषयक, कौटुम्बिक एवं महावारी गीतों की प्रवृत्ति स्त्रैण है, क्योंकि वे सभी गीत स्त्रियों से संबंधित हैं। लड़कियों के गीतों की प्रवृत्ति भी स्त्रैण ही है। धार्मिक गीतों में पंथी गीत परुष प्रवृत्ति के हैं। ऐतिहासिक एवं अर्द्ध-ऐतिहासिक तथा प्रबन्धगीतों में परुषता का अभाव नहीं है।

पंथी गीतों ने मालवी परुषप्रवृत्ति को विशेषरूप से प्रभावित किया है। रामदेव, कबीरा, जोगीड़ा, भरथरी-बैराग, गोरख आदि के गीतों की निर्गुण भावनाओं ने मालवी परुष को कट्टर सनातनी, अन्धानुसरणी, एवं बौद्ध विरोधी नहीं रहने दिया। केन्द्रिय भू-भाग होने के कारण मालवा विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों से वंचित नहीं रह पाया। अतः जो भावनाएँ, धार्मिक चिन्तन की विशृंखल कड़ियाँ तथा काल निर्णय की जो भूमिका और गतिशीलता पंथी-गीतों में व्यक्त होती है वह अन्य गीतों में नहीं। निश्चय ही कबीर तथा नाथ पंथियों का इन गीतों पर पर्याप्त प्रभाव रहा है।

पुरुषों के मालवी गीतों की अपेक्षा स्त्रियों के गीत पर्याप्त हैं। उनके चरण लम्बे और गाने की पद्धति निराली है। पुरुषों के गीतों में विस्तार पाया जाता

है और स्त्रियों के वही गीत लम्बे होते हैं जिनमें आभूषण अथवा परिवार के व्यक्तियों की नामावली का प्रयोग किया जाता है। स्त्रियों के कई गीतों में कौटुम्बिक लघुकथावृत्त निहित हैं। स्त्रियाँ बिना वाद्य के गाती हैं पर पुरुषों द्वारा वाद्य का सहारा लिया जाता है।

स्त्रैण प्रवृत्ति के गीत परम्परागत सम्पत्ति है। भाषा-विज्ञान एवं लोकवार्ता-शास्त्र की दृष्टि से वे संग्राह्य हैं। स्त्रैण-प्रवृत्ति के गीतों में गत्यात्मकता का अभाव है। राजस्थानी-गीतों की गान-पद्धति यद्यपि थोड़ी इससे भिन्न है परन्तु गुजरात और निमाड़ की पद्धति में इसी प्रकार गत्यात्मकता का अभाव ज्ञात होता है।

गीतों का रंग—मालवी गीतों का रंग भड़कीला नहीं है, हल्के और सौन्दर्य प्रसाधनात्मक नैसर्गिक रंगों का उल्लेख इनमें निखरा है। भावनाओं की सादगी, सरसता तथा रागात्मक तत्त्वों से मालवी गीत परिपूरित हैं। स्त्रियों को लाल रंग विशेष प्रिय है। काला, पीला और नीला रंग भी पसन्द किया जाता है, इन्हीं मूल रंगों में मालवी सौन्दर्य वृत्ति गुम्फित्त है। पुरुषों को सफेद और लाल रंग पसन्द है और चूँकि मालवा भूमि को प्राकृतिक हरियाली सहज ही प्राप्त है, इसलिये हरा रंग भी गीतों में विशेष रूप से व्यक्त हुआ है। कहीं-कहीं पीत और नील के संयोग से उसे उभार दिया जाता है। गीतों में प्रयुक्त 'लीला' शब्द हरे रंग का ही पर्याय है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झोपड़ियाँ और गोबर से लिपे-पुते 'ओवरी' में बसे मालवी जन का भरापूरा चित्र बहुत कम रंगों में अंकित किया जा सकता है।

संगीत पक्ष—मालव प्रदेश के गीतों का संगीत पक्ष अब तक अध्ययन का आधार नहीं बना है। सौभाग्य से पिछले दो वर्षों से भारत प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री कुमार गंधर्व ने मालवी गीतों की धुनों का अध्ययन इस उद्देश्य से करना आरंभ किया है कि वर्तमान हिन्दुस्तानी पद्धति की राग-रागनियों के स्वरों का आधार लोकसंगीत के मूल स्वर हैं। लोक धुनों को स्वरबद्ध करने एवं उनके सूक्ष्म अध्ययन द्वारा अनेक नये रागों की सृष्टि की जा सकती है। मालवी लोकधुनों के संबंध में श्री कुमार गन्धर्व का विश्वास है कि उसके मूल स्वर अनेक अंशों में उपयोगी हैं। प्रस्तुत-निबन्ध के परिशिष्ट में जो स्वर-तालिका दी गई है, वे श्री कुमार से ही प्राप्त की गई हैं।

मालवी का लोकगीत-साहित्य अध्ययन की दृष्टि से समृद्ध है। उसमें कहीं-कहीं आदिम प्रवृत्तियों के अवशेष विद्यमान हैं। यद्यपि मालवी किसान के सोचने का ढंग अपना है तथापि वह वाह्य परिस्थितियों से भयभीत नहीं होता। यही कारण है कहीं-कहीं राजनीतिक परिस्थितियों की छाप उसके गीतों में आ गई

है। आगामी पृष्ठों में मालवी लोकसाहित्य पर विस्तार से विचार किया गया है।

जन्म-संस्कार के गीत—मालवा में बालक के जन्म से संबंधित लौकिक आचारों का आयोजन मुख्यतः व्रज, राजस्थान, बुन्देलखण्ड एवं पूर्वी और उत्तरी भारत के अनेक जनपदों की भाँति ही होता है। यह सांस्कृतिक एकता 'अनेकत्व में एकत्व' अथवा 'एकोऽहम् बहुस्याम' की भावना का निर्वाह कई दृष्टियों से करती है। प्रकट है कि लघु अन्तरों की स्थिति इस एकता को छुपाने में असमर्थ है। अतएव जन्म संबंधी इन समस्त आचारों को स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्द्धपक्ष जन्मपूर्व के आचार-अनुष्ठान और उत्तरार्द्ध पक्ष —जन्मोपरान्त के आचार-अनुष्ठान।

गर्भाधान के पश्चात् पूर्वार्द्ध पक्ष आरंभ होता है। इस पक्ष के आचारों में मुख्य आयोजन गर्भाधान के सातवें महीने में किया जाता है। जिसे शास्त्रों के अनुसार 'पुंसवन' संस्कार कहते हैं और वही मालवा में 'खोलभरई' या 'अगरणी' अथवा 'साधपुरावा' से संबोधित किया जाता है। स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति की साधन हैं। स्मृतिकार ने उन्हें उपकार करने वाली, पूजनीया एवं गृह की शोभा कहा है—प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।[1] 'अगरणी' (जो अग्रिम रूप से हो) के दिन गर्भवती स्त्री अपने पति सहित चौक पर हलदी लगाकर बैठाई जाती है, जिसका तात्पर्य साध 'पुरावा' (इच्छा पूरी करना) की भावना से युक्त है। अपनी कोख के गुण के कारण स्त्रियों को यह सम्मान मिलता है। कई गीतों में वह इस विशेषता के लिये पति के आगे रहने का गौरव प्राप्त किये हुए हैं।[2] इस अवसर पर पौरोहित्य-संस्कार भी लोकाचार के मध्य आ उपस्थित होता है। 'अगरणी' और 'धनबऊ' के गीतों से स्त्रियाँ इस आयोजन को ध्वनित करती हैं।

जन्म के पूर्वाचारों से पुत्र अथवा पुत्री के जन्म-ग्रहण की निश्चित स्थिति ज्ञात नहीं होती। पुत्र की ही कल्पना से आचारों के निर्वाह में औत्सुक्य की मात्रा प्रधान होती है। पुत्र जन्म सदैव ही सभी ठौर मांगलिक माना गया है।

यद्यपि देश-विदेश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के अनुसार ही वस्तुतः पुत्र अथवा पुत्री का महत्त्व निर्धारित होता है तथापि अनेक देशों में, विशेषतः

---

[1] मनुस्मृति (टीकाकार पं०जनार्दन झा), अध्याय ९, पृष्ठ ३७०।

[2] 'म्हारे सगणै सायब सैं म्हे मनचाया रहस्यो कूख के गुण आगणाँ'—राजस्थान के लोकगीत (प्रथम भाग), राजस्थान रिपोर्ट सोसायटी, कलकत्ता, पृष्ठ १२०, १९३८।

भारतवर्ष में पुत्री का जन्म मांगलिक नहीं माना जाता। मालवी गीतों में पुत्री जन्म से पति को अपने साथियों में लज्जित एवं पत्नी की प्रताड़ित होने की स्थिति व्यक्त हुई है।[१]

फुका—बालक के जन्मोपरान्त प्रसूता अथवा जच्चा को (मालवी में 'सुवावड़') देशी औषधियों का उबाला हुआ गरम जल पिलाया जाता है, जिसे 'फुका' कहते हैं। 'फुका' मृत्तिका अथवा ताँबे के पात्र में ब्राह्मण द्वारा मुहुर्त जानकर अग्नि पर औटाने के लिये रखा जाता है। यह क्रिया सास अथवा जेठानी द्वारा सम्पन्न की जाती है, जिसका उल्लेख गीतों में है। इस कार्य के लिये पुरस्कार स्वरूप जो नेग सास अथवा जेठानी को प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी गीतों की पंक्तियों में बद्ध हैं। ब्रज में यही क्रिया 'चरूवा' रखने की क्रिया कहलाती है। चरूवा वस्तुतः एक पात्र ही होता है जिसे गोबर द्वारा चीता जाता है, तत्पश्चात् उस पर स्वस्तिकादि चित्रित कर अग्नि पर रखा जाता है।[२]

पगल्या—पुत्र जन्म के उपरान्त जहाँ प्रसव हुआ हो (चाहे वह प्रसूता के पितृगृह में हुआ हो चाहे श्वसुर गृह में) वहाँ से निकट के परिजनों के यहाँ पुत्रोत्पत्ति का सन्देश नाई के द्वारा भेजा जाता है। सन्देशवाहक ही अपने साथ कागज पर अंकित 'पगल्या' पदचिह्न की आकृतियाँ भी परिजनों के लिये ले जाता है, जिसे प्राप्त कर वे 'पगल्या' (स्वागत) का आयोजन करते हैं। प्रथम बालक के जन्म पर घर की समवयस्काएँ सफेद ताव पर हल्दी-कुंकुम के छींटे देकर महावर-कुंकुम से 'पगल्या' अंकित करती हैं। 'पगल्या' का अंकन प्रायः समस्त मालवी घरों में समान होता है। जनकला की प्रतीकात्मक-लेखन-प्रणाली का स्वरूप इन पगल्या आकृतियों में विद्यमान है।[३] जहाँ स्त्रियाँ कुशल होती हैं, वहाँ पगल्या पत्रों को अनेक रंगों से चित्रित करती हैं। किन्तु साधारणतया 'पगल्या' के अन्तर्गत बालक के—(१) दो पदचिह्न, (२) पालना, (३) वई-व्याण और बालक, (४) घुघुरा, (५) स्वस्तिक तथा (६) बाजोट, आदि अंकित किये जाते हैं। ये पगल्या-पत्र नाई अथवा नाइन के हाथ श्रीफल, गुड़ और कुंकुम-अक्षत सहित पठाए जाते हैं। पगल्या-पत्र मिलते ही परिजनों के यहाँ बालक-जन्म की प्रसन्नता गीतों द्वारा मुखरित की जाती है।

छठी जगो जन्म के छठे दिन छठी-संस्कार होता है। राजस्थान और

---

[१] 'जो तम जाओगा दीयड़ी जी
होजी आवै साँतीड़ा में लाज' (मा०)

[२] डॉ० सत्येन्द्र, व्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ १२१। [३] देखिये, आगामी पृष्ठ पर, आकृति संख्या—१

मालवा में इसे 'छठी जगो' से संबोधित करते हैं। उस दिन रात्रि को 'सुवावड़' के पलंग के पास दवात, बरू और कागज रख दिये जाते हैं। कुंकुम-अक्षत से अनुरंजित एक गडुवी (छोटा जल पात्र) भी रखी जाती है। इन वस्तुओं को रखने के संबंध में यह विश्वास है कि ब्रह्मा इनसे बालक का भाग्य-लेखन करता है, जिससे बालक में बुद्धि का संचरण भी होता है। छठी-पूजा के दिन प्रातःकाल घर की बहू-बेटी प्रसूता का कक्ष स्वच्छ कर दीवार पर अपने करों से 'सातीपूड़ा' बनाती है तथा कक्ष के वाह्य भाग में गोबर का 'सात्या' (स्वस्तिक) बनाकर उस पर ऊपर से गोबर की ही 'चान्दकी' (टिकिया) लगाती हैं। अंत में उन पर कुंकुम और राई चोंटा देती हैं। 'छठी जगो' के इस आयोजन में देवी-देवताओं के गीत गृह-मांगल्य और बालक की अभिवृद्धि की कामना से गाए जाते हैं। दौरानी-जेठानी के बिना 'छठी-जगा' की शोभा नहीं होती। स्वयं प्रसूता उन्हें आग्रह से बुलाती है—

ढोला, म्हारारी देवर-जेठानी बुलावो
म्हारा रे महलाँ छठी जगवावो।[1]

सूरज-पूजा—दसवें दिन 'सूरज-पूजा' की जाती है। प्रसूता स्नानादि से निवृत्त होकर नए वस्त्र धारण करती है। घर-आँगन लीपा जाता है, तत्पश्चात् बालकसहित प्रसूता चौक पर बैठायी जाती है और उसके द्वारा कलश पुजाया जाता है। नाइन द्वारा 'घुघुरी' (उबाले हुए गेहूँ अथवा जुवार) बंटवाई जाती है। 'सूरज-पूजा' के गीतों में 'घुघुरी' का बड़ा महत्त्व है। नाइन ही पड़ौसिनों को गीत गाने के लिये निमंत्रण देने जाती है। इस आयोजन के पश्चात् प्रसूता को खुले में घूमने-फिरने की लौकिक दृष्टि से अनुमति मिल जाती है।

जलमा—बीसवें दिन अथवा सवा महिना व्यतीत होने पर 'जलमा-पूजा' का अनुष्ठान आयोजित किया जाता है। स्नान के पश्चात् प्रसूता नए वस्त्र, अलंकार और प्रधानतः नया चूड़ा और पैरों की अँगुलियों में 'बिछुये' पहनती है। औपचारिक रूप से इस समय 'जलमा' के पाँच गीत गायें जाते हैं। तत्पश्चात् प्रसूता (जो अब प्रसूता नहीं रहती) पनघट-पूजन के लिये घर के बाहर निकलती है। कुंए अथवा बावड़ी या कुंडी के जल में हल्दी छोड़कर उसे घोलने का उपक्रम प्रसूता को ही करना पड़ता है और उसी जल में से एक 'बड़ा' (घड़ा) भरकर फिर वह घर तक लाती है। पनघट पर नाइन समस्त लौकिक आचारों को पूर्ण कराती है। यही आयोजन 'जलमा-पूजन' कहलाता है। जल भरकर लाने का वस्तुतः तात्पर्य यही है कि इसके पश्चात्

---

[1] राजस्थान के लोकगीत, पृ० २४२।

आकृति संख्या—१
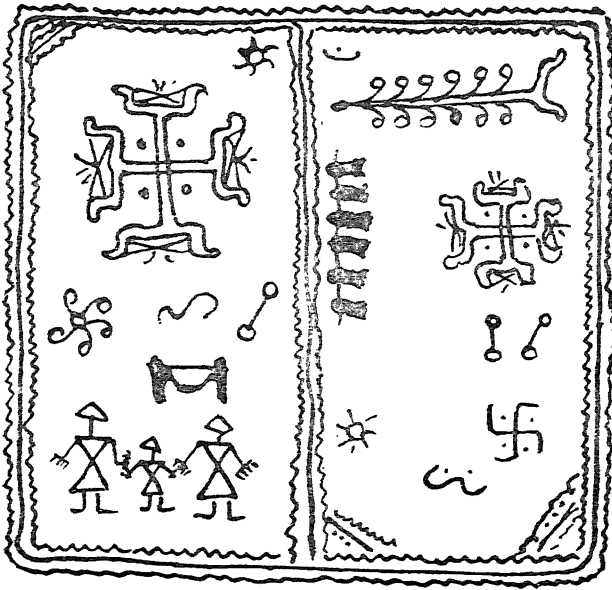
पगल्या की आकृति

प्रसूता को घर के अन्य सभी कार्य करने की छूट प्राप्त है तथा छूआ-छूत के समस्त विचार दूर कर दिये गये हैं।

जन्म-संस्कारों के गीतों का वर्गीकरण—मालवा के उक्त लौकिक आचारों का संबंध गीतों से जुड़ा हुआ है। सुविधा के लिये जन्म-संस्कार के समस्त मालवी गीतों का वर्गीकरण अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

बालक-जन्म के गीतों की सूची बड़ी लम्बी है। क्योंकि जन्म का, विवाह और मृत्यु की भाँति जीवन के क्षेत्र में सृजन और विकास की दृष्टि से गहरा संबंध है। जन्म के समस्त गीतों में यद्यपि देवी-देवताओं के गीत या 'पूर्वज' ('परिमाजी' आदि) अथवा 'बधावे' आनुष्ठानिक एवं औपचारिक दोनों ही मूल्य रखते हैं, तथापि इन्हें विघ्न-बाधाओं के निवारणार्थ अथवा 'बधावे' प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के नाते अनिवार्यत: गा लिए जाने का रिवाज है।

जन्म के गीतों को मिथिला, भोजपुर, बुंदेलखण्ड, छतीसगढ़ अथवा पूर्वी जिलों में 'सोहर या 'सोहिलो' शब्द के अन्तर्गत लिया है। राजस्थान में 'हालरे' इस अवसर पर गाये जाते हैं। किन्तु मालवा में 'सोहर' नामक गीत पद्धति का प्रचार नहीं है। मालवी के रागड़ी उपभेद में 'हाल दे' अवश्य मिल जाते हैं। बाहर से आई हुई जातियों के संसर्ग से यदि कहीं सोहर का प्रचार, हो तो उसे परम्परा से प्राप्त-मालवी गीतों के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता।

(क)—मालवी के जन्म संबंधी समस्त गीतों पर सुविधानुसार प्रकाश डालने की दृष्टि से उन्हें विषयगत यहाँ दो मोटे भागों में विभाजित किया गया है। जन्म-पूर्व के गीतों में 'परिमाजी' 'बड़ी' या 'जीजा' एक ओर स्थान पाते हैं और 'अगरनी' तथा 'धनबऊ' दूसरी ओर। दोनों ही पक्ष विषय की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रथम पक्ष का औपचारिक महत्त्व है और द्वितीय का आनुष्ठानिक। 'परिमाजी' से तात्पर्य घर की उन समस्त मृतात्माओं से है जो परी के रूप में परिणत हो गई है। परी संबंधी कल्पना भारतीय लोकवार्ता-शास्त्र का परिचित विषय है। श्रद्धावश यही परिमाजी (श्रद्धास्पद माता) से युक्त होकर गीतों की पंक्तियों में अज्ञात काल से अपनी स्थिति बनाये है। 'परिमाजी' के गीतों के पश्चात् 'बड़ी' अथवा 'जीजा' के गीत गाए जाते हैं। इन्हें तभी गाते हैं जबकि गर्भवती स्त्री की कोई दिवंगत सौत हो। 'बड़ी' अथवा 'जीजा' मालवी में सौत के ही पर्यायवाची हैं। दिवगंत सौत गर्भवती के प्रति अकल्याणी न हो, इस आशय से 'बड़ो' अथवा 'जीजा' के दो गीत गाकर भावी आशंकाओं का शमन कर लिया जाता है। 'बड़ी', 'जीजा' अथवा 'परिमाजी' के गीत न केवल जन्मपूर्व ही गाते हैं, अपितु मांगलिक अवसर पर आर्शीवाद की कामना तथा साफल्य की वृद्धि के हेतु भी इनका गाने का रिवाज है।

जन्म-संस्कार के गीत
(क)
जन्म पूर्व के गीत
(ख)
जन्मोपरान्त के गीत
परिभाजी, 'बड़ो' या 'जीजा'
'अगरणी', 'धनबऊ'
(१)
देवी-देवताओं
के गीत
('मेरूजी, 'माताजी', 'आलीजा' आदि')
(२)
'बधावा'
(३)
'जच्चा'
('चोपड़', 'पगल्या', आदि)
(४)
'छठी'
(५)
सूरज पूजा
के गीत
(६)
जलमा के
गीत
चौक के गीत
(लिपण्या-पोतन्या
आदि)
('परेवा', 'घुघरी',
'पालना', 'पील्या'
आदि)
ख्याली गीत
'गोदड़ी',
'बांदरों',
'कांगलो',
'लापसी',
आदि
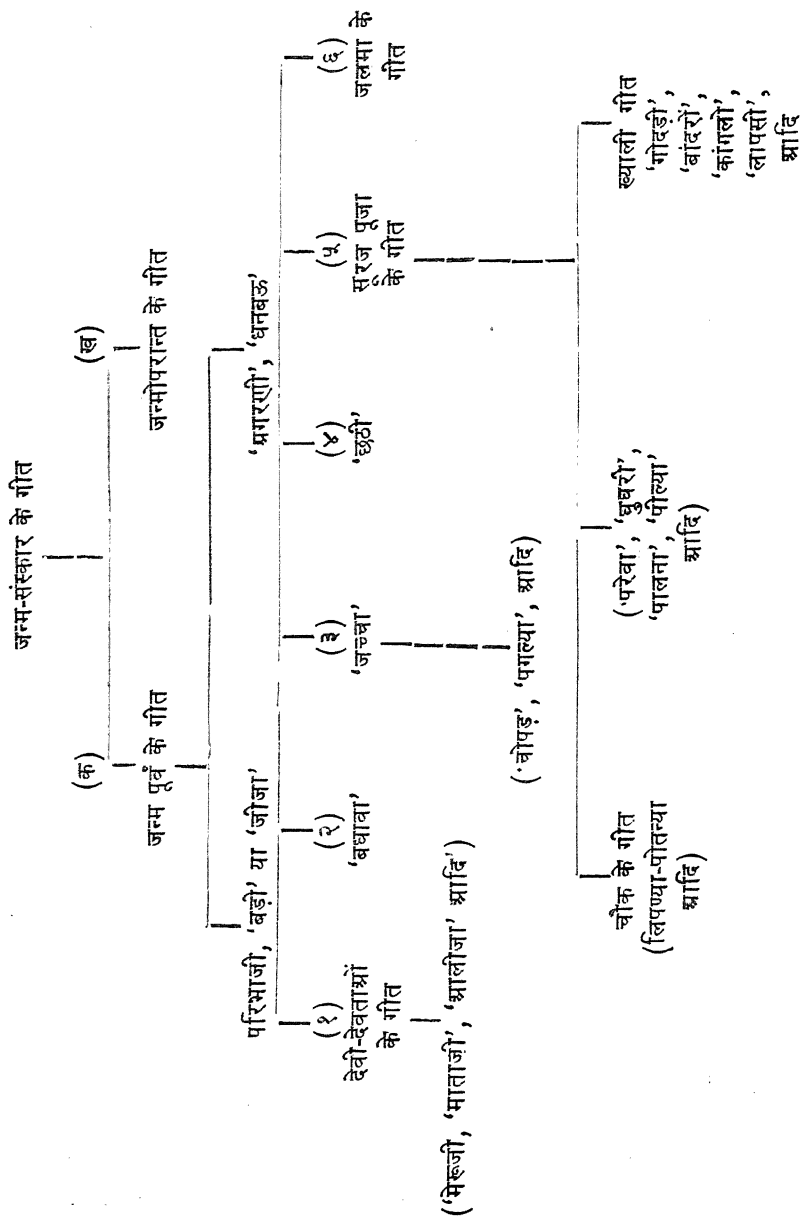
'धनबऊ' द्वितीय पक्ष के समस्त गीत-समूह का सांकेतिक शीर्षक है।[1] अपने तत्सम रूप में 'धनबऊ' वस्तुतः 'धन्यबहू' है। 'धनबऊ' के प्रमुख गीतों में अगरनी की शोभा तथा बहू द्वारा विभिन्न अलंकारों के धारण करने[2] का उल्लेख किया गया है। जब वह 'भम्भर' और रत्नजड़ित 'टीका' धारण करती है। तब उस समय उसकी शोभा देखते ही बनती है। स्वयं पति, पत्नी से उक्त अलंकार पहनने पर नींबू वृक्ष के नीचे उसकी शोभा निहारने की अभिलाषा व्यक्त करता है। इतना ही नहीं, वह उसकी झलक मात्र के लिये उत्सुक है—

भम्भर पेरिया लींबू तले
टीका री झलक बतैजा म्हारे
थोड़ी सी म्हारे जरासी म्हारे
तू अई जा म्हारी धनरानी लींबू तले[3]

एक गीत में सास अपनी बहू से पूछती है—"हे बहू, तेरे पास घर में दो-दो भम्भर हैं। पड़ोसन उन्हें पहनती हैं पर तेरे मन में क्या है?" उत्तर में बहू कहती है, "सासूजी, सोच लीजिए, समझ लीजिए जो आपके मन में है वही मेरे मन में। आपने विवाह किया और उन्हें परदेश पहुँचाया—जर्मन की लड़ाई में।"[4]

जर्मन की लड़ाई का उल्लेख गीत की आयु का द्योतक है। प्रश्नोत्तर-शैली के गीत यद्यपि पुराने होते हैं तथापि उनमें कभी-कभी नवीन भावों का समावेश सहज है। सन् १९१४ ई० के आस-पास मालवी गीतों में जर्मन की लड़ाई के उल्लेख का लोभ संवरण नहीं किया जा सका।

---

[1]इसके अन्तर्गत 'लखारस चुनड़ी', 'बेवर', 'भांज्यो-रूसणों', 'बेटोवेद', एवं साँटा (गन्ना), तरबूज, कलाकन्द, फली, दाख (किशमिश), केला, पिस्ता, जाबू (जामुन), आदि वस्तुओं से संबंधित उन्हीं के नामों से प्रचलित गीत आते हैं।

[2]अगरनी की छब लागी हो केसरिया
भम्भर तो तम पेर जो हो धनरानी
तारे टीका रतन जड़ावे—मालवी लोकगीत, (अ० प्र०), भाग २, सं० १।

[3]वही, भाग २, सं० २।

[4]'दोए दोए भम्भर धनबऊ घर में
पड़ोसन तो मेरे धनबऊ, त्हारा कई मन में
सोची लो समजी लो सासूजी, थेंई त्हाका मन में
परन्या ने परदेस पोचाया—जरमन की लड़ाई में।—मालवी लोकसाहित्य (अ० प्र०) भाग २, सं० ३।

(ख)—जन्मोपरान्त के गीतों का क्रम देवी-देवताओं के गीतों से आरंभ होता है। 'भेरुजी', 'माताजी', 'आलीजा', हरसिद्धी', विशेषतः मान्य है। पूर्वजों के गीतों की भाँति ये गीत भी अन्य अवसरों पर गाए जाते हैं। बधावों की पुनरावृत्ति भी इन्हीं की भाँति इस अवसर पर होती है। इनका प्रयोग तभी होता है जब 'सुआवड़' (प्रसूता) और बालक के लिए निकट का कोई परिजन अपने साथ वस्त्रादि की भेंट लेकर आए। 'बधावा' बधाई शब्द का मालवी-राजस्थानी तद्भव रूप है। 'बधावा' के संबंध में एक गीत में कहा गया है कि वह नारिकेल वृक्ष की भाँति है। जिस प्रकार नारिकेल वृक्ष में लूम-लूम कर फल लगते है, वैसे ही 'बधावा' भी फलदायक हो। इसलिये वह मुझे प्यारा है।[1]

'बधावों' में कौटुम्बिक रागद्वेष, पति-पत्नी के मनोभाव और मालवी जीवन के चित्र भरे हैं। एक बधावे में बहन, लाल पक्षी द्वारा अपने भाई को संदेश भेजती है कि उसे पुत्रोत्पन्न हुआ है, अतः वह बधाई का पात्र है। बहन-भाई के अतिरिक्त नगर को भी 'बधावा' दे आने का आदेश देती है :—

उड़ उड़ रे म्हारा लाल परेवा नगर बधावो दीजे रे।
गाँवनी जाणूँ नामनी जाणू किन घर दूँ बधावो जी।

बहन, पक्षी के प्रश्न पर गाँव का पता और भाई का नाम बताती है। गीत की अंतिम पक्तियों में स्वयं बालक के बोल प्रकट किये हैं—

धोती सा पुन्न करो मोती सा पुन्न करो म्हारा बाजो[2]
हूँ कुल तारण हियड़ो[3] सिलावण धरम बढ़ावन आयोजी

अर्थात्—धोती का दान करो, मोती का दान करो मेरे बाबा! मैं कुल तारण, हृदय को शीतल करने वाला तथा धर्म की लाज रखने वाला आया हूँ।

जच्चा के गीतों में गर्भ-लक्षण, प्रसव की पूर्व पीड़ा का व्यापक वर्णन, पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् 'सुआवड़' की स्थिति, प्रसव-पूर्व देवरानी-जेठानी और सास के पास बुलाने अथवा पति द्वारा दाई या नाइन को संदेशा भेजने का उल्लेख तथा पुत्र-प्रसव के पश्चात् पति का अपनी पत्नी के प्रति विशेष आकर्षण आदि का वर्णन है। एक गीत में कुलवधू द्वार के समीप खड़ी है। वह कह रही है कि "उसके श्वसुर राज-विजयी हैं, सास 'अरक भंडार' है, जेठ चौधरी हैं, जेठानी भोली-नार है, देवर लाड़ला है, देवरानी नई-नई गौने आई हुई है और ननदोई

---

[1]सब वृक्ष में वृक्ष नारेला को
जी में लटक लटक फल लागे जी,
म्हाने यई रे बधावो प्यारो लागेजी।—'मालवी लोकगीत' (प्र०) पृष्ठ १२। [2]दादा। [3]हृदय।

'पराया पूत' है। ऐसी स्थिति में उसकी चिन्ता कौन करेगा ?" आगे की पंक्तियों में वह कहती है—"कोठरी के बीच छोटी कोठरी में ननदबाई के वीर सो रहे हैं।" अँगूठा मोड़कर पति को जगाया, जाकर कहा कि वह शीघ्रतापूर्वक पगड़ी बाँधे और घोड़े पर सवार होकर 'ओवरी' (कोठड़ी) खाली कर दे। पति जाते-जाते कह जाता है कि यदि वह (पत्नी) पुत्री 'जायेगी' तो उसे साथियों में लज्जा आयेगी और यदि पुत्र 'जाया' तो घर में बधावे होंगे।

कवले[1] ऊबी कुल बऊजी अई अई कम्भर माय[2] पीड़
—चिन्ता म्हारी कुण करे जी !
सुसरा हमारा राज-विजयो सासू अरक-भंडार। चिन्ता......
जेठ हमारा चौधरी जी जेठानी भोली नार।[3] चिन्ता......
देवर हमारा लाड़ेला जी देराणी आणे अई[4] नार। चिन्ता......
ननद हमारी लाड़ेली जी[5] हौजी ननदोई पराया पूत। चिन्ता......
ओरा[6] माय की ओवरी वी सूता[7] ननदबई का बीर। चिन्ता......
अगूंठो मोड़ जगाविया जी जागो जागो ननदबई रा बीर।
खाली कर दो ओवरी जी ! लटपट बांदी पागड़ी जी।
झटपट हुआ असवार[8] या लो सुन्दर ओवरी जी।
जो तम जाओगा दीयड़ी[9] जी होजी आवै सातीड़ा में लाज।
जो तम जाओगा पूत होजी घर में बधाई होय।
चिन्ता हमारी कुण करे जी ![10]

पूत जो जने दादाजी रो बंस बड़ायो चिन्ता गोरी की वई करेजी
नीरे जण्या को पूत जण्या सगला गोरी चिन्ता करेजी।

'चौपड़' के गीत में जच्चा कहती है—"चौपड़ का खेल जमाया, पर पासे उलटे पड़े। कमर तक पीड़ा आ गई। अब मैं जीने की नहीं। मेरी सास को जल्दी बुलाओ।"

"हे सासुजी, यह घर तुम्हारा है, अब मैं जीने की नहीं" किन्तु प्रसव-वेदना से निस्तार पाते ही वह कहती है—

---

[1]द्वार के समीप दीवार के सहारे। [2]में। [3]पाठान्तर—'जेठानी हमारी कामण गारी नार' शाजापुर जिला। [4]विवाह के पश्चात् प्रथम बार लिवा लाई हुई। [5]पाठान्तर—'नंनद हमारी आंधा बीजली, शाजापुर जिला। [6]कच्चे घरों के कमरे। [7]सो रहे हैं। [8]पाठान्तर—'उनने झटपट सवांर्या केस' शाजापुर। [9]पुत्री। [10]मालवी लोकगीत, (अप्रकाशित) भाग २, सं० ४।

"चौपड़ का खेल जमाया, पासे सीधे पड़े। कमर तक पीड़ा आ गई। मैंने नन्दलाल जाया है। मेरी सास को पास बुलाओ—यह घर मेरा है।"

माँडियो[१] माँडियो चौपड़ केरो खेल पासा उलट पड़्या
अई अई कम्मर माय पीड़ अबनी जीवने की
म्हारी सासूजी ने बेग[२] बुलाव घर बार तमारा है
अई अई कम्मर माय पीड़ अबनी जीवने की
माँडियो माँडियों चौपड़ केरो खेल पासा सुलट पड़्या
जाया नन्दलाल म्हारी सासूजी ने उरारे[3] बुलाव
घर बार म्हारा है![४]

एक अन्य गीत में पति, जच्चारानी से द्वार खोलने का आग्रह करता है। प्रसूता-पत्नी उत्तर में विनोदपूर्वक कहती है—"मेरे कमरे में सासूजी सो रही हैं, पलकों पर ननदबाई, सामने बालक, पीछे देवरानी और सिरहाने जेठानी सो रही है।"

पति अपने लिए कोई स्थान न पाकर प्रत्युत्तर देता है—"मैं तो सैनिक चाकरी पर चला जाऊँगा।" स्त्री तत्काल विनोद छोड़कर कहती है—"आप पधार कर मेरे महल में सो रहना।"[५]

इन्हीं गीतों में 'पगल्या' का गीत विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि 'पगल्या' भेजे जाने पर ही यह गाया जाता है, तथापि उसका विषय 'पगल्या' से संबंधित न होकर प्रसूता द्वारा अपनी ननद को पुत्रजन्म की सूचना देकर न्यौतने से संबंधित है जिसमें ननद-भौजाई के आपसी रागद्वेष को प्रश्रय मिला है।

'पगल्या'

जाओ नावी जाओ बामण जाओ बई का बिराजी हो,
म्हारा मारू जी[६] हो राज!
बई जी से यूँ कर किजो तमारे भतीजो आयो
म्हारा मारू जी हो राज!
चालो बाई चालो बेन्या तमारे भतीजो आयो
म्हारा मारू जी हो राज!
म्हारा घर में काम घणो[७] म्हारो तो आणोनी होय
म्हारा मारू जी हो राज!
नाना[८] तरू[९] कड़ा चइजे पान पचास चइजे
साती पूड़ा चइजे और खंगाली[१०] चइजे

[१]जमाया। [२]शीघ्र। [3]निकट। [४],[५]मालवी लोक-गीत (अ० प्र०), भाग २, संख्या ५। [६]प्रियतम। [७]बहुत। [८]बालक। [९]के लिये। [१०]गले का आभूषण।

म्हारा घर में काम घणो तो आणोनी हो
म्हारा मारू जी हो राज !
गया नावी गया बामण गया बई का बीराजी हो
म्हारा मारू जी हो राज !
डाबा[1] में को गेणो बच्चो पेटी में को कापड़ो बच्चो
भली हुई सो नी आया म्हारा मारू जी हो राज ![2]

जाओ नाई, जाओ ब्राह्मण तथा अपनी बहन के भाई जाओ। बाई ननद से जाकर यूँ कहना कि "तुम्हें भतीजा आया है। चलो बाई, चलो बहन, तुम्हें भतीजा आया है।"

"मेरे घर में तो काम बहुत है, मेरा आना नहीं हो सकता। बालक के लिये कड़े चाहिये, पचास पान चाहिये, सात पूड़े चाहिये और खंगाली (गले का आभूषण) चाहिये।"

"मेरे घर मे तो काम बहुत है, मेरा आना नहीं हो सकता। नाई, ब्राह्मण और बहन का भाई लौट आया।" डिब्बे में का गहना बचा और पेटी में का कपड़ा, भला हुआ वह नहीं आई।

'छठी जगा' के अवसर पर गाये जाने के लिए मालवी गीतों में विशेष गीतों की व्यवस्था नहीं है। उस समय केवल देवी-देवताओं से सम्बन्धित गीत ही दुहरा लिये जाते हैं। देवी-देवताओं के ये गीत सूरज पूजा के दिन भी गाते हैं। अतः देवी-देवताओं के गीतों के अतिरिक्त सूरज पूजा के शेष गीत तीन समूहों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) चौक के गीत, (२) 'परेवा,' 'घुघरी,' 'पील्यौ,' 'लापसी,' तथा (३) ख्याली गीत 'गोदड़ी,' 'बाँदरों,' 'कागेलो' आदि। चौक के गीतों में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति गृह के मांगलिक व्यापारों से संबंधित है। निम्नलिखित चौक के दो गीतों में कार्य की गति में समाहृत होकर आन्तरिक उल्लास प्रकट हुआ है।

'लिपन्या-पोतन्या'

१

आज म्हारे लिपन्या-पोतन्या हो राज
चंदन चौक पुरावो के वा म्हारी गोतनिया[3]
सासू सवेरिया, ननदें दुफेरिया, बेगे जेठानो
बुलावा सभी साझे[4] केवा म्हारी गोतनिया

---

[1]डिब्बा। [2]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ १५। [3]सहगोत्री। [4]गोधूली बेला।

सासू जिमाऊं लापसिया, ननदल खिचड़िया
बेगे जेठानी के दल चढ्यो भात
सासू ओढ़ाऊँ चुनरिया ननदे घाटड़ियो[1]
बेगे जेठानी ओढ़ाऊँ दखनी रो चीर—के वा म्हारी गोतनिया।[2]

"आज मुझे लीपना-पोतना है—हो राज। चन्दन से चौक लिपाओ मेरी सहगोत्री! सास को सुबह, ननद का दुपहर और शीघ्र ही जेठानी को साँझ होते ही बुलाओ, मेरी सहगोत्री!"

"सासू को लापसी जिमाऊँगी, ननद को खिचड़ा और जेठानी को शीघ्र ही केशरिया भात जिमाऊँगी। सासु को चुनड़ी ओढ़ाऊँगी, ननद को घाँट और जेठानी को शीघ्र ही दक्षिण का चीर ओढ़ाऊँगी—मेरी सहगोत्री।"

२

सूर्या[3] गऊ की गोबर मँगावो
सीके दई[4] आंगन लिपाओ
भई, म्हारे आनन्द-मंगलाचार!
गज मोतियन को चौक पुरावो
कुम्भ कलश धराओ—भई म्हारे...
तेड़ो[5] तेड़ो रे गोकुल को जोसी
नानड़िया रो नाम लेवाओ—भई म्हारे...
नानड़िया से नाम कुंवर कन्नैयो, कृष्ण कनैयो
धरती को धोबन वालो, परजा को पालन वालो!
श्रीकृष्ण आयो म्हारा दुवार
भई, म्हारे आनन्द-मंगलाचार[6]

गीत में मातृ-हृदय की उत्सुकता कितनी सजग है! अपने बालक का जन्म माता को मानों साक्षात् श्रीकृष्ण का आना प्रतीत हो रहा है।

दूसरे समूह में 'परेवा' (पक्षी) द्वारा सन्देशा पठाने का गीत गाया जाता है। 'परेवा' सदैव ही मानव हृदय के भावों का वाहक रहा है। प्राचीन साहित्य

---

[1]घाँट का लुगड़ा मालवा में बहुत प्रसिद्ध है जो रतलाम, खाचरोद आदि स्थानों पर तैयार किया जाता है। [2]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ १३। [3]सुरा गाय। [4]कौर बाँधकर। [5]बुलावो। [6]मालवी लोकगीत, (प्रकाशित), पृष्ठ १४।

में पक्षियों द्वारा सन्देशा भेजने की परम्परा लोकगीत की ही देन है। अनेक गीतों में पाई जाने वाली पंक्तियाँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं।

'घुघरी' का गीत अनुष्ठानीय दृष्टि से उल्लेखनीय है। बताया जा चुका है कि घुघरी उबाले हुए गेहूँ अथवा जुआर को कहते हैं। उस दिन 'घुघरी' को प्रसाद मानकर प्रसूता द्वारा सूर्य को नैवेद्य लगाया जाता है। गीत 'घुघरी' राँधने से प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् नाइन द्वारा वह नगर में बँटवाई जाती है, पर दुर्भाग्य से वह प्रसूता की ननद के यहाँ भी 'घुघरी' दे आती है। ननद-भौजाई का मनोमालिन्य अपना प्रभाव व्यक्त करता है। गीत में इस प्रकरण का विस्तार देखिए—

'घुघरी'

बई ओ, ताँबा केरो तोलनी मँगाव
राय रूपा[1] की ढांकणी
बई ओ, दूधा केरा आंगण देवाव
म्हारा गाँठ्या गँऊ[2] की घुघरी
बई औ, दीजै-दीजै अबले-सबले सेर
म्हारी ननदल मती दीजे घुघरी
बई ओ, दई दी दई दी अबले-सबले सेर
तमारो नंनदल दई री घुघरी
बई ओ, नावण म्हारी अगले-भो[3] की सोक[4]
म्हारी नंनदल दई री घुघरी
उठो पिया लीलड़ी[5] पलाणो[6]
म्हारो पाछी लई दो घुघरी
बीरा, आदी-पिछली रात
असुरो तू क्यों आयो
बेन्या ओ, भावज थारी निर्धनयारी दीयड़ी
वा पाछी मांगे घुघरी
बई ओ, आदी ने त्हारा बालूड़ा[7] समझा
म्हारी आदी दई दे घुघरी

---

[1]चाँदी। [2]गठीले गेहूँ। [3]पिछले जन्म की। [4]सौत। [5]घोड़ी। [6]तैयार करो। [7]बालक।

बीरा रे, वालूड़ा ने राखूँ समजाय
त्हारी सगली[1] लई जा घुघरी
बीरा रे, हेडूँ हेडूँ[2] म्हारा गंगाजमना खेत
हूँ नत[3] की राढूँ घुघरी
बीरा रे, जो हूँ होती निर्धनयारी नार
त्हारी कासे[4] लाती घुघरी[5]

"...बाई ओ, ताँबे का हंडा और राय रूपा का ढक्कन मँगावो । बाई ओ, मेरे गठीले गेहूँ को दूध में उबाल कर घुघरी बनाओ ।"

"बाई ओ, (नाइन से) तू तो सारे शहर में घुघरी बांटना, किन्तु मेरी ननद को मत देना ।"

"बाई ओ, मैंने सारे शहर में घुघरी दे दी तथा तुम्हारी ननद के घर भी घुघरी दे दी ।"

"बाई ओ, नायन मेरी पूर्व-जन्म की सौत निकली, उसने मेरी ननद के घर भी घुघरी दे दी ।"

"उठो पिया, घोड़ी कसकर तैयार करो, मेरी घुघरी वापस ला दो ।"

"भाई, तू आधी-पिछली रात सवार होकर क्यों आया ?"

"ओ बहन, तेरी भावज किसी निर्धन की लड़की है, वह अपनी घुघरी वापस माँगती है । बहन, आधी तू बाल बच्चों को समझाने के लिये रख ले और आधी मुझे वापस दे दे ।"

"हे भाई, बच्चों को मैं समझा लूँगी, तू अपनी घुघरी वापस ले जा । हे भाई, मैं अपने गंगा-यमुना से खेतों से गेहूँ निकाल कर नित्य ही घुघरी राधूँगी ।"

"हे भाई यदि मैं किसी निर्धन की स्त्री होती तो तेरी घुघरी कहाँ से लाती ?"

मनोवैज्ञानिक तत्वों पर गीत खरा उतरता है । इसी गीत की भाँति लापसी गीत भी है जो अब क्रमशः भुलाया जा रहा है । 'आलीजा रो पालनो' ही पालना का गीत है । चंदन के वृक्ष से 'आलीजा' का पालना बनाया जाता है ।

प्रसूता 'आलीजा' से प्रसव-वेदना के समय पार लगाने का अनुरोध करती है । वह 'दौवड़' पलना बनाने की मनौती करती है जिसके आस-पास मोर-पपइया (मोर-पपीहा) और मध्य में बन की कोयल होगी । प्रसव-वेदना से मुक्त होते ही वही मोर-पपइया बोलने लगते हैं और कोयल शब्द सुनाती है ।

म्हारा पिछवाड़े म्हारा आलीजा चन्दन को झाड़
कई जीको बनाऊँ म्हारा आलीजारो पालनो,

[1]सब । [2]निकालूँ । [3]नित्य । [4]कहाँ से । [5]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ १७ ।

कईं आदी सी रात म्हारा आलीजा दरद लाग्यो
कईं दौड़ी सी अई सुतारण देव क्यां।[१]
कईं अब के तो हेंले[२] आलीजा पार लगावो
कईं दोवड़ बनावां म्हारा आलीजादो पालनो।
कईं एरे तो मेरे[३] म्हारा आलीजा मोर पपइया
कईं अध बीच घड़ जो[४] रे बन की कोयल।
कईं मोर पपइया म्हारा आलीजा बोलन लाग्या
कईं सबद सुनावे बन की कोयल........॥[५]

प्रसूता को चौक पर बैठाकर जब पीली साड़ी ओढ़ाई जाती है तभी 'पील्यों' जो प्रश्नोत्तर-शैली में हैं, गाया जाता है। इसमें प्रश्न किया जाता है कि 'पील्यो' किसने ओढ़ा, किसने ओढ़ाया ?; उत्तर में बहू ने ओढ़ा, प्रियतम ने ओढ़ाया, आदि कहा जाता है।[६]

ख्यालो गीतों का समूह स्त्रियों के लिये मनोरंजन का विषय है। ख्याली-गीतों में सास, श्वसुर, ननद-भौजाई, आदि निकट के परिजनों का हास-परिहास किया जाता है, उनके चित्र विकृत करके प्रस्तुत किये जाते हैं। 'गोदड़ी' के गीत में समस्त कुटुम्बियों को एक गुदड़ी में समेटने का उपक्रम 'कागेला' में प्रसूता के श्वसुर, सास, बई-बेवाण, को काग अथवा 'मिनकी'[७] में नानी, सास, व बेवाण को बिल्ली कहकर स्त्रियों द्वारा हास्य की सामग्री जुटाई जाती है। इन गीतों की प्रवृत्ति प्रधानरूप से 'साँझी' के गीतों की भाँति बालिकाओं के मनोस्तर के अनुरूप है।

'जलमा पूजन' बालक जन्म का अन्तिम संस्कार है। 'जलमा' के पाँच गीत गाकर प्रारम्भ में वर्णित आयोजन सहित इसका अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है।

गीतों की प्रवृत्तियों का सार—अन्त में जन्म-संस्कार के गीतों की मुख्य प्रवृत्तियों का संक्षेप में इस प्रकार सार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) जन्म सम्बन्धी समस्त गीतों का सम्बन्ध स्त्रियों से है। उन्होंने ही उन्हें रचा है और वे ही उन्हें गाती हैं, अतः स्वभावतः उसमें पुरुषत्व का अभाव है। उनकी मूल प्रवृत्ति स्त्रैण है।

(२) बाँझपन के अभिशाप से मुक्ति की उत्कट अभिलाषा। अतएव संतानोत्पत्ति के लिये कठोर व्रत, साधना, मान-मनौती, तंत्र-मंत्र आदि आग्रह की ओर प्रवृत्ति।

---

[१]देव के यहाँ। [२]बार। [३]आस-पास। [४]बनाना। [५]मालवी लोकगीत (अं० प्र०) भाग २, सं० ६।[६] वही, सं० ११। [७]वही, सं० ७, ८, १०, और १२।

(३) गर्भवती के मासिक लक्षणों का उल्लेख, प्रसवपूर्व की पीड़ा का वर्णन ।[१]

(४) पुत्र-जन्म का पुत्री-जन्म की अपेक्षा विशेष आग्रह । पुत्र की कृष्ण-कन्हैया से अनुरूपता । पुत्री से समाज में अपमानित होने का भाव ।

यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ भारतीय गीतों में मिलती है तथापि मालवी गीत इनसे बाहर नहीं हैं । किन्तु जहाँ ब्रज, भोजपुरी, मैथिली, आदि के सोहर गीतों में हम कथाओं का समावेश देखते हैं, वहाँ मालवी में कथा-गीतों का एकदम अभाव है । मालवी के समस्त जन्म-संस्कार के गीत संक्षिप्त, सांकेतिक, भाव-संवाहक एवं उल्लास के स्वरों में पाये जाते हैं ।

(ख) **विवाह के गीत**—मालवी के विकास गीतों का अध्ययन किसी एक जाति के वैवाहिक गीतों और प्रथाओं से नहीं किया जा सकता । जातियों के आवागमन चक्र ने वैवाहिक प्रथाओं के साथ गीतों को भी आलौड़ित किया है । अतएव जहाँ लोकाचार का प्रश्न है, कई आचार अध्ययन की दृष्टि से मनोरंजक सिद्ध होंगे । "वैदिक आचार को धुरी माना जा सकता है, उसी धुरी के चारों ओर लोकाचारों का बना ताना-बाना पूरा हुआ है । लोकाचारों में ही लोकवार्ता और लोकगीत के दर्शन होते हैं ।"[२]

इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न जातियों की विवाह-पद्धतियों का अध्ययन करने और गीतों के संकलन के पश्चात्, प्रबन्ध क्षेत्र से संबंधित गीतों को ही विवेचन का आधार बनाया गया है ।

मालवा के विवाह गीतों का आरंभ सगाई के गीतों से ही हो जाता है । सगाई, विवाह के निश्चय की भूमिका है । इस अवसर पर वर और वधू पक्ष के संबंधियों द्वारा 'साजन' गाये जाते हैं । कन्या पक्ष के 'साजन' गीतों में कन्या की माता अपने ग्राम-श्री का वर्णन करती है । उसके ग्राम की सीमा पर असंख्य हलवाहे हैं । बाग में बागवानों की कमी नहीं । गाँव की गलियों में अनेक सहेलियाँ हैं । मंडप में देवर-जेठ हैं और आँगन में बालक खेल रहे हैं ।[३] अच्छे जीवन के सजीव चित्र एवं परिवार की संपन्नता की कल्पना इनमें उठी हैं । एक 'साजन' में कन्या की सगाई पक्की करने के पश्चात् लड़की की माता की मनोदशा वर्णनीय है । गीत का आशय है—

"मेरे साजन, समुद्र के उस पार पाँसा फेंक रहे हैं । कौन हारा ? कौन जीता ?"

---

[१]देखिए, 'नई दुनिया' (इन्दौर) में प्रकाशित चन्द्रशेखर दुबे लिखित 'साध के गीत' लेख, ५ सितम्बर, ५५ । [२]ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ १५३ । [३]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ७३ ।

"लड़की के पिता हारे और लड़के के पिता जीते।"

घर में गृहिणी बोली—"तुम गाँव की सीमा पर के खेत हार जाते मेरे प्रियतम, पर मेरी राजल बेटी क्यों हारे? तुम गाड़ी के दोनों बैल हार जाते, अथवा डिब्बे में रखे गहने हार जाते, किंतु मेरी लाड़ली बेटी क्यों हारे? इत्यादि।"[1]

इस प्रकार के एक और गीत में नदी के किनारे वर और वधू के पितागण क्रमशः अपने लड़के और लड़की के गुणों का वर्णन करते हैं।[2] सावन के ये गीत दोनों पक्ष में तभी गाये जाते हैं, जब 'सगाई' होती है। इन गीतों में प्राचीन भाषा और शैली के दर्शन होते हैं।

वर और वधू के यहाँ समानरूप से गाये जाने वाले कई गीत हैं, फिर भी विवाह के गीत विवेचन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। यद्यपि विवाह-गीत सदा ही स्त्रियों ने गाये हैं, अतः चाहे किसी भी पक्ष के गीत हों उनमें परम्पराओं और विश्वासों की गहरी छाप मिलती है। वर के यहाँ उल्लास का वातावरण और कन्या के यहाँ क्रमशः विदाई की करुणा धीरे-धीरे उभरती आती है। कोमल भावनायें और स्नेह सूत्र दोनों पक्ष के गीतों में घुमड़ती हैं। एक पक्ष खोता है और दूसरा पाता है, इसलिये सुख और दुःख का अनिवार्य संयोग इन गीतों में मिलता है।

'साजन' के बाद विवाह के गीतों के क्रम में गति आती है। इन गीतों के संबंध में आगे विवेचन करने के पूर्व निम्न-सारणी द्वारा मालवी-विवाहगीतों की व्यवस्था का संकेत दिया जा सकता है—

वर पक्ष | उभय पक्ष | वधू पक्ष

साजन
(सगाई के गीत)
गणेश
सीतला
पाँच लाडू
जवारा
साल-सूपड़ा
चौक
पाँच-सुहागण
कोल्या

(प्रथम दिन के समान) — (दोनों पक्ष में गाये जाते हैं)

---

[1],[2] मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृष्ठ ७४।
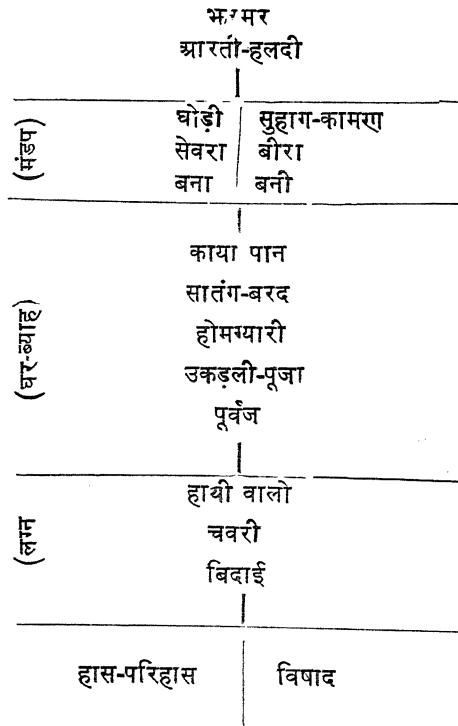
गणेश—प्रत्येक शुभ कार्य का आरंभ करने के पूर्व गणेश की वन्दना भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। कार्य को निर्विघ्न संपूर्ण करने के हेतु स्मार्त हिन्दू विघ्नकारकदेवता गणेश को प्रसन्न करना आवश्यक समझते हैं। यद्यपि भागवत[1] में गणेश की गणना यक्षों और राक्षसों के साथ की गई है तथापि उनका मङ्गलमय स्वरूप क्रमशः निर्धारित होता गया।[2] वे विघ्नकर्ता से विघ्नहर्ता हो गये।

हिन्दू परिवारों के प्रत्येक अनुष्ठान और शुभकार्य में गणेश प्रथम वन्दनीय है। विवाह के आरंभ में गणेश संबंधी अनेक लोकगीत गाये जाते हैं। शास्त्रों के निर्धारित स्वरूप से भिन्न, उनका चित्र लोकगीतों में उभरता है। मालवी गीतों में लग्न-मुहूर्त निकलवाने के लिये ज्योतिषी के यहाँ लोकगीतों के रचयिता स्वयं गणेश को साथ लेकर जाने की इच्छा व्यक्त करते हैं।[3] उनका

---

[1]भागवत—६, ८, २४; वही १०, ६, २८। [2]'उमासुतं विघ्न विनाश-कारम्'—गणेशवन्दना। [3]मालवी लोक-गीत (प्र०), पृ० ७२।

पेट बड़ा है। उन्होंने छोटा सा झगा और मखमल की टोपी पहने हैं।[1] उनका शीश मोटा है तथा उन्हें तेल और सिन्दूर चढ़ता है। स्थूल देह पर मोटी सूँड और कान दर्शनीय हैं। सूँड वासुकि नाग एवं कान पँखे की तरह प्रतीत होते हैं। आँखों में दीपक की झलक लौ प्रज्वलित है। पाँव, देव मंदिर के स्तम्भों के सदृश एवं हाथ में चम्पे की डाली-सी नमनीयता है। गणेश अत्यन्त गहरे हैं।[2] गणपति संबंधी एक मालवी गीत में सरस्वती और गणेश दोनों की वन्दना की गई है। मोदक गणेश को और लापसी सरस्वती के प्रिय भोज्य है।[3] गणेश संबंधी मालवी गीतों में प्राय: हम वही स्वरूप देखते हैं जो राजस्थानी और पहाड़ी शैली के चित्रों में उपलब्ध हैं। उनमें गणेश के साथ दोनों और ऋद्धि और सिद्धि अंकित की जाती है। यही परम्परा गीतों में भी पाई जाती है। मालवी के गीतों में लोककला की शैली के अतिरिक्त भावना-प्रधान स्पर्श भी मिलते हैं। शाजापुर जिले से प्राप्त एक गीत में भक्त के सम्मुख यही द्विविधा है कि यदि वह गणेश पर जल चढ़ाता है तो मछलियों द्वारा अपवित्र है, यदि वह पुष्प चढ़ाता है तो वे भी भ्रमरों द्वारा अपवित्र किये गये हैं और मोदक चढ़ाता है तो उन्हें बालकों ने छू लिया है। इस द्विविधा में वह केवल यही निवेदन करता है कि गणेश उसकी सेवा स्वीकार कर हृदय के कपाट खोल दें।[4]

विवाह के प्रारंभ में गणेश संबंधी वही गीत गाये जाते हैं, जो अन्य शुभ-अवसरों पर प्राय: प्रचलित हैं। केवल विवाह का संकेत देने के लिये एक या दो गीत ऐसे हैं जिनमें विवाह करने वाले संबंधियों की नामावली गायी जाती है। नीचे की पंक्तियों में इस आशय की अभिव्यक्ति का स्वरूप देखिये—

आमे-सामे मांड्या रे गणेश,
तो जिमणे ओ कवले पूतली।
पूतली कंई है (अमुकजी) की नार,
उन म्हारा गणेश नोतिया॥

अर्थात् एक दूसरे के सम्मुख गणेश अंकित किये गये हैं और दाँये हाथ पर दीवाल के समीप प्रतिमा है। प्रतिमा क्या है, वह तो 'अमुकजी' की पत्नी है। उसी ने गणेश न्यौते हैं।

---

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० ३, गीतसंख्या २। [2]वही गीतसंख्या—३। [3]वही, गीतसंख्या—४। [4]वही, गीतसंख्या—६।

शीतला—शीतला माता के संबंध में अन्यत्र चर्चा की गई है। विवाह के प्रारंभ में वर और वधू दोनों पक्ष में शीतला तृप्त की जाती हैं। शीतला के गीत में कार्य-सिद्धि की प्रार्थना एवं रक्षा की कामना निहित है। माता को अपना पुत्र अथवा पुत्री प्रिय है। उसके विवाह में कोई बाधा न आये यही उद्देश्य शीतला की पूजा में अन्तर्निहित है। मालवी के 'सीतलामाता' के गीत संख्या में थोड़े हैं। सीतला के भाई 'गुणाबीर' के गीत भी इसी अवसर पर गाये जाते हैं। सीतला के गीत तीन भागों में विभक्त हैं—(१) शीतला के मंदिर में जाते समय के गीत, (२) मंदिर में बैठकर गाने के गीत, (३) लौटते समय के गीत।

'बाने बैठाना' और उसके लोकाचार—शीतला की पूजा करने के पश्चात् दुल्हे अथवा दुल्हन को दूसरे या तीसरे दिन 'बाने बैठाया' जाता है। बाने बैठने के प्रथम दिन कतिपय लोकाचार किये जाते हैं। दोनों ही पक्ष में उनका स्वरूप एक ही है।

(१) आटे से 'वाजोट' की आकृति बनाकर उस पर लाल चोल (कपड़ा) बिछायी जाती है। चोल पर आटे के पाँच गणपति बनाकर रखते हैं जिनमें एक गणपति का आकार बड़ा होता है। बड़े गणपति के पेट में एक पैसा गाड़ दिया जाता हैं एवं कमर में नाड़ा बाँधा जाता है।

(२) पाँचों गणपति के सम्मुख पाँच लड्डू रखे जाते हैं। इससे संबंधित 'पाँच लड्डू' नामक गीत गाया जाता है। इस समय आरती सँजोई जाती है।

(३) पाँच सरावलों (सकोरे) में 'जवारा' [1] (गेहूँ) बोने के बाद स्त्रियाँ हाथ में दो सूपड़े (सूप) और मूसल ले लेती हैं। साल, पाँच सुपारी, पाँच हल्दी की गाँठ, पाँच पैसे और पाँच सिगोड़े लेकर एक सूप से दूसरे सूप में झेलती [2] हैं तथा मूसल से कूटने का अभिनय करती हैं।

(४) इस लोकाचार के पश्चात् लाड़े या लाड़ी की माँ को बुलाकर गणपति 'झेलाये' जाते हैं, जिन्हें वह आँचल में लेती है।

(५) वहीं चौल पर पाट बिछाकर दूल्हे अथवा दूल्हन को बैठाया जाता है, हल्दी चढ़ाई जाती है, पाँच सहेलियाँ 'कौल्या' देती हैं तथा अन्त में जाते हुए घर के मुख्यद्वार के बाहर उन्हें ले जाती हैं और द्वार पर बहनें आरती करती हैं। आरती के पश्चात् दूल्हे या दुल्हन को घर में पुनः लिवा लाते हैं।

---

[1] देखिये, 'जवारा' गीत। [2] देखिए, 'साले-सूपड़ा' का गीत।

'बाना बैठाने' के प्रथम दिन इन आचारों को करने के पश्चात् मंडप के दिन तक इस अवसर के गीत रोज ही गाये जाते हैं। लाड़ा अथवा लाड़ी को प्रतिदिन 'कौल्या' दिये जाते हैं। आरती भी नियमित रूप से उतारी जाती है। इन लोकाचारों से संबंधित निम्नगीत उल्लेखनीय हैं—

(१)

'पाँच लाडू'

पाँच लाडू पगे धर्‍या
कि सूरजजी तो पगे पड़्या
तो नाच रे म्हारा गणपतिया
गणपतिया ऐसा नाचेगा
कि रुनझुन घुघरा बाजेगा
नाच रे म्हारा गणपतिया

[इस गीत में सूरज जी के स्थान पर चन्द्रजी और घर के अन्य लोगों के नाम जोड़ते जाते हैं]।

(२)

'जवारा'

जऊ[१] का जवारा ने कुंकु का बयारा
जऊ म्हारा लेर्‍या ले
कुण राया बाया[२] कांकी बऊ सीचें
जऊ म्हारा लेर्‍या ले
सूरज जी बाया ने रादल बऊ सीचे
जऊ म्हारा लेर्‍या ले

(३)

'चौक'

धरती तू भती जाणे के हूँ मोटी
त्हारा छाव्या बिना केसी त्हारी सोब[३]
तू कर म्हारी बेन्या आरती।

---

[१]जौ। [२]बोये। [३]शोभा।

छाव्या तू मती जाणे हूँ मोटो
म्हारा लीप्या बिना केसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।
लीप्या तू मती जाणे हूँ मोटो
म्हारा चौकज बिना कैसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।
चौकज तू मती जाणे हूँ मोटो
म्हारा दुलया[1] बिना कैसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।
दुलया तू मती जाण हूँ मोटी
म्हारा बनड़ा बिना कैसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।
बनड़ा तू मती जाण हूँ मोटो
(बनड़ी तू मती जाण हूँ मोटी)
म्हारी कुंआसी[2] बिना कैसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।
कुआंसी तू मती जाण हूँ मोटी
म्हारा टका बिना कैसी त्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती ।

(४)

'चौक'

समी साँझ गोरो लाड़ो (गोरी लाड़ी) चौक बेठो (बैठी) केवड़ा री कोर रो
तू बेग[3] जोसी बेग लगना लाव री
समी साँझ गोरो लाड़ो चोक बेठो
केवड़ा री कोर रे

(५)

'पाँच सुहागण'

म्हारी पाँच सुहागण पाँची हिल-मिल आजो रे
म्हारी (अमुकबाई) सुहागण हार पेरी ने आजो रे
म्हारो बालक बनड़ो (बनड़ी) जिके चौक बिठाजो रे

---

[1]रजाई, [2]सहेली । [3]शीघ्र ।

(६)

'कोल्या'

म्हारो नानो सो लाड़ो (लाड़ी) कोल्या[1] जीमे रे
वी तो मेरे बेठा भुवानी टुँगी[2] रिया रे
वी तो लाड़ा का बेन्या टुँगी रिया रे
भुग्रा बाजोट्या नीचे छिपी बेठा हो
म्हारा पड़ता कोल्या झेली रिया रे

(७)

'झरमर'

[वर या वधू को घर के द्वार पर ले जाते समय का गीत]

झरमर झरमर बरसे यो मेवली[3]
लाड़ो ओड़े लोवरो[4]
लोवरी का जतन कराव
चारी वो पल्ले हीरा जड़्या जी
(अमुकजी) तमारो यो राज तो
लाड़ो ओड़े लोवरी

(८)

'आरती'

[वर या वधू को घर में ले जाते समय का गीत]

म्हारा लाड़ लड़ाला ऊबा दूखे पाँव
तू कर वो बेन्या आरती
थारी आरती में रूपया पाँच
सुपारो मेलूँ ढेर से
तू करवो बेन्या आरती

इन लोकाचारों का अन्त हल्दी और तेल चढ़ाने की क्रिया से समाप्त होता है। 'बाने बिठाना' इन्हीं क्रियाओं से संबंधित है। राजस्थान के प्राचीन ग्रंथों में इस लोकाचार को 'हाथ कामलियो'[5] कहा गया है। हल्दी और तेल चढ़ाने के गीत इस समय गाये जाते हैं। हल्दी के गीत हल्दी के गँठीली व उसके उत्पन्न होने का वर्णन है। उसे वर या वधू के काका या काकी क्रय करते हैं

---

[1]कौर। [2]ललचाना। [3]मेह। [4]रजाई। [5]देखिये, मरु भारती, पौष सं० २०१२, पृष्ठ १४-१५।

और भौजाइयाँ उसे तैयार करती हैं। उगती वह बालू रेत में है। [1]बंजारों की मोट जिन दिनों प्रान्तों में इन वस्तुओं का व्यापार करती थी, उसकी स्मृति इन गीतों में शेष है। वर के दादा बंजारों से हल्दी लेते हैं। वर उसे प्रमाण से अपने अंग पर लगाता है। उसका मन न चन्दनहार में है, न अश्वों में, वह तो अपनी पत्नी के लिये उत्सुक है।[2] एक गीत में वर या वधू का हल्दी से निखरा सौन्दर्य देखकर प्रश्न किये जाते हैं कि हे दूल्हे (दुल्हन) तू पीलाया पीली क्यों है ? क्या तेरी माता ने हल्दी के झाड़े तले छठी जगाई थी ? तू गोरा क्यों है ? क्या तेरी माता ने चन्दन नीचे छठी जगाई थी ? तू चरपरा क्यों है ? क्या तेरी माता ने मिर्च के रूख तले छठी जगाई थी ?[3]

तेल चढ़ाने की क्रिया प्रसिद्ध लोकाचार है। गीतों में चंपे की पंखुड़ी और सोने की सलाई से तेल चढ़ाने का वर्णन है।[4] शहर का तेली केशर और कस्तूरी की घाणी चलाता है और उसमें जावित्री मिलाता है।[5] वस्तुतः इन गीतों में परम्परा का हाथ गहरा है। लोकाचार से जुड़े होने के कारण इनकी शैली में प्राचीन प्रवृत्तियों और समृद्धि के संकेत हैं।

घोड़ी, सेवरा और बना—मंडप से संबंधित गीतों को दो वर्गों में विभक्त करना उपयुक्त होगा। वर-पक्ष के गीत अर्थात् 'घोड़ी', 'सेवरा' और 'बना' तथा वधू-पक्ष के 'सुहाग-कामन', 'वीरा' और 'बनी' उल्लेखनीय हैं।

'घोड़ी' वर के शौर्य को शोभित करने वाले गीत हैं। 'सेवरा' अर्थात् सेहरा वर को दुल्हन लाने के लिये कटिबद्ध करने के अभिप्राय से युक्त है। गीतों में यद्यपि 'सेवरा' केवल दुल्हे के वर्णन तक ही सीमित रह गया है, तथापि सम्भव है इसके सम्पूर्ण गीत लुप्त हो गये हों। प्राप्त गीतों में सेवरा की इच्छा वर को होती है। फूँला या गेंदा मालन उसे सेवरा बना कर देती है।[6] उज्जयिनी के माली और मालिन सेहरा बनाने की कला में निपुण हैं, लोकगीतकारों ने इसको स्वीकार किया है।[7]

'बना' अर्थात् दूल्हा 'बना' गीतों का केन्द्र है। बने के विषय अनेक हैं किन्तु सभी दूल्हे से संबंधित हैं। बने के वस्त्राभूषण, उसकी चेष्टाएँ, दुल्हन के प्रति उत्सुकता, हास्य-व्यंग, आशीष, दुल्हन की ओर से बने की सुखद कल्पनाएँ और

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ७६। [2]वही, (अ० प्र०), सं० ३, गीतसंख्या २०। [3]वही, (प्र०), पृष्ठ ७६-७७। [4]वही, पृष्ठ ७७। [5]वही, (अ० प्र०) सं० तीन, गीतसंख्या २४। [6]वही, (अ० प्र०) संग्रह संख्या ३, गीतसंख्या २५। [7]वही, २६।

वर्तमान की कतिपय प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। एक 'चीरा' नामक गीत में दुल्हन बने के लिये 'चीरे' अर्थात् कीमती पगड़ी ६ भेजती है पर वह उन्हें नहीं पहनता है। दुल्हन को सन्देह होता है कि उसका पति दूसरा विवाह रचाने जा रहा है। वह अपनी सास से जाकर कहती है और फिर अपने पति से कहती है।

होजी, सावली सूरत लाँबा केस
हमारा सरकी नी मिले जी

दूल्हे के शब्दों में—

होजी, कोटा की लावाँ दोय चार
बूँदी की लावाँ सो जी डेढ़[1]

इस प्रकार मनोविनोद भी 'बना' गीतों में भरे हैं।

'बनी' के गीतों में इसी प्रकार का क्रम निहित है। 'बना' गीतों की अपेक्षा उसमें स्त्रियोचित लालित्य और 'बनी' के रूपवर्णन का आधिक्य है। कहना न होगा कि 'बना' और 'बनी' गीतों में धीरे-धीरे आधुनिक प्रभाव विवाह के अन्य गीतों की अपेक्षा अधिक प्रवेश पा रहे हैं। कारण स्पष्ट है। क्योंकि ये गीत मनोविनोद की रचनाएँ हैं। इसका लोकाचार से संबंध बहुत कम है। प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये वर और वधू को केन्द्र बनाकर ये गीत गाये जाते हैं।

'कामण' : गीतात्मक टोटका—अन्धविश्वासों का युग धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। बुद्धिवाद के प्राधान्य के साथ मनुष्य की प्राचीन धारणाएँ और थोथे विश्वास घुलते जा रहे हैं। यह तो हुई सामान्य बात; किन्तु लोकाचार के क्षेत्र में इस प्रगति के साथ ही प्रथाओं, रीति-रिवाजों, लोकाचार और विधि-विधानों से सम्बन्धित अनेक विश्वासों के मूल में ऐन्द्रिय प्रयोग निहित पाये जाते हैं। अन्ध विश्वासों और वातावरण में प्रभाव उत्पन्न करने वाली विधियों में अलौकिक शक्तियों की महत्ता को निहित मान कर जो क्रियाएँ की जाती हैं उनकी कथा प्रागेतिहासिक है।

विवाह-संबंधी प्रचलित लोकाचार और विधियों का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि उनके मूल में अनेक 'टोने-टोटके' के प्रयोग भरे पड़े हैं। विवाह में वर और वधू दोनों पक्षों में ऐसी विधियाँ की जाती हैं, जिनमें एक दूसरे के प्रभुत्व-स्थापन का आशय व्यक्त होता है।

आर्यों के आगमन के पूर्व द्राविड़ी जातियों में कई प्रकार के टोने-टोटके प्रचलित थे। विवाह आदि उत्सवों के अवसर पर जो आकृतियाँ दीवार और

---

[1] मालवी लोकगीत, (अ० प्र०) सं० सं० ३, गीतसंख्या ८८।

भूमि पर अंकित की जाती हैं वह आदिम जातियों में कुप्रभाव को दूर करने अथवा इच्छित लाभ की दृष्टि से किया जाता है। अथर्ववेद में उपलब्ध मंत्रशास्त्र लौकिक भूमि पर विकृत होकर टोने-टोटके के रूप में संभवतः धीरे-धीरे प्रचलित हुआ। यह स्पष्ट है कि टोने का मूल अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों और विधियों में निहित है।[1]

विवाह में वर-वधू की रक्षा के हेतु सभी जातियों में टोटके किये जाते हैं। वर और वधू को हल्दी और तेल चढ़ाने के पश्चात् कटार रखनी पड़ती है। 'सालू-सूपड़ा' करना, वर और वधू को 'कंकण-डोरा' बाँधना, मंडप के चारों थम्ब के पास मिट्टी के पात्र रखना और उन्हें नाड़े से बाँधकर वाह्य प्रभावों से रक्षित करना, विवाह आरंभ होने के पूर्व 'माणक थंब' के नाम से चिड़िया की आकृति वाला एक थंब बनवाकर घर में गाड़ना तथा वर-वधू की मूसल, सूप, राई और रस्सी से उतारनी करना आदि ऐसे लौकिक प्रयोग हैं जिनका तंत्राचार से संबंध कहा जा सकता है।

मालवा में कन्या पक्ष की स्त्रियाँ 'कामण' अथवा 'सुहाग कामण' नामक गीत गाती हैं। कामण का तात्पर्य वशीकरण से है। कहा जाता है कि पहले स्त्रियाँ १०८ कामण गीत गाया करती थीं। जब ये गीत पूरे गाये जा चुकते हैं तो विश्वास कर लिया जाता है कि वर अब वधू के प्रति पूर्णरूपेण वशीभूत हो गया है। आजकल १०८ कामण संभवत: कहीं-कहीं गाये जाते हैं।

उड़द मूँग सब दल लो
सुवा कामण कर लो[2]

ऐसी पंक्तियाँ स्पष्ट ही टोटके की सूचक हैं।

कामण के गीत वर को कन्या के वश में करने का एक गीतमय टोटका है। ऐन्द्रिय प्रयोग भौतिक स्थिति में भावना द्वारा यथार्थ स्थापन की कामना ही है। आदि कविता के संबंध में जार्ज थॉमसन ने मोरिस लोगों के एक 'आलू नृत्य' का उल्लेख किया है। लड़कियाँ खेतों में जाकर अपने अंगों की चेष्टाओं द्वारा हवा के झोंकों, वर्षा तथा पौधों से फलने आदि भाव गाते हुए प्रकट करती हैं। यद्यपि इस नृत्य का प्रकट रूप में कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु नृत्य द्वारा प्रेरित होकर वे दुगुने उत्साह से पौधों का संरक्षण करती हैं, जिसका परिणाम अच्छा ही होता है। थामसन ने लिखा है—"दे इन एक्ट इन फेन्टसी दी फुलफ़िलमेण्ट आफ़ दी डिजायर्ड रियलिटी देट इज मैजिक—एन

---

[1]देखिये ३, सूक्त २५, अनुवाद ५। [2]मालवी लोकगीत, अ० प्र०, सं० ३, गीत सं० ३०।

इल्यूजरी टेकनिक सप्लीमेण्ट्री टू दी रीयल टेकनिक बट दोज इल्यूजरी इज नाट फ्यूटाइल।''[१]

कामण के मालवीगीतों की विषयवस्तु टोटके के कतिपय प्रयोग की सूचक है। एक गीत का आशय है कि माता भादौं की अँधेरी रात में कामण गा रही है। कामण के इस प्रयोग से दूल्हन काँपने लगी। माँ आश्वासन देती है कि तूं न काँप मेरी बेटी। मैं ऐसा कामण करूँगी कि तेरे ससुराल में छोटा देवर आटा पीसेगा, जेठ पानी भरेगा और सास-ननद तेरे वर्चस्व को 'टगर-मगर' देखा करेंगी।[२]

कामण के कुछ गीतों में दुल्हन को सुहाग की पुड़िया देने एवं माता द्वारा यह संकेत दिये जाने का आशय व्यक्त है कि जिस प्रकार उनके (दुल्हन) पिता को उसकी माता ने वश में किया है उसी प्रकार वह भी अपने प्रियतम को वश में करेगी।[3] कामण के समय दुल्हन का काँपना और माता द्वारा आश्वासन प्रदान करना प्रायः सभी गीतों में वर्णित है।

मालवी के कामण गीतों में राजस्थानी गीतों की भी छाप स्पष्ट है। वस्तुतः कामण के गीत टोटके के गीतमय अंश हैं, जिन्हें स्त्रियों ने मंत्रों की प्रतिष्ठा देनी चाहा है। प्रस्तुत-प्रबन्ध के लिये लेखक को १०८ कामण गीत नहीं मिल सके। ऐसा अनुमान है कि कदाचित् ही किसी स्त्री को इतने कामण कंठस्थ होंगे।

बीरा—बहन के गीत 'बीरा' कहलाते हैं। 'बीरा' वीर का देशज रूप है। 'बीरा' का शाब्दिक अर्थ है—'भाई'। यही अर्थ राजस्थान और मालवा में समानरूप से प्रचलित है। अतएव 'बीरा' भाई के सम्बध में बहन की ओर से गाये जाने वाले मांगलिक गीत हैं। इन्हें प्रायः 'मामेरा' (माहेरा) अथवा 'भात' न्योतने पर गाते हैं और यह आयोजन माँड़वे के दिन होता है।

'मामेरा' एक विवाह संबंधी संपूर्ण कथा है। इसमें भाई अपनी बहन के पुत्र या पुत्री के ब्याह में अपने ग्राम से संबंधियों सहित भेंट लेकर बहन के सम्मानार्थ वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं से भरे थाल सहित उसके द्वार पर बाजे-गाजे से पहुँचता है। यह आयोजन मातृ-पक्ष की ओर से किया जाता है, इसीलिये इसे माहेरा अथवा 'मामेरा' कहते हैं।

'बीरा' के गीत वस्तुतः माहेरे के गीत हैं। प्रायः सभी 'बीरा' गीतों की विषयवस्तु समान होती है। उनमें बहन द्वारा भाई को आमंत्रित किये जाने का

---

[१]मार्क्सिज़्म एण्ड पोयट्री, पृष्ठ १२। [२]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ८१। [3]वही, पृष्ठ ८२।

संकेत, भाई द्वारा आने में विलम्ब और उत्कट प्रतीक्षा के बाद भाई का आकर बहन के सम्मान की रक्षा करना, यही लघु-कथा वृत्त पाये जाते हैं। बहन गौशाला के पीपल पर चढ़कर भाई की बाट जोहती है—

गुया भाय की पीपली रे बीरा
जा जढ़ जोऊँ तमारी बाट

बहन के हृदय में अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। ससुराल-पक्ष के के लोग तरह-तरह की बातें करने लगते हैं। स्वाभिमानिनी बहन मानसिक रूप से पीड़ित होती है। वह मन में कामना करती है कि उसका भाई भिन्न-भिन्न प्रकार की बहुमूल्य सामग्री लेकर आये और आलोचना करने वाले सम्बन्धियों को भेंट देकर सन्तुष्ट कर दे। सभी गीतों में 'चूनर' लाने का आग्रह है। चूनर सम्बन्धी पंक्तियाँ 'बीरा' तथा 'माहेरा' के गीतों की आधारभूत पंक्तियाँ हैं।

माड़ी रा जाया चूनर लाजो
चूनर लाजो तो सब सरू खाजो
नीतो रीजो तमारा देस

कुछ गीतों में भाई के विलम्ब का कारण बहन अपनी भावज को समझाती है। स्पष्टरूप से भाई भी यही कारण बताता है। बहन को कहीं-कहीं भारी हानि हो जाने की आशंका उत्पन्न होती है, किन्तु गीतों का अन्त प्रसन्नता में ही होता है। थोड़ी ही देर बाद भाई की गाड़ी आती दिखाई देती है। वह भाई को उपालम्भ देती है और प्रसन्नतापूर्वक उसके स्वागत की तैयारी आरंभ कर देती है। गीत का मूल स्वरूप इस प्रकार है :—

बीरा रे, सबका पेलां तमने नीतिया
असूरो क्यों आयो ?
बीरा रे, के त्हारी खेती में टोटो पड़ियो
के त्हारा सउकार नटिया ?
बीरा रे, के त्हारी गाड़ी री टूट्यो धूरो
के त्हारा बलद्या भूका ?
बैन्या ओ, नई म्हारी खेती में टोटो पड्यो,
नई म्हारा सउकार नटिया
नई म्हारी गाड़ी रो धूरा टूट्यो
नई म्हारा बलद्या भूका।
बेन्या ओ, त्हारी भावज ने माथो न्हायो
छांयले बैठ सुखायो।
बेन्या ओ, चार जणी मिल चट्टो-टाल्यो
पाँच जणी मिल गूथ्यों।

जद नखराली ने बूपच्या हेड़िया
सब रंग सालू ओढ़िया।
जद नखराली ने डाबा हेड़िया
सब रस गेणो पेरिया।
जद नखराली ने डब्बी हेड़ी
लिलवट टिलड़ी लगाई।
जद नखराली छकड़े बैठी,
जद म्हने छकड़ो हांक्यो।[1]

अर्थात्—हे भाई सबसे पहले तुझे आमंत्रित किया, पर तू विलम्ब से क्यों आया ? भाई, क्यों तेरी खेती में नुकसान हुआ या तेरे साहूकार नट गये ? भाई रे, क्यों तेरी गाड़ी का धूरा टूटा या तेरे बैल भूखे थे ? औ, बहन, न मेरी खेती में नुकसान हुआ और न मेरी गाड़ी का धूरा टूटा। न मेरा साहूकार नटा और न मेरे बैल भूखे थे। औ बहन, तेरी भावज ने केश धोये थे। उसने छाँह में बैठकर उन्हें सुखाया। ओ बहन, चार स्त्रियों ने उसकी माँग भरी, पाँच ने मिल कर केश गूँथे। जब नखराली ने वस्त्र निकाले और रंगीन सालू ओढ़ा तथा डिब्बा खोलकर जब उसने सब प्रकार के आभूषण पहने और डिबिया खोलकर अपने कपाल पर बिन्दिया लगाई, तब कहीं वह नखराली छकड़े (छोटी गाड़ी) में बैठी और मैंने छकड़ा चलाया।

माहेरे के 'केशरबाट'[2] नामक गीत में गाड़ी से उड़ने वाली धूल 'केशर' के समान बताई गई है। इसी प्रकार रड़कती आती हुई गाड़ी की धूल गगन में छा जाती है। बहन अपने गीत में वीरा की अन्तर की भावना व्यक्त करने लगती है किन्तु इतने में ही भाई की गाड़ी दीखने लगती है। बैल के सींग चमकते हैं, भतीजे का 'झगल्या', भावज का चूड़ा और भाई की पचरंगी पगड़ी भी चमकती है।[3] तभी बहन को माँ जाये वीरा के प्रेम की गहराई का पता चलता है।

दोनों गीत भाषा की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अनुमान किया जाता है कि इनकी आयु चार-पाँच सौ वर्ष से कम न होगी।

'केशर बाट'

म्हारा पीयर बाट केसर उड़े, गाड़ा[4] तो आया रड़कता
दादाजी हो आया, माताजी हो आया।

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृष्ठ ८४। [2]वही, पृष्ठ ८५। [3]वही, पृष्ठ ८३। [4]गाड़ा—बड़ी गाड़ी, जिसका स्वरूप अब लुप्त हो गया है।

माडी[1] रो जायो, बीरो घर रह्यो ।
एक तम क्यों नी आया म्हारा माड़ी रा जाया,
तम बिन सूनी म्हारी बरदड़ी[2]
एक बरद उजाली बई त्हारो माँडवो उजालूँ ।[3]
और उजालूँ म्हारी सायर बेंनूली ।[4]

'गाड़ी'

गाड़ी तो रड़की रेत में रे बीरा उड रही गगना धूल ।
चालो म्हारा धोहरी[5] उतावलारे म्हारी बेन्या बई जीवे बाट ।
धोहरी का चमक्या सींगड़ा रे म्हारा भतीजा को झगल्यो झाग ।
म्हारी भावज बई को चमक्यो चूड़लो रे म्हारा बीराजी की पचरंगी पाग ।
काका बाबा म्हारा अतघणा[6] रे म्हारे गोयरे[7] होता जाय ।
माड़ी रो जायो म्हारो बीर एकलो रे म्हारी बरद उजाल्या जाय ।[8]

बीरा के उक्त महत्त्वपूर्ण गीतों के अतिरिक्त एक गीत में बहन अपने पूर्वजों के विषय में भाई से प्रश्न करती है ।[9] कुछ गीतों में भाई से भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण लाने का आग्रह व्यक्त हुआ है ।[10]

चूनर और आभूषण के प्रति आग्रह, भावज के प्रति सहज कुशंका, विलम्ब से आने पर आक्रोश और अन्त में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति, यही बीरा के गीतों की मूल प्रवृत्तियाँ हैं । मालवी के 'बीरा' धुनों में मोहक हैं । संपूर्ण पठार पर बीरा के गीत एक ही धुन में गाये जाते हैं । पाठान्तर-भेद भी कम हैं । अनुमान है कि परम्परा की कठोर कड़ियों में ये गीत बहुत ही कम परिवर्तित हुए हैं ।

पेरावनी—माहेरे से संबंधित 'पेरावनी' को परम्परा है । भाई द्वारा लाये हुए वस्त्रादि जब औपचारिक रूप से संबंधियों को भेंट किये जाते हैं तो उसे 'पेरावनी' कहते हैं । इस अवसर पर 'पेरावनी' नामक गीत गाया जाता है । उसमें पहनाने और पहनने वाले व्यक्तियों के नाम क्रमशः जोड़कर गीत का कलेवर बढ़ा लिया जाता है ।

---

[1]माता । [2]मङ्गल कार्य । [3]उज्ज्वल करूँ । [4]सागर की तरह गंभीर बहन । [5]बैल । [6]बहुत । [7]ग्राम की सीमा । [8]'सौ आवे सठु जावे, सासेनी, इक्क न आवे अम्मा जायड़ा'—इस पंजाबी पंक्ति की शैली से उक्त गीत की पंक्तियाँ मिलाइये । [9]मालवी लोकगीत, सं० सं० ३, गीतसंख्या—३४ । [10]वही, सं० ३५ ।

माँडवा (मंडप) लोकाचार—माँडवा (मंडप) की तिथि पर वर और वधू दोनों के यहाँ इन आचारों की योजना की जाती है—(१) वर अथवा वधू की माता दिन भर उपवास करती है। माँडवा तैयार हो जाने के पश्चात् रात्रि को उसके नीचे पूजा करके उपवास छोड़ती है। उसके साथ पाँच सुहागनें और भी भोजनार्थ बैठती हैं। यह भोजन केवल दूध, चावल और खाँड का होता है; (२) माँडवा के दिन 'कुँआसी' [आमंत्रित सहेलियाँ] प्रात: काल केश धोकर नये चूड़े पहनती हैं; (३) माँडवा के एक कोने पर 'माणक थंब' गाड़ा जाता है; (४) मंडप के नीचे चौक पूरा जाता है, (५) माँडवा के मध्य में दो सकोरे बांधे जाते हैं और (६) पूजा के समय निम्न गीत गाया जाता है :—

तम जाजो (अमुकजी) अमझरे रे।
तम लाजो काचा-पाका पान,
मोत्या छायो माँडवो रे।

घर-ब्याह—घर-ब्याह के दिन वर और वधू के यहाँ दोनों की माताएँ सर्वप्रथम हल्दी चढ़ाकर धूरा पूजने जाती हैं। मालवी में इसे 'उकड़ली पूजा' कहते हैं। पूजन सामग्री हैं :—(१) पाँच पापड़ और पीले चावल; (२) दीया, अक्षत और कुंकुम; (३) कांगसी (कंघी सफेद), (४) सलाई और; (५) राड़े की पगेरी।

घूरे के पास गोबर से लीपकर उस पर कुंकुम का स्वस्तिक बनाया जाता है। उस पर नाम ले-लेकर पीले चावल रखे जाते हैं और निम्नगीत गाया जाता है। यह गीत पूर्वजों के नामों से भरा होता है। नामों को छोड़ कर गीत की मूलपंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'पूर्वज'

सरग भवन्ती साँवली[1] एक सन्देसो लेती जा
जई बूढ़ा गल्ला ने यूँ कीजे सम घर बर दौड़ी[2] हो
ताला जड़्या लोह का ने बजड़ कंवाड़
काचा सूतर का पालना बंध्या हे सरग दुआर
बरद करो बरदावणा[3] हमारो तो आवणो नी होय[4]

---

[1]स्वर्ग की ओर भ्रमण करने वाली श्यामा चिड़िया। [2]मंगल-कार्य। [3]मंगल कार्य करने वाले। [4]मालवी लोकगीत, सं० सं० तीन, गीतसंख्या ३७।

'पूर्वज' का यह गीत घूरा पूजने के पश्चात् माँडवा के नीचे भी लौटकर गाया जाता है।

सातंग—घूरा-पूजन के बाद 'सातंग' नामक लोकाचार वर और वधू के माता-पिता गृह-शांति के लिये करते हैं। शास्त्र-सम्मत कतिपय आचार भी किये जाते हैं। जोड़े से माता-पिता पाट पर बैठते हैं। पूजा के साथ ही स्त्रियाँ गीत गाती हैं—

(१)

सुवाग रैण सातंग बैठा खो जण
बिच में बैठा (अमुकजी) राजवी
माछो फिरी ने बड़बड़ देखजो
वैठो तमारो सौई परवार[1]

(२)

करतो रे भंवरो रूणभूण सांवर्यो रे
भंवरा जई बैठा वाजोट्या केरा छोड़े
भंवरा कुंकु केरौ चाव तौ
भंवरा जबतल भी गोल होमिया
भंवरो रूणभूण करतोरे भंवरौ साँवर्यो[2]

बरद—सातंग के बाद दूसरा लोकाचार 'बरद' है। 'बरद' में १३ कोरे मृत्तिका-पात्र जल से भरे जाते हैं। इन पात्रों को वर या वधू के भाई-भौजाई पूजते हैं। भौजाई सिर पर जल का पात्र भर कर माँडवा के नीचे धरती है। स्त्रियाँ औपचारिक रूप से इसी पात्र का लग्न कराती हैं और उसे 'माय-माता' के सम्मुख रखती हैं। 'बरद' भरने जाते समय का गीत है—

गंगा की गार मँगाव के दूध सिंचाव जी जी
जीकी तो बरदड़ी बनाव, गोती हमारा भरसी रे
बरदड़ी लो भर सी (अमुकजी) का भीम (अमुकजी) डोकरा रे[3]

'बरद' भरते समय एक हास्य-प्रधान गीत गाया जाता है। संबंधियों की ठिठोली प्रायः इसी गीत में की जाती है।[4] बरद लेकर जब भौजाई लौटती है तो श्वसुर उसे माथे पर से उतारता है। यह उस समय का गीत है—

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृ० ८६। [2]वही, गीतसंख्या ३८। [3]वही, गीतसंख्या ३६। [4]वही गीतसंख्या ४०।

इना बरद लाड़ी बऊ अड़ी रया
सुसराजी दो म्हारी बरदरो नेग
बरद हम भरी लाया हो[1]

नाम ले-लेकर इस गीत का कलेवर बढ़ाया जाता है।

बर-निकासी—'बर-निकासी' में निम्नप्रकार का आचार सम्मिलित है—

(१) तेल चढ़ाई, (२) माता की पूजा, (३) पूजा के बाद उसे माँडवे के नीचे लिवा लाना, (४ वान, (५) घुड़चढ़ी, (६) भौजाई और काकी द्वारा घोड़े को दाल खिलाना, उसकी चोटी गूँथना, (७ दूल्हे को काजल-आँजना, (८) माता द्वारा दूल्हे को दूध पिलाना और उसके पश्चात् (९) दूल्हे को मंदिर में ले जाना।

इस समय 'घोड़िया' गायी जाती है जिनके विषय प्रायः सभी प्रान्तों में समान हैं किन्तु स्नान, तेल चढ़ाने, और बान के समय के मालवी-गीत द्रष्टव्य है :—

तेल चढ़ाई

गोरा (अमुकनी) पूछे बालरिया
गौरी चूनड़ चोगस कां भरिया
गौरा लाड़ा रे तेल चढ़ावतिया
म्हारो चूनड़े चोगस वां भरिया[2]

स्नान का गीत

गाजौ नी गड़ल्यो सखिबई मेउड़लो नी वरस्यो है।
आंगण में कीचड़ सखिबई किनने करियो हो।
आज काकाजी का बेटा न्हावण बैठा आंगण में कीचड़ उनने करियो हो।[3]

बान (भेंट)

बरसे म्हारी काली बादल बरसे सवायी जी।
रुपया को ब्याज न बट्टो आटा को साटो जी।
थाली में उनको मेल्यो हबड़ो सीताणो जी।[4]

बरात रवाना होने के पूर्व 'बान' का आयोजन महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें दूल्हे के सम्बन्धियों द्वारा भेंट दी जाती है। ऊपर का गीत इसी पारस्परिक भेंट (आटा-साटा) की ओर संकेत करता है।

---

[1]मालवी लोकगीत गीतसंख्या ४१। [2]वही, गीतसंख्या ४२। [3]वही, गीतसंख्या ४३। [4]वही, गीतसंख्या ४४।

बरात आने के पूर्व दुल्हनपक्ष की स्त्रियाँ कतिपय आचारों को करती हैं। दुल्हन के घर का वातावरण बदल ही जाता है और उल्लास क्रमशः विदाई की करुणा में परिवर्तित होने लगता है। 'बनी' के जो शृङ्गारप्रधान गीत गाये जा चुके हैं, उनसे भिन्न रागात्मकतत्त्वों से पूरित कन्या-पक्ष के गीत इस समय उभर कर आते हैं।

दुल्हा जब बरात लेकर दुल्हन के द्वार पर पहुँचता है तो दुल्हन का पिता उसके चरण पखारता है, माता उसका मूसल और सूप से स्वागत करती है। इस समय जो गीत गाया जाता है उसका आशय है कि यह देश पराया है। रायवर उसमें आकर दुल्हन के घर वालों को दुखी करने वाला है।[1] वहाँ जाकर दुल्हा 'तोरण' मारता है। तोरण मारने की प्रथा वस्तुतः विजय की भूमिका है। इसे दुल्हन के घर में दूल्हे-प्रवेश का प्राथमिक आयोजन कहा जा सकता है।

हात्ती बाळो—हात्ती बाळो उस समय गाया जाता है जब मंडप के नीचे दुल्हा और दुल्हन के हाथ मिलाये जाते हैं। इस समय के समस्त अनुष्ठान वैदिक पद्धति से किये जाते हैं। स्त्रियाँ निम्नगीत गाती हैं :—

नागर बेल पीपल पान, हात्ती बाळो जोड़ सहेली।
हम किस तरे जोड़ां म्हारी सैया बीरा उबे देखे हमारा।
छोड़ो वर पोंचो हमारो, हाथ हमारो
मांडप में बैठा दादाजी हो देखे देखे घर भर सारो।
दादाजी तमारा सुसरा हमारा हाथी बालो जोड़ सहेली।[2]

"नागर बेल और पीपल के पत्र से हे सहेली हमारे हाथ मिला दे। मैं स्वयं कैसे हाथ मिलाऊँ, मेरे भाई खड़े-खड़े देख रहे हैं।"

"प्रियतम, मेरी कलाई छोड़ दो, हाथ छोड़ दो। मेरे दादाजी और संपूर्ण घर इधर देख रहा है। प्यारी दुल्हन तुम्हारे दादाजी तो हमारे ससुर हैं। 'हात्ती बाळो' का यह गीत बहुत पुराना है। इसे प्रायः सभी जातियों में गाया जाता है।"

विदाई—विदाई के गीतों में जो करुणा उपलब्ध है उसका मूल कारण स्पष्ट है। मालवी के कतिपय विदाई के गीत मध्यकालीन स्थिति के द्योतक हैं। राजस्थानी के विदाई गीतों का प्रभाव मालवीगीतों में यद्यपि इतना स्पष्ट नहीं है तथापि मूलतः स्त्रियों की वस्तु होने के कारण वे गीत बिना किसी

---

[1]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित), सं० संख्या ३, गीतसंख्या ४५। [2]वही, (प्रकाशित) पृष्ठ ७६।

परिवर्तन-परिवर्द्धन के उपलब्ध हैं। बिदा होती हुई दुल्हन अपने माता-पिता से अखंड सुहाग की प्रार्थना करती है। काका और काकी से भी उसका यही निवेदन है। निश्चय ही बेटी के लिये स्नेह-संबंधियों का हृदय करुणा से भरा हैं फिर भी वे उसे गोदी भर-भर कर सुहाग देना चाहते हैं।[1]

एक गीत में दूल्हन अपने 'सायर' बने से एक क्षण के लिये घोड़ा रोक देने की प्रार्थना करती है। वह जाते हुए अपनी माता से मिल लेना चाहती है, किन्तु हठीला दुल्हा उसे मना कर देता है। तब दुल्हन यही कहती है—"यदि सम्पत्ति हो तो पिता, अपनी बेटी को ले आना। उसके डेरे कोठी के निकट पड़े हैं। पिता कहता है—संपत्ति की कमी तो नहीं है, पर युद्धादि बहुत कुछ हैं। उसी से अवसर मिला तो, वह अपनी बेटी को अवश्य ले आवेगा।"

घड़ी एक घाड़िलौ थोबजे रे सायर
माता बई से मिलवा दोय रे हटीला बनड़ा।
माता बई से मिली करी कांई करो हो, रे सायर बनड़ी।
दोनी पलखड़े पाँव, घरे चलो आपणा
कोठी का कने थाप्या बई का डेयरा,
बई तो चाल्या परदेश।
सम्पत होय तो दादाजी लायजो
नीतो रीजो तमारा देस
सम्पत थोड़ी ने रण छणो
बई ने लावां बड़ी बेग[2]

दूसरा गीत जिसमें लड़की की माता लड़के की माता से निवेदन करती है—'यह मेरी प्यार की बेटो है, इसे दुख मत देना।' यह मेरे घर-आंगन की उजियाली है। इसे मैंने दूध पिलाकर बड़ी किया है और पेड़े देकर सुलाया है। हे सास इसे दुख मत देना।

लो म्हारी कर करियारी बेटी
ओ सासू, दु:खड़ली मती दीजे हो
म्होरा घर आंगन को टमक्यो
ओ सासू, दुखड़लो मती दीजै हो
म्हने दुदड़ला पई ने मोटी करी
ओ सास, दुखड़लो मती दीजै हो

[1,2]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृ० संख्या ८७।

म्हने पेड़ा दई ने पोड़ाई
ओ सासू, दुखड़लो मती दीजै हो

अस्तु, बिदाई के गीतों में स्वाभाविक करुणा बेटी के स्नेह को संचित स्मरणों के साथ उभारती है। वर-पक्ष के गीतों में उल्लास क्रमश: व्यक्त होता है जबकि वधु-पक्ष में उल्लास का क्रम धीरे-धीरे करुणा में परिणित होता जाता है।

(ग) बाल गीत—विश्व के समस्त भागों में बालक-बालिकाओं के खेलों और खेलगीतों में शताब्दियों की सांस्कृतिक एकता और परम्परा के सूत्र सन्नद्ध हैं। खेल भी लोकवार्ता और प्राचीन प्रथाओं के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, किन्तु ऐसे खेलों के अध्ययन के लिये अपरिमित साधनों की आवश्यकता है।

गीत-सम्बद्ध खेल अधिकांश में उन लोक-नाट्यों की श्रेणी में आते हैं जिसमें अनुभावों और अभिनय के द्वारा परिस्थितियों के चित्र सजीव-होते हैं। वे धर्म-प्रणीत (रिचुअलस्) भी हैं। आनुष्ठानिक दृष्टि से शक्ति के अर्जन की अपेक्षा उनमें निहित गेय-तत्त्व के नाते मनोरंजन के हेतु गाने का उद्देश्य अधिक विद्यमान है। वर्तमान समाज में कदाचित् बालगीत ही ऐसे अवशेष हैं जहाँ भाषा नाद-लुब्ध (इन्केन्टेशन) एवं छंद-नृत्य अनुभाव और पूजा है।[1] नेवेल (डब्लू० डब्लू० नेवेल) का सूत्र-वाक्य—"नृत्य को गाना एवं गीत को नृत्यमय बनाना दोनों ही पूरक अभिव्यक्ति है"[2]—का उल्लेख करते हुए यह मत अधिक पुष्ट प्रभावित होता है कि बालकों के खेल और खेलगीत दोनों अभिन्न है।

सस्वरता (केडेन्स) माधुर्य, (मेलोडी), लय, सूत्रता, अव्यवस्थित छंदात्मकता (डागेरल) और सम्बद्ध संयोजना जो कि बालगीतों की परम्परा के पोषक तत्त्व हैं, खेलगीतों के मस्तिष्क और कल्पना पर घटित होने वाली प्रभाव के विशेष स्वरूप एवं सम्मोहिनी पकड़ की व्याख्या करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। बालकों के प्रगाढ़ भ्रातृत्व, समवयस्कता एवं प्रवृत्तियों के द्योतक बाल-सुलभ आवेगात्मक-अनुभव कुछ ऐसे समन्वित कारण हैं जो बालकों को लौक का अंग तो सिद्ध करते ही हैं, उनके मौखिक वाङ्मय के 'लोक' को बुद्धिवादी

---

[1] "दे आर आल्सो रिचुअल्स, विथ प्यूअर सेन्स ऑफ़ सिंगिग फ़ार ज्वाय एन्स्टेड ऑफ दी फ़ंकशनल सेन्स ऑफ सिंगिग फार पावर--परहेप्स दी प्यूअरेस्ट सरव्हाइवल इन मॉडर्न सोसायटी, ऑफ़, लैंग्वेज़ एज़ इन्केन्टेशन ऑफ व्हर्स एज़ डान्स, एण्ड गेश्चर एण्ड वरशिप।"—अमेरिकन फोकलोअर : ऐडीटेड बाय बी० ए० बोटकिन : पृष्ठ ३३२। [2] "टू सिंग ए डान्स एण्ड डान्स ए सांग वेयर आइडेण्टिकल एक्सप्रेशनस्"—वही, पृष्ठ ३३२।

लोक से परे आत्मीयता से पूर्ण लोक के समीप भी ले जाते हैं। यद्यपि उनमें शब्द-संगत के लिये कल्पना की असंगत उठान अर्थ की अस्पष्टता का कारण होती है तथापि "जिस तरह बालक के निश्चल हास में कोई प्रकट कारण नहीं होता उसी प्रकार इस काव्य (बालगीतों में) में अर्थ का लोप, बिना कारण (कहीं-कहीं) पाया जाता है। आप अपनी औपचारिकता त्याग कर ज्योंही छोटे बालक बन जायेंगे त्योंही आपको अर्थ का ज्ञान हो सकेगा।"[1] अतएव अर्थ की अन्तर्निहित स्थिति भी बालगीतों की विशेषता है। लोकवार्ता का अभिन्न अंग होकर बालगीत अपने में परम्परागत एवं जातिगत संस्कारों और विश्वास को समाहृत किये हैं। उनमें पाश्चात्य समाज-शास्त्रियों ने प्राचीन अनुष्ठान, बली, जलपूजा, मंत्र द्वारा प्रभावित करने के लक्षण और मृत-संस्कार की धुँधली रेखाएँ भी देखी हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

शिशुगीत—मालवप्रदेश के बालगीतों का विश्लेषण करने के पूर्व छोटे बालकों के कतिपय खेलगीतों का उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। उपलब्ध खेलगीत जिनमें सम्बद्ध-असंबद्ध कल्पनाएँ जो छन्दसूत्रों में वेष्ठित हैं, मात्र आनन्द की सृष्टि के लिये ही वयस्कों द्वारा शिशुओं के मनोरंजनार्थ सृजित प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में दौड़-धूप के खेलों से भी अधिक उपयोगी ऐसे अन्तरंगी खेल होते हैं जिनमें बालकों को रोने से बन्द करने या उसके भटकते मन को एकाग्र करने की अद्भुत शक्ति होती है।[2] अत: उपयोग की दृष्टि से शिशुगीतों के दो भेद होंगे—(१) विशुद्ध मनोरंजन के गीत और (२) खेलगीत। व्यवहार में यह भेद प्राय: लुप्त होकर एक-दूसरे के क्षेत्र को प्रभावित करता है। मालवा के शिशुगीतों में बाल-बालिकाओं के गीत समान हैं, जिनका उपयोग पाँच वर्ष की आयु तक प्राय: होता है। ऐसे गीतों में माताओं की लोरियों के अतिरिक्त जिन्हें 'हलो' कहते हैं, 'झूला', इलायची को डब्बो', 'आकुल्या-माकुल्या', 'अटकन-भटकन', 'आकच-कूकच', 'कौड़ा बदामसाही', 'च्याउँ-म्याऊँ', 'पानी बाबो' आदि उल्लेखनीय हैं।

शिशुओं के खेलगीतो में साहित्यिक तत्त्वों की खोज करने की अपेक्षा उन्हें मनोविज्ञान का विषय स्वीकार करना ही उचित होगा। खेल-गीतों में बाल-सुलभ कल्पनाएँ सत्य के सूत्रों से जुड़कर, ध्वन्यात्मक पदों की आवृत्ति के साथ संयोजित होती है। पदों की लयकारी में क्रम-सवंर्द्धता द्रष्टव्य है—

---

[1]साहित्याचें मूलधन (दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर एवं वामनकृष्ण चौवड़े), पृष्ठ ४६-४७, १९३८। [2]सत्येन्द्र, ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ९५।

अटकन भटकन (निरर्थक पद)
दही चटोकन[1]
अगला झूले, बगला झूले
सावन मास करेला फूले
फूल फूल की बावड़ी
राजो गयो दिल्ली
दिल्ली से लायो सात कटोरी
एक कटोरी फूटी
राजा की टाँग टूटी[2]

दूसरा गीत—
थेपड़ थेपड़ छाणा
चौर माथे बाणा
चौर लाइग्यो पिण्डी
रोटी हुई गी ठंडी[3]

यद्यपि क्रम-संबद्धता में कथासूत्र बिखरे-बिखरे प्रतीत होते हैं, पर पूरक शब्दों के साम्य से उनकी गति में बाधा नहीं आती। 'अटकन-भटकन' और 'दही चटोकन' के साम्य के बाद ही सावन में करेला फूलने और फूलों की बावड़ी का संकेत देकर राजा के दिल्ली जाने और वहाँ से सात कटोरी लाने की कथा प्रथम उदाहरण में है। दूसरे में 'छाणा' (कंडे) थापने की अभिनयात्मकता से जुड़ा हुआ चोर के माथे पर 'बाणा' (जूते) का उल्लेख और उसके द्वारा घास की पिण्डी चुराये जाने के परिणामस्वरूप रोटी ठंडी हो जाने का क्रम प्रस्तुत है। स्पष्ट है कि 'अटकन-भटकन', 'झूले-फूले', 'फूटी-टूटी', 'छाणा-बाणा' 'पिण्डी-ठंडी' जैसे पदों की संयोजना को विषय सूत्र के प्रवाह-निर्वाह में अधिक योग प्रदान करती है।

बालक को दीपक बुझाते समय उसकी ज्योत पर अवशिष्ट लाल गुल दिखाते हुए प्राय: कहा जाता है—

आकुल्या माकुल्या (निरर्थक पद)
अक्कारो डक्कारो (,,)

---

[1] पाठान्तर देखिये—ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ६७ एवं विन्ध्य-भूमि (लोकसंस्कृति-अंक) में ब्रजभूषण गोस्वामी का लेख 'बुन्देलखंडी क्रीड़ा संबंधी गीत' पृष्ठ ६६-६६, अगस्त १९५५। [2] मालवी लोकगीत (अ० प्र०) पृष्ठ संग्रह—१ गीतसंख्या ६१। [3] वही, गीतसंख्या—८८।

जो म्हारा नाना प रीसां बले
उकी आंख में लाल अंगारो... [1]

बालक द्वारा दूध-धूली खाने का ध्वनि-पूरक चित्र है—

ऊली भूली
नानो मई जीभे दूध ने घूली
लपा-लप भपा-भप... [2]

शिशुओं के खेलगीतों में मनोरंजन के अतिरिक्त शिशु के ज्ञान-वर्द्धन के हेतु कई वस्तुओं का उल्लेख, गत्यात्मकता और उसके विकास की कल्याण-कामना पायी जाती है। यही कल्याण-कामना लोरियों में अधिक स्पष्ट हो गई है। अतएव मालवी बालगीतों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिये उनका वर्गीकरण करना आवश्यक है।

वर्गीकरण—शिशुओं से सम्बन्धित गीत—(१) खेल-गीत और (२) लोरियाँ (हलो या हालरां) दो वर्गों में विभाजित हैं। प्रथम वर्ग के गीतों पर संक्षेप में ऊपर लिखा जा चुका है और दूसरे वर्ग का उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया जा रहा है। विस्तार से इन गीतों का विभाजन तीन बड़े वर्गों में किया जा सकता है।

क—शिशु गीत
ख—बालकों के गीत
ग—बालिकाओं के गीत

इन वर्गों का विस्तार निम्नानुसार होगा :—
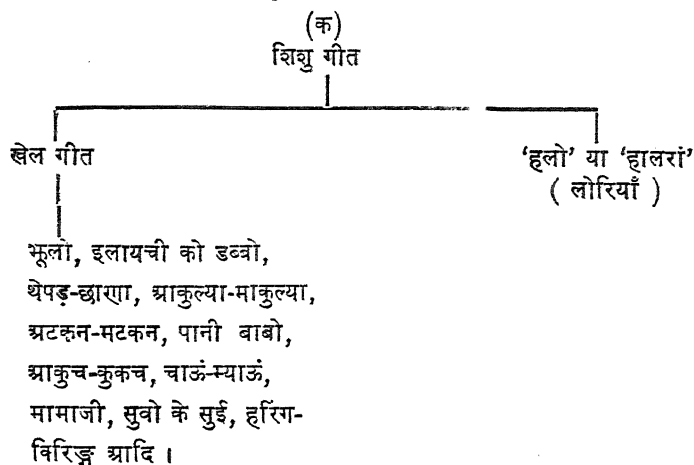
[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) संग्रह—१, गीतसंख्या—८६ [2]वही, गीत-संख्या—६०।
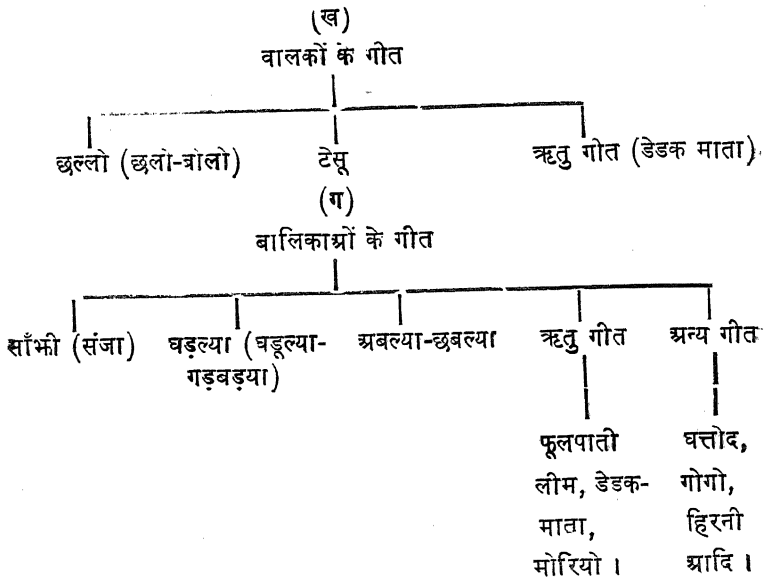
हलो—'हलो' वस्तुतः मालवी में शिशुओं को सुलाने के लिये प्रयुक्त पदमात्र है। झूला देकर या शिशुओं की पीठ थप-थपाकर लयात्मक स्वर में माताएँ कहती हैं—'हलो रे नाना'...या 'हुल रे नाना हुल रे...!' अतएव लोरी के लिये 'हलो' या 'हालराँ' मालवी के उल्लेखनीय पर्याय हैं। निमाड़ में भी ये ही प्रयास प्रचलित हैं और प्रायः अधिकांश निमाड़ी हलो किंचित् पाठान्तर होते हुए भी मालवी के अनुरूप है।

'हलो' का ध्येय तो शिशु को निद्राभिभूत करना है, पर उसके विषय माता के प्रेम से प्लावित हैं। बालक के मातृपक्ष की ओर से मंगलकामना और उसके रूप-वर्णन के साथ प्रवृत्तियों के उड़ते हुए चित्र मालवी हलो में मिलते हैं।

मातृपक्ष की ओर से मौसी, मामा, और नाना बालक की मंगलकामना में योग प्रदान करते हैं। मामा उसे झुलाते हैं, जब वह दौड़कर मामा के घर जाता है तो उसे रूपाली (चाँदी) की गाय दी जाती है। वह बहुत दूध देती है। शिशु सवा सेर दूध पीता है।[1] माता उससे दूध और बताशे पीने का आग्रह करती है।[2] उसके काका विदेश गये हैं। माझल रात है और वे गुजरात में हैं।[3] ऐसी स्थिति में मामा ही तो शिशु की देख-रेख कर सकता है। जब

[1]मालवी लोकगीत, संग्रहसंख्या—१, गीतसंख्या—८१ और ८२।
[2]वही, गीतसंख्या—७७। [3]वही, गीतसंख्या—७८।

वह झाँझर पहनकर बगीचे के फलफूल तोड़ता है तो माली के हाथों से मामा ही उसे छुड़ाकर लाता है।[1]

नाना (शिशु) बड़ा हठी है। घी का चटौरा है।[2] फुन्दों और मोतियों जूड़ी मखमल की टोपी उसे शोभा देती है जिससे माता का मन हर्षित होता है।[3] उसने तीन सौ की खंगाली (गले का आभूषण) गले में पहन रखी है। टोपी चार सो की है। पाँव में कंचन की जूतियाँ है।[4] वह सोने के झाँझरिया पहनता है। यही मालवी बालक का चित्र है।

मालवी हलो में बालक की (१) प्रवृत्ति और शृंगार का वर्णन, (२) मातृ-संबंधियों का स्नेह, (३) बालक द्वारा घर में नुकसान किये जाने पर माता द्वारा धमकाना और (४) पशुओं का उल्लेख प्रधानतः पाया जाता है। कतिपय 'हलो' में लघुकथाएँ समाविष्ट हैं। माता शिशु को सुलाते हुए कहती है कि जब वह जल भरने गई तो भूल से घर में कुत्ता रोक गई। कुत्ते ने बहुत नुकसान किया और भ्रमवश बालकों को चार धमके पड़े।[5] दूसरे गीत की कथा है— शिशु दौड़ा-दौड़ा मामा के घर जाता है। मामा ने उसे झाँझर पहना दिये। वह ठुमुकता हुआ बाड़ी (बगीचे) में पहुँचा और बगीचे के फलफूल तोड़कर खाये। सामने माली का लड़का मिल गया। उसने नाना (शिशु) के दोनों हाथ बाँध दिये। नाना के मामा को मालूम हुआ तो वह माली के लड़के के पास पहुँचे—'छोड़ दे रे माली के लड़के' मेरे नाना के हाथ, इसने जितने फल-फूल तोड़े हों उतने आने ले ले।[6] [देखिये पाठान्तर—निमाड़ी लोकगीत, पृष्ठ ४६]।

कुत्ता और बिल्ली 'हलो' के प्रिय पशु हैं। कुत्ते के कारण नाना को धमके पड़ते हैं और माँ बिल्ली से यही आग्रह करती है कि वह नाना की हठ (अड़वी) ले जाये।[7] [पाठान्तर—निमाड़ी लोकगीत, पृष्ठ ४८]।

'हलो' में लोरियों की सम्पूर्ण मादकता, धुन में निद्रालसता लाने की क्षमता और बालक के प्रति माता का गर्व समाहित है। यद्यपि अपूर्व-कल्पनाओं का अभाव मालवी 'हलो' में हैं, पर वैचित्र्य तब भी विद्यमान है। अनुप्रास मिलाने या तुक के निर्वाह के लिये शब्द वैचित्र्य एवं प्रसंग-योजना 'हलो' में द्रष्टव्य है। जहाँ तक बालक के प्रति शुभ-कामनाओं का प्रश्न है मालवी 'हलो' बेजोड़ है—

---

[1]मालवी लोकगीत, संग्रह संख्या १, गीतसंख्या ८३। [2]वही, गीतसंख्या ७६। [3]वही, गीतसंख्या ७८। [4]वही, गीतसंख्या ७६। [5]वही, गीतसंख्या ८०। [6]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), संग्रह संख्या १, गीतसंख्या ८३। [7]वही, गीतसंख्या ७६।

'झूलो'

नाना त्हारे पालणो बंधई दूँ सामी पोल रे
आवतड़ा कोई जावतड़ा नाना का काकाजी झूल्या देख्या
हुल रे नाना हुल रे
त्हारा सोना रा झाँझरिया
त्हारा रूपा रा झांझरिया
रेसम लम्बी डोर
लालजी आंगाणे नाचे मोर[1]

भाषा और शैली की दृष्टि से संग्रहीत 'हलो' के गीत लगभग तीन शताब्दियों से अपने मूल रूप में प्रचलित प्रतीत होते हैं। लेखक को अपनी ८५ वर्षीय नानी से ये गीत प्राप्त हुए हैं जिसने अपनी माता से सुने थे। मालवा के पठार की अन्य जातियों में भी इसी प्रकार के 'हलो' मिलते हैं। कतिपय पाठान्तर-भेदों के होते हुए भी भाषा, शैली और विषय प्रायः समान हैं।

गीत संग्रह के क्रम में बालक को डराने के उपकरण से युक्त 'हलो, नहीं मिले और न ही विशेष व्यक्तियों या संतों की छाप वाले हलो कहीं प्रचलित पाये गये। निमाड़ से मनरंग की छाप वाली एक आध्यात्मिक लौरी उपलब्ध हुई है, किन्तु उसका प्रयोग बालकों को सुलाने के लिये नहीं होता। उसका समावेश मृत्यु-गीतों में है, अतएव उसका यहाँ उल्लेख मात्र ही पर्याप्त है।

बड़े-बूढ़ों का कथन है कि मालवा के गाँवों में १९वीं शताब्दी-उत्तरार्द्ध में जो व्यवस्था हुई उसके परिणाम स्वरूप कुछ गीत बच गये। अन्यथा उसके पूर्व कुछ शताब्दियाँ निरन्तर अराजकतापूर्ण रहीं। अतः नये 'हलो' का विकास संभव नहीं हुआ। यही कारण है कि जो अवशिष्ट लोरी गीत मिल सके हैं स्थायी थाती के रूप में अभी भी मातृ-कंठों में बसे हैं।

'नाना का काकाजी देसावरिया
गड़ गुजरात—माँझल रात'

ये पंक्तियाँ उस अराजकता पूर्ण काल का स्मरण दिलाती हैं जबकि स्नेह संबंधी सेनाओं के साथ अन्य प्रान्तों में जाकर गड़ों पर हमला करते थे[2] और उन परिस्थितियों की कल्पना मात्र ही माता के हृदय को आलौड़ित कर दिया करती थी। रात की शून्यता भयावनी हो जाती तथा वह बालक को हृदय से लगाकर सुलाने का उपक्रम करती।

---

[1] मालवी लोक-गीत (अ० प्र०) संग्रह संख्या—१, गीत संख्या ८४।
[2] देखिये 'ए मेमायर ऑफ़ सेण्ट्रल इण्डिया'—जिल्द १, अध्याय—३,४,५,६।

'छलो'—'छलो' या 'छला' वयः प्राप्त बालकों, एवं युवकों द्वारा भिन्न-भिन्न अवसरों पर गाये जाते हैं। 'छलो बोलो रे' वय: प्राप्त बालकों द्वारा अथवा 'छूम छला रे......या' हाँ रे छला रे......'की टेक युवकों द्वारा प्रयुक्त होती है। युवक' अन्टया[1] खेलते समय 'छूम छला रे' गाते हैं। किन्तु बालक दशहरे के बाद कुवार सुदी एकादशी से पूर्णिमा तक 'छलो' गाते हैं। अपनी टेक विशेष के कारण बालकों के ये गीत 'छलो' ही कहलाते हैं। 'छलो' का मालवी अर्थ प्रियतम है जो संभवत: छैला का पर्याय प्रतीत होता है।

सन्ध्या को बाँस के टुकड़ों के सिरे पर सैकड़ों कौड़ियाँ बाँध, लड़कों के दल, अलग-अलग बालक के हाथ में कौड़ियों वाले बाँस थंमा, घर-घर जाकर 'छलो' गाते हैं। छलो का प्रतीक यह बाँस 'हिरनी' कहलाता है। ज्यों ही बाँस को जमीन पर ठोका जाता है कौड़ियाँ एक दूसरे से टकराकर ध्वनि करती हैं और तभी बालकों के सामूहिक स्वर 'छलो' आरंभ करते हैं। इसके उपलक्ष में प्रत्येक घर से उन्हें कुछ न कुछ सामग्री प्राप्त होती है जिसका वे पूर्णिमा के दिन गोठ करके उपभोग करते हैं।

'छलो' की टेक के अतिरिक्ति शेष पंक्तियाँ दोहा-छन्द में हैं। अधिकांश दोहे पिंगल की दृष्टि से शुद्ध पाये जाते हैं, किन्तु जहाँ कौतुक वृत्ति समाविष्ट है वहाँ पदों की तुक नहीं मिलती। गाने की लम्बी धुनों को साधने के लिये प्राय: 'रे' का प्रयोग दोहों के मध्य में मात्रा की वृद्धि करता है, किन्तु उसका लोप करने पर दोहे की गठन ठीक बैठती है।

मांज्यो कूंज्यो वाटको [रे] जिमें धर्‌यो कमल को फूल।
असा मोल्या से काम पड्यो [रे] कईं फल लागे नी फूल॥
छूम छला रे..........।
हाँ रे छला रे..........।[2]

युवकों के 'छलो' में अनुभूति की मार्मिक व्यंजना और शृंगार प्रसंगों का वर्णन मिलता है। गौरी के प्रियतम का झुर-झुर पिंजर होना[3], प्रिया की नथ को नाक की श्री हरने वाली बताते हुए उरोजों पर झूलते 'सेरक्या' [आभूषण] को भला कहना[4], अथवा खजूर की चूमली और फुन्दों वाली जल भरने की रस्सी लेकर पनघट जाती हुई पनिहारिन के तन्वंगी तन और कलाइयों के चूड़ों का वर्णन[5] युवकों के 'छलो' में उल्लेखनीय हैं। अप्रस्तुत

[1]लकुट-रास का एक प्रकार। [2]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं०—१ गीतसंख्या ४८। [3]वही, गीतसंख्या ४९। [4]वही, गीतसंख्या ५०। [5]वही, गीतसंख्या ५८।

प्रसंगों की दृष्टि से मोर, कबूतर, हिरनी, करेली, गाय जैसे शब्दों का प्रयोग प्रियतम, प्रेमी-प्रेमिका और स्त्री आदि के लिये किया गया है। उदाहरणार्थ—

(१) 'काओ हरनी तू क्यों दुबली, चाल म्हारा देस'।[१]

(२) 'कूआ माय करेली रे उका तीखा तीखा पान।'[२]

(३) 'कूआ माय कबूतर रे चुगौ पानी नी खाय'।[३]

कबूतर कहीं-कहीं विरहिनी प्रिया का भी प्रतीक है—

कूआ माय कबूतर रेवे नी चुगे नी खाय।
सूरत को प्यासो घणो देख देख फिर जाय॥[४]
छलो बोलो रे...

बालकों के 'छलो' में इनके ठीक विपरीत विषयों की व्यंजना उपलब्ध है। उनमें असामयिक एवं असंगत कल्पनाओं तथा स्थानीय पात्रों के परिहास चित्र उभरे हैं। कहीं छलो की ध्वनि निर्वाह के लिये 'छापाची की केड़ी और लापाजी की गाय'[५] है तो कहीं भैंस के सींग में बैठकर राम दरजी तीन टोपी सी रहा है,[६] कहीं मियाँ की दाढ़ी जल रही है और बीबी टाँग पछीट रही है,[७] कहीं रामभऊ [रामभऊ सन् १६०० के लगभग राजगढ़ नगर के रहीस थे] नकटी-बूची स्त्री ला रहे हैं[८] और कहीं मियाँ अपनी बीबी के सिर पर खाट रखवाकर. फटी गुदड़ी समेटते हुए महू के रास्ते जा रहे हैं।[९]

अतएव वय: प्राप्त बालकों के छलों में अनुभूति का अभाव और बाल सुलभ वृत्ति का आधिक्य है। कहीं-कहीं यह वृत्ति वीभत्स चित्रों की सृष्टि करती है, जहाँ हाथी के मूत्र से धोबी कपड़े धोता है,[१०] या शिशु सूपड़े जैसे कर्ण लेकर उत्पन्न होता है।[११] किन्तु आम के वृक्ष का चलना और गुजरात तक उसकी शाखाओं का प्रसरण होना तथा द्वारका में फल देना तो पूर्णतः असंगत तथ्य है।[१२] संक्षेप में, बालकों के 'छलो' की विशेषताएँ असंगत प्रसंगों और व्यक्ति चित्रों में तथा युवकों के 'छलो' की अप्रस्तुत-योजना एवं अनुभूति की व्यजंना में निहित है।

---

[१]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं०—१, गीत संख्या ६१ [२]वही, गीत संख्या ६५। [३]वही, गीत संख्या ६७। [४]वही, गीत संख्या ७५। [५]वही, गीत संख्या ५७। [६]वही, गीत संख्या ५४। [७]वही, गीत संख्या ६६। [८]वही, गीत संख्या ७४। [९]वही, गीत संख्या ७३। [१०]वही, गीत संख्या ५६। [११]वही, गीत संख्या—६३। [१२]वही, गीत संख्या ५५।

टेसू—मालवा के सीमावर्ती ग्रामों में जो बुन्देलखण्ड के समीप है, ठीक इन्हीं दिनों 'टेसू' गाये जाते है। 'टेसू' की यह परम्परा मालवा की अपनी नहीं है। ग्रामीण संस्कृति का प्रवाह अटूट है, अतः मालवा की ओर आने वाली जातियों के साथ 'टेसू' के बालगीत प्रवेश पा गये हैं। वही ठसक और झमक स्थानीय स्वाभावोक्तियों में घुल मिलकर टेसू में निखरी है—

> **हमारा टेसू यहीं अड़े**
> **खाने का [illegible] दही बड़े...**[1]

टेसू और झेंझी संबंधी किंवदन्ती का कार्य रूप इन गीतों में नहीं दीख पड़ता। प्रधानतः बालकों की विनोदवृत्ति इन गीतों का विषय है। डॉ० सत्येन्द्र ने ब्रज गीतों में इन पर विस्तार से विचार किया हैं।[2]

सल्ला : हिरनी—निमाड़ी 'सल्ला और हिरनी' के गीत छोटे बालक-बालिकाओं के मुँह से, सुने जाते हैं, किन्तु नर्मदा के ऊपरी भाग के मालवा में उनका कोई व्यवस्थित रूप नहीं पाया जाता। अतः सल्ला-हिरनी मालवा-पठार की वस्तु नहीं है। उसका स्थान नर्मदा उपत्यका के लोक-साहित्य में है। जहाँ तक हमारा अनुमान है 'सल्ला' 'छल्लो' का ही रूप है और 'हिरनी'[3] में 'सांझी', एवं गड़बड़्या की वृत्तियाँ गुम्फित हैं।

ऋतुओं के गीत—वर्षा के अवसर पर प्रायः मैदानों में छोटे बालक नाचते हुए गोल घूम-घूम कर 'पानी बाबो' गाते हैं। 'पानी बाबो'[4] के छोटे चरण और लय का विस्तार नृत्य के वृत्ताकार क्रम में गति प्रदान करने में सहायक होते हैं। वर्षा से ककड़ी और भुट्टे लाने का आग्रह इन गीतों में है। 'मेंडक माता'[5] इस प्रकार का दूसरा वर्षा गीत है जिसमें मेंडकी का आह्वान कर के वर्षा लाने का अनुरोध है। वर्षा के आरम्भिक दिनों में यह गाया जाता है। इसे लड़के और लड़कियाँ दोनों गाते हैं। उक्त दोनों प्रकार के ऋतुगीत निमाड़ में भी प्रचलित हैं। लड़कियाँ मेंडकी की एक टाँग सुतली से बाँधकर विनोद करते हुए गीत गाती है, इस आशय से कि उसका प्रिय मेंडक-मेंडकी की मुक्ति के लिये वर्षा की झड़ी तो लायेगा ही किन्तु जिससे कि मामा की सूखती हुई बाड़ी भी हरी हो जायगी। इन गीतों की संख्या बहुत सीमित है।

---

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० १, गीतसंख्या, ६५। [2]देखिए ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ३२७-३३। [3]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० १, गीतसंख्या ४७। [4]वही, गीतसंख्या ६६। [5]वही, गीतसंख्या ६७।

अन्य ऋतुओं में बालगीत नहीं गाये जाते, केवल बालिकाएँ अवश्य कुछ ऋतु गीत गाती हैं। मालवी बालगीतों के विषय सीमित हैं। निर्धारित रूढ़ उपकरणों की व्यंजना और कौतुक के साथ उनका मूल स्वभाव विनोद एवं परिहास मात्र है। उनमें सामूहिक चेतना एवं कहीं-कहीं अर्थहीनता का यद्यपि समावेश है किन्तु सानुप्रासिकता और असंबंद्धता में ही सम्बद्धता के सूत्र सर्वोपरि हैं।

साँझी (संजा)—'सांझी'[1] कुँवारी कन्याओं का एक अनुष्ठानिक व्रत है। राजस्थान, पंजाब और ब्रज में जिसका किंचित हेर-फेर के साथ वही रूप लक्षित होता है जो मालव जनपद में विद्यमान है। महाराष्ट्र में 'गुलबाई' और बुन्देलखंड में 'मामुलिया' का स्वरूप इसके अनुरूप है।

आश्विन मास की प्रतिपदा से कुँवारी कन्याएँ साँझी का व्रत आरंभ करती हैं जो सम्पूर्ण पितृपक्ष में पन्द्रह दिन तक चलता है। प्रतिदिन संध्या को घर के बाहर द्वार के किसी भी बाजू में थोड़ी ऊँचाई पर गोबर से भूमि लीपकर सूर्यास्त के पहिले आरती के हेतु साँझी तैयार कर ली जाती है। वर्षा के अंतिम दिन और शरद का प्रारंभ अपने संयोग से प्रकृति की रूप-श्री को सौगुना वृद्धि प्रदान कर 'साँझी' के शृंगार के लिये अपरमित उपकरण जुटा देते हैं। प्रति दिवस अपने व्रतकाल में साँझी की श्री (चित्रांकन के माध्यम से) कन्याओं के सुकोमल करों द्वारा सँवरती एवं गीत का क्षिप्रा जल पीती हुई, अंतिम दिवस तक अपने पूर्ण निखार पर पहुँचती है। कुवारी कन्याएँ अपने विवाहपर्यन्त इस व्रत का पालन करती हैं। विवाह के वर्ष बनाई हुई साँझी की आकृति पीहर में पूरे वर्ष तक सहेज कर भींत पर रखी जाती है। परणी कन्या गौने से लौटकर दूसरे वर्ष वही 'साँझी' पाड़ती (गिराती) है और कतिपय अनुष्ठानों के साथ उसे सदैव के लिये 'खमा' (विसर्जित करने की क्रिया) देती है।

'साँझी' के अध्ययन के अन्तर्गत उसकी आकृतियाँ और गीत ही सर्वस्व नहीं हैं, अपितु कन्याओं के इस अनुष्ठानिक व्रत की परम्परा में साँझी के ऐतिह्य व्यक्तित्व और उसकी करुण कहानी का आभास भी गुंफित है। अतएव साँझी के गीत पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत करने के पूर्व उसके इत्तर पक्षों की संक्षिप्त जानकारी अपेक्षित है।

---

[1]मालवा में साँझी को कहीं 'संजा' कहीं 'सांजा' और कहीं 'सांजुली' भी कहा जाता है। राजस्थान में यही सांझी 'संझ्या' है। ब्रज में 'साँझी' (सांजी) के पीहर का नाम बीरन बेटी है।

फलक – १
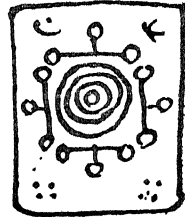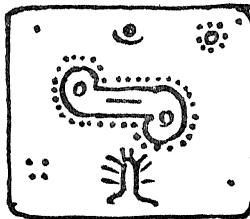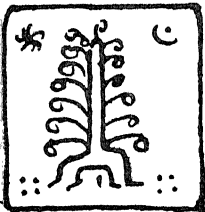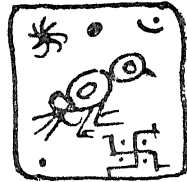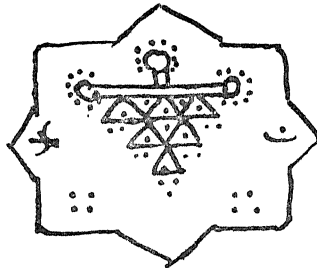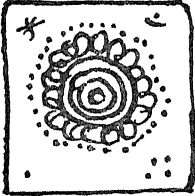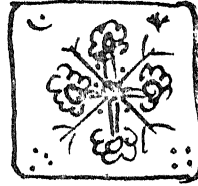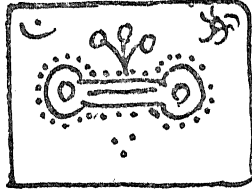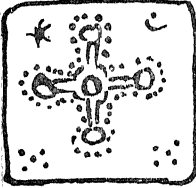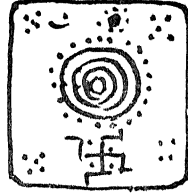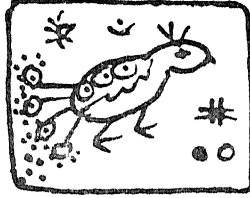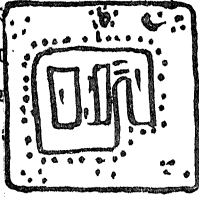
'सांझी' की विभिन्न आकृतियाँ

स्थूलतः 'साँझी' के चार पक्ष हैं :—

(क) आकृतिक (ख) अनुष्ठानिक
(ग) ऐतिह्य (घ) गीतात्मक

[क] **आकृतिक**—आकृतिक-पक्ष की दृष्टि से 'साँझी' दीवार के कुछ भाग को गोबर से लीपकर उस पर गोबर की ही रेखाओं द्वारा अंकित की जाने वाली आकृतियों को कहते हैं। गोबर की इन रेखाओं पर गुलाब-गुलतेवाड़ी, गुलबाँस कनेर और कटेल की पंखुड़ियों को चिपकाकर उन्हें सजाया जाता है जिससे आकृतियों में रंगों का सामंजस्य पैदा हो जाता है जिसे साँझी 'का खिल जाना कहते हैं। आश्विन मास के सम्पूर्ण पितृपक्ष में ये आकृतियाँ प्रतिदिन क्रमशः मिटाकर नई बनाई जातीं हैं। यह वह काल होता है जबकि प्रकृति पूर्ण रूप से प्रफुल्लित होती है। उसमें नमी और रंगीनी होती है। निसर्ग की इस संपत्ति का लाभ बालिकाएँ उठाती हैं और अपनी साँझी के शृंगारार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण एकत्र कर लेती है। इस प्रकार 'साँझी' के आकृतिगत् पक्ष के द्वारा कुंवारी कन्याओं को आवश्यक रूप से रेखांकन एवं रंग मिश्रण का ज्ञान उपलब्ध होता है। इस अन्तर्निहित अभिप्राय: के अतिरिक्त अप्रत्यक्षतः बालिकाओं के कुतूहल का समाधान उनके ही प्रयत्न में छुपा है। आपसी प्रति-स्पर्धा की प्रवृत्ति में अपनी-अपनी साँझी के शृंगार का प्रयत्न और भी उपयोगी सिद्ध होता है। इन्हीं आकृतियों के सन्मुख खड़ी होकर वे प्रतिदिन संध्या को 'साँझी' का गीतों द्वारा पूजन करती हैं, नैवेद्य लगाती है और उसे बाँटकर खाती हैं। सभी बालिकाएँ बारी-बारी से एक-दूसरे के घर पहुँचकर 'साँझी' पूजा में योग देती हैं।

मालवा में साँझी के प्रथम दिन भीत (दीवाल) के एक छोटे से भाग को गोबर से चौकोर लीपकर उन पर पाँच बिन्दियाँ (पाँचा-पाँचा) तथा चाँद-सूरज अंकित किये जाते हैं और ऊपर से उन पर फूल की पंखुड़ियाँ लगा दी जाती हैं। बिन्दियाँ और चाँद-सूरज अन्य दिनों की साँझी में स्थायी प्रतीक होते हैं। दूसरे दिन द्वितीय होने से निर्मित आकृति बिगाड़कर उसी पृष्ठ भूमि पर वही आकृति फिर से अंकित कर 'बीज' (बिजली) और 'पुनम पाटलो' (चौसर पाट) की आकृतियाँ रेखाँकित की जाती हैं। इन आकृतियों में क्रमशः 'छाबड़ी' (छबड़ी), 'बिजारो' (तिरछे चतुष्कोण की आकृति), 'गोर-बेसन्या' (गोबर के आभूषण), घेवर (एक मिठाई), कुँवारा-कुँवारी (श्राद्ध पक्ष का पाँचवा दिन कुँवार पंचमी होता है। उस दिन मृत कुंवारों का श्राद्ध दिवस होने के कारण 'साँझी' में 'कुँवारा-कुँवारी' अवश्य बनाये जाते हैं), चौपड़ (छठा दिन,

अंक निर्माण दिवस, जिस दिन भाग्य में अंक लिखे जाते हैं), 'सात्या' (स्वस्तिक) एवं सप्तऋषि (आकाश-मंडल के सात तारों के प्रतीक सप्तमी को गोबर की सात बिन्दियों द्वारा सप्तऋषि अंकित किये जाते हैं, अष्ट पंखुड़ी का पुष्प तथा नगारे की जोड़ (अष्ट-तीर्थ पूजन दिवस), डोकरा-डोकरी (नौमी वृद्ध तिथि), पंखा (दसवाँ दिन), केल का पेड़ (रूद्र-पूजा-दिवस), घुघरा, ऋद्धि-सिद्धि, खोड्य बामण (लँगड़ा ब्राह्मण) आदमी, गाड़ी, घट्टी (चक्की), जाड़ी-जसौदा (मोटी स्त्री से तात्पर्य), पतली, पेमा (दुबली स्त्री), बन्दनवार (मालवी घरों में छोटी-मोटी वस्तुएँ रखने के लिये थैलियों को जोड़कर भीत पर टाँगने के लिये रंगीनवस्त्रों की बन्दनवार बनाई जाती है); मीरा की गाड़ी, ढ़ोली, पहरेदार, जलेबी की जोड़, छड़ी आदि विभिन्न अकृतियाँ किलाकोट[1] में अंकित की जाती है। उस दिन' साँझी' को' किलाकोट' की भी संज्ञा दी जाती है। वैसे किलाकोट की रचना १२ वें दिन से आरंभ हो जाती है। तेरहवें दिवस सांझी की आकृतियों में 'खोड्या बामण' इसलिये बनाते हैं कि वह साँझी को जो कि अपना व्यक्तित्व रखती है, लिवाने-आता है। 'किलाकोट' का पूजन खीर-पूरी से किया जाता है क्योंकि वही पितृ-पक्ष और 'साँझी' का अंतिम दिन होता है। किलाकोट में अधिकतर बराबर की संपूर्ण विशेषताएँ अंकित की जाती हैं। विभिन्न पशु-पक्षी, स्नेहीं संबंधी आदि उसमें अंकित होते हैं। 'साँझी' बड़ी हो जाती है और 'खोड्या बामण' उसे लेने आ गया है, अतः वह १६वें दिन ठाट-बाट से ही श्वसुरालय जाती है। अंतिम दिन साँझी की बिदाई में गीत गाये जाते हैं और उसके बाद वह पूरे वर्ष के लिये व्याहता बनकर कुंवारी कन्याओं के दल से विदा हो जाती है। स्पष्ट है कि 'साँझी' का व्यक्तित्व और उसकी अपनी कथा रूपकवत कुंवारी कन्याओं में इस प्रकार अपना अस्तित्व धारण किये हैं।

राजस्थान में लिपे हुए स्थान में चार खूँटी गोहली देकर (गोबर से वर्ग बनाकर) उससे ऊपर'कापड़ा' (त्रिकोण) बनाया जाता है। इस वर्ग के अन्दर चारों कोणों पर और मध्य में पाँच चाँद्या अथवा गोल्या बानये जाते हैं और संझ्या (साँझी) का यह प्रथम चरण एक तारा कहलाता है। अन्य तिथियों की

---

[1]'किलाकोटी' को कहीं-कहीं 'कलाकोट' भी कहते हैं। वस्तुतः वह किला-कोट है, क्योंकि उक्त सभी वस्तुओं की उस दिन एक बड़े भाग में अंकित कर मोटी रेखाओं की सीमा में आवृत्त कर दिया जाता है और एक स्थान पर प्रवेश द्वार बनाकर रक्षक भी अंकित किये जाते हैं।

संझ्या क्रमशः दौज की 'पाँच पचरो' तीज की 'सूरज' चौथ की 'चान्द' पाँचे की बान्दरवाल' छट्टे की 'केल' (कदली-खम्ब), साते की पंखा, आठें की चौपड़, नामी के 'पाँच सात्या' दस्से का 'मौर' ग्यारस की छाबड़ी (डलिया), बारस की 'बीजनी' तेरस की 'जनेऊ' और चौदस को संझ्या बाई की बरात का चित्रण आरंभ होकर अमावस्या को पूर्ण होता है। प्रथम दिवस की गोहली चारों खूटों के चर चान्द्या और कापड़ा निरन्तर पन्द्रह दिनों तक प्रत्येक चित्र में बनाये जाते हैं।[1]

ब्रज में इससे भिन्न क्रम है और आकृतियों के नाम भी भिन्न हैं। मालवा राजस्थान और ब्रज की आकृतियों का संज्ञानुकूल साम्य एवं भिन्नता का स्पष्टीकरण निम्न रूप में द्रष्टव्य है :—

पितृ-पक्ष की तिथियाँ	मालवा	राजस्थान	ब्रज
१	पाँचा-पाँच, चाँद-सूरज	कापड़ा (त्रकोण) तथा पाँच चाँद्या	बीरन बेटी (अकेली सांजी) तिवारी,
२	'जीब' और 'पूनम पाटलो'	पाँच-पचरो	दो चौबारे
३	'छावड़ी' (डलिया)	सूरज	तीन चौबारे
४	'बिजारों गोर बेसन्या'	चाँद	चार चौबारे
५	'घेवर' कुँवारा-कुँवारी	'बाँदरवाल'	पान-सुपारी, पंखा
६	चौपड़	केल	छबरिया, (मिठाई की डलिया)
७	'सात्या' और सप्तऋषि	पंखा	स्वस्तिक (मंगल-संकेत)
८	आठ पंखुड़ी का फूल तथा नगारे की जोड़	चौपड़	अष्टा छंगा या-चौपड़
९	'डोकरा-डोकरी'	'पाँच सात्या'	नाव और नारियल

[1]देखिये, लोककला, भाग १, अंक-१, पृष्ठ २८।

पितृ-पक्ष की तिथियाँ	मालवा	राजस्थान	ब्रज
१०	पंखा	मोर	खजूर, काना कौवा और लंगड़ा ब्राह्मण
११	केल का पेड़	छबड़ी	
१२	'घुघरा' और ऋद्धि-सिद्धि	'बीजनी'	
१३	'खोड्या-बामण'	जनेऊ	
१४	आदमी, गाड़ी, घट्टी, जाड़ी-जसोदा जलेबी की जोड़, छड़ी, बन्दनवार	संझया की बरात	
१५	'किलाकोट'	किलाकोट की तैयारी	

उक्त सारणी से प्रगट है कि साँझी के आकृति के पक्ष में प्रयुक्त होने वाली अधिकांश वस्तुएँ जो प्रतीकवत अंकित की जाती हैं, राजस्थान, मालवा और ब्रज में समान हैं। उनके स्वरूपों से यह भी प्रगट है कि वे अपने में किसी निश्चित रूपक को सहेजे है। साँझी का व्यक्तित्व इस आकृतिक पक्ष से कलामय प्रतीत होता है। वह क्रमश: सोलह दिन में पूर्ण यौवना बनकर ससुराल के लिये बिदा होती है। उसे लिवाने के लिये खोड्या ब्राह्मण (ब्रज में लँगड़ा ब्राह्मण) आता है। वह चौबारे में पति की प्रतिक्षा करती है। चौपड़, पान सुपारी, घेवर, फूल, आदि उसके आराम के लिये प्रसाधन हैं। सुहागन के चिह्नों से वह भूषित की जाती है। केवल ब्रज में 'साँजा' का संकेत अधिक मिलता है जो राजस्थान और मालवा में नहीं हैं (इस विषय में गीतात्मक पक्ष के अन्तर्गत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है)। ब्रज और मालवा में एकादशी से ही साँझी के प्रियतम से मिलने का योग आरंभ हो जाता है। इसलिये पहिला कोट १२ वें दिन से बनाया जाना आरंभ हो जाता है। 'किलाकोट' की रचना मध्यकालीन राजपूत-सभ्यता की द्योतक है। उसके मध्य से 'मीरा की गाड़ी', जाड़ी जसोदा, 'पतली पेमा', पहरेदार आदि वस्तुएँ साँझी के समृद्ध पक्ष की ही सूचक हैं।

साँझी की आकृतियों को प्रतीकात्मक मानकर जिन भावों को व्यक्त करने का उपक्रम किया जाता है, वह निश्चय ही छोटी बालिकाओं की बुद्धि से परे

की वस्तु है पर उन्हें प्रारंभिक वर्षों में माँ-बहनों और दादियों द्वारा सांझी-अंकन की जो शिक्षा प्राप्त होती है, वह परम्परा निर्माण करती है और क्रमशः न समझते हुए कुंवारी कन्याएँ उन रूपकों का आकृति-पक्ष में प्रयोग करती है, और जहाँ तक संभव होता है उनमें अपनी कुशलता का प्रदर्शन करने से भी नहीं चूकती हैं।

इस विषय के अन्त में मालव जनपद की साँझी की विभिन्न आकृतियाँ कुछ स्थानों से लेखक द्वारा रेखांकित कर प्रस्तुत की गई है (फलक संख्या १)। यद्यपि उनमें कन्याओं ने परम्परा के निर्वाह का यथासंभव प्रयत्न किया है तथापि बालवृत्ति के अनुसार बिखराव भी आ गया है। कभी-कभी प्रतीक अस्पष्ट होते हैं। किन्तु उनकी अस्पष्टता भी अपनी संज्ञा लिये होती है। दिवस के क्रम से बनाई जाने वाली वस्तुओं का स्पष्ट अंकन फलक संख्या २ में देखिये।

प्रारंभ में बताया गया है कि मालव कन्याओं का यह व्रत सम्पूर्ण पितृ-पक्ष में चलता है। प्रत्येक दिन निश्चय ही कन्याओं के लिये एक वर्ष की महत्ता रखता है। ठीक सोलहवें दिन जबकि नया चांद मंथर गति से आकर आकाश के प्रागंण से उदित होता है तक "साँझी" सोलहवें वर्ष में प्रवेश कर अपने नये जीवन के आरंभ के लिये बिदाई प्राप्त करती है। निमित मात्र की यह सांझी महज कल्पना नहीं प्रतीत होती। बताया जाता है कि सांझी की आकृति में एक प्रकार का क्रम गत विकास गुंफित है—पर वह अब स्पष्ट लक्षित नहीं होता। संभवतः उसका निश्चित स्वरूप काल के थपेड़ों में विनष्ट हो गया है।

मालवा में कुछ ऐसी भी आकृतियाँ अंकित की जाती हैं जिनके पीछे निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति है। कई स्वस्तिकों को मिलाकर एक बड़ी-आकृति अंकित करने के लिये महाराष्ट्र की राँगोली-शैली प्रचलित है। छः-छः बिन्दियों को आड़ी और तिरछी छः रेखाओं में चौकोर अंकित कर ३६-बिन्दियाँ बनाने के बाद उन्हें रेखाओं द्वारा जोड़ने पर "सात्या की भाँति (स्वस्तिकों की आकृति) बन जाती है।

ऐसे ही चतुष्कोणात्मक बिन्दियों पर 'बिल पत्र की जोड़' 'फूल की जोड़' आदि आकृतियाँ आधारित हैं। ये आकृतियाँ महाराष्ट्रीय कुटुम्बों द्वारा मालवा में मध्यवर्गीय समाज से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलःस्वरूप ही प्रचलित हुई हैं। यद्यपि इनका अंकन 'साँझी' के अन्तर्गत होता है तथापि ये न तो परम्परागत आकृतियाँ हैं और न ही ग्रामीण शैली की सूचक। इनका प्रवेश बाद की वस्तु है। ग्रामीण परिवारों में 'साँझी' की निर्धारित शैली स्पष्ट

लक्षित होती है, फिर अध्ययन करने पर एक ही ग्राम की 'साँझी' में समानता के अतिरिक्त भी थोड़ी-बहुत भिन्नता दिखाई पड़ती है। बालिकाएँ किसी एक ही आकृति को अपने-अपने ढंग से परिवर्तित कर देती हैं। (फलक संख्या ३) की आकृतियाँ एक ही मोहल्ले की हैं जिनमें मनुष्य और सूर्य का अंकन प्रायः समान है। शेष आकृतियों के स्वरूप में असमानता है।

'साँझी' की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न जातियों के संस्कारों और भावनाओं से प्रभावित होती हैं। वे बालिकाओं के मानसिक विकास और स्तर को प्रगट करती हुई प्रागैतिहासिक मानव के पश्चात् विकसित कृषि सभ्यता के संकेतों और प्रतीक चिह्नों से अपना संबन्ध भी स्थापित करती हैं। आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक मानव द्वारा अंकित चित्र स्पेन और फ्रान्स की कुछ गुफाओं (देखिये अल्टामीरा गुफा के चित्र) में मिले हैं। वर्तमान युग के ग्रामों में मांडने बनाने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है संभवतः वही वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक असंस्कृत रूप में उस समय भी विद्यमान रही होगी। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक चित्रांकण और वर्तमान ग्रामीण आकृति-आलेखन में तात्विक दृष्टि से भारी साम्य है। 'साँझी' की आकृतियों में उस प्रवृत्ति का बाल-स्वरूप समाहित है। कौशल से अनभिज्ञ हाथों द्वारा अँगुलियों को इच्छित निर्माण के लिये स्वाभाविक परिचालन ही इन आकृतियों को जन्म देता है। प्रागैतिहासिक गुफाओं के प्रतीकों का अर्थ लगाने का प्रयत्न इन दिनों किया जा रहा है। जबकि 'साँझी' की आकृतियों के प्रतीक स्पष्ट हैं। ग्राट फ्रिड सेम्पर ने 'ज्योमितिक कला' (ज्यामेट्रिक आर्ट) का जो सिद्धान्त चित्रकला-जगत में प्रचलित किया है उसके आधार पर 'साँझी' की कुछ आकृतियों में अंकित मानव पशु की आकृतियाँ ध्यान देने योग्य हैं (फलक संख्या ४) बुशमेन के चित्रों की समानता भी साँझी में लक्षित होती है। मध्य एशिया और दक्षिण अफ्रिका के पवित्र प्रस्तर खण्डों (सेक्रेड स्टोन स्लैब) पर जो चिह्न मिले हैं वैसे ही मालवा में प्रायः सभी स्थानों की 'साँझी' में दृष्टिगत होते हैं। फलक संख्या ५ में ऐसे दो चिह्न दिये जा रहे हैं।

यदि सिद्धान्तों के फेर में न पड़ा जाय तो यह स्पष्ट है कि अंकन की प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है। अन्धविश्वास, प्रथाएँ और धार्मिक रीतियों के निमित्त चित्रांकण की वृत्ति को रूप प्राप्त हुआ है और कुछ आकृतियाँ अनुष्ठानिक हो गई हैं।

साँझी की आकृतियों से यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि कुँवारी बालिकाएँ अपने दैनिक जीवन में उपयोगी वस्तुओं का ही अंकन करती हैं। वस्तुओं में 'परस्पैक्टिव' का अभाव है फिर भी वस्तुओं का अधिक से अधिक

फलक—३
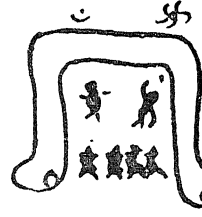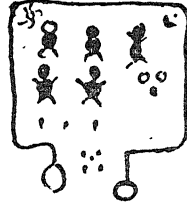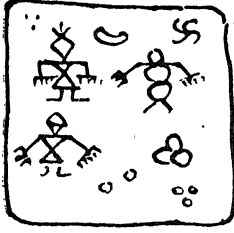
एक ही ग्राम की विभिन्न आकृतियाँ

फलक—४
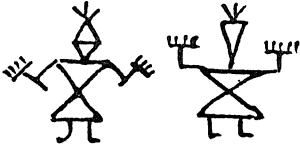
ज्यामितिक आकृतियाँ

फलक—५
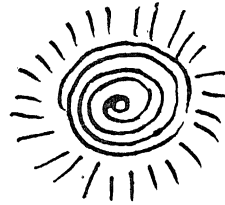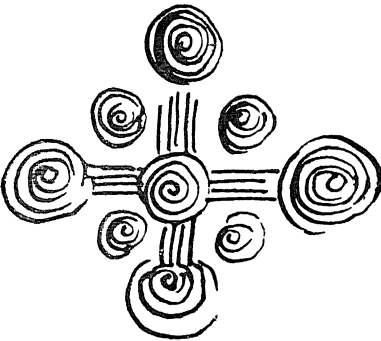
सरलतम रूप प्रतीकवत होकर परम्परा की श्रेणी में आ गया है। बालिकाओं की बिखरी मनोवृत्ति और असम्बद्ध कल्पनाएँ इन आकृतियों में लक्षित होती हैं। एक बात प्राय: जो पन्द्रह दिनों की साँझी में पाई जाती है—वह है चाँद सूरज का अंकन। सूरज तो साँझी के भाई हैं[1] और चाँद से तो उसे निसर्गगत लगाव है।[2]

'साँझी की आकृतियों का प्रमाण निश्चित नहीं है। कहीं कोई साँझी १′ × १′ फुट में होती है तो कहीं ४′ × ४′। यह भी नहीं कि वह चतुष्कोण में ही बनाई जावे, वह अठ पहलु और त्रिकोण में भी बनाई जाती है। स्थान की सुविधानुसार उसका प्रमाण घट-बड़ जाता है।

(ख) **अनुष्ठानिक**—साँझी का अनुष्ठानिक पक्ष बालिकाओं के भावी जीवन की सोभाग्य कामना से सम्बन्धित है। 'साँझी' जैसा कि एक आदर्श व्यक्तित्व है (उसमें देवी की भावना निहित है) तथा जिसकी जीवन कथा एक रूपक है, इसलिये निश्चय ही उसके प्रति बालिकाओं की आस्था भावी मंगल की कामनार्थ है। 'साँझी का पूजन मालवा में प्रत्येक कुँवारी कन्या के लिये अपेक्षित है। कुछ समझने योग्य वय प्राप्त होते ही घर की बड़ी बहनें, माता या दादी उसे 'साँझी' बनाने के उपक्रम में सहायता करती हैं। अन्य बालिकाओं के सम्पर्क से उसे इस कार्य में आनन्द आने लगता है। वह गीत सीखती है और क्रमश: 'साँझी' के प्रति उसमें श्रद्धा का विकास उत्पन्न होता है। प्रतिदिन 'साँझी' को सजाकर संध्या के समय अपनी कुछ सहेलियों के साथ वह आरती उतारती है। 'साँझी' की शोभा मनोहारी होती है। आरती उतार लेने के पश्चात शोभित या खीली हुई साँझी में से एक तारा या फूल (एक बिन्दिया) निकाल लिये जाने का प्रचार है। इससे साँझी की शोभा हृत हो जाती है और 'साँझी' के उदास होने का अर्थ लिया जाता है। फूल उड़ाने की क्रिया के पूर्व बालिकाएँ निम्न-लिखित भूमिका स्वरूप गाती हैं :—

संजा जीमले हो
चूठले हो

---

[1]'छोटा सा सूरज नाराण बीरा,
ले घोड़ी उड़ाव रियाजी'—मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृष्ठ संख्या ६१।
सूरज नाराण बीरी बाग लगावे,
सन्ज्या बेन्या सीचेंजी'—वही, पृष्ठ ७०। [2]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या—१, गीत संख्या ११।

चोरेला चिराथ ले
चीरा ऊपर मोर नाचै
मोर नाचे मोर नाचे
डेढ घड़ी ए रात
चमक चांदनी सी रात
फूँला भरी रे परात
एक फूल गिरी ग्यौ
म्हारी संजा बई उदास[1]

भावार्थ है—

'संजा, तू भोजन कर ले। तू 'चीरा' (पहने के सुन्दर वस्त्र) ऐसे सुन्दर बनाऊँ की उन पर मोर नाचने लगे। यह चमकती हुई चान्दनी रात है। डेढ़ घड़ी रात अभी शेष है, फूलों से भरी हुई परात रखी है। उसमें से एक फूल गिर गया इसलिये संजा उदास हो गई।'

दूसरे दिन नई साँजी बनाने के पूर्व प्रथम दिन की साँझी गिराकर उसका गोबर आदि अलग स्थान में सुरक्षिग रखा जाता है। अंतिम दिन जब साँझी का विसर्जन होता है तब पिछले सभी दिनों का एकत्रित गोबर एवं सजावट की अन्य सामग्री किसी जलाशय में गिरा दी जाती है। साँझी-विसर्जन का आयोजन उदासी से भरा होता है, फिर भी बालिकाएँ अपने झुँड बनाकर जलाशयों की ओर गमन करती हैं।

साँझी का विसर्जन करने के पश्चात् बालिकाएँ लौटते समय मार्ग से दस काँकरी (कंकड़) बीन कर लाती हैं और गोबर की गोहली देकर उनका कुंकुम-अक्षत से नवरात्रि में पूजन करती हैं। विवाह्न हो जाने के पश्चात् नव विवाहिता को 'साँझी' उजवाना (सम्पन्न करना) आवश्यक है। वह सोल छोटे-छोटे 'छबल्यों' में लौंग, सुपारी, कुंकुम, नाड़ा, हल्दी, एक-एक पैसा, हरे पत्ते के दोने, गेहूँ और अन्य सुहाग-सामग्री रखकर अपनी १६ कुंवारी सहेलियों को मंगल-कामनार्थ उनके घर जाकर, उन्हें बिन्दिया लगाकर प्रदान करती है। 'साँझी' खमा देने के बाद केवल 'मीरा की गाड़ी' नामक आकृति चमकीली पन्नी लगाकर वर्ष भर के लिये सुरक्षित रखी जाती हे। राजस्थान में भी विवाहिता बालिकाएँ इसी प्रकार का आयोजन करती हैं। वे दसमी के दिन ढोली को खल्ला देती हैं। खल्ले में बीस पुष्प, केशरिया कपड़ा, दो टका, चार आने अथवा एक रुपया, नौ दोने (प्रत्येक में दस-दस कौड़ियाँ अथवा एक-एक

[1] मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६४।

पैसा रखा जाता है) और दस-दस पुए होते हैं। इस समय डूमड़ा (ढोली) की एक कथा भी कही जाती है।[1]

उक्त अनुष्ठान की दृष्टि से साँझी का पक्ष जटिल नहीं है। इसका विस्तार किसी भी भाँति संभव नहीं। आरती के गीतों का गाया जाना पूजन के नाते आवश्यक है। विशेष परिस्थितियों में भी कम से कम पाँच गीत गाये जाने अपेक्षित हैं। अतः गीतों से अनुष्ठान की महत्ता संबन्धित है।

(ग) ऐतिह्य—'साँझी' के ऐतिह्य मूल्यों का निर्धारण प्रमाणों के अभाव में यथातथ्य खरा नहीं उतरता। 'साँझी', 'संजा', 'सांजी' 'संझ्या जैसे कि भिन्न-भिन्न नामों से स्पष्ट है। अपने शुद्ध रूप में संध्या शब्द का द्योतक है। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान पूर्ण प्रश्नमय है कि 'क्या साँझी का ब्रह्मा की कन्या 'संध्या' से किसी तरह का संबंध तो नहीं है?[2] कलिकापुराण (विक्रम की दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी) के अनुसार संध्या द्वारा ब्रह्मा से समागम के परिणाम स्वरूप ४० भाव और ६६ कलाएँ उत्पन्न हुई।[3] किन्तु भाव एवं कला की उत्पत्ति मात्र से एवं नाम साम्य के कारण यह अनुमान भ्रान्त होगा। अतः साँझी की संध्या से किसी तरह का संबंध प्रतीत नहीं होता। साँझी कौन थी? यह प्रश्न लोकवार्ता के अन्वेषकों के मन में आवश्यक रूप से उठना ही चाहिये। 'साँझी' के सन्मुख गाये जाने वाले कुछ गीतों से उसके ऐतिह्य-पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। एक गीत है :—

जीरो लो बई जीरो लो
जीरो लइने संजा के दो
संजा का पीयर सांगा सोल
परण पधार्या गढ़ अजमेर
राणाजी की चाकरी कल्याणजी की देस
छोड़ा म्हारी चाकरी पधारो म्हारा देस[4]

---

[1]लोककला (भाग १, अंक १, पृष्ठ २८-२६। [2]लेखक को प्राप्त एक नोट के आधार पर।

[3]उदीरितोन्द्रियो धाता वीक्षांचक्रे यदाथ् ताम्।
तदैव ह्यूनपन्चाशद् भावा जाताः शरीरतः॥
विब्बोका द्यास्तथा हावाश्चतुः षष्टिकलास्तथा।
कन्दर्पशर विध्दायाः सन्ध्याया अभवान्द्विजा :॥
—कलिकापुराण, २,२८-२६

[4]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० १, गीतसंख्या १३।

यही गीत अपने साधारण पाठान्तर के साथ राजस्थान में भी प्रचलित है। उसकी प्रथम चार पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

रखड़ी लो री रखड़ी लो
रखड़ी ले र म्हाँका संझ्याबाई ने दो
संझ्याबाई को सासरियो गुड़ अजमेर
परण पधार्‌या साँगानेर[१]

मालवा में उक्त गीत का एक दूसरा पाठान्तर भी द्रष्टव्य है। प्रथम दो पंक्तियों में माला लेने का उल्लेख है और अंतिम तीन पंक्तियों की पदावली इस प्रकार है :—

पदम पधार्‌या धड़ियक में
श्याम (राम) त्हारीं चाकरी कल्यान त्हारो देस[२]
छोड़ो म्हारी चाकरी पधारो त्हाँका देस।[३]

उक्त सभी पंक्तियों से यही निष्कर्ष निकलता है कि साँझी (संजा) का पीहर सांगानेर नामक स्थान में है और उसका विवाह अजमेर में हुआ है। साँगानेर कल्याणजी का देश है जहाँ राणाजी की चाकरी (सेवा) होती है। इसीलिये विवाह के बाद कल्याणजी उसे अपनी सेवा से मुक्त कर सुसराल जाने का आग्रह करते हैं।

अन्य गीतों में प्रयुक्त उपकरण और प्रवृत्तियाँ मध्यकालीन सामन्ती वातावरण की पोषक हैं। बाल-सुलभ चेष्टाओं द्वारा अन्य असंगत बातों को छोड़कर उन गीतों में देखें तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि साँझी की सास उसे कष्ट दिया करती हैं।[४] यद्यपि वह बड़े बाप की बेटी थी। लाड़-प्यार से उनका पालन हुआ, किन्तु विवाह के पश्चात् श्वसुरालय में वह सुख नहीं पा सकी।

'साँझी' के अंतिम दिन बनाये जाने वाले 'किलाकोट' (ब्रज में नरवर कोट) में राजपूत संस्कृति का पूरा प्रभाव है। मध्यकाल में किलाकोट के भीतर ही संपूर्ण नगर बसा होता था, इसलिये जो किलाकोट बनाये जाते हैं उनके पूर्ण प्रबन्ध का संकेत आकृतियों में होता है। किलाकोट में 'मीरा की गाड़ी' बनाना आवश्यक समझा जाता है। इससे जिज्ञासा होती है कि कहीं साँझी व्रत का संबंध मीरा के द्वाराका गमन से तो नहीं है।[५] ब्रज में १६ कोटों

---

[१]लोककला, भाग १, अंक १, पृष्ठ २६। [२]पाठान्तर—'राम त्हारी चाकरी, गुलाम त्हारो देस।' [३]मा० लो० (अ० प्र०), सं० सं० १, गीतसंख्या १३ (पाठान्तर सहित)। [४]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६६। [५]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० १, गीत संख्या ३।

फलक—२
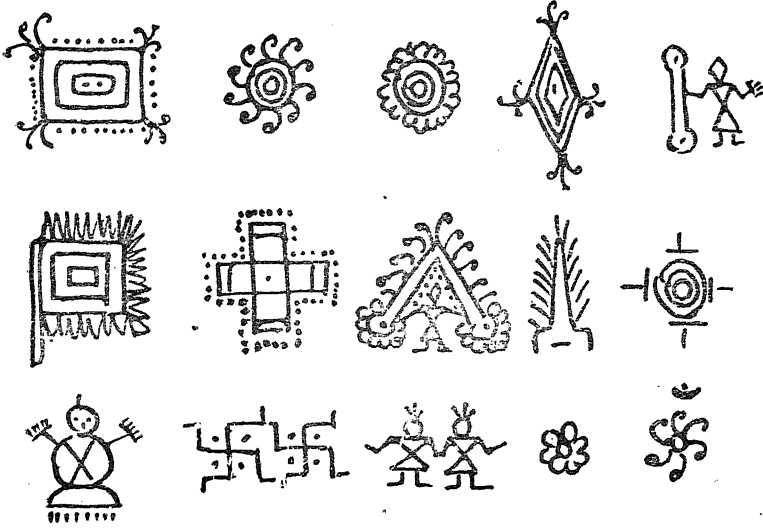
१ 'पुनम पाटलो' २ 'छाबड़ी' ३ 'घेवर' ४ 'बिजोरा' ५ 'घुघरा' ६ 'पंखा' ७ 'चौपड़', ८ 'नगरे की जोड़', ६ केल, १० 'गोर बेस्ना' ११ 'जाड़ी जसोदा' १२ 'सात्या की जोड़' १३ 'कुंवारा-कुंवारी' १४ 'आठ पखुड़ी का फूल' १५ चाँद, १६ सूरज ।

का पूजन नवविवाहिता के लिये अनिवार्य है। सोलह की यह संख्या बालिका के पूर्णत्व की द्योतक प्रतीत होती है।

गीतों के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि साँझी का बालिका रूप धीरे-धीरे वय प्राप्त करता है और वह प्रोषितपतिका होकर पति के लिये चौबारे में शृङ्गार करके प्रतीक्षा करती है। अधिक विलम्ब होते देख वह व्याकुल हो खजूर पर चढ़कर पंथ निहारती है। शकुन के लिये काने कौवे को भी उड़ाती है। खोड्या ब्राह्मण (ब्रज में लंगड़ा ब्राह्मण) उसे लिवाने के लिये आता है जो एक गीत के अनुसार साँझी के लिये 'भम्भर', 'टीका' और माला लेकर आता है। किन्तु अपने हुक्के की तम्बाकू के लिये माला बेंच देता है और आकर यही कहता है कि वह माला भूल आया।[१]

गीतों से यह भी अनुमानित होता है कि 'साँझी' का विवाह बचपन में हो गया था। इसलिये उसकी माता उसे पर्याप्त अनुशासन में रखती है और विलम्ब से घर लौटने पर उसे धमकाती है। समझदार बालिकाएं साँझी को 'हिरनी' (मृगशिरा नक्षत्र) उगते के पूर्व उसके बड़े-बड़े दाँतों की कल्पना से डराती हैं और कहती हैं कि तुम अब घर लौट जावो।[२]

ब्रज के एक गीत में सजलदे नामक स्त्री सांजा की पत्नी कही गई है। ब्रज की सांजी में साँझी के साथ सांजा भी पूजित है। उसकी आकृति एकादशी के बाद साँझी के साथ बनाई जाती है और दोनों ही नरवर कोट में सजाकर बैठाये जाते हैं। साँझी के गीतों से उसके गीत भिन्न हैं, अतः ब्रज के गीतों के माध्यम से साँझी का दूसरा नाम सजलदे और पति का नाम साँझा ज्ञात होता है।[३] सजलदे नाम राजस्थानी आमलदे, रूपादे, वीरमदे, मालदे आदि नामों की अनुरूपता लिये है, जिससे साँझी का राजस्थानी से मूल संबंध प्रमाणित होता है। यों ब्रज की साँझी के अन्य गीतों में साँझी का भाई भी बताया गया है—

सांजी के औरे धौरे हरी है चौराई
मो तोय पूछूं सांझी के तेरे भाई
नौ दसों का अंजन-मंजन सांजा मेरो भाई[४]

संभवतः भाई और पति दो भिन्न व्यक्तित्व होते हुए भी एक ही नाम के हों।[५] मालवी गीतों में साँझी के भाई का नाम सूरजनारायण है[६]

---

[१]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६७। [२]वही, पृष्ठ ६३। [३]ब्रज-भारती, ब्रज की लोक-देवी साँझी, फाल्गुन, २०११, पृष्ठ ५०। [४]वही, पृष्ठ ५०। [५]वही, पृष्ठ ५०। [६]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६८।

जो वय में छोटा है पर घोड़ी तेज दौड़ाता है।[1] वह अपनी बहिन से बहुत स्नेह करता है। साँझी के बिना उसका बगीचा सूखने लगता है। अतः वह उसे ससुराल से लिवा लाता है। गाँव की सीमा (गोयरे) पर बहन के आते ही उसका बाग लहराने लगता है।[2] साँझी भी अपने भाई से स्नेह करती है। उसे वह अपनी वेणी का हीरा समझती है।[3] वह कद में लम्बा और दही जमाने में चतुर है।[4] ब्रज का सांजा लाल फेटा बाँधता है और ऊँची अटारी पर शयन करता है।[5] मालवी गीतों में साँझी के पति का कोई अता-पता नहीं मिलता। केवल एक गीत में संजुलाल नाम आता है।[6] सांजी ब्रज में कहाँ से आई, इसके लिये गीतों का आधार अपर्याप्त है। ब्रज-गीत की एक पंक्ति है—

सांझी मैना बाजारों में डोले
मैना की चाल चाले, गुजराती बोली बोले[7]

गुजराती बोलने के इस प्रमाण मात्र से उसका संबंध गुजरात से नहीं हो सकता। इसलिये गीतों की भाषा, प्रवृत्ति और उपकरणों के साम्य से जो सर्वमान्य अनुमान लगाये जा सकते हैं, वे संक्षेप में यही हैं कि 'साँझी, मालवा, ब्रज, राजस्थान आदि में घुमन्तु जातियों के आवागमन द्वारा प्रचलित हुई और जिसका मूल उद्गम अधिक संभव है, अजमेर-सांगानेर से ही हुआ हो। यही लोकधारणाओं पर आधारित उसका ऐतिह्य-पक्ष है।

अब 'साँझी' के प्रचलित होने के कारणों पर विचार किया जाये। प्रथम एवं मूल प्रश्न यही है कि साँझी का पितृ-पक्ष से क्या संबंध है? साँझी के विवाह का प्रसंग, उसकी सौभाग्य-श्री एवं ससुराल-पक्ष का उल्लेख सुन्दर जीवन का द्योतक है, किन्तु उसके बाद श्राद्ध-पक्ष में बनाये जाने की परम्परा क्या अर्थ रखती है? आकृति का बनाया जाना यद्यपि प्रतीक पूजा के नाते मान्य भी हो तो नव-विवाहित अपने विवाह के प्रथम वर्ष के बाद उसे क्यों नहीं बनाती? श्री जोगेन्द्रसहाय सक्सेना का अनुमान है कि इसका संबंध अनिष्ट से मालूम होता है और वह अनिष्ट साँझी के विवाह होने के एक वर्ष के भीतर ही घटित हुआ हो।[8] किन्तु सुहाग के अन्य उपकरण, गीतों में मुखरित कल्याणकामना, समृद्ध परिवार के सदस्यों के सजीव-चित्र, भाई-

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६१। [2]वही, पृष्ठ ७०। [3]वही, (अ० प्र०), सं० सं० १, गीतसंख्या ४। [4]वही, गीतसंख्या १५। [5]ब्रजभारती, फाल्गुन, २०११, पृष्ठ ५०-५१। [6]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० १, गीतसंख्या २२। [7]ब्रजभारती, फाल्गुन, २०११, पृष्ठ ५०-५१ [8]लोककला, फाग १, अंक १, पृष्ठ ३१।

भावज, ननद, देवर-देवरानी, माता-पिता, ब्राह्मण और अन्त में साँझी का ससुराल की ओर ठाट-बाट में गमन मंगलसूचक है। 'साँझी' अपने समय की आदर्श कन्या रही होगी। अपने पिता और माता की लाड़ली होने के कारण उसके ससुराल चले जाने के बाद संभवत: माता-पिता ने अपनी राज्य-सीमा में साँझी की स्मृति में कुँवारी कन्याओं का कोई त्यौहार आरंभ किया हो जिसने आगे चल कर आनुष्ठानिक महत्त्व प्राप्त कर लिया हो। श्राद्ध-पक्ष से साँझी का यही संबंध हो सकता है कि उस काल में साँझी का विवाह हुआ हो। राजस्थान में कुछ शताब्दियों पूर्व बाल-विवाह का प्रचार था। अतएव साँजी का विवाह बचपन में हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। उसके ससुराल जाने का वर्णन एक गीत में इस प्रकार है—

नानी सी गाड़ी रड़कती जाय
जी में बैठा संजा बई
घाघरियो घमकाता जाय
चूड़लो चमकाता जाय
बई की नथनी झोला खाय[1]

राजस्थानी पाठान्तर है :—

गुड़ गुड़ गुढ़ल्यो गुड़तो जाय
जी में म्हाँका संझ्या बई बेठ्या जाय
घाघरो धमकाता जाय
लुगड़ो चमकाता जाय
टोंकलो भड़काता जाय
चूड़लो चमकाता जाय[2]

वर्णन से उसके अल्पवय का अनुमान लगाया जा सकता है।

साँझी का ऐतिह्य-पक्ष ठोस प्रमाणों के अभाव में केवल लोकगीतों पर आधारित मात्र है। इतना स्पष्ट है कि इसमें बालिकाओं के भावी जीवन के लिये मंगलकामना का संदेश है, साँझी इसीलिये सौभाग्य का आदर्श प्रतीक ही नहीं, उनके लिये सजीव व्यक्तित्व सदृश्य है।

(घ) साँझी के गीत, किंचित् पाठान्तरों के साथ लगभग ५० होंगे। प्रस्तुत-विश्लेषण का आधार ३० प्रमुख गीत हैं जिन्हें मध्यवर्ती मालवा से सन् १९५२-५३ में संकलित किया गया है। यद्यपि सभी गीतों में बाल-सुलभ वृत्ति का प्राधान्य

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६६। [2]लोककला (भाग १), अंक-१, पृष्ठ ३०।

है तथापि विषय की दृष्टि से उन्हें निम्न-वर्गों में विभाजित करना उपयुक्त प्रतीत होता है—

१—आरती के गीत

२—साँझी की आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के गीत

३—परिचयात्मक गीत

(क) पीहर-पक्ष और ससुराल-पक्ष के परिचायक गीत।

(ख) साँझी के रूपवर्णन एवं बिदा के गीत

४—अन्य गीत।

(१) साँझी के पूजा के लिये एक थाली में कुंकुम, अक्षत, फूल-पत्र और कपूर की ज्योति पर्याप्त सामग्री है; किन्तु आरती के गीतों में हरा गोबर, पीले फूल की माला एवं केशर भरी कटोरी का उल्लेख और मिलता है।[1] सम्मिलित स्वर में गीतों के गाये जाने की पद्धति का संकेत, आरती हेतु कन्याओं को भाई और भतीजे के भावी योग के आशीर्वचन के साथ आमंत्रण की पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।[2] संजा की आरती में संजा का आरती करता हुआ चित्र बालिकाओं का अपना चित्र है—

छोटी सी संज्या बेन्या
ले फुलड़ा आरती करीर्‌या[3]

आरती के क्रम से बालिकाएँ गीतों में अपने कुटुम्बियों की सुखद कल्पना करती हुई, संजा पर वारी जाती हैं। उसका चंपा की कलियों से पूजन करने व सिंहासन को हीरों से जड़ने का वचन देती हैं।[4] साँझी हरा गोबर और फूलों की कंचुकी माँगती है तो बालिकाएँ तुरन्त अपने भाइयों का स्मरण कर उनकी सहायता से साँझी को अभीष्ट वस्तुएँ लाकर देती हैं।[5]

अतएव साँझी की आरती के इने-गिने जो गीत हैं वे बाल-सुलभ कल्पनाओं से गुंफित होते हुए भी असम्बद्धतापूर्ण नहीं हैं। यों चित्र छिटके हुए हैं और अल्प मात्रा में सामूहिक लय के निर्वाहार्थ अकल्पित संयोजना भी एक-दो गीत में देखी जा सकती है।[6]

(२) 'साँझी' (संजा) की माँग बहुत थोड़ी है, यह आरती के एक गीत से प्रकट है। उसे हरा गोबर और फूलों की काँचुली (कंचुकी) प्रिय है। वह जामुन पसन्द करती है, क्योंकि जामुन का डंठल लाल और फूल पीला होता है।

[1,2]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० १, गीतसंख्या १। [3,4]वही, (प्रकाशित), पृष्ठ ६१। [5]वही, पृष्ठ ६२। [6]वही, (अ० प्रकाशित), गीतसंख्या ४।

लो संजा बई जामुनियो
जामुनिया की राती डांडी
पीलो फूल पीलो फूल[1]

'साँझी' को गुलाबी रंग की छपाई से विशेष प्रेम है, इसलिये वह रंगरेज से घाँघरे की बूटी गुलाबी रंगने की आज्ञा देती है।[2] एक गीत में वह 'काली बावड़ा' नामक स्थान के हाट (साप्ताहिक बाजार) से 'छल्ला-मुंदड़ी' लाने का आग्रह करती है, चाहे वे मँहगे मिलें चाहे सस्ते।[3] संक्षेप में 'साँझी' को रंगों और आभूषणों से प्रेम है। वह अधिक वस्तुएँ नहीं माँगती क्योंकि उसे किसी बात की कमी नहीं। उसका पारिवारिक वैभव ही उसकी समृद्धि का परिचायक है।

(३) परिचयात्मक गीतों में साँझी के पीहर-पक्ष में भाई (सूरजनारायण एवं अन्य छोटे भाई), माता-पिता और भौजाइयों का उल्लेख मिलता है। माता अनुशासन प्रिय है और भौजाइयाँ रानियों जैसी हैं। छोटे भाई पतंग उड़ाने एवं दही जमाने में कुशल हैं। उनका व्यक्तित्व खिलाड़ियों-सा है।

गुड़ी खेलता भई हमारा
राण्या सरखी भोजायां जी[4]

पिता का उल्लेख मात्र हुआ है। इससे यही प्रकट है कि पीहर-पक्ष में साँझी का परिवार काफी बड़ा था। इसी बड़े परिवार में साँझी ही एक मात्र लड़की रही होगी जो अपने सम्पूर्ण परिवार का स्नेह पा सकी। उसकी बहनों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

श्वसुर-पक्ष में पति के अतिरिक्त 'दूतड़ली' सास, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी और कुँवारी ननद हैं। देवर का स्वभाव भी सास की भाँति है।[5]

साँझी (संजा) बड़े बाप की कन्या है। बचपन में वह खाजा और रोटी खाती थी। माणिक-मोतियों से उसका शृंगार होता और उसकी वेणी नागिन-सी लहराती रहती। वयस्का हुई तो उसके माथे पर कलश और दाहिने हाथ में मोतियों की राशि आ गई।[6] उसकी नासिका ऊँची और माथे में मोतियों से माँग भरी गई।[7] मालवा की साँझी 'चीरा' (वस्त्र) पर रंगीन बेलबूटे की छपाई पसन्द करती है। जब वह ससुराल बिदा हुई तो घाँघरिया झमकाती और चूड़े चमकाती हुई चली।[8] उस समय उसकी 'नथ' (नासिका का आभूषण)

---

[1] मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६३। [2] वही, (अप्रकाशित), सं० सं० १, गीतसंख्या २६। [3] वही, गीतसंख्या २६। [4] वही, पृष्ठ ६६। [5] वही, (अ० प्र०), सं सं० १, गीतसंख्या २६। [6] वही, (प्रकाशित), पृष्ठ ६२। [7] वही, (अ० प्र०) सं० सं० १, गीतसंख्या १०। [8] मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६६।

झूल रही थी। इस वर्णन से साँझी प्रधानतः मध्ययुगीन समृद्ध परिवार की कन्या प्रतीत होती है। व्रज की साँझी यद्यपि मालवा की भाँति मोतियों से माँग पुराती तो है ही, पर उसे मिसरू का पहनना और सालू का ओढ़ना भी पसन्द है। वह सोने से अपना सीस गुथाना चाहती है।[1]

ससुराल से साँझी को लेने के लिये (खोड्या ब्राह्मण के अतिरिक्त) हाथी, घोड़े, पालकी, म्याना आदि भेजे गये हैं, पर अपने बालसुलभ स्वभाव के कारण वह अपने पिता से कहती है कि मैं ससुराल नहीं जाऊँगी। इसलिये हाथी हाथीखाने में, घोड़े घुड़साल में, पालकी छज्जे पर और म्याना महल में धराने की सलाह देती है।[2] वह अब बड़ी हो गई है, अतः उसे जाना तो है ही। साँझी के परिचायक गीतों के साथ उसकी बिदाई के क्षणों की पीड़ा संकेत उभारने लगते हैं।

आज म्हारी संजा बई पावणा
चलो सखी आरती सजाओ
दो दन पावणा ने तिसरा दन सून
म्हारी संजा बई ने लेवा आया पावणा
भोजन जिमाऊं म्हारी संजा ने
बारा महिना में पाछी आवेगा
सूरजनारायण बीरो लेवा जावेगा
सोला दनरिया म्हारी संजा बई
पालकी में बैठी अब जावेगा
आज म्हारो संजा बई पावणा[3]

वह मुंडेर पर बैठी चिड़िया हो गई है। पिता को उसे उड़ाना ही होगा। आँगन में मेहमान आ गये हैं, क्योंकि साँझी अब ससुराल जायेगी।[4]

परिचायक गीतों में गीतितत्व का सौन्दर्य अपेक्षाकृत अधिक उभरा है। स्नेह संबंधियों के उल्लेखों से उनमें पारिवारिक ऊष्मा का संचार हुआ है। लोकगीतों की परम्परात्मक वर्णन शैली का आश्रय लिये हुए भी कैशोर्य की गरिमा उनमें उजली होती दीखती है।

अन्य गीतों को दो धाराएँ हैं—(१) कुतूहलात्मक हास्य-प्रधान और (२) संवादात्मक।

कुतूहलात्मक हास्य-प्रधान गीतों में 'केल' नामक एक गीत है जिसमें लघु-कथा सूत्र के आधार पर अपने देवर की अपेक्षा अपने 'बीरा' (भाई) के प्रति

---

[1]ब्रजभारती, फाल्गुन, २०११, पृष्ठ ४६। [2]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६७-६८। [3]वही, (प्रकाशित) पृष्ठ ६८। [4]वही, पृष्ठ ६६।

शुभकामनाओं के साथ देवर के प्रति हास्यात्मक स्थिति की संयोजना की गई है।[1] 'खोड्या ब्राह्मण' और सासू 'दूतड़ली' भी हास्य पूरित गीत हैं।[2] अन्य गीतों में 'चिरकली' और 'कागेला' 'संवादात्मक है जिनमें पुच्छलवत् टेक लगती है।[3]

आवश्यक रूप से गाये जाने वाले गीतों में 'हिरनी' बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भ में इस गीत का उल्लेख किया गया है। 'हिरनी' का गीत सम्पूर्ण मालवा और राजस्थान में प्रचलित है—

संजा बई तम तमारे घर जाव कि तमारी मा मारेगी
कि तमारी मा कूटेगी
चान्द गयो गुजरात कि हिरनी[4] उगेगी—बई उगेगी[5]
हिरनी का बड़ा-बड़ा दांत कि छोरा-छोरी डरपेगा।
बई डरपेगा।

इस प्रकार दोनों ही प्रान्तों में प्रचलित 'ऊँदा चाटा'[6] का गीत भी उल्लेखनीय है। मामा पक्ष के प्रति साँझी के माता का रोष एवं उसकी वृत्ति का परिचय है। अतः साँझी के गीत संक्षेप में अपनी इन विशेषताओं को समाहित किये हैं—(१) सामूहिक गेयतत्व (सामूहिक लय); (२) लघु चरण एवं द्रुत गति; (३) संवादात्मकता; (४) लघु-कथा-सूत्र; (५) टेकपूर्ण (दुहरा-दुहरा कर गाये जाने वाले)।

साँझी के गीतों का मूल स्वभाव (बाल-वृत्तियों से युक्त होकर भी) आदर्श के प्रति श्रद्धापूरित है। विनोद उनमें गौण है। रस परिपाक की दृष्टि से कुतूहल की सृष्टि उनमें होती है। अलंकारों एवं खेलगीतों की अकल्पित संयोजना और असम्बद्धता का सांजी के गीतों में अभाव है।

घडूल्या (घडल्या)—'घडूल्या' अथवा 'घड़ल्या' नौरात्रि में वयस्क स्त्रियों के गरबा गीतों के समान कुँवारी-कन्याओं द्वारा मध्य रात्रि के पूर्व घर-घर घूमकर गाये जाते हैं। लोटे के आकार का एक छोटा-सा असंख्य छिद्रों का माटी का पात्र मध्य में दीपक धर कर संजोया जाता है जिसे कोई लड़की अपने माथे पर धारण कर दल का नेतृत्व करती है। इस पात्र को भी 'घड़ल्या' ही संबोधित करते हैं। कहीं-कहीं ग्रामों में यही 'घडूल्या' या 'घड़ल्या' 'गड़बड्या'

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ६४-६५। [2]वही, पृष्ठ ६६-६७। [3]वही, (अप्रकाशित), सं० सं० १, गीतसंख्या २७ एवं १३। [4]मृगशिरा नक्षत्र। [5]देखिये, 'किरती माथे ढल गई, हिरनी लूंबा खाय'—एक राजस्थानी गीत कीपंक्तियाँ। [6]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित) सं० सं० १, गीतसंख्या १२।

का रूप धारण किये है जिसमें संबधनो के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं। केवल गीतों में घड़ल्या के स्थान पर 'गड़बड़्या' का प्रयोग होता है। मारवाड़ में चैत्र महीनें में घुड़ले का मेला होता है। कहते हैं यह घुड़ले नामक सेनापति की याद में किया जाता है। वि० सं० १५४८ में चैत्र में अजमेर के मल्लूखाँ (मालिकखाँ) ने मेड़ता पर चढ़ाई की। उसने पीपाड़ के पास कोसाना ग्राम में चैत्र शुक्ल तीज को गौरी पूजा के निमित्त जाने वाली स्त्रियों को पकड़ लिया। घटना की सूचना मेड़ता के राव सातलजी (वि० सं० १५४५ में गद्दी पर बैठे) को मिली। मल्लूखाँ भाग गया और सेनापति घुडैला मारा गया। घुड़ले की याद में उसकी लड़की ने घड़ूले का त्योहार प्रचलित किया और मटकी के छिद्रों को घड़ूले के घावों का सूचक बनाया।[1]

इतिहास के इस प्रमाण से घड़ूल्या के ऐतिह्य पर प्रकाश पड़ता है किन्तु गीतों के विषय-वस्तु से इस प्रकार की किसी घटना का पता नहीं चलता। दूसरे मालवा में 'घड़ल्या' का त्योहार नौरात्रि में और मारवाड़ में वह चैत्र में पड़ता है। इस प्रकार एक त्योहार बस्तर जिले की आदिवासी कन्याएँ भी मनाती हैं। उस समय टोकनियों के मध्य दीपक को छिद्र वाले ढकनी में ढककर, झुंड बनाकर, रात्रि में द्वार-द्वार जा 'नारा' गीत गाती हैं। यह पौष में पड़ता है। मालवा का घड़ल्या मारवाड़ के अधिक निकट है क्योंकि जातियों के आवागमन के प्रवाह से दोनों प्रान्त प्रायः निकट रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि घड़ल्या से मिलता-जुलता त्योहार लड़कियों में किसी न किसी रूप में सभी प्रान्तों में प्रचलित है। अतएव यह संभव है कि मालवा के 'घड़ल्या' में दो विभिन्न धाराओं का समावेश हुआ हो। घाव के प्रतीक छिद्रों की मान्यता लड़कियों की बुद्धि के परे की बात है। उन्होंने इस आयोजन परम्परा से सूत्र अपना लिया और हो सकता है इसकी संयोजना में अन्य दूसरे तत्त्व आकर मिलते रहे हों। संक्षेप में गरबा प्रथा के प्रभाव स्वरूप यह नौरात्रि के साथ जुड़ गया और भावी सौभाग्य की सामूहिक कांक्षा ने बालिकाओं को घड़ल्या के प्रति श्रद्धान्वित बनाया। किन्तु 'घड़ल्या' अपने मूल स्वरूप में अम्बा से भिन्न है। अतः उसके ऐतिह्य के प्रति किंचित् विश्वास संभव है।

'घड़ल्या' के प्रचलित गीतों का विलय ऐतिह्य तत्त्वों से भिन्न है। उनमें 'घड़ल्या' एक छोटा-सा बालक है। वह गाँव में खेलता-फिरता है। उसके पैर में काँटा चुभ जाता है तब वह क्रमशः नाई, बागरी, माली और देव के समीप जाता है। हास्यास्पद परिस्थिति के साथ गीत का अन्त होता है।

---

[1] विश्वनाथ रेऊ, भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ १५५-५६।

घड़ल्यो (गड़बड़्यो) म्हारो लाड़लो सेरी भागो जाय रे भई ।
सेरी भागो काटो नावी घरे जाय रे भई ।
नावी दी ही नेरनी बागरी घरे जाय रे भई ।
बागरी दीद्या छाबल्या माली घरे जाय रे भई ।
माली दीदा फूलड़ा देव चढावा जाय रे भई ।
देव दीदा लाडू मगरे बैठो खाय रे भई ।
मगरे लागा ऊँदरा कान कतरी खाय रे भई ।
काने बाँधा सूपड़ा फड़ फड़ करतो जाय रे भई ।[1]

अन्य गीतों में ससुराल के खोटे लोगों का वर्णन है जो खजूर खाकर भैंस बेचते हैं,[2] जहाँ बहू तेल पी जाती है,[3] सास कुत्ते की सौत और ससुर बेटी से भी बढ़कर है।[4] लड़की अपने भाई से आग्रह करती है कि वह जल्दी-जल्दी भोजन कर ले क्योंकि ससुराल के लोग बुरे हैं। 'गाडो' नामक गीत में देवर के अपेक्षित व्यवहार का संकेत है—भाई को अपनी बहन द्वारा बनाई हुई भाजी अच्छी लगती है, किन्तु देवर को वही भाजी खट्टी प्रतीत होती है, इसलिये बहन उस कोपल को ही काट डालती है—

गाड़ो नीचे कूपल फूटी—सात सहेल्याँ हो ।
कूपल की म्हने भाजी राँदी—सात सहेल्याँ हो ।
वा भाजी म्हने बीरा आगे मेली—सात सहेल्याँ हो ।
बीरा के म्हने मीठी मीठी लागे—सात सहेल्याँ हो ।
वा भाजी म्हने देवर आगे मेली—सात सहेल्याँ हो ।
देवर के म्हने खाटी खाटी लागे—सात सहेल्याँ हो ।
वा कूपल म्हने काटी नाखी—सात सहेल्याँ हो ।[5]

कतिपय अन्य गीतों में व्यक्ति-चित्रों का हल्का स्पर्श और असंगत संयोजना पायी जाती है। संक्षेप में कुछ 'घड़ल्या' के गीतों में लघुकथा-वस्तुक्रम से संवर्द्धित होती हुई निष्कर्ष पर पहुँचती है। पुच्छवत् टेक जैसे 'सात सहेल्याँ हो' अथवा 'रे भई' उल्लेखनीय है। प्रधानत: विनोद की मात्रा इन गीतों में अधिक है। 'घड़ल्या' (अथवा गड़बड़्या) के कुछ गीत गा चुकने के बाद लड़कियाँ जब कुछ पाकर आगे बढ़ना चाहती हैं तब निम्न पंक्तियों द्वारा जिनमें पड़ोसन के समृद्ध परिवार का चित्र है, उपसंहार करती हैं।

---

[1]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित) सं० सं० १, गीतसंख्या ३०। अंतिम दो पंक्तियों का पाठान्तर—'काने बाँधी कोड़ी चूँ चूँ करतो जायरे भई'। [2]वही, गीतसंख्या ३२। [3]वही, गीतसंख्या ३४। [4]वही, गीतसंख्या ३७। [5]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित), सं० सं० १, गीतसंख्या ३३।

देती होय तो दे पड़ोसन
म्हारो बेटो अन्नी लायो पन्नी लायो
लाख टका की लाड़ी लायो
बींछा की रमझोल लायो
घाघरा को घेर लायो
ऊबो ऊबो पान चाबे बऊ करे सिनगार

अबल्या-छबल्या—'अबल्या-छबल्या' के गीत संख्या में बहुत कम हैं। कुवार के महीने में इन्हें गाया जाता है। 'साँझी' या 'घड़ल्या' की तरह इनके लिये विशेष आयोजन नहीं किया जाता। एक गीत के अनुसार 'अबल्या-छबल्या' दो भाई हैं, जिन्होंने बहन को संदेश भेजकर आमंत्रित किया। एक बड़ की डाल तोड़ने गया दूसरा कोपल, किन्तु संध्या हो गई। इसलिये बहन उन्हीं के यहाँ पाहुन रही। वह दोनों भाइयों पर बलिहार जाती है।[1] उज्जैन जिले से प्राप्त इस गीत के पाठान्तर में दोनों भाई बहन के घर पाहुन हैं। वह गुड़ की भेली फोड़ती है तथा भात बनाकर उन्हें भोजन कराती है।[2] संक्षेप में 'अबल्या-छबल्या' भ्रातृ-स्नेह के गीत हैं।

ऋतु-गीत—बालिकाओं के ऋतु-गीत लड़कों की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। आषाढ़ में 'हर्या-गोद्या', 'डेडक माता', सावन में 'लीम' (लीमड़ी), झूलागीत और चैत्र में 'फूलपाती' उल्लेखनीय है। 'हर्या गोद्या' हरित कामना का गीत है। 'लीम' में निबोली पकने एवं भाई के स्नेह का संकेत है। 'फूलपाती' में फूलों और पत्रों द्वारा बसंत का स्वागत एवं शृंगार का स्पर्श है। युवतियाँ भी 'फूलपाती' लेने के लिये कलश लेकर बागों में जाती हैं। उन्हीं के गीत लड़कियों ने अपना लिये। अतएव 'फूलपाती' लड़कियों की संपत्ति नहीं है। फूलपाती के गीतों का आगामी पृष्ठों में अलग से उल्लेख है।

बालक और बालिकाओं के इन गीतों की प्रवृत्तियों में साहित्यिक तत्त्वों की खोज अनुपयुक्त होगी; क्योंकि ये गीत मूलतः कृषि सभ्यता के वाहक एवं अर्द्ध विकसित ग्रामों के बाल-मस्तिष्क की संपत्ति है जिनकी अर्द्धसभ्य पुकार उभर कर प्रत्येक जाति के बालकों की वाणी में समाहित हो गई है। परम्परा का सहारा पाकर यही पुकार अपने रूढ़ प्रयोगों के साथ अवतरित हुई है; इसीलिये उनके साथ एक आदिम किन्तु प्रगाढ़ शिशु संबंध स्थिर हो गया है।

---

[1] मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं सं १, गीतसंख्या ३६। [2] देखिये—'नवरात्रि के गड़वा गीत', लेख, जागरण दैनिक, इन्दौर, १ नवम्बर १९५४—
आज बेन्या घरे पामणाजी, खोड़ी फोडू राँदू भात, बीरा जिमाडू आपणाजी।

इसलिये प्रस्तुत बालकों के गीतों में अनघड़त्व एवं असंगत चापल्य तथा बालिकाओं में भाई के प्रति स्नेह और ससुराल-पक्ष के विकृत मित्रों के साथ जीवन में विनोद के उपादान स्वरूप लघु-कथाएँ तथा पुरातनता के सजीव चिह्न प्राप्त हैं। सामूहिक लय का विधान प्रायः सभी गीतों में है। छोटे चरण, द्रुत गति, संतुलन और तुक का निर्वाह करते हैं, ध्रुव-सूत्र प्रायः सभी गीतों में हैं।

(घ)

विविध-गीत

(अ) ऋतु-गीत—मालवी ऋतु-गीतों में प्रमुख गीत 'होली', 'सावन' और 'बारहमासी' है। वैसे तो भिन्न-भिन्न त्यौहारों, अनुष्ठानों और परम्पराओं से संबंधित गीत भी ऋतुओं के माहवारी क्रम में पड़ते हैं, तथापि विषयानुसार उसका प्रस्तुत-प्रबन्ध में यत्र-तत्र विवेचन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसीलिये उन्हें प्रस्तुत-अध्याय में एक साथ विवेचन का आधार बनाना संभव नहीं हुआ। गर्वी, साँझी, गनगौर आदि को ऋतु-गीत कहा जा सकता है, पर त्यौहारों से उनका घनिष्ठ संबंध है, अतएव उन्हें अन्यत्र स्थान दिया गया है।

मालवा में होली, सावन और बारहमासी गीतों का बाहुल्य है। होली स्त्री और पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न मुखड़ों में गाई जाती है। सावन के गीतों को दो भागों में सहज ही बाँटा जा सकता है—(१) कुमारिकाओं के गीत और (२) व्याहताओं के गीत। वर्षा और झूले से संबंधित गीत—इन्हीं दो वर्गों के अन्तर्गत आते हैं।

बारहमासी गीतों का महत्त्व सभी ऋतुओं में है, किन्तु परम्परा के अनुसार ये गीत आषाढ़ या चैत्र से ही आरंभ होते हैं, अतएव इन्हें ऋतु-गीतों के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

कार्तिक और माघ-स्नान के गीतों की प्रवृत्ति धार्मिक एवं भजनी है, इसलिये इन्हें ऋतु-गीत कहना उपयुक्त नहीं। प्रस्तुत अध्याय में—(क) 'होली' 'सावन' और 'बारहमासी' गीतों पर ही प्रकाश डाला गया है।

होली—होली के गीतों के स्वर फाल्गुन आरंभ होते ही छिड़ जाते हैं। वासन्ती वायु मन में एक अनोखा उल्लास जागृत करती है। लोक-मानस इस अवसर पर भिन्न-भिन्न प्रसंगों को गीतों का विषय बनाकर अपना आत्म-रंजन करता है। हास-परिहास का एक अन्तर्निहित स्पर्श होली के गीतों में शृंगार से जुड़ा हुआ बराबर बना रहता है।

मालवा में होली बड़े उल्लास से गायी जाती है जिसमें लालित्य, रसज्ञता और उछाह व्यक्त होते हैं। पुरुषों और स्त्रियों के गीत भिन्न-भिन्न श्रेणी के

होकर भी भावों की दृष्टि से प्रायः अनुरूपता लिये हैं। पुरुषों के गीत कहीं-कहीं श्लील मर्यादा छोड़ देते हैं, पर स्त्रियों के गीतों में लज्जा का स्पर्श होने के कारण अभिव्यक्ति अमर्यादित नहीं हो पाती है। मालवी के होली के गीत इस प्रकार से वर्गीकृत किये जा सकते हैं—(क) राधाकृष्ण संबंधी; (ख) शिवपार्वती संबंधी; (ग) प्रणय संबंधी; (घ) चन्द्रसखी की होलियाँ तथा (ङ) फुटकर ।

(क) राधाकृष्ण की प्रणयलीलाएँ युगों से लोकवार्ता का प्रिय विषय रही हैं। लौकिक नायक और नायिकाएँ अपने मनोभावों को इनकी लीलाओं के माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान कर सहज ही तृप्ति अनुभव करते हैं।

होली, उल्लास और आनन्द का पर्व है। गुलाल उड़ाकर अथवा रंग छिटकाकर उल्लास को प्रकट किया जाता है। प्रिया अपने प्रिय को कृष्ण के रूप में देखती है। ननद के मना करने पर भी होली खेलने के लिये वह उतावली हुई जाती है। कृष्ण पिचकारी भर-भर कर उसके देह पर रंग छोड़ रहे हैं। उसकी चुनरी, चोली और सम्पूर्ण अंग भींग गये हैं। पिचकारी ने उसके चोली के बन्द और घूँघट की रम तोड़ दी है।[१]

राधा के रूप में नायिका का शृंगार होली-गीतों में निखरा है। नंद बाबा के द्वार पर होली मची है—मानो गुलाल उड़ाई गई है। कई मन केशर घोली गई है। रेल-पेल मची हुई है और घुटने तक कीचड़ हो गया है। इधर से राधा निकलीं और उधर से कान्हा, दोनों की भेंट हुई और होली का रंग उड़ाया गया।[२]

कहीं नायिका कृष्ण से हाथ की पोंची (आभूषण) पहनाने का आग्रह करती है क्योंकि उसके हाथ रंग से भरे हैं।[३] इन गीतों में प्रायः कृष्ण और राधा की वय पूछी गई है। कृष्ण बारह के और राधा तेरह वर्ष की बताये गये हैं।[४]

(ख) शिव-पार्वती का उल्लेख श्रद्धा के साथ किया गया है। राधा और कृष्ण की तरह उन्हें शृङ्गार-चित्रों का माध्यम नहीं बनाया गया है। मादक वस्तुओं का सेवन करने के फलस्वरूप शिव की महत्ता इन गीतों में व्यक्त हुई है। शिव की आरती के कुछ गीतों में शिव-महिमा वर्णित है। भिन्न-भिन्न आरती के साथ शिव का वैभव प्रकट किया गया है।[५] फिर भी पाँच प्रकार के रंग बनाकर कैलाश पर्वत पर शिव, पार्वती के साथ होली खेलते हैं।

---

[१]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित), सं० सं० ६, गीतसंख्या १। [२]वही, सं० सं० ५, गीतसंख्या १। [३]वही, सं० सं० ६, गीतसंख्या ३। [४]वही, गीतसंख्या १६। [५]वही, गीतसंख्या ३।

पार्वती जी का अस्सी कली का लहँगा और गुलसाड़ी भींज जाते हैं, तब पार्वती शिव से क्षमा माँगती हैं, तत्पश्चात् शिव प्रसन्न होकर डमरू बजाते हैं।[1]

(ग) प्रणय संबंधी होलियाँ बहुत हैं। ऐसे गीत नायिका के सौन्दर्य को उभारने में सहायक होते हैं। गाने वाली स्त्रियाँ इन गीतों में गाने की लहर में पंक्तियाँ जोड़कर रोचक बनाती जाती हैं। इन गीतों में पति-पत्नी के प्रसंग मिलते हैं। रसिया के निवेदन अथवा मान के चित्र भी इनमें आये हैं। रसिया की ढप से प्रिया का महल गूँज उठा, तब उसका मन क्यों न आकर्षित हो ?[2] प्रिया के कानों में आभूषण झलक रहे हैं, वह लज्जावश धूप में जल भरने नहीं जाना चाहती क्योंकि धूप की तीव्रता से उसके चूनरी के रंग की उड़ जाने की संभावना है।[3]

फिर भी होली खेलने के लिये उसका मन आतुर हो रहा है। भींग जाने पर उसे चिन्ता हुई कि अपनी सुरंग चुनरी वह कहाँ धोये और सुखाये।[4] जहाँ देवर-भौजाई और ननद-भौजाई का प्रसंग आया है वहाँ देवर नादान[5] और ननद कुँवारी[6] है। इन गीतों में कौटुम्बिक स्वर और यौन-भावनाओं की ऊष्मा है, पर अधिकांश गीतों में नायिका की यौन-चेष्टाएँ सांकेतिक ढंग से प्रकट की गई है।[7] गोरी के अंग भींज गये, उसे क्रोध आ रहा है कि उस पर किसने रंग डाला। वह गाली देना चाहती है तो पता चलता है कि रंग डालने वाला तो उसका पति है।[8] महल में पलंग बिछाया गया है। साड़ी सुरंगी और लाल रंग का ओढ़ना है। मन भाया पलंग है, किन्तु सेज का शृंगार, प्रिया का हठीला प्रियतम नहीं है।[9]

(घ) चन्द्रसखी के संबंध में अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है। मालवी स्त्रियों में होली के कुछ गीत चन्द्रसखी की छाप से अभिहित है। जैसा कि बताया गया है, चन्द्रसखी की होलियाँ राधा और कृष्ण सम्बन्धी हैं। उनमें गूजरियों का उल्लेख और कृष्ण की शृंगार चेष्ठाओं का वर्णन है।[10] चन्द्रसखी का नाम जोड़कर भी राधा-कृष्ण संबंधी गीतों को होली के गीतों में सम्मिलित कर लिया गया है। वस्तुतः चन्द्रसखी के गीत मर्यादित भावों से पूर्ण हैं।

(ङ) होली के फुटकर गीतों में हास-परिहास, चुटकियाँ, शृंगारिक दोहे,

---

[1]वही, गीतसंख्या ४। [2]वही, सं० सं० ६, गीतसंख्या ८। [3]वही, गीतसंख्या ६। [4]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित), सं० सं० ६, गीतसंख्या ५। [5]वही, गीतसंख्या १४। [6]वही, गीतसंख्या १५। [7]वही, गीतसंख्या १०। [8]वही, गीतसंख्या ११। [9]वही, गीतसंख्या १२। [10]वही, सं० सं० ५, गीतसंख्या २।

फाग और गेर के गीत सम्मिलित हैं। पुरुषों के गीतों में नायिकाओं के मोहक चित्रों के साथ छेड़-छाड़ भरी उक्तियाँ निखरी हैं—उनमें उद्दाम-उल्लास और गति है। एक उदाहरण देखिये—

ए परण्या की तो आँख्या दूखे जाने म्हारो जूतो रे।
छैल भँवर की आँख्या दूखे सुरमों सारू रे।[1]
× × ×
काजलियो सारी ने छोरी जल भरवा ने चाली रे।
आगे मिल ग्या छैल भँवरनी दाँतन भोले रे।
लाजां मर गई रे ॥[2]

युवतियों के कुँवारेपन का परिहास[3] और तानेबाजी पुरुषों के गीतों में द्रष्टव्य है। स्त्रियों के गीतों में यौन-संकेत दबे हुए हैं। निमाड़ के एक गीत में रणुबाई अपने पति पणीयर से होली खेलना चाहती है, किन्तु जब वह अपनी सास से इस बात के लिये आज्ञा चाहती है तो सास अपने पुत्र को तप का लोभी बताकर कहती है कि वह स्त्रियों से होली खेलना पसन्द नहीं करता।[4]

स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले मालवी के होली-गीत पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले होली गीतों की अपेक्षा अधिक भावना प्रधान और उपयोगी हैं। उनका मूल स्वर ननद को बरजना, केसर का रंग घोलना, कंचन की पिचकारी, गुलसारी का भींजना, नवंदा का रंग से भरपूर होना और कृष्ण कन्हैया के होली खेलने से संबंधित है। मालवी स्त्रियों का विश्वास है—

बरस दिना का बारा महना
तो महत भवनु रंग होली
चाँदणी की चादर बेल चमेली
अपणाज हाथ उड़ाई[5]

वैसे होली के गीत संख्या में बहुत है, तथापि अनेक मूल पंक्तियाँ हेर-फेर के साथ सभी में मिल जाती हैं।

सावन—सावन महीने में 'सावन तीज' और 'रक्षाबंधन' विशेष उत्सव हैं। इन दिनों पेड़ों पर झूले बाँधे जाते हैं। ग्राम-युवतियाँ प्रसन्नता से झूलती और गाती हैं। मालवी के 'सावन-गीत' विविध प्रकार के पाये जाते हैं, जिनमें बालिकाओं के सावन गीत, युवतियों के सावन गीत, भाई एवं पति सम्बन्धी सावन गीत तथा चौमासे एवं वर्षा के गीत प्रमुख हैं। ब्रज के श्रावण-गीतों को डॉ० सत्येन्द्र[6] ने निम्न भागों में बाँटा है :—

[1]वही, सं० संख्या ६, गीतसंख्या १७। [2]वही, गीतसंख्या १८। [3]वही, गीतसंख्या १५। [4]मालवी लोकगीत (अप्रकाशित), गीतसंख्या ६। [5]वही, गीतसंख्या ७। [6]ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ३०७।
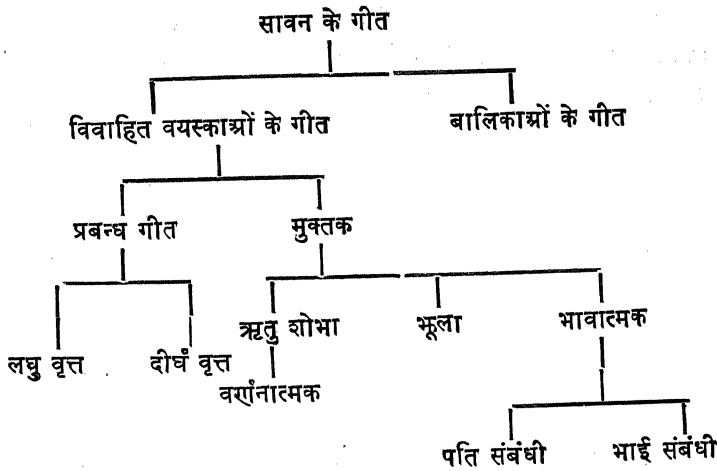
बालिकाओं के 'ली-बोली' नामक मालवी गीत में ससुराल में बैठी नववधू अपने भाई की प्रतीक्षा करती है। नीम पर निंबोली पक गई है। सावन का महीना आ गया। उठो हे मेरे भाई, घोड़ी तैयार करो। तुम्हारी प्यारी बहन ससुराल में झूल रही है। उसे अब के सावन में तो (मायके में) झूला झूल लेने दो।[1]

लींबे लींबोली पाकी सावन महिनों आयोजी।
उठो हो म्हारा बाला बीरा लीलड़ी पलाणोजी॥
तमारी तो प्यारी बेन्या सासरिया में झूले जी।
झूलो तो झूलवा दीजो अचके सावण आंवाजी॥

यह गीत कुछ और पंक्तियों के साथ सम्पूर्ण मालवा में गाया जाता है। बालिकाओं के एक और गीत में राखी-दिवस आ जाने के कारण बहन अपने भाई के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है, पर भाई आना चाहते हुए भी आ नहीं पा रहा है क्योंकि क्षिप्रा नदी में बाढ़ आ गई है। तब वह सलाह देती है कि क्षिप्रा को कपड़ा चढ़ाओ।[2]

मानव के ये विश्वास गीतों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। ज्यों-ज्यों इन विश्वासों का विस्तार हुआ, भोला मानव उतना ही प्रकृति और अपने आप से परास्त हुआ है।

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ २०। हजारीबाग जिले के एक लोकगीत की पंक्तियों से इस गीत के भाव मिलाइये :—कंसिया जे अरंडले अब आशा लगले सजनि के, भैया बाप ऐले लेनिहार'—अवन्तिका, दिसम्बर, १९५४, पृष्ठ ५४। [2]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ २१।

पति-पत्नी के प्रेम पूर्ण मान-मनौवल सम्बन्धी सावन के गीत असंख्य हैं। विवाहित स्त्रियों द्वारा प्रायः ऐसे गीत गाये जाते हैं। चाँदनी रात में मारूणी घूमने निकलती है। चंपे की डाली से झूला बंधा है। उधर प्रियतम प्रतीक्षातुर है। विलम्ब होते देख उसे मारूणी पर क्रोध आ जाता है, परिणामतः वह महल के द्वार बन्द कर देता है। मारूणी भी कम नहीं है। वह आवेश में घोड़ी पर सवार होकर पीहर की बाट पकड़ती है। ससुर बुलाने जाते हैं, पर वह नहीं आती। स्वयं प्रियतम मनाने पहुँचते हैं, तो अपने को स्वावलम्बी बनने और चरखे से सूत कातकर अपना जीवन-निर्वाह करने की क्षमता घोषित करती है।[1] इसी प्रकार के कुछ गीत राजस्थानी में पाठान्तर-भेद के साथ उपलब्ध हैं। रतलाम, मन्दसौर और रामपुरा के पाठान्तर भी द्रष्टव्य हैं। गुजराती में इसी आशय का एक गीत झवेरचन्द मेघाणी ने अपने संग्रह में दिया है।[2]

चौमासा का एक महत्त्वपूर्ण गीत पं० प्रभागचन्द्र शर्मा ने 'मालव लोकगीतों की नारी[3]' शीर्षक लेख में उद्धृत किया है। गीत है—

अब के चौमासे मारूजी, घरे रहो
घरे रहो बाईजी का बीर
जाओ तो ओढ़ूँ मारूजी, चूनरी
रहो तो दखनी री चीर
जाओ तो पोढ़ूँ काली कामली
रहो तो फूलां भरी सेज
सोय चलेंगे मारूजी कामली,
लेट चलेंगे फूलां सेज
सांप गे छोड़ी है मारूजी कांचली
नदिया ने छोड़ी है कगार
सैया ने छोड़ा बाला जोबन,
ये दुख सहा न जाय[4]

---

[1]देखिये, मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ २२-२३। [2]रढ़ियाली रात, भाग १, 'रिसामणा', पृष्ठ ३५। [3]हंस, सितम्बर, १९४०। [4]द्रष्टव्य—

(१) सरप ने छोड़ो चम्पा काँचुरी
नदिया ने छोड्यो ऐ किनार
(२) 'साँप ने छोड़ी आपन कोंचुली
जमना छोड़ी है कछार।
सइयाँ ने छोड़े बाले जोबना
जे दुख सहे न जाय॥'—कविता कौमुदी (पाँचवा भाग) पृ० ४१४।—ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ३१०।

सावन के अन्य चौमासों में मोटे छींटों के बरसने, मोर-पपीहों के बोलने और प्रियतमा के वियोग में पीड़ित होने के चित्र हैं। खेत हरे हो गये, संसार हरा हो गया, पर गोरी का हृदय हरा नहीं हुआ। काली रात नागिन सी डसती है। तीज पर आने का विश्वास प्रिय ने दिलाया था। बहुत प्रतीक्षा के बाद कहीं प्रियतम का आगमन होता है। गोरी का सीधा अंग फड़कता है।[१]

चौमासे के क्रम से एक गीत में नायिका, शीत में पति के निकट, ग्रीष्म में पिता के यहाँ और चौमासे में उसे ननिहाल रखने की सलाह अपने प्रियतम को देती है।[२] कुछ गीतों में बहन ने अपने भाई के सगुन का वर्णन किया है। जब वह लिवाने आता है तो ग्राम की सीमा की दूब हरी हो जाती है जब वह बाग में जाता है तो मालिन कुँआ बँधा देती है, जब वह पौर में आता है तो कलश स्थापित किया जाता है और जब उसे तिलक लगाया जाता है तो मोतियों के अक्षत डाले जाते हैं।[३]

चम्पा बाग में भाई के डेरे डलते हैं। वियोगिन मेघ की गर्जन और मोर की कूक से दुःखी होती है। बिजली अन्तर को बेंधती है। लहरिया भींज उठता है। तीज के त्यौहार तक पति नहीं लौटता। झूले की बहार के लिये प्रियतमा आतुर रहती है। संक्षेप में ये ही सावन के गीतों के परम्परागत प्रधान विषय हैं।

श्रावण के गीतों में भादों के गीत भी सम्मिलित हैं। ऋतु की आर्द्रता गीतों का आधार है। प्रेम की छुरी पर गीत चलते हैं। सावन के गीत वर्षा के गीत हैं। भाई-बहन के व्यापक प्रेम और युवतियों की प्रणय-चेष्ठाओं की पूर्णता इनमें समाई हुई है।

बारहमासी—'बारहमासी' गीतों में प्रायः विप्रलम्भ-शृंगार ही अधिक गाया जाता है। यही कारण है कि उनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागात्मक व्यंजना अपनी संपूर्ण कलाओं सहित प्रकट होती है। 'मैथिली लोकगीत' के संग्राहक ने 'बारहमासा' को 'अनुभूत्यात्मक अभिव्यंजना' कहा है। बारहमासा के नैसर्गिक सौन्दर्य के सामने कीट्स के हल्के पैर, गहरे नील रंग की बनफ़शा-सी आँखें, काढ़े हुए बाल, मुलायम पतले हाथ, श्वेत कण्ठ और मलाईदार वक्ष-प्रदेश वाली नायिका भी फीकी पड़ जाती है।[४] 'अपने स्वच्छ ग्रामीण सौन्दर्य में उठे हुए बारहमासी गीत किसी भी कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा प्रभावशाली सिद्ध होने में पीछे नहीं रहते। संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने 'लोकाभिव्यक्तियों'

[१]मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृ० २७-२८। [२]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० सं०, ६, गीत संख्या ३५। [३]वही, गीतसंख्या, ३७। [४]रामइकबाल सिंह 'राकेश', मैथिली लोकगीत, पृ० ३६०।

के सारल्य से निस्संदेह साहित्य को अलंकृत किया है। विद्यापति और जायसी ने परम्परा और लोकगीतियों से प्रभावित होकर ही अपने विरह-वर्णन में संजीवनी का संचार किया। उनमें अङ्कित भावों की तीव्रता एवं हृदयहारिता बिना लोक-भावों के माध्यम के संभव ही न थी।

लोक-प्रचलित 'बारहमासे' अथवा 'बारहमासी' गीत आषाढ़ से आरंभ होते हैं, तथापि इनके लिये कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। परम्परागत मान्यता-मात्र ही ध्यान देने योग्य है। वैसे एक-दो मास इधर-उधर से आरंभित बारह-मासे भी लोक-साहित्य के भण्डार में उपलब्ध हैं। डॉ० रघुवंश ने बारहमासे प्रस्तुत करने की तीन प्रमुख रीतियों का उल्लेख किया है—एक में वर्णन चैत्र से आरंभ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार।[1]

प्रचलित परम्परानुसार बारहमासों का प्रयोग उद्दीपन विभाव की दृष्टि से ही होता है। सेनापति के बारहमासों (जो वसन्त से आरंभ होते हैं) में यह बात बताई गई है, पर कहीं-कहीं कवि द्वारा प्रसूत स्वतंत्र-चित्रण ऋतुओं के बिम्ब-ग्रहण में बहुत सहायक होते हैं। बारहमासों की यह साहित्यिक परम्परा संस्कृत-काव्य के मार्ग से होती हुई, समय-समय पर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों को प्रेरित करती हुई, प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में आज भी प्रिय विषय बनी है। 'साकेत' का बारहमासा इस दृष्टि से हिन्दी-क्षेत्र का एक उदाहरण है।

इसमें संदेह नहीं की हिन्दी का आदि-साहित्य लोक-भाषा की निधि से प्रभावित था। अतः बारहमासी गीतों की परम्परा का लोक-साहित्य से प्रभावित होना असम्भव नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश की अनेक रचनाओं में, जो श्रृंगार, लोक-साहित्य से प्रभावित घोषित किया गया है, वही आगे चलकर संस्कृत के मुक्तकों को प्रभावित करने में सफल हुआ। अतः इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक बाहरमासी-परम्परा लोक-साहित्य की भूमि पर आधारित होकर विकसित हुई है।

बारहमासी गीतों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है। हर माह की रूपरेखा संक्षेप में दी जाती है, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की योजना की जाती है वे प्रचलित और सर्वानुभूत हों। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम को स्मरण करती है। इसी प्रकार ऋतुओं पर मानवी-भावों का पूर्ण आरोप होता है।

नीचे दो मालवी बारहमासियाँ दी जा रही हैं। प्रथम बारहमासी गर्वा-गीतों में पाई जाती है। खेतों को निराते समय और चक्की पीसते हुए भी बारहमासों को गाया जाता है। वर्षा और वसन्त उद्दीपन की दृष्टि से

[1]प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृ० ४०२।

प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। इन्हें लेकर ही मनचली विरहिणियाँ अपने वियोग गा उठती हैं। 'गर्वा की बारहमासी :—

सखि लागो असाड़े मास, प्रभू वन चाल्या रे
चाल्या, चाल्या रे दुवारकानाथ, हरि मन्दर सूनो रे
म्हारा प्रभू ने राख्या बिलमाय[1] कामणी करिया रे[2]
सखि, एक सो दासी ने साथें, दूजो कुबजा रे
सखि, लागो सावण मास, बिजेला चमके रे
झीणीं झीणीं पड़ रही बुन्द सालुड़ा भीजे रे
सखि, लागो भादव मास, घटा घनघोर छाई रे
छई रे, छई रे दुधारी रात, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो कुंवारे मास, दसेरो आयो रे
म्हारा प्रभूजी बिना यों कुण दसेरो मनावे रे
सखि, लागो कार्तिक मास, दिवाली आई रे
सखि, घरे घरे गोरेधन पुजाय[3] हरि मन्दर सूनो रे
सखी, लागो अगणे मास, सियालो[4] आयो रे
म्हारा प्रभूजी बिना यो कुणे सोड़[5] पधारे रे
सखि, पोसज लागो मास, अंगिया फाटी रे
म्हारा किसनजी बिना यो कुण अंगिया सिवाड़े[6] रे
सखि, लागो म्हावज मास बसन रितु आई रे
म्हारा प्रभूजी बिना यो कुण बसन रमावे[7] रे
सखि, लागो फागण मास होली आई रे
सखि, घर घर फागे खेलाय, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो चेतज मास गणगोर[8] आई रे
सखि, घर घर गणगोर पुजाये, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो बैसाख मास, उणालो[9] आयो रे
घर-घर पंखा डोलाय, प्रभू मन्दर सूनो रे
सखि, लागो जेठज मास, प्रभू घर आया रे
आयो आयो से जवानी रो जोस कसेना[10] टूटे रे[11]

---

[1]बहलाकर। [2]वशीकरण करके। [3]दीपावली के दूसरे दिन स्त्रियाँ गोबर्धन पूजा करती हैं। यह वही पूजा है जिसका कृष्ण और चन्द्रावली की कथा से सम्बन्ध है। [4]जाड़ा। [5]बिस्तर। [6]सिलाना। [7]रमण करे। [8]गणगौर-पूजा, राजस्थान और मालवा की स्त्रियों का प्रमुख त्यौहार है, जिसे 'तीज' के नाम से अथवा गौरी पूजा के नाम से भी पुकारा जाता है। [9]गरमी की ऋतु। [10]बन्द। [11]भारतीय लोकसाहित्य, पृष्ठ ११३।

प्रस्तुत बारहमासी में प्रत्येक मास की संक्षिप्त रूपरेखा के साथ त्योहारों का क्रम भी मिला दिया गया है, जिसमें ऋतुओं का साधारण बिम्ब प्रत्यक्ष हो जाता है।

कृष्ण और राधा, लोक-कवियों के प्रिय नायक और नायिका हैं। इन्हीं के माध्यम से वे अपने जीवन की साधारण-असाधारण प्रेम संबंधी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। आलम्बन कृष्ण हैं और उनके विरह में त्रस्त राधा के अतिरिक्त उनकी गोपियाँ भी हैं। सूर ने अपने 'भ्रमर-गीत' में कृष्ण के लिये गोपियों को ही रुलाया है। उद्धव का प्रसङ्ग भी एक लोकगीत में आया है। उसमें गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर प्रत्येक मास में अपना दुखड़ा रोती हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सच ही कहा है कि सूरदास में किसी चली आती हुई परम्परा का विकास मालूम होता है। यह विश्वास, सङ्कलित लोकगीतों में वर्णित प्रसङ्ग और परम्परात्मक चित्रण से और भी अधिक पुष्ट होता है।

विरह संबंधी बारहमासी गीत दो प्रकार के होते हैं—(१) जिसमें आदि से अन्त तक वियोग ही हो, तथा (२) जिनमें अंतिम मास में नायक आता है और विरहिणी को उसके संयोग का अवसर प्राप्त होता है।

ऊपर दी गई बारहमासी दूसरे प्रकार की है। अब नीचे दूसरे प्रकार की बारहमासी उद्धृत की जा रही है जो अपनी यात्रा के दौरान में साँवेर निवासी पीराजी कानग्वाल ब्राह्मण से सुनकर लेखक द्वारा लिपिबद्ध की गई है। कानग्वाल वैष्णवमार्गी होते हैं जो कनटोपी पहनने के कारण कानग्वाल कहलाते हैं। इनका निर्वाह ग्रामों में भिक्षावृत्ति और हरिभजन पर होता है। गीत इस प्रकार है—

गिरधर बंसी बाजु लाल तोरी आवाज सुनकर मैं दवड़ी[1]
रमझन-रमझन मेहुला[2] बरसे कृष्ण घांट पे लागी झड़ी
पेला[3] मेना असाड़ लगिया जंगल हो गई हरियाली
धोरी[4] धूरन याद करत रही झुर रही अपना मेला में
दुजार[5] मेना सरवण लगिया मेरो मन हो रह्यो बेरागी
कोइ ढूंडे बामण-बनिया, मैं ढूंढू रमता जोगी
भादो मेना लगो लालजी धमक पड़े मेरो मन हरखे
है धमक पड़े बादल गरजे
दूध कटोरा पियो मन मोहन मैं दुखिया दुख क्यों सरजूं[6]
क्वांर मेना लगो लालजी आन मिलो नन्द का वासी

---

[1]दौड़ी। [2]मेघ,। [3]पहला। [4]धवरी गाय। [5]दूसरा। [6]सृजन करूँ।

प्रभु आन मिलो ब्रज का बासी
सभी ग्वाल हिल-मिल चलो माखन मीसरी जीमण को
कातिक मेना भाग मनमोहन गोड़ घोड़े नन्दलाला
फाड़ पीताम्बर-सोड़ गेंदवा होड़न आवे हल लाला
अग्गन मेना लगो लालजी भींकत पाती नन्द बांचू
सांवरी सूरत पे मुकट बिराजे, गलसोवे मोतियन माला
माह मेना लगे लालजी मनियन में करो उतबेरी
सुनो सखीरी मोरे मन की जेसी पड़ी जेसी सेई
फागुन रास रच्यो मनमोहन लाल गुलाल भरूँ भोरी
भर-भर मुठिया डाल कृष्ण पे लपट-झपट खेलों होली
चेत चिताम्बर मेरे मन की लागी भाल प्रभू नहीं सूझे
सुनो सखीरी मोरे मन की मन का दर्द न कुण पोछे
बेसाख मेनो लगो लालजी पीपल पूजन में जासी
दरसन दो म्हाराज कृष्णजी लख चोंरासी टल जासी
जेठ मेनो लगो लालजी ऊंपर छांया गवलण की
ऊंपर छांया मोरन की
माता जासोदा करे आरती आन मिले ब्रज का बासी
'सूरदास' प्रभु त्हारे मिलन की हरिचरणों की बलिहारी
प्रभु चरणों की मैं दासी
श्री किसन की बारहमासी सदा पेर हिरदे लागी[1]

उपर्युक्त बारहमासी केवल विरहिणी तक ही सीमित नहीं, इसमें धोहरी और ग्वालबालों के साथ यशोदा भी हैं। कृष्ण सभी के समान आलम्बन है। इसमें विरह और मिलन की भावनाएँ एकमेव होकर मिल गई हैं। भक्ति-भावना का अंश भी 'दरसन दो महाराज कृष्ण जी लख चौरासी टल जासी' में व्यक्त हुआ है। अन्त में सूरदास की छाप है। इससे यह न समझना चाहिये कि उक्त बारहमासी सूर-रचित है। लोकगीतकार श्रद्धावश पूर्ववर्ती भक्तों के नाम अपनी रचनाओं के अन्त में प्रायः ले आते हैं। 'कहे कबीर' के नाम से पाई जाने वाली रचनाएँ भी इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं। ऐसे ही मैथिली लोकगीतों में कई गीत विद्यापति की छाप वाले हैं। एक गीत के विषय में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। हमारा अनुमान है विद्यापति की छाप वाला वह गीत[2] किसी जन कवि की रचना होगी और

[1]भारतीय लोकसाहित्य, पृ० ११५-११६। [2]'आय बालम पूजी है आस, पूरा विद्यापति बारह मास'—कविता-कौमुदी, ५वाँ भाग, पृष्ठ ५०२।

अन्त में विद्यापति का नाम उसकी श्रद्धाभक्ति के कारण ही सहज रूप से अवतरित हुआ है।

बारहमासी हमारे लोक-साहित्य की महत्वपूर्ण संपत्ति है। सदियों से लोक-जीवन में इन रचनाओं ने रस संचार किया है।

बारह महीनों की ऋतु-सम्बन्धी प्रमुख परम्परा या सांकेतिक उपकरण एवं चित्र-सूत्र नीचे दिये जा रहे हैं, जो प्रायः बारहमासी गीतों में मुख्यतः पाये जाते हैं—

(१) असाढ़ (आषाढ़) : 'घन गरजे घोर' (मा०)
'सखि चलल जलधार है' (मै०)
'गरजि गरजि के सुनाई' (भो०)

(२) सावन (श्रावण) : 'झमकि झरी लागे हिंडोले, भीणी भीणी बूंदें' (मा०)
'रिमझिम बरस बूंदें है, हमरो बलम परदेश' (मै०)
'सावन रिमझिम बुंनवा बरिसे
पियवा भीजेला परदेस' (भो०)

(३) भादव (भाद्रपद) : 'बड़ी बड़ी बुंदिया बरसत नीर,
'धमक पड़े बादल,
गरजे, छई रे दुधारी रात' (मा०)
'भादव सेजिया भयावन रात
बिजली घटा देखि कांपत गात' (मै०)
भादो रइनी भयावन सखि हो
चाक ओर बरसेला धार' (भो०)

(४) कुंवार (आश्विन) : 'आसिन शरद जनावत जोर,
उगए चांदनी दुख बरजोर' (मै०)
'कुंवार ए सखि कुंवर बिदेसे गइले
दे गईले तीन निसान,
सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जीव के काल' (भो०)

(५) कातिक (कार्त्तिक) : 'दीवाबले (दीपावली), गोबरधन पुजाय' (मा०)
'कार्तिक निज पूर्णिमा
चलु सखि, गंगा स्नान' (मै०)
'कात्तिक ए सखि कातिको लगतु है,
सब सखि गंगा नहाय' (भो०)

(६) अगहण (मार्गशीर्ष) : चहुँदिसी उपजा धान,
सियालो आयो' (मा०)

(७) पोस (पौष) : 'बयार चरे जस खड्ग की धार' (अ०)
'पिय बिन जाड़ो न जाय हामार' (ब०)
'जाड़ा छेदे तन सुई सन छन-छन' (मै०)
'पूस हे सखि, ओस परतु है
भींजेला अंगिया हमार हे' (भो०)

(८) माह (माघ) : 'हे सखि ऋतु बसन्त आयेले' (मै०)
माघ हे सखि पाला पड़तु है
बिन पिया जाड़ो न जाइ है' (भो०)

(९) फागुन (फाल्गुन) : 'फगुनी बयार, तरुवर पात सबै झरि जाय' (अ०)
'सब रंग बनायन खेलन पियउ संग हे
फागुन हे सखि होरि आयल' (मै०)
'फागुन सखि फाग खेलतु है
घर घर उड़ेला अबीर हे' (भो०)

(१०) चैत (चैत्र) : 'चैत फुले है बन टेसुल' (अ०), (तीज)
'चैतहि बेला फुलिय गेल,
फूलहि गेल सब रंग फूल' (मै०)

(११) वैसाख (बैशाख) : 'पवन चलत जस बरसत आग' (अ०)
'विरह कुहकत मोर गात हे
कैसे काटे हम उखम घाम' (मै०)
'बइसाख ए सखि ऊखम लागे,
तन से ढरेला नीर' (भो०)

(१२) जेठ (ज्येष्ठ) : 'धधके धरती औ आसमान (अ०)
'जेठ मास सखि, लूक लागे
सर सर चलेला समीर' (भो०)
'बिन नाथ चन्दन शीतलादिक
धधकि जारत देह यारे' (मै०)[1]

(आ) पवाड़ा और लावनी

पवाड़ा और लावनी, महाराष्ट्र के दो प्रसिद्ध लोक-छंद हैं। विषय की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। वृत्ति भी भिन्न है। किन्तु दोनों का मिला-जुला स्वरूप मराठी साहित्य के इतिहास में 'शाहीर' वाङ्मय के नाम से

---

[1] अ०—अवधी, मै०—मैथिली, भो०—भोजपुरी और मा०—मालवी के लिये प्रयुक्त संकेत हैं।

अभिहित किया जाता है। 'शाहीर' वास्तव में 'शायर' का मराठी रूप है जिसका अर्थ है कवि। वस्तुतः मराठी में यह लोककवि के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। अतएव मराठी शाहीर वाङ्मय को हम लोक-साहित्य कह सकते हैं।

लोक-साहित्य के छंद अपनी गठन और प्रभावक्षमता को लेकर प्रान्त की सीमा छोड़ लोकगायकों के साथ यात्रा करते हैं। ये छंद जहाँ रुकते हैं वहाँ की भाषा में अपना घर बना लेते हैं और वहाँ का स्पन्दन अपने निर्धारित स्वरूप में व्यक्त करने का कौशल सहज उनमें निखर आता है।

पवाड़ा और लावनी दोनों छंद-प्रकार मराठों की सेनाओं के साथ आगे बढ़े और लोक-जीवन को प्रभावित करते रहे। शाहीरों ने अपने डफ और चंग पर, तमाशबाजों ने बेनड़ियों की थापों पर और गायकों ने तुनतुने और चोडके पर इन रचनाओं को मुक्त कंठ से गाया है। जनमानस को छू सकने वाले महाराष्ट्र के ये छंद ब्रज, अवधी, कौरवी, राजस्थानी, मालवी और निमाड़ी में धीरे-धीरे लोकगायकों के कंठ पर आ बैठे। भोजपुरी, मैथिली और बुन्देली भी इन्हें अपना चुकी है।

पवाड़ा : विश्लेषण—'पवाड़ा' अथवा 'पोवाड़ा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक-काव्य है, जो अपनी शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से राजस्थानी चारणों की बिरुदावली शैली के समस्त तत्वों से अभिनिहित होकर भी विशुद्ध वीर-गीत के रूप में सामान्यतः मान्य है। पवाड़ा डफ और तुनतुने के सहयोग से समाज के बीच ऊँची आवाज में गाया जाता है। 'महाराष्ट्र शब्द-कोष' में पवाड़ा (पोवाड़ा) वीरों के पराक्रम, विद्वानों की बुद्धि अथवा सामर्थ्य, गुण, कौशल के काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति-स्तोत्र अथवा केवल पराक्रम या कीर्ति के अर्थ में लिया गया है।[1] यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से ही मराठी भाषा में प्रयुक्त होता रहा है। संत ज्ञानेश्वर ने अपनी रचना 'ज्ञानेश्वरी' में इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है।[2] वैसे 'पवाड़ा' शब्द 'प्रवाद' का बिगड़ा रूप प्रतीत होता है। प्रवाद का शाब्दिक अर्थ है जोर से कहना, जनरव, किसी को दी जाने वाली सूचना, अपवाद आदि। यह

---

[1]महाराष्ट्र शब्दकोश (पाँचवाँ भाग), १६.३६। [2]'हे मरिले ते वर थोडे। आणी कही साधीन गाढे। मग नादेन पवाडे।' ज्ञा० १६-३५२; 'जयाचिये प्रतीतीचा वाखंरा। पवाडु होय सराचरा। हे महात्माभगुधुरा। तुलमुजाची' —ज्ञा० ७-१३७; 'पवाड़ा तुल्या केला गंधर्वा सी' ॥ अध्याय २॥ 'कीं हा ईश्वराया पवाड़ा'—इत्यादि।

उत्पत्ति मराठी के प्रसिद्ध कवि खाडिलकर तो कम से कम स्वीकार करते हैं, चाहे और भले ही न करें। 'महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष' के लेखक के मतानुसार—"पवाड़ा का अर्थ है कीर्ति। यह प्राकृत शब्द है। पुरानी मराठी के पद्य-साहित्य में यह प्रयुक्त होता रहा है, अतः रूढ़ार्थ में यह शब्द ऐतिहासिक व्यक्ति के किसी चरित्र-प्रसंग-वर्णन के लिये शाहिर-काव्य-साहित्य (मराठी) में प्रयुक्त होता है। पवाड़ा उत्तान स्वरूपी होता है, उसमें गूढ़ भावों का अभाव रहता है। यह साहित्य साधारण जनता के लिये बोधगम्य, सरल, नित्य बोली जाने वाली लोक-भाषा में रचा जाता है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि लोक-प्रचलित होते हैं—इन पोवाड़ों में मराठी तथा महाराष्ट्र की विशेषताएँ प्रतिबिम्बित हुई है।"[1]

'पवाड़ा' अपनी विशेषताओं के कारण ही ब्रज में 'पमारा' मालवा में 'पवाँड़ा', मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में 'पँवारा' होकर लोकगीतों में प्रचलित हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पमारे के विषय में कहा है कि वे—"सभी अपदान के रूप में हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'पँवारा' ब्रज के मुहावरे में झंझट, झगड़े, युद्ध का पर्याय हो गया है। बुन्देलखण्ड में यही पंवारा एक लम्बी कहानी, जो शीघ्र ही समाप्त न होती हो, के अर्थ में प्रचलित है। यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतों में पहले पंवार-परमार-क्षत्रियों की गाथा गायी जाती होगी। वे लम्बी होती होंगी और लड़ाई-झगड़े तथा युद्ध से परिपूर्ण होती होगी। फलतः परमारों के गीत होने के कारण 'पंमारे' कहलाये।"[2] डॉ० सत्येन्द्र के इस कथन में सोचने के लिये एक नया आधार अवश्य मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि परमार क्षत्रिय ही महाराष्ट्र में पंवार हो गये, जिनके यश-पराक्रम की प्रशस्तियाँ 'पवाड़े' कहलाती रही हों।

समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण महाराष्ट्र में 'गोंधल' प्रथा से सम्बन्धित माना जाता है। कुल-देवता की पूजा करते समय 'गोंधल-घालण्याची प्रथा' महाराष्ट्र में पूर्व प्रचलित है। क्योंकि संत नामदेव की रचना में गोंधल नाम के एक अभंग का प्रयोग सिद्ध करता है कि यह प्रथा नामदेव के पूर्व प्रचलित थी। गोंधल प्रथा के चलन से गोंधली नामक एक अलग ही जाति बन गई। आज भी गोंधली जाति में गोंधल के समय पाँच देवों के नाम लेकर बाद में पूर्व पुरुषों के चरित्र ऊँची आवाज में गाये जाते हैं। इससे पवाड़े की उत्पत्ति धर्ममूलक प्रतीत होती है।

---

[1] महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोप, विभाग १७वाँ, पृष्ठ २१७। [2] ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, तीसरा अध्याय, पृष्ठ ३४८।

महाराष्ट्र में वामन मोरपंत के समय काव्य-साहित्य में शाहरी-सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह 'शाहरी' अरबी के 'शायरी' का मराठी रूपान्तर है। मराठी के ये शायर (कवि) पंडित या शास्त्रज्ञ न थे। हिन्दी फक्कड़ सिद्धों की भाँति वे भी प्रायः निम्नवर्गीय जाति से आये थे। उन्हें जीवन के अनुभवों और लोकभाषा का सहारा था। इन्हीं कवियों द्वारा पवाड़ों का विकास हुआ। प्रारंभ में पवाड़े धर्ममूलक रहे, पर जब मराठों के हाथ में सत्ता आने लगी और उनका पराक्रम बढ़ने लगा, तब वीरों को उत्साहित रखने के लिये वीर-चरित्रों का बखान सुनने और सुनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार पराक्रम और यशोवृद्धि के सहारे लोककवियों के पवाड़ों को महत्त्व प्राप्त होता गया। देवताओं के चरित्र-वर्णन अब नर-वीरों के पराक्रम वर्णन में क्रमशः परिवर्तित हो गये। धर्ममूलक दृष्टिकोण किंचित् राजनैतिक भी हो गया।

ऐतिहासिक पवाड़े—प्राचीन पवाड़े उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु शिवाजी के समय के दो-तीन पवाड़े अवश्य ही मिल जाते हैं। का० न० केलकर ने 'ऐतिहासिक पवाड़े' की भूमिका में उन पर प्रकाश डाला है। सन् १६५६ के लगभग अग्निदास रचित एक पवाड़े से ज्ञात होता है कि उस काल के पहिले ही पवाड़े लोकप्रिय काव्य के विषय बन गये थे। उसने जो 'कड़ाका' गाया था ('अग्निदास कविश्वरा त्याने कड़ाका गायिला') वह वस्तुतः पवाड़ा ही है। उसकी रचना और पूर्णता इस बात को सिद्ध करती है कि किसी चली आती हुई परम्परा को १७वीं शताब्दी के पहिले ही परिस्थितियों के कारण लोक-रंजन के हेतु अपना लिया गया था।

स्व० शंकर तुकाराम शालिग्राम और बम्बई म्युनिसिपैलिटी के भू० पू० कमिश्नर ने संयुक्त रूप में प्रयत्न कर ऐसे कई पवाड़ों की खोज की है। उन्हें एक बार सरसरी दृष्टि से देख जाने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि "१७वीं शताब्दी के प्रारंभ में पवाड़ों की रचना तेजी से होने लगी थी। यह गति सन् १८५० तक बनी रही। तत्पश्चात् राजाओं के पराक्रम के ह्रास, विषयों के अभाव, नवीन राज्य-व्यवस्था तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण पवाड़ा हल्के दर्जे की वस्तु समझा जाने लगा, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दी के कुछ छंदवादी अपनी ही बोली के गीतों अथवा चारणों की रचनाओं को हल्का समझते हैं। पवाड़ों के समानान्तर लावनी गीतिधारा का भी जोर बना रहा। लावनी का विषय शृंगार रस रहा है, अतः मराठी के इतिहास में वीररस और शृंगार-रस की काव्यधारा एक साथ बहती रही। आल्हा, जयदेव का पमारा, जयमल के पँवारे आदि में पाया जाने वाला लड़ाई का सजीव वर्णन महाराष्ट्रीय

पवाड़ों से अछूता नहीं है। 'पराक्रम' करने वाले वीर तथा पराक्रम गाने वाले कवि, काल, स्थान और भावना की दृष्टि से इतने निकट थे कि उनके पराक्रम का जीवित चित्र उपस्थित हो जाता है।"[१]

बिहार में कुँवरसिंह का पँवारा प्रचलित है। पंवरिया नामक जाति के लोग राजस्थान के चारणों की भाँति अन्य वीरपुरुषों की गाथाओं और प्रशस्तियों के वर्णन के साथ कुँवरसिंह का पँवारा भी गाते हैं।

पंवरिया गाने के साथ नाचते भी हैं। वीररस की उद्भावना इनके नृत्य और गीत कहने की शैली से जुड़ी हुई है। यह पेशावर जाति मुसलमान धर्म को ग्रहण किये हैं। बाबू कुँवरसिंह के पहिले से ही यह जाति यही पेशा करती आ रही है। तात्पर्य यह कि इस जाति के लोगों में जो वीरगीत की शैली प्रचलित है, वह 'पँवारा' कहलाती है। संभवतः 'पँवारा' गाते रहने के कारण ही इस पेशे के गायकों को पंवरिया कहा जाने लगा हो। श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह ने जगदीशपुर के पँवरिया टोला के एक साठ वर्षीय खुदादीन मियाँ से कुँवरसिंह के कुछ पँवारे लिखे हैं।[२] ब्रज में जगदेव का पँवारा प्रसिद्ध है।

मालवा में नरसिंहगढ़ के कुँवर चैनसिंह का पवाड़ा और अन्य गीत उपलब्ध हैं। कुँवरसिंह की तरह चैनसिंह ने भी अपने प्रान्त में फिरंगियों से लोहा लिया था। ग्राम सुन्दरसी में सुनी गई चैनसिंह संबंधी गीत-कथा की पंक्तियाँ निम्न हैं—

राजा सोबालसिंग का चैनसिंग मुलकों में राज किया ॥टेक॥[३]
भचेर्‌या बेसन्ता जी साब बरज्या[४]
नी हो कँवरसा तमारी नी लड़वा की बेस[५]
भैस्या दुवारता भाई जी बोल्या
नी हो दादाजी तमारी नी लड़वा की बेस
पालना बेठन्ता माजी बई बोल्या
नी म्हाकी लड़वा की बेस
रसोई पोवन्ता[६] भावज बोल्या
नी म्हाकी लड़वा की बेस

---

[१]वि० सी० सरवटे, मराठी साहित्य-समालोचना, पृष्ठ २२-१९३७। [२]देखिये, नई धारा, अप्रैल १९५५ ई०, पृष्ठ ७३-८४। [३] २२ मई, १९५२ को ग्राम सुन्दरसी में लेखक ने अनारबाई ढोलन से प्रथमबार लिपिबद्ध किया। [४]रोका। [५]वयस। [६]करते हुए।

घोड़ीला फिरन्ता बीराजो बोल्या
नी म्हाकी लड़वा की बेस
ठेलड़ा[1] खेलन्ता बेन्या बई बरज्या
नहीं हो दावाजी नी तमारी लड़वा की बेस
सेज्यां सवांरता गोरी हो बरज्या
नी हो आलीजा, नी तमारी लड़वा की बेस

× × ×

हिवरखां भदरखां[2] यूं कर बोल्या
चेनसिंग, एकला से पड़ग्या काम
भाई भतीजा घरे है रह्या
चेनसिंग, एकला से पड़ग्यो काम
सीस कटायो, घांट बंधायो
चेनसिंग मुख पर उड़े रे गुलाल
सीवर[3] में जाई डेरा हो डाल्या
चेनसिंग, धड़ से कर्‌या है जुबाब[4]

लावनी—लावनी पवाड़े की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत है। पवाड़े में पराक्रम और ओज की मात्रा अधिक है। उसमें युद्धगत प्रेरणा के संचार की क्षमता है। यद्यपि आधुनिक युग में पवाड़ा छंद में नये विषय ढलने लगे हैं, तथापि ओज की मात्रा और गति में परिवर्तन नहीं हुआ है।

लावनी नाजुक बंधों की रचना है। प्रणय और शृंगार लावनी में व्यक्त किये गये हैं। स्त्री-सुलभ कोमलता लावनी में सहज उपलब्ध है। जहाँ पवाड़े की भाषा में वीररसपूरित उबड़-खाबड़ शब्दों का प्रचलन है, वहाँ लावनी में मनोहारी शब्दों का प्रयोग है जिनमें करुणा और शृंगार को छूने की क्षमता है।

परम्परागत पवाड़े और लावनी में लोकगीतों की वे समस्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जो पिछले चार-पाँच सौ वर्षों से चली आ रही हैं। युद्धों का दबाव कम होने पर लावनी का चलन अधिक होने लगा। यद्यपि पवाड़े के साथ ही लावनी भी गाई गई है तथापि शान्ति के समय उत्तान शृंगार को व्यक्त करने के लिये रीतिकालीन कवियों की तरह लोकगायकों ने इसी छंद का आश्रय लिया है।

विश्लेषण—'लावनी' को कुछ विद्वान् 'मराठी गायन' कहते हैं तथा उत्तर

[1]ढेले। [2]चेनसिंह के दो साथी। [3]सिहोर (भोपाल)। [4]मुकाबिला।

भारत में कहीं-कहीं इसे ख्याल भी कहा जाता है। हिन्दी में 'लावनी' शब्द मराठी के 'लावणी' के अनुरूप नहीं लिया जाता है। महाराष्ट्र शब्द कोश[1] के अनुसार लावनी एक प्रकार की गेय कविता है, जिसमें श्रृंगार, वैराग्य आदि विषयों का समावेश प्रायः 'पहाड़ी' या 'काफी राग' में पाया जाता है। भाषा शब्दकोश में भी लावनी को एक प्रकार का छंद या ख्याल बताया है जो चंग बजाकर गाया जाने वाला गाना है।[2] महाराष्ट्र के वीर-रस प्रधान आख्यानक-काव्य पोवाड़ा (पवाड़ा) के ठीक विपरीत श्रृंगाररस प्रधान प्रेम-गीत लावनी को स्थान प्राप्त है। मराठी के शाहीर कवियों ने सन् १७६० ई० से १८१० ई० तक अद्भुत भावनाप्रधान काव्यों की रचना की है। एक ओर उन्होंने सम्पूर्ण प्रान्त को काव्य द्वारा सजग किया तो दूसरी ओर लावनियों द्वारा उत्तान-श्रृंगार में लिप्त भी किया। लावनी, लोकछंद होने के कारण महाराष्ट्र के 'तमाशा' दलों अथवा लोक-गायकों द्वारा परम्परा की सम्पत्ति बन गयी। साहित्य की प्राचीन सामग्री के अनुशीलन करने पर मराठी में केवल सात कवियों की लावनियाँ मिल सकी हैं। ये सातों[3] कवि भिन्न-भिन्न जातियों के थे जिनका संबंध ग्रामीणों और साधारण जन-समाज से था। इसीलिये इनकी रचनाओं में लोक-भाषा के प्रभावशाली अभि-व्यक्ति प्रकार, शैली और हृदयस्पर्शी तथ्यों का समावेश है। समसामयिक संतों के प्रभाव से इनकी रचनाएँ मुक्त नहीं हैं, क्योंकि लोकपरक अभिव्यक्ति होकर भी उनमें ऐसे अनेक शब्द आये हैं जो संत-साहित्य की संपत्ति है।

स्पर्द्धा लावनी का लक्षण है। महाराष्ट्र से आयी लावनी की लहर ने उत्तर भारत और मालवा के कवियों को प्रभावित किया। यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक ने १६ लावनियों की रचना की और इतना ही नहीं कालान्तर में भारतवर्ष में सैंकड़ों लावनीबाजों के अखाड़े स्थापित हो गये। रूपकिशोर, कवितागिरि, घमंडगिरि, भैरोसिंह, बाबा बनारसी, नाथासिंह, बादल, आशिक, अकबरावादी आदि पुराने लावनीबाजों की लावनियाँ अब भी गाई जाती हैं। भारतेन्दु की लावनियाँ मराठी के 'भूपति वैभव' एवं 'केशव करणी' छंदों से मिलती हैं। उन्होंने उर्दू के ढंग पर प्रयोग भी किये थे। एक लावनी संस्कृत में भी लिखी थी। तात्पर्य यह है कि लावनी-छंद में लोक-हृदय को पकड़ने की पर्याप्त सामर्थ्य है।

---

[1]महाराष्ट्र शब्दकोश, लि० पूना, पृष्ठ २६-२७। [2]डॉ० रसाल, पृ० १६२६। [3]रामजोशी (ब्रा०), अनन्त फंदी (ब्रा०), होनाजी बाला (निम्न), प्रभाकर (ब्रा०), परशुराम (नि०), बाला बाहरू और सगनभाऊ (मुसलमान)।

लावनी की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रभाकर माचवे ने इन मतों का संग्रह अपनी पुस्तक 'व्यक्ति और वाङ्मय' में किया है।[1] संक्षेपतः उसका सार इस प्रकार है—

१—मराठी में 'लावणे' का अर्थ है लगाना। पौधे को भी 'लावणी' कहते हैं। अतः ऐसे समय जो गीत गाये जाते हैं, वे लावणी कहलाये।

२—संस्कृत लू धातु का अर्थ है काटना अर्थात् लावणी रोपने के समय नहीं, कटनी के समय गाया जाने वाला गीत है।

३—'मधुर' से 'माधुर्य' और 'माधुरी' की भाँति, लवण से 'लावण्य' और 'लावणी' दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

४—'लापनिका' शब्द से उसकी उत्पत्ति का अनुमान होता है।

५—'लावनी' का अर्थ जोड़ना या मिलाना, रचना या सज्जा के अभिप्राय से मराठी के प्राचीन कवियों में मिलता है, जैसे—ज्ञानेश्वर का कथन (ज्ञानेश्वरी, १६, ६२)।

६—कर्नाटक में वीररस के आख्यान-काव्य और शृंगार-गीत, दोनों लावनी कहलाते हैं।

७—मराठी में लावनी छंद का रूप निश्चित नहीं है।

अस्तु, जहाँ तक छंद का प्रश्न है, प्रायः लावनी ८ मात्रा की धुमाली ताल में चलती है। कम से कम उसमें चार पद होते हैं और प्रथम दो पंक्तियों की टेक की मात्राओं के अनुसार चार पंक्तियां दौड़ती हैं। पाँचवी पंक्ति का मिलान दूसरी पंक्ति से होता है, तभी गायक सम पर जाता है। यद्यपि यह छंद उत्तर भारत में पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ तथापि लावनीबाजों ने और भी प्रयोग किये। मराठी में तो इसका रूप ही निश्चित नहीं, केवल इतना भर सब जानते हैं कि खास तर्ज और ताल में चलने वाले शृङ्गारपरक गीत लावनी कहलाते हैं। लावनी के भिन्न-भिन्न प्रकारों में छंदों के अनुसार शाखाओं का पता चलता है। कलगी तुर्रा की दो शाखाओं का उल्लेख पहले किया गया है। तोड़ा, सहेरा मुकुट, डुग्गा, अवघड़ आदि शाखाएँ अब लुप्त हो चली हैं। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक इनका प्रचार था। खड़ीबोली में मिलने वाली लावनियों के अतिरिक्त प्रान्तीय-भाषाओं में लावनियों का विशाल साहित्य उपलब्ध है।

मालवा में लावनी—मालवा में लावनीबाजी का प्रचलन मराठों के कारण हुआ। इसलिये 'पवाड़ा' छन्द के साथ लावनियाँ यहाँ की जनता के

---

[1] देखिये, पृष्ठ ६६-६७।

लिये मनोरंजक सिद्ध हुई। रियासतों में लावनीबाजों को आश्रय मिला। मालकन ने अपने संस्मरण में इस तरह के कुछ मनोरंजनों का उल्लेख किया है। कुछ वर्षों पूर्व आगर (मध्यप्रदेश) में लावनीबाजों का काफी जोर था। इसी तरह निमाड़ और मालवा के सांस्कृतिक पर्यवेक्षण के अवसर पर लेखक को लावनी सुनने का अवसर मिला। यह स्पष्ट है कि लावनी मालवा का छंद नहीं है। इसमें यहाँ की लोक-परम्परा का स्पन्दन अन्य साहित्य की अपेक्षा कम है, क्योंकि वह यहाँ की उपज न होकर ऊपर से आया प्रभाव है।

(इ) दारूड़ी

राजस्थानी लोकगीतों में 'दारूड़ी' के गीत सुरापान के दृश्यों को आज तक सजीव बनाए हुए हैं। इनके गाने वालों का समाज 'बारठ' के नाम से विख्यात है। 'बारठ' अपनी बारह हठों के लिये राजस्थान में प्रसिद्ध है। यह जाति सभी प्रकार के, सभी अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों की मौखिक परम्परा को सम्हाले हुए, आर्थिक अभावों के कारण अपने भूतपूर्व आश्रयदाताओं की स्तुति करके चाहती है कि आज भी वे पहले जैसे ही समृद्ध हों।

सुरापान के उपयुक्त वातावरण-निर्माण के लिये बारठ स्त्रियाँ 'दारूड़ी' ढोलक पर गाती हैं। इस प्रकार बारठ जाति पूर्वकालीन सामन्ती सभ्यता की विलासिता पर आश्रित होकर उसे प्रोत्साहित करने की कला में क्रमशः पटु होती गई। अनेक प्रकार के विशेषणों से अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर पुरस्कार प्राप्त करने के उद्देश्य से नई-नई बिरुदावली बनाना इसका जातिगत पेशा हो गया।

'दारूड़ी' वस्तुतः शराब है। अतः सुरापान से संबंधित गीत 'दारूड़ी' के नाम से पुकारे जाते हैं और इसकी असंख्य बंदिशें राजस्थान और मालवा की धरती पर बारठों और ढोलियों के साथ दूर-दूर तक फैली हुई हैं। रात को जब आश्रयदाता सुरापान के लिये तैयार होते हैं तब बारठ स्त्रियाँ अपने स्वामी को सुरा के पात्र भर-भर कर प्रस्तुत करती हैं और दूसरी ओर ढोलक पर 'दारूड़ी' की ध्वनि वातावरण में फैलकर पीने वाले को आनन्द विभोर करती हैं। राजस्थान अथवा मालवा में छोटे-बड़े ठिकानों में सुरापान के ये दृश्य यदा-कदा आज भी दृष्टि में आ जाते हैं।

'दारूड़ी' गीत—'दारूड़ी' दो-दो पंक्तियों के लघु गीत हैं जो निश्चित टेक के साथ जुड़े हुए हैं। कुछ गीत दो से अधिक पंक्तियों के भी हैं, किन्तु प्रधानतया ये दो ही पंक्ति के होते हैं। 'दारूड़ी' गीतों के निश्चित समूह के लिये एक टेक निर्धारित है। टेक बदलते ही ध्वनि का ढंग भी बदल जाता है।

ढोलक की फड़क के साथ टेक उठती है और गीत की भावना की अंतिम पंक्ति के साथ मेल कर के श्रोताओं पर सीधा प्रभाव डालती है। 'दारूड़ी' के गीत वास्तव में मजलिसी गीत हैं। कुछ 'दारूड़ी' गीतों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :—

ये जी तुम जाओ किलालण बाग में
म्हारा बाबीला बणी छे उम्मेद ॥ टेक ॥
सीसो तो धक धक करे, प्याली करे पुकार।
ठाड़ी कामण अरज करे—पीओ राजकुमार ॥—ये जी०

'ये जी तुम कलालन के बाग में जाओ, मेरे प्रियतम ! बड़ी आशा है ! बोतल पूरी भरी है, प्यासा आपका प्रतीक्षा कर रहा है। कामिनी खड़ी-खड़ी आपसे प्रार्थना कर रही है—'पीलो राजकुमार' !

म्हारे पीयर माऊ घणा, नगर बसे छे किलाल।
उठ किलालन खोल किवाड़ी के थारी दारू की मोल ॥
सीसारालेसी पान से, प्याला री गोल पचास।

मेरे पीहर में महुवा बहुत है और नगर में कलालों की बस्ती है। उठ कलालिनि द्वार खोल, अपनी दारू का मूल्य बता। 'बोतल का पाँच सौ और प्याले का मूल्य पचास है।'

झालो कणी ने दियो राज, म्हारी नानीबई रा सिरदार ॥ टेक ॥
म्हार आंगण पावणा, कांई करूं मनवार।
तन चोखा, मन लपसी, नैन परोसन हार ॥

—झालो कणी ने दियो०

मेरी नानीबाई के प्रियतम ! किसने मेरे राज का संकेत किया। मेरे आंगन में अतिथि हैं, मैं क्या भेंट करूँ ? मेरा तन चांवल है, मन लपसी, और नैना परोसने के लिये प्रस्तुत हैं।

इक इंदारी ओवरी दूजी बैरन रात।
दीज्या ढोल्यो सावल्यो...के पीओ राजकुमार ॥

—झालो कणी ने दियो०

एक तो अन्धेरी कोठरी, दूसरी बैरन रात तथा तीसरे पलंग प्रतीक्षा-रत है—पीलो राजकुमार।

मैं जाणू हरि दूर है, हरि बसे तन माय।
अस्थी टाटी कपट की-पीओ राजकुमार ॥

—झालो कणी ने दियो०

मैं समझती थी हरि दूर हैं, पर यह तो मेरे तन में बसे हैं—पीलो राजकुमार।

म्हारी आँखड़ली फड़के नी ढ़ोला कदी आवस्या ।। टेक ।।
साट्या रै गले लोंदरी ने दूजी बैरन रात ।
एक मरवण बायरा सबो ने सब राज ।।
—म्हारी आँखड़ली०

मेरी आँखें फड़क रही हैं, प्रियतम अब आएँगे ? सांड के गले में घूँघरों की माला है और दूसरे बैरन रात है । एक मरवण के ही प्रियतम नहीं हैं, और सब का सब कुछ है ।

ये तो ढ़ोला बेरनिया बिलमायोजी ।
अन्नदाता म्हारा पीली दारूड़ी ।। टेक ।।
ये तो ढ़ोला बेरनिया बिलमायोजी ।
मदड़ो भरावो देसी राज ।
कायन यी भाटी चंगेरे, कायन की मद होय ।
दारू में दगो किया, नरबस जाये क्लाल ।।
—ये तो ढ़ोला०

किसी की मिट्टी चढ़ी है और किस वस्तु की मदिरा निकल रही है । शराब ने मुझे धोखा दिया । कलाल तेरा निर्वंश हो ।

पत्ती टूटी डाल से जाय पवन उड़ जाय ।
गौरी छूटी वचन से मोती जाय बखार ।।

जिस प्रकार डाल से पत्ता टूटते ही पवन में उड़ जाता है, उसी प्रकार अपने वचनों से सुन्दरी के भ्रष्ट होते ही उसका मोती (आब) बिखर जाता है।[१]

(ई) हाली

मालवा की कृषक जातियों में "हाली" नामक गीत खेत पर हल चलाने वाले कृषकों की स्तुति में गाये जाते हैं । हाली गीतों की संख्या लगभग २० या २५ है । इसी तरह बैलों को खेती का महत्वपूर्ण साधन माना है, बैल संबंधी गीतों में । दोनों ही गीत प्रस्तुत हैं :—

(१)

हालीड़ो हजारी ड़ो म्हारो लांखा को बेपारी
हाली म्हारो हल हाँके ।

[१]उद्धृत गीत अनारबाई बारहट से लेखक ने लिपिबद्ध किये, ग्राम सुन्दरसी।

हालीजी, माथा की पागा तो हालीजी हद वणी
मोती को मोल हजार, हालीड़ो म्हारो लाखां को बेपारी
—हाली म्हारो हल हांके०[१]

मेरा हाली हजारों रुपये कमाने वाला है। वह लाखों का व्यापारी है। वह हल हांकता है। कीमती पगड़ी बंधा दूँ और हजारों के मोती भी यदि उसे पहना दूँ तो अधिक नहीं होंगे। उससे उसका उपकार नहीं हो सकता। वह लाखों का व्यापारी है (धरती से अनाज पैदा करता है)।

(२)

थाकी कमई म्हारा धोड़िला
कूवा बंधाया, लाखारो नाज उपाय
वारी श्रो छालर का जाया
सोना से मढ़ा दूँ थाकी सींगड़ी।
थाकी कमई म्हारा धोड़िला
कन्या परणाई घर को धरम बढ़ाय
वारी श्रो छालर का जाया
सोभा से मढ़ादूं थाकी सींगड़ी।
थाकी कमई म्हारा धोड़िला।
बेटा परणाया घर को बंश बढ़ाय
वारी जो छालर का जाया
सोना से जड़ाऊ म्हाकी सींगड़ी।[२]

तुम्हारी कमाई से हे मेरे बैलों, मैंने कुंआ बंधाया, लाखों का अनाज पैदा किया, तुम पर वारी जाऊँ—तुम्हारे सींगों को सोने से मढ़ा दूँ। तुम्हारी कमाई से मैंने कन्या का विवाह किया जिससे घर का धर्म बढ़ा। हे गाय के जाये, तुम पर वारी जाऊँ, तुम्हारे सींग सोने से मढ़ा दूँ। तुम्हारी कमाई से मैंने लड़के का विवाह किया जिससे बंश बढ़ा। हे गोमाता के पुत्रों, तुम पर वारी जाऊँ—तुम्हारे सींगों को सोने से मढ़ा दूँ।

(उ) 'श्राफू'

'श्राफू' अर्थात् अफीम की खेती मालवा में सैकड़ों वर्ष पूर्व से होती आ रही है। ऐतिहासिक ग्रंथों में अफीम की खेती के कई उदाहरण उपलब्ध हैं।

---

[१]रायपुर से प्राप्त, प्रेषक जगन्नाथ सिंह झाला। [२]वही।

गेरिसिया ओर्टा नामक यात्री ने १६वीं शताब्दी में इसकी खेती होने का उल्लेख किया है।[1] चीन से इस अफीम द्वारा काफी समय तक मालवा का संबंध बना रहा। अफीम के फूलों की विभिन्न रंगतों का प्रभाव मालवी गीतों में झलकता है। अस्तु, अफीम मालवा के लोक-जीवन में महत्त्व का स्थान रखती है।

नीमच से प्राप्त एक लोक-गीत में[2] एक नववधू घर के झगड़े से तंग आकर अफीम खा लेती है। उसके मर जाने पर परिवार के सभी व्यक्ति रुदन करते हैं। पश्चात्ताप के स्वर कुटुम्ब में व्याप्त हैं—"हे बहू, यदि तुमने अफीम खा ली थी तो कम से कम बता तो देती, जिससे अफीम का विष उतार दिया जाता। देवरानियाँ, जेठानियाँ, तेरी सास देखभाल करतीं।" मूलगीत है—

सासू ने घोटियो केसर लीपणों ए मारवणी
नणदल ने धोरी घर में राड़ ॥ई वन आफूरा॥
क्यूँ खाई ए आभा बीजरी
कई आफू खाती तो माने केवती ए मारवणी।
थारी आपू वेता उतार ॥ ई वन आफूरा ॥
कई देराण्या जेठाण्या मेरे बैठती
कई करती सार-सम्भार—ए मारवणी।
भीं बैठा थारे पावड़े
कई थूँ सूती खूंटी ताण ॥ ई वन आफूरा ॥
सासू ने घोरियो केसर लीपणों
नणदल ने घोरी घर में राड़ ॥ ई वन आफूरा ॥

[ङ]

महीनों के क्रम और त्योहार

महीनों के क्रम से मालवा के बार-त्योहार की सूची निम्नलिखित है—

चैत्र : जमरा बीज, शीली सातम, दसामाता, तीज और आसामाता।
बैशाख : अखा तीज (अक्षय तृतीया)।
ज्येष्ठ : बड़ पूजन (बट-सावित्री-पूजन)।
आषाढ़ : देवसूनी एकादशी, मेरू पूजन।
श्रावण : हरी अमावस्या (दिवास), नागपंचमी, राखी, सावनी तीज (कजली तीज)।

---

[1]इम्पीरियल गजेटियर सेन्ट्रल इण्डिया १६०८, पृ० ४५-४६। [2]नागेश मेहता द्वारा प्रेषित।

भादों : जन्माष्टमी, ऋषि पंचमी, हलछठ, डोल ग्यारस, बजबारस, अनन्त चौदस ।

क्वार : संजा पूजा, श्राद्ध, नवरात्रि, गर्वा, दशहरा, अष्टमी पूजा ।

कार्तिक : कार्तिक स्नान, दीपावली, गोरधन पूजा, भाई बीज, देव उठनी ग्यारस ।

अगहन : ———

पौष : पौषी इतवार ।

माघ : ———

फाल्गुन : होली ।

उक्त त्योहारों का वर्णन और उनके लोकानुष्ठानों का विवरण निम्न है—

जमरा—'जमरा' किसी शब्द का विकृत रूप प्रतीत होता है। वर्षों से 'जमरा' की प्रथा मालवा में विद्यमान है। जमरा चैत्र में दो बार किया जाता है। होली के दूसरे दिन का त्योहार 'जमरा बीज' कहलाता है। इस लोकाचार में एक बलाई स्त्री सिर पर टोकनी रखकर होली-दहन के स्थान पर खड़ी रहती है। उसके एक हाथ में मूसल होता है जिसे वह धरती पर कूटती है। सवर्ण जाति की स्त्रियाँ बारी-बारी से उसकी टोकनी में पापड़ और नमक-मिर्च रखकर ऊपर से पानी डालती जाती हैं। इस आचार का उद्देश्य होली की छूत निकल जाना बताया जाता है।

मालवा के ग्रामों में इस प्रथा का विकृत रूप उन स्थानों में देखा जाता है, जहाँ हरिजनों के प्रति गहरी घृणा और सामन्ती प्रभाव का एकतंत्रीय स्वरूप विद्यमान रहा है। 'जमरा' के नाम पर बलाई स्त्री की आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे गाँव में घर-घर घुमाया जाता है। भद्दे मजाक और छेड़-छाड़ इस अवसर पर आचार के अंग समझे जाते हैं। इसी प्रथा को होली के १३वें या १४वें दिन फिर दुहराया जाता है। उस समय अनेक बलाई स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं। उनके हाथ में गीली छड़ियाँ दे दी जाती हैं, इधर सवर्णजन उन्हें छेड़ते हैं, अश्लील शब्द बोलते हैं, अंग स्पर्श करते हैं, और उधर इस आयोजन के मनोरंजक रूप को उभाड़ने के लिये स्त्रियों को उन छड़ियों से मारने के लिये बाध्य किया जाता है।

संभवतः 'जमरा' की प्रथा मध्यकाल में राजपूती विलास के विकृत रूप का लोकाचारी स्वरूप प्रतीत होता है। पहले पुरुषों ने इसे चलाया और बाद में स्त्रियों ने इसे अपना लिया। इस अवसर पर होली के ही गीत गाये जाते हैं।

शीली सातम—शीतला की पूजा का आयोजन इस त्योहार के अन्तर्गत आता है। इसमें ठंडा भोजन और शीतला की स्तुति संबंधी गीत स्त्रियाँ गाती हैं। इस विषय में विस्तार से अन्यत्र लिखा गया है।

दसा माता—दसा माता की कथा राजा नल से संबंधित है। कथा के अनुसार दमयन्ती के गले में बँधा दसा माता का सूत्र राजा नल ने क्रोध में आकर तोड़ डाला था, परिणामस्वरूप नल को विपत्तियों का सामना करना पड़ा। जब पुनः सही सूत्र दमयन्ती ने धारण किया तभी जाकर विपत्तियों का निवारण हो सका।

मालवा की स्त्रियाँ अश्वत्थ वृक्ष के समीप जाकर दसा माता के नाम से डोरे चढ़ाती हैं और वहाँ बैठकर माता के संबंध में प्रचलित वार्ता कहती हैं।

तीज—तीज अर्थात् त्रितिया वास्तव में गणगौर का त्योहार है। तीज का त्योहार वर्ष में दो बार आता है—एक बार चैत के महीने में जिसे चैती तीज कहते हैं तथा दूसरा सावन के महीने में जिसे सावनी या कजली तीज कहते हैं। चैती तीज के दो पक्ष हैं—१. बालिकाओं की और २. वयस्क स्त्रियों की। बालिकाओं की तीज 'फूलपाती' कहलाती है, किन्तु उनके गीत वयस्क युवतियों की भावना का संकेत करते हैं। अनुमान किया जाता है कि 'फुलपाती' की प्रथा प्रारंभ में युवतियों ने ही आरंभ की होगी और अनुसरण के निमित्त बालिकाओं ने उसे अपना लिया होगा। अस्तु, 'फुलपाती' का तीज से भिन्न महत्त्व नहीं है। मालवा की सीमाओं पर के प्रान्तों में तथा विशेष रूप से राजस्थान में इसका प्रचार अधिक है। यों तो मालवा के मध्य भाग में इस 'तीज' अथवा गनगौर की पूजा वर्ष में दो बार की जाती है, किन्तु इसका वास्तविक महत्त्व चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को ही प्राप्त है।

इस त्योहार की भूमिका कई दिनों पूर्व से बाँधी जाती है, और विशेष रूप से होली जला देने के पश्चात् वसन्त के आगमन के स्वागतार्थ 'तीज' के रूप में इसका आरंभ होता है। कुँवारी कन्याएँ एकत्र होकर गीत गाती हुई बागों में या नदी के किनारे कुंजों में जाती हैं। गीतों की गंगा बहाती हुई 'तीज' के प्रतीक तीन कलशों में वे वसन्त ऋतु की नवीन पत्तियों को उनके जल में रखती हैं। यह आयोजन 'फुलपाती' के नाम से विख्यात है।

इस पूजा का दूसरा रूप भी है। तृतीया की गनगौर को सजाया जाता है। गनगौर से गौरीशंकर का तात्पर्य समझा जाता है। गीतों में निहित भावनाओं से प्रकट है कि इस उत्सव में पार्वती के गौने की कल्पना प्रधान है। कहीं-कहीं तो केवल पार्वती (गौरी) की प्रतिमा सजाई जाती है और कहीं पार्वती के साथ शंकर को भी बनाया जाता है। इस जोड़ी को मालवी भाषा

में 'ईसर-गौर' कहते हैं। चूंकि तीज के त्योहार में अधिकांश रूप से उन कन्याओं का योग रहता है जो अपने विवाह की सुघड़ी की प्रतीक्षा में रहती हैं और जो अपने योग द्वारा मंगलमय सौभाग्य की कामना करती हैं; इसलिये पार्वती के गौने के उत्सव के रूप में 'तीज' की महत्ता को स्वीकार किया जावे तो अत्युक्ति न होगी।

शंकर जी की मूर्ति को 'ईसरजी' कहा जाता है। 'ईसरजी' ईश्वर शब्द का अपभ्रंश है, यह असत्य नहीं। इस नाते ईश्वर को शंकर मानना इसलिये भी स्वाभाविक है कि मालवा के प्राचीन केन्द्र अवन्तिका के ईश्वर रूप राजा महाकाल (शंकर) ही माने गये हैं।

'ईसरजी' की मूर्ति प्रत्येक गाँव के अनुरूप होती है। युद्ध-प्रिय जातियों में प्रत्येक 'ईसरजी' के सिर पर साफा, बड़ा सा बागा, कमर में तलवार और पीठ पर ढाल बाँध दी जाती है। गौरी तो साधारणतया मालवी वस्त्राभूषण से ही सज्जित होती है।

गौरी के पूर्व 'गण' प्रत्यय के संबंध में निश्चित कहा नहीं जा सकता। प्रायः 'गण' से शंकर के विराट रूप में पार्वती के एक रूप होकर रहने से भी तात्पर्य समझा जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्राचीन काल में 'गणों' ने इस पूजा को प्रारंभ किया होगा। प्राचीन काल में वसन्त-पूजा का अन्य उत्सवों की अपेक्षा अधिक महत्त्व था। प्रकृति के विभिन्न ऋतुओं में वसन्त, यौवन का प्रतीक है जो त्योहार के रूप में मान्यता पाकर स्त्रियों द्वारा धीरे-धीरे यौवन की सुरक्षा के निमित्त सौभाग्यरूपा गौरीशंकर की जोड़ी की पूजा के रूप में अपना लिया गया है, इसमें अत्युक्ति नहीं।

'तीज' अथवा 'गनगौर पूजा' के साथ अनेक धारणाएँ भी क्रमशः जुड़ती गईं। 'तीज' को गेहूँ के उगते हुए पौधे से पूजा जाना सर्वत्र विद्यमान है। हरे अपरिपक्व पौधे क्या बसन्त की नई कोंपलों के प्रतीक नहीं? जो हो, प्रकृति के नवोल्लास से इस पूजा का विशेष संबंध है। यह संबंध सामाजिक जीवन में आकर उस पहलू को छूता है, जहाँ जीवन की नवगंगा और प्रेम की यमुना का अपार प्रवाह विद्यमान है। इसलिये गीतों की कड़ियों में इस संबंध की महत्ता भी स्वीकार की गई है।

गनगौर के गीतों में शृंगार संबंधी गीतों की अधिकता है। बसन्त के संबंध में परोक्ष रूप से भावनाएँ व्यक्त न होकर अपरोक्ष में भावों की अभिव्यक्ति पाई जाती है।

एक गीत है जिसमें एक नवविवाहिता कन्या पूर्णरूप से अपने नये जीवन के अनुरूप नहीं हो पाती है। खेल-कूद की प्रवृत्ति को इस नये जीवन की

गंभीरता में बदल डालना उसके लिये कठिन प्रतीत होता है। उसके पति की, संभवतः एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह था। पति जब उससे नहीं बोलता तो भोली बधू उसके अबोले पर कहती है :—

जी सायबा, खेलण गई गणगौर
अबोलो म्हां से क्यों लियो जी—म्हारा राज।

जी सायबा, अबोलो देवर जेठ,
मारूजी रूस्या नी सरे जी—म्हारा राज।

जी सायबा, एक चना-री दोय दाल
दोय ने राखो सारखी जी—म्हारा राज।[1]

अर्थात्—हे प्रियतम, मैं गनगौर खेलने गई थी, मुझसे आपने क्यों बोलना बन्द कर दिया ?

हे प्रियतम, देवर और जेठ न बोलें तो कोई बात नहीं, किन्तु पति का मौन तो असह्य है।

हे प्रियतम, हम दोनों (दोनों सौत बहनें) एक चने की दो दाल के समान हैं। हमें तो समान रूप से रखना चाहिये।

हे प्रियतम, हमारे बीच रेशम की गांठ की तरह दोनों का प्रेम बँधा है। गाँठ टूट सकती है, पर उसका छूटना कठिन है।

एक दूसरा गीत है जिसमें नायिका अपने प्रियतम के प्रति अधिक विह्वल होकर स्वयं से ही प्रश्न करती है :—

कईं रे जुवाब करूँ रसिया से।
दल से बादल बिच चमके तारो।
तो सांझ पड़े पिउ लागे जी प्यारो॥
कईं रे जुवाब करूँ रसिया से।
जोर करूँगी, जुवाब करूँगी।
तो रसिया नैना में लीज रहूँगी॥
कईं रे जुवाब करूँ रसिया से।
रसियाजी म्हाने किने बिलमाया।
लो लौढ़ी[2] कां जाता बड़ी बिलमाया।

---

[1]मा० लो० (अ० प्र०), सं० ६, गीत संख्या २१। [2]छोटी स्त्री।

कई रे गुमान करूं रसिया से ।
मम्भर[1] को रस ढोका[2] ने लियो ।
तो ढोका को रस सायब लियो ॥
कई रे जुवाब करूं रसिया से ।[3]

फुलपाती के अन्य गीतों में 'बिंदली[4]' गीतों में आभूषण के गुम हो जाने का कथन है । नायिका अपने प्रियतम से और नई बिन्दली बनवा देने का आग्रह करती है और गनगौर पूजन के लिये पति से आज्ञा चाहती है । पति कहता है कि तुम गनगौर का पूजन अवश्य करो, वह तुम्हें पुत्र देगी ।[5]

गनगौर संबंधी और अन्य गीतों का विवेचन सावन के गीतों के अन्तर्गत अन्यत्र किया गया है ।

'आसामाता'—चैत्र पूर्णिमा को आसामाता का पूजन किया जाता है । उस दिन आसामाता के नाम की कुंडी रखी जाती है । आसामाता के नाम से मिट्टी के दो पात्र जिसमें पूरी-भुजिये या आटा भरा जाता है, स्थापित करते हैं । इस आटे की रोटी नहीं बनाई जाती, पहिले लीप कर बाजोट की आकृति बना दी जाती है और उस पर जुवार बिछाने के बाद कुंडी रखी जाती है ।

आसामाता से तात्पर्य आसा रूपी माता से प्रतीत होता है । उसकी कुंडी पर स्वस्तिक की आकृति और मुख पर नाड़े बाँधे जाते हैं, जो परिवार की समृद्धि के सूचक चिह्न हैं । इस आयोजन के पश्चात् स्त्रियाँ वार्ता कहती हैं । वार्ता का सारांश इस प्रकार है :—

"एक राजा था । उसके पाँच पुत्र थे । सबसे छोटे पुत्र की बहू अनमानेती थी । लड़का ढोर-ढांढा चराया करता था और बहू घर का पूरा काम-काज करती थी । वह देर तक घर के कार्य में व्यस्त रहती और सब के अन्त में बासी भोजन करती । लड़के को भी उचित भोजन प्राप्त नहीं होता था ।

बैशाखी पूर्णिमा के दिन बहू सोचने लगी कि आज तो उसे और उसके पति को ठीक भोजन मिलेगा ही । पर दुर्भाग्य से उस दिन भी उन्हें जूठा ही मिला । सब लोगों ने पूरी-भुजिये और अन्य सामग्री खाई थी, पर उनके भाग्य में यह नहीं था । पत्नी को अश्रुपूरित देख लड़के ने एक 'गणी' (भोज्य सामग्री) अपने बाल में बाँध ली और घर से चल पड़ा ।

[1,2]आभूषण-विशेष । [3]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० ६, गीत संख्या २० । इस गीत का राजस्थानी पाठान्तर भी मिलता है । [4]वही, गीत संख्या २३ । [5]वही, गीतसंख्या २४ ।

वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ का राजा मर गया था। लोग राजा की खोज कर रहे थे। लोगों के पूछने पर जब इसने अपने को राजा का पुत्र बताया तो यह राजा बना दिया गया।

इधर उसके घर से जाते ही दशा बिगड़ने लगी। राज-परिवार को खाना तक मिलना कठिन हो गया। इसलिये एक दिन वह परिवार भी अपना देश छोड़कर छोटे लड़के के राज्य में आ गया। छोटे पुत्र ने उन्हें पहचान कर अपने महल में सेवक-सेविकाओं के पद पर सब को स्थान दे दिया। अनमानेती महल में छाछ-दूध ले जाती थी। इससे सास क्रुद्ध होती थी।

जब पुनः पूर्णिमा आई तो छोटे पुत्र ने जो राजा था, आग्रह किया कि अनमानेती आकर उसे स्नान कराये।

अनमानेती जब राजा की पीठ मल रही थी तो उसने बाल में बँधी गणी देखी। उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। दोनों मिले। जिस तरह दोनों की बिगड़ी सुधरी, सब की सुधरे।"

इस कथा में आशा पूर्ण होने की भावना ही आबद्ध है। परम्परा से यह कथा 'आसामाता' के दिन कही जाती है।

आखातीज—आखातीज बैशाख शुक्ल तृतीया के दिन पड़ती है। कृषि-प्रधान मालवा में इस दिन पानी का नया मटका और ऊपर से खरबूजा तथा आम्र-पत्र रखकर पूजा की योजना में गुड़ की थूली तथा मीठी रोटी का भोजन, घी गुड़ का धूप-दान और बैलों की आरती तथा हल द्वारा खेत की बोअनी की जाती है। यह दिन किसानों के लिये नये वर्ष के प्रारंभ का शुभ दिन समझा जाता है। इस दिन की बोअनी फसल की वृद्धि कामना से संबंधित है।

आखातीज का केवल आनुष्ठानिक महत्व है। 'अखा', 'अक्षय' का अपभ्रंश है। वह अज्ञात माता जो कभी समृद्धि में क्षय नहीं लाती, अखातीज है और तीज इसलिये कि वह दिन तृतीया को पड़ता है। अखातीज के गीत नहीं गाये जाते।

बड़ पूजन—बड़-पूजन के दिन सावित्री की लोक-कथा कही जाती है। स्त्रियाँ वटवृक्ष का पूजन करती हैं और व्रत रखती हैं। बड़-पूजन के गीत नहीं हैं। कहीं-कहीं भजन गा लिये जाते हैं।

'देव-सूनी' ग्यारस—उतरते आषाढ़ में देव सूनी ग्यारस पड़ती है। इस दिन स्त्री-पुरुष सभी व्रत रहते हैं।

मेरू पूजन—आषाढ़ की पूर्णिमा को मेरू पूजे जाते हैं। दीवार पर सिन्दूर से मेरू की आकृति बनाकर पूजा की जाती है और बाटी या खिचड़ी

का भोग लगाया जाता है। भेरू के नाम का नाड़ा सभी परिवार के व्यक्ति बाँधते हैं।

दिवासा—घरों में आकृति बनाकर पूजन किया जाता है। कुँवारी कन्याएँ जवारे लेकर 'हर्‌या-गोद्‌या' बोने जाती हैं और आपस में मुक्केमार खेलती हैं। छोटी लड़कियाँ झूले झूलती हैं तथा गीत गाती जाती हैं। मुक्केमार के साथ गेहूँ की धानी बाँटना इस आयोजन से संबंधित है। वास्तव में दिवासा लड़कियों का त्योहार है। यह दिन सावन की अमावस्या को पड़ता है। ग्रामों में कहीं-कहीं इससे तांत्रिक आचार जुड़े हैं। बड़े द्वारों पर नाड़े बाँधे जाते हैं जिसे 'टाँकना' कहा जाता है। कहीं-कहीं देव-स्थान पर जीवित पशु गाड़े जाते हैं। ये प्रयोग टोटके के हैं, जिनका आधार कदाचित् पूर्वकालीन तांत्रिकों का प्रभाव हो सकता है।

नाग पंचमी—नागाकृति बनाकर पूजन किया जाता है। स्त्रियाँ नागजी के गीत गाती हैं।

राखी—राखी को 'सरवन' पूजे जाते हैं और बहनें राखी बाँधती हैं। स्त्रियाँ सरवन की आकृति द्वार के दोनों ओर काढ़ती हैं और आपस में मिलकर कथा-वार्ता कहती हैं। राखी पर मालवा में गीत नहीं गाये जाते।

श्रावणी तीज—श्रावनी तीज को कजली तीज भी कहते हैं। वयस्क स्त्रियों के लिये यह गनगौर की विशेष पूजा का दिन है। गनगौर संबंधी अनेक गीत स्त्रियों में प्रचलित हैं, जिन्हें वे एकत्र होकर गाती हैं। आरती के गीत में गनगौर अर्थात् गौरी के पति 'सूरजजी' बताये गये हैं, किन्तु उन्हीं के साथ महादेव की आरती भी घोषित की गई है।[1] कन्या के पिता सूरजजी से अपनी पुत्री का विवाह करते हैं और बदले में कुछ नहीं चाहते। वे कुंकुम और कन्या हाजिर कर देते हैं।[2] इस दिन रात्रि को जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें 'तम्बोल' कहते हैं। 'तम्बोल' के गीतों में माता 'कोर्‌या' को संबोधित करते हुए रणुबाई (गणगौर) का ललाट चाँदनी में शोभित होता हुआ बताया गया है। जब तक 'ईश्वरजी' का राज्य है, तब तक उसका चूड़ा अक्षय है।—(गीत १)

एक गीत में रणुबाई शृंगार करके घूमने के लिये जाना चाहती है। वह अपने मौसा और फूफा से आज्ञा माँगती है, तब उन्हें कहा जाता है कि मार्ग में नीर देखकर अपना माथा न धोना और न चिकनी शिला पर ऐड़ी घिसना। तुलसी के क्यारी में हाथ धोना अनुचित है। पराया पुरुष देखकर उससे हँसी-ठिठोली न करना और मार्ग छोड़कर उन्मार्ग न जाना चाहिए।—(गीत २)

---

[1]मालवी लोक-गीत (अ० प्र०), सं० सं० ६, गीतसंख्या २८। [2]वही।

तम्बोल के एक और गीत में ससुराल और पीहर के दो चित्र हैं। रणुबाई के लिये पीहर में भोजाइयों ने थाल परोस रखे हैं, सहेलियाँ बाट जोह रही हैं और भाई ने नये वस्त्र मँगाये हैं। पर ससुराल में रसोई घर का कार्य, घर का कूड़ा-कचरा और ननद के झगड़े उसकी प्रतीक्षा में हैं—(गीत ३)

रणुबाई गूजरी का रूप है। उसका सौन्दर्य अनोखा है। उसका शीश बगड़िया, नारिकेल आँखें, निंबू की फाँक, नाक तोते की चोंच, वक्ष साँचे में ढला हुआ, हाथ चम्पे की डाल, पेट पीपल का पत्र और पाँव देव-मंदिर के स्तंभों की तरह है।—(गीत ४)

निमाड़ी गीत में यही रूप वर्णन और भी अधिक अच्छी तरह निखरा है।[1] राजस्थानी पाठान्तर इसमें भिन्न नहीं है।

तम्बोल के गीतों में 'ईश्वरजी' आणा लेकर आते हैं। तब गोरलबाई की माता गोरल के वय में छोटे होने, सिर में पीड़ा होने, और निंदालु होने के कारण प्रस्तुत करती हैं। ईश्वरजी इन तीनों का इलाज बता देते हैं—(गीत ५)

गणगौर की माता एक गीत में ईश्वर के गले की माला और कुण्डलों की शोभा का वर्णन करते हुए कहती है कि हे पार्वती, यदि तुम मेरे गर्भ में न आती तो मुझे जोगी जमाई कैसे मिलता—(गीत ६)

(१)

माता कोर्‌या ओ कोर्‌या अम्मर चाँदलो
सोवे बऊ रणु को लिलाड़—म्हारो चाँदलो लागे सुहावणो
माता अखवो[2] हो चूड़ो अम्मर चाँदलो
अखवो हो ईश्वरजी को राज
—म्हारो चाँदलो लागे सुहावणो

(२)

रणुबई रथ सिंनगारिया हो मासाजी।
—हो फूफाजी।
तो कहो तो रमवा[3] ने जावाँ हो मासाजी।
हो फूफा जी।
जाओ बाई, जाओ बेन्या रमी घर आवजो।
(तो) नीर देवी ने बई माथो भती धोवजो।

---

[1]देखिये निमाणी लोक-गीत, पृष्ठ ४। [2]अक्षय। [3]घूमने।

चिकनो सिल्ला देखी एड़ी मती घिसजो ।
तुलसा रा क्यार बई हात मती धोवजो ।
तो परायो पुरस देखी हूँ ती मत करजो ।
तो बाट छोड़ी ने उबट मती जावजो ।

(३)

दोय डूँगर[1] बिच बाट कां चाल्या रणुबई हरकताजी[2]
सासरे मेल्या दूर पीयर चाल्या रणुबई हरकताजी
माता बई जावे बाट भोजाया ने थाल परोसी मेल्याजी
भोजान्या जोवे बाट सेल्यां[3] ने खेल संजोय मेल्याजी
सेहल्या जोवे बाट बीराजी ने बूपच्चा[4] संजोई मेल्याजी
दोय डूँगर बिच बाट कां चाल्या रणुबई अनमन्याजी
पीयर मेल्या दूर सासरे चाल्या रणुबई अनमन्याजी
सासू जोवे बाट, जेठानी ने रसोयां संजोय मेल्याजी
जेठानी जोवे बाट, देराणी बासीदो[5] संजोई मेल्याजी
देराणी जोवे बाट, नंनदल ने राड़[6] मचाई मेलीजी

गूजरी

(४)

तू तो धार नगर से आई हो गूजर गिंदोलनी
तू तो ईश्वर जी की साली हो गूजर गिंदोलनी
त्हारो सीस नारेल को डोंडो हो गूजर गिंदोलनी
त्हारी आंख लिंबू की फांक हो गूजर गिंदोलनी
त्हारी नाक सुआ की चोंच हो गूजर गिंदोलनी
त्हारो हयड़ो[7] सचे ढल्यो हो गूजर गिंदोलनी
त्यारा हात चम्पा की डाले हो गूजर गिंदोलनी
त्हारो पेट पीपल रो पानै हो गूजर गिंदोलनी
त्यारा पांव देवल रा खम्ब हो गूजर गिंदोलनी

आणो

(२)

ईस्वरजी, तम किना हो नखेतर[8] में आया हो राज
अवे आणो नी भेजां जी ।

[1]पहाड़ी । [2]प्रसन्नतापूर्वक। [3]सहेलियां । [4]वस्त्र । [5]भूठन, बासी । [6]लड़ाई ।
[7]वक्ष । [8]नक्षत्र ।

म्हारी सासूजी आया हो सावण मास
अबे आणो लई जावांगा ।
ईस्वरजी, म्हारी गोरलबई तो घणा हो नानेरा[1]
अबे आणो नी भेजांजी ।
म्हारी सासूबई, लावांगा अदवा-सदवा सूँठ
अबे आणो लई जावाँ जी ।
ईस्वरजी, म्हारी गोरबई तो घणां हो निंदालू[2]
अबे आणो नी भेजाँ जी ।
म्हारी सासूबई, पाबे-पावे ढोल्यो[3] ढलाँवा[4]
अबे आणो लई जावाँ जी ।

(६)

सगला सातोड़ा के चीरा बिराजे तो ईस्वर ने जटा बिराजे हो सैया ।
सगला सातोड़ा ने कंठी बिराजे तो ईस्वर माला बिराजे हो सैया ।
जाओ रणुबई, कूके नी आवता तो जोगी नी आवता हो सैया ।

ऋषि पंचमी––भादों की शुक्ल पंचमी को ऋषि पंचमी आती है । इस दिन स्त्रियाँ गेहूँ या चावल के ऋषि बना कर पूजन करती हैं और वार्ता कहती हैं । उपवास अपेक्षित है ।

हल छठ—पुत्रवती स्त्रियाँ इस तिथि को हल का हाँका हुआ अनाज नहीं खाती हैं । हाथ की बोयी हुई सामग्री या फलों का खाना वर्जित नहीं है । हल छठ की वार्ता कही जाती है ।

बज बारस––स्त्रियाँ गाय का पूजन करती हैं, खाँडा हुआ अनाज नहीं खातीं । गेहूँ और मूँग खाना भी वर्जित है । इसी से संबंधित 'गोंगलो-मोंगलो' नामक वार्ता कही जाती है ।

अनन्त चौदस––इस दिन अनन्त-भगवान की पूजा की जाती है और उपवास रखा जाता है । यह पूजा १४ वर्ष तक बहुत सी स्त्रियाँ करती हैं । अनन्त चौदस की वार्ता कही जाती है । उसी दिन स्त्रियाँ मिट्टी के 'भील-भीलड़ा' बनाती हैं और गाज-बीज के डोरे छोड़ती हैं । गाज-बीज का तात्पर्य गर्जन करने वाली बिजली से है । इस समय वर्षा समाप्त हो जाती है, अतः बिजली और गर्जन से मुक्ति पाने का यह आचार सम्पन्न किया जाता है ।

क्वार के महीने में लड़कियाँ संजा पूजती हैं, नवरात्र में देवी अम्बा की आराधना में गर्वा बैठाया जाता है । अष्टमी पूजी जाती है और दशहरा मनाया जाता है ।

---

[1]छोटे । [2]निद्रा लेने वाली । [3]पलंग । [4]बिछावें ।

मालवा के इन त्योहारों में शक्ति-पूजन, तांत्रिक-आचार, पौराणिक अनुष्ठान और लोक-प्रचलित परम्पराओं का समन्वय है। कृषि सभ्यता के प्रभाव सभी आचार-अनुष्ठानों पर लागू होते हैं।

कार्तिक का महीना स्नान और भजन का है। स्त्रियाँ प्रातःकाल गीत गाती हुई स्नान करने जाती हैं। इसी मास में दीपावली होती है। दीपावली के दूसरे दिन 'गोरधन' पूजे जाते हैं और 'चन्द्रावली' का गीत गाया जाता है। इस गीत के संबंध में अन्यत्र चर्चा की गई है।

बहनें, भाईयों को दूज के दिन न्योतती हैं। अगहन का महीना सूना जाता है। पौष में स्त्रियाँ प्रत्येक रविवार को सूर्य नारायण की उपासना करती हैं और घर में हेल-मेल बना रहे, इस आशय की वार्ता कहती हैं।[1]

माघ के पश्चात् फाल्गुन में नया उत्साह लेकर होली आती है।

[च]

प्रबन्ध एवं गीत कथाएँ

गूजरों की ऐतिहय परम्परा : 'हीड़' कुंजरों के गीत और चन्द्रावली— भारतीय लोकगीतों में गूजरों की वार्ता का प्रभाव पिछली कई शताब्दियों से प्रवेश पाता रहा है। मालवा और राजस्थान की 'हीड़' नामक गीत-कथा बगड़ावत गूजरों के गौरव की गाथा है। गूजर नामक पात्र, ब्रज, राजस्थान, मालवा और पंजाब की लोककथाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। गुरू गुग्गा की ब्रज लोकगाथा[2] देवराय और बाछल का उल्लेख करते हुए संभवतः गूजरों से आई प्रतीत होती है। गोरखपंथी प्रभाव इस कथा में बाद में जुड़ा है। मालवी गीतों में 'गूजरी' एक प्रेमिका और आत्माभिमानी नायिका होकर प्रकट हुई है। सर्वत्र उसे पुरुषों को मोहने की क्षमता से भूषित किया गया है। प्रेम के विभिन्न गीतों में सौतिया डाह की भावना को अपने नैसर्गिक सौन्दर्य और निस्पृह व्यवहार से गूजरी जागृत करती है। चारित्रिक दृष्टि से वह पतिता नहीं है, किन्तु कृष्ण के प्रति उसका आकर्षण उद्दाम प्रणय का सूचक है। वह प्रेमाभिभूत होकर कृष्ण संबंधी गीतों में एक गोपिका का स्थान ले लेती है। गोपिकाएँ, कृष्ण के गोप-सखाओं की पत्नियाँ हैं और गोपालक जाति की स्त्रियाँ होने के कारण दूध और दही बेचने वाली मानिनी प्रेमिकाएँ हैं। गूजर जाति के लोग, जैसा कि प्रकट है, पशुधन के स्वामी हैं। अतः गोपिकाओं के दधि-माखन प्रसंग गूजर-स्त्रियों से सहज ही संबंधित हैं। कृष्ण के साथ प्रेम-प्रसंग का

[1]देखिए, मालवा की लोककथाएँ, पृष्ठ ३६-३८। [2]ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ २०३।

वर्णन दूध-दही के उल्लेख से भिन्न नहीं हैं। गीतों में वर्णित गूजरी सदैव गढ़ से दूध-दही लेकर बेंचने के लिये निकलती है—

गढ़ से गूजरी उतरी रे लाल
माथे मही केरी माट, म्हारा लाल।

'सुपनो', 'जीजा', 'पणिहारी', 'सरवर' आदि गीतों में गूजरी का संबंध भिन्न-भिन्न रूपों में आया है। वह स्वस्थ सौन्दर्य की साक्षात् देवी है। रूप-गर्विता नायिका होकर भी उसे अपने पशुधन पर विश्वास है। राजस्थान और मालवा में गणगोर की परिक्रमा करते समय 'गूजरी' गायी जाती है। उसमें वह रूप नगर से आती है और 'ईश्वरजी' की साली है। उसकी आखें नींबू की फांकें जैसी सुन्दर और शीश बगड़िया नारिकेल की भाँति है। नाक सूए की चोंच, दाँत अनार के दाने, हाथ चंपे की डाली और पाँव देव मंदिर के स्तम्भों की तरह सुडौल हैं।[1] 'जीजा' या 'बड़ी' के गीतों में गूजरी सौत बताई जाती है। संभवतः मालविकाओं को गूजरी के सौन्दर्य पर अपने पतियों को रीझने का सदैव ही भय बना रहा होगा।

इतिहास के पृष्ठों 'गुर्जरत्रा' अर्थात् 'गुर्जरों' का देश एक समय गुजरात, सिन्ध और मारवाड़ तीनों से युक्त होकर बना है। कहा जाता है कि ई० सन् की छठी शताब्दी में गुर्जरों का प्रवेश मध्य एशिया की ओर से हुआ। इतिहासकारों के मतानुसार हूणों के साथ आने वाली यह भी एक जाति बताई गई है। कनिंघम का कथन है कि गूजर मध्य एशिया के यूची जाति से संबंधित हैं।[2] बाद में ये तुखारी समझे गये। रिजले जिन्हें इण्डो-आर्यन श्रेणी का मानते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि प्रथम पाँच शताब्दियों में हूण, सिथियन, और कुछ अन्य जातियों ने भारत में प्रवेश किया, जिनमें अनेक जातियाँ धीरे-धीरे यहाँ की स्थायी जातियों में घुल-मिल गई।[3] जयचन्द विद्यालंकार गूजरों को भारतवर्ष की ही एक पशुपालक जाति मानते हैं। अभीरों के साथ यह जाति कई शताब्दियों से व्यवसाय करती आ रही है। अपनी स्वस्थ देह और परिश्रमी प्रवृत्ति के कारण यह जाति शीघ्र ही पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मालवा में अपना प्रभाव जमा सकी है। मालवा में कई गाँव स्वतन्त्र रूप से गूजरों के ही बसे हुए हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय, पशुपालन और दूध-दही का क्रय-विक्रय है। राजस्थान की विस्तृत जाति के सौंधियों से गूजरों की प्रतिद्वन्दिता के कुछ गीत पाये जाते हैं—

[1]राजस्थान और निमाड़ में इस गीत के सुन्दर पाठान्तर प्रचलित है। [2]आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट्स, खंड २, पृष्ठ ६४। [3]स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३७५, १६०८।

"जामन्या खेड़ी का डूँगर्‌या पेरें
होंद्या गूजर लड़े कि...
तुमड़्या लड़ी-लड़ी पड़े..."

गूजरों की विशुद्धता का प्रश्न मतभेद का विषय है। काश्मीर के गूजरों को नृतत्व-विज्ञान के ज्ञाता अभी शुद्ध मानते हैं, क्योंकि उनकी बनावट और संस्कृति में एशिया की जाति से पर्याप्त समानता पाई जाती है। पंजाब के गूजर मुसलमानी धर्म ग्रहण किये हैं, जबकि मालवा-राजस्थान के हिन्दु-धर्मावलम्बी हैं। इस दृष्टि से लोकवार्ता के आधार पर बहुत कुछ ऐतिहासिक परम्पराओं का निर्णय किया जा सकता है। आर्यों के गठित सौन्दर्य का आभास मालवा के खातियों की तरह इन्हें देखकर भी होता है। गूर्जर स्त्रियों के शरीर का ढलाव, मुख की पैनी बनावट, नाक की उतरेड़ और गोर वर्ण किसी भी पुरुष को आकर्षित करने के लिये पर्याप्त है। मूलतः मालवी स्त्रियों के सौन्दर्य से अधिक, परिश्रम के तेज से दीप्त गूजरियों का सौन्दर्य हरियानी स्त्रियों से होड़ करता है। सिर पर से उठे हुए नुकीले जूड़े का बन्धन, ऊँचा घाघरा और लुगड़े का अनोखा पेहराव इस जाति के विशिष्ट रहन-सहन की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

कुछ गीतों में गूजरी 'गरब गहेली' है। उसे अपनी गायों की 'खान' और हाथियों के वैभव की तुलना में अपनी भूरी भैंसों पर गर्व है। अपने चाहने वाले के पुत्र की अपेक्षा उसे अपनी गायों के ग्वाले पर अधिक विश्वास है। इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाला निम्न गीत उल्लेखनीय है—

गूजरी

ओ गूजरण तमारें बुलावे देव रो—
ओ गूजरण म्हारो वो मंदर देखण आवियो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा मंदर को कई देखणो
ओ देवजी जैसी म्हारी गाया की या खान[1]
ओ गढ़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण तमारे बुलावे देव रो
ओ गूजरण म्हारा ओ हत्तिया देखण आवियो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा हत्ती को कांई देखणो

[1]जहाँ गाय बाँधी जाती है।

ओ देवजी जसी म्हारी भूरी या भैंस हो
ओ गढ़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण तमारे बुलावे देव रो
ओ गूजरण म्हारा यां घोड़िला[1] देखन आवियो
ओ गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा घोड़िला को कंई देखणो
ओ देवजी जसी म्हारी दूमड़ गाय हो
ओ गढ़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण तमारे बुलावे देव रो
ओ गूजरण म्हारा ओ पूत को देखन आवियो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा पूत कांई देखणो
ओ देवजी जसा म्हारा गाग्रा रा गुवाल
ओ गढ़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण केने दई धन माया
ओ गूजरण केने दई बालू पूत हो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी देवजी करम-धरम की म्हारी धन माया
ओ देवजी ने दयो बालू पूत
ओ गढ़ मथरा की गूजरी

गर्विली गूजरी, क्रम से मंदिर की अपेक्षा गायों की 'छान', हाथी की अपेक्षा भूरी भैंस, घोड़ी की अपेक्षा दूमड़ गाय, पुत्र की अपेक्षा अपने ग्वाल को उत्तम समझती है। इतना ही नहीं, अपनी धन माया को ईश्वर प्रदत्त न मानकर अपने कर्म-धर्म का फल मानती है। परिश्रम में विश्वास रखने वाली कोई भी जाति अपनी कमाई वस्तुओं को अनायास प्राप्त होने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है। श्रम का मूल्य वह जानती है, इसीलिये गर्व और दृढ़ता का संकेत उसकी बातों में मिलता है।

कृषि, पशु और कठोर परिश्रम तीनों ही से 'गूजरी' आवृत है। फिर इस कठोर आवृत से उद्‌भूत सौंदर्य क्योंकर कम प्रभावशाली रहे।

हीड़—दीपावली के उपलक्ष में मालवा, राजस्थान और मध्यवर्ती भारत के गूजरों में 'हीड़' नामक प्रबन्ध गीत गाया जाता है। 'हीड़' का अर्थ ज्योति

[1] घोड़े

ओ देवजी जसी म्हारी भूरी या भैंस हो
ओ गड़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण तमारे बुलावे देव रो
ओ गूजरण म्हारा यां घोड़िला[1] देखन आवियो
ओ गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा घोड़िला को कंई देखणो
ओ देवजी जसी म्हारी दूमड़ गाय हो
ओ गड़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण तमारे बुलावे देव रो
ओ गूजरण म्हारा ओ पूत को देखन आवियो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी तमारा पूत कांई देखणो
ओ देवजी जसा म्हारा गाया रा गुवाल
ओ गड़ मथरा की गूजरी
ओ गूजरण केने दई धन माया
ओ गूजरण केने दई बालू पूत हो
तू गरब गहेली गूजरी
ओ देवजी देवजी करम-धरम की म्हारी धन माया
ओ देवजी ने दयो बालू पूत
ओ गड़ मथरा की गूजरी

गर्विली गूजरी, क्रम से मंदिर की अपेक्षा गायों की 'छान', हाथी की अपेक्षा भूरी भैंस, घोड़ी की अपेक्षा दूमड़ गाय, पुत्र की अपेक्षा अपने ग्वाल को उत्तम समझती है। इतना ही नहीं, अपनी धन माया को ईश्वर प्रदत्त न मानकर अपने कर्म-धर्म का फल मानती है। परिश्रम में विश्वास रखने वाली कोई भी जाति अपनी कमाई वस्तुओं को अनायास प्राप्त होने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है। श्रम का मूल्य वह जानती है, इसीलिये गर्व और दृढ़ता का संकेत उसकी बातों में मिलता है।

कृषि, पशु और कठोर परिश्रम तीनों ही से 'गूजरी' आवृत है। फिर इस कठोर आवृत से उद्‌भूत सौंदर्य क्योंकर कम प्रभावशाली रहे।

हीड़—दीपावली के उपलक्ष में मालवा, राजस्थान और मध्यवर्ती भारत के गूजरों में 'हीड़' नामक प्रबन्ध गीत गाया जाता है। 'हीड़' का अर्थ ज्योति

[1] घोड़े

अथवा प्रकाश है। एक बड़े मृतिका पात्र में कपास और तिल्ली के तेल को भर कर ज्योत प्रज्जवलित कर दी जाती है। इसी प्रकाश की पूजा गूजर दीपावली पर करते हैं। यद्यपि यह औपचारिक अनुष्ठान है तथापि इससे संबंधित दीपावली के तीसरे दिन तक गायी जाने वाली 'हीड़' की कथा गोप-जीवन के सजीव चित्रों से भरी-पूरी एवं ऐतिहासिक तथ्यों को सहेजे हुए है। हीड़ के दो प्रकार प्रचलित हैं—(१) धोल्या की हीड़ (२) बालर हीड़।

'धोल्या' बैल का सूचक है। बैल कृषि जीवन में उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है। गूजरों के संपर्क से हीड़ ने इस प्रथम रूप में मालवा और राजस्थान के किसानों को बहुत प्रभावित किया। यही कारण है कि 'धोल्या की हीड़' वृषभ-पूजा का महत्वपूर्ण प्रबन्ध एवं स्तुति-गान होकर किसानों में प्रचलित हो गई। आर्यों का पशुधन संबंधी दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न कथाओं और गीतों में सभ्यता के विकास के साथ प्रचलित होता गया। भागवत में गोवर्धन पूजा का जो उल्लेख उपलब्ध है, वह एक लोक-कथा के संदर्भ में दीपावली के दूसरे दिन स्पष्ट होता है। 'धोल्या' किसान के खेतों को फलाने का साधन है। दीपावली के बाद 'पड़वा' (प्रतिपदा) को उसकी पूजा होती है। नये कलश में जल भर कर, ऊपर से रूपे के पान, कुंकुम भरा बाटका और मोतियों से भरा थाल लेकर, आर्य ललनाएँ 'धोल्या' की आरती उतारती हैं—

कोरो कलसियो जल मरियो ऊपर रूपा रो पान।
कूंक भरियो बाटको जी, मोतिया भरी रे थाल।

अस्तु, प्रथम प्रकार की हीड़ ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश न डालते हुए गो-पूजा की परम्परा को स्पष्ट करती है।

'बालर हीड़' बगड़ावत गूजरों का लोक-गीतों में सुरक्षित इतिहास है। भोजा रावत के वंश में गूजरों ने देवनारायण को देव-पुरुष माना है। देव-नारायण की माता साढू (सेढ़ा) थी। बगड़ावतों के पूर्वज बाघजी के पास असंख्य गायें, भैंसे और बैल थे। भोजा रावत एवं चौबीस बगड़ावत इन्हीं के पुत्र थे, जो 'बड़ावत' नामक ग्राम (मेवाड़) के आसपास क्रमशः बस गये थे। उस समय भोजा रावत और मिनाय ग्राम के राव बाघसिंह में मित्रता थी। भोजा द्वारा प्रशंसा करने पर बुवालगढ़ के ठाकुर ने अपनी बेटी जैमती को राव बाघसिंह के साथ ब्याह दिया।

किसी कारण आत्माभिमानी राव भोजा और बाघसिंह में खटक गई।

परिणामतः भोजा ने मिनाय पर आक्रमण किया और जैमती को निकालकर अपने यहाँ ले आया।

भोजा की दो स्त्रियाँ थीं। दूसरी स्त्री सेढ़ा (जो गीत में साढ़ू माता कही गई है) गूजरी थी। इधर पराजय और अपमान की आग में जलता हुआ बाघसिंह थोड़े समय के बाद भोजा पर टूट पड़ा। उसने पहले एक-एक बगड़ावत को मौत के घाट उतारा। राव भोजा भी युद्ध में काम आ गया। भोजा की मृत्यु के बाद पहली स्त्री अपने पुत्र 'भूणा' को लेकर अपने पिता के यहाँ चली गई और दूसरी सेढ़ा किसी तरह गोधन के सहारे जीवन-निर्वाह करने लगी। भोजा की मृत्यु के समय वह गर्भवती थी। उससे देवजी (देवनारायण) का जन्म हुआ। मारवाड़ की जनगणना के अनुसार देवजी का जन्म संवत् १३०० के लगभग हुआ। देवजी ने अनेक सिद्धियाँ पाईं और अपने पिता का बदला लिया। देवजी को जन्म देने के कारण माता 'सेढ़ा' और युद्ध में सहायता करने के कारण उनके भाई 'भूणा' भी गीत में पूज्य पात्र हो गये।

'हीड़' कथा के अनुसार देवनारायण को अपने पिता के युद्ध में मारे जाने का ज्ञान पनिहारिनों द्वारा होता है। वह आकर अपनी माता से विस्तृत जानकारी लेते हैं। गंग्या भाट द्वारा उन्हें अपने भाई भूणा का पता चलता है। दोनों भाई मिलजुल कर अपने शत्रु पर हमला करते हैं। उनकी सवा-लाख गायें शत्रु-प्रदेश उजाड़ देती हैं। किन्तु जब उन्हें ज्ञात होता है कि शत्रुपक्ष ने उन गायों को घेर लिया है, तो वे पुनः हमला करते हैं और अपनी गायें छुड़ा लाते हैं। यह घटना दीपावली के दूसरे दिन हुई, इसलिये उन दिनों हीड़ गाया जाना युक्ति-संगत है।

देवराज का विवाह नागराज की कन्या पीपलदे से होता है।

हीड़ की कथा के पाठान्तर अनेक हैं। चूँकि प्रस्तुत-निबन्ध में मूल हीड़ प्रस्तुत करना कठिन है, अतः केवल संकेत भर किया जा रहा है।

गायों के घेरे जाने की घटना तेजाजी की वार्ता में भी है। गूजरों की गायों को जब पनेर में घेर लिया गया तो तेजाजी ही उन्हें छुड़ाने पहुँचे थे। देवजी के मित्र माकड़जी का उल्लेख भी गीतों में आता है। युद्ध में माकड़ ने देव की बड़ी सहायता की थी।

गूजरों में बगड़ावतों की कथा का प्रचलन इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि देवनारायण की माता गूजर जाति की थी। गोधन की रक्षा करने के फलस्वरूप 'तेजाजी' और देव के मित्र होने के कारण 'माकड़' जी भी गूजरी के पूज्य हुए। गूजरों की यह कथा मालवा की धरती पर मेवाड़ से आई, क्योंकि

कथा में वर्णित घटना की प्रामाणिकता मारवाड़ के इतिहास की कतिपय तिथियों से सिद्ध होती है।

कंठपरम्परा की वस्तु होने के नाते पाठ-भेद और लोक-प्रचलित मान्यताएँ अतिरंजन के साथ उसमें समाविष्ट हो गई हैं।

कंजरों की मान्यताएँ—जरायम पेशा कंजर अपने को गूजरों के मंगत बताते हैं। बगड़ावत गूजर उनके लिये अत्यन्त पूज्य हैं। 'बिजोरी' नामक उनका गीत नरवर राज द्वारा बिजोरी के साथ धोखा करने की घटना से अनुरंजित है। उसमें बगड़ावतों की दानशीलता का उल्लेख है। नरवर राज के हाथ का दान कंजर नहीं लेते क्योंकि उसने बिजोरी के साथ धोखा किया। बगड़ावतों के मालवा आने की बात 'बिजोरी' गीत में व्यक्त हुई है—('बगड़ावत गया छे रे मालवारी वशी'।)

कंजर अपने को गऊ का जाया मानते हैं। बिजोरी और ढोली भी उनकी मान्यता के अनुसार गऊ के जाये हैं। भोजा रावत का विस्तृत रूप से उल्लेख हीड़ में आया है। कंजरों की एक 'लूँगर' में कोई कलालन प्रेमिका भोजा की प्रतिक्षा में ऊँचाई पर चढ़ कर दूर-दूर देखती है। वह अपने रसिया भोजा के जीवित रहने के लिये अन्तर से प्रार्थना करती है।

> परमात्था-परमात्था भोजा सोरिया वाता करे बतेर।
> ये ऊँची चढ़ी जा डागले जी छोरी दीखे रण बजार।
> ये कठे देखे म्हारा मदवा भोजा ने छाती फाटे।
> ये कठे देखे रसिया भोजा ने छाती फाटे।
> ये घसियारे, मोली वाला घणा भरजो सो ने पचास।
> ये रसिया भोजा तू मत मरजे त्यहारी पातुड़ी करे वण उठ त्यारी आस।[१]

एक लोक-कथा के अनुसार "भोजा रावत और मिया रावत (?) भगवान् की गाय चराया करते थे। एक दिन मिया रावत गाय की पूँछ में छुपकर भगवान् के पास पहुँच गया और कहने लगा—'महाराज मैं 'ग्वाली' (गाय चराने का शुल्क) लेने आया हूँ। भगवान् ने उसकी कुंबल में जौ डाल दिये। मिया रावत ने धरती पर आकर जौ फेंक दिये, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनका महत्व न था। भोजा ने बिलम्ब से आने का कारण पूछा तो मिया ने सब वर्णन सुना दिया। भोजा ने कम्बल को झटकारा तो उसमें से हीरा, मोती गिरे। 'हेरे, तूने गजब कर दिया, जौ तो दिखते भर थे।' मिया भगवान् ने तुझे हीरा-मोती दिये थे। मिया रावत लौटकर जौ ढूँढने गया तो कुछ नहीं मिला।"

[१] ग्राम सुन्दरसी में कंजरों के खेमे से सन् १९५२ में लेखक द्वारा लिपिबद्ध किया गया गीत।

कथा में वर्णित घटना की प्रामाणिकता मारवाड़ के इतिहास की कतिपय तिथियों से सिद्ध होती है।

कंठपरम्परा की वस्तु होने के नाते पाठ-भेद और लोक-प्रचलित मान्यताएँ अतिरंजन के साथ उसमें समाविष्ट हो गई हैं।

कंजरों की मान्यताएँ—जरायम पेशा कंजर अपने को गूजरों के मंगत बताते हैं। बगड़ावत गूजर उनके लिये अत्यन्त पूज्य हैं। 'बिजोरी' नामक उनका गीत नरवर राज द्वारा बिजोरी के साथ धोखा करने की घटना से अनुरंजित है। उसमें बगड़ावतों की दानशीलता का उल्लेख है। नरवर राज के हाथ का दान कंजर नहीं लेते क्योंकि उसने बिजोरी के साथ धोखा किया। बगड़ावतों के मालवा आने की बात 'बिजोरी' गीत में व्यक्त हुई है—('बगड़ावत गया छे रे मालवारी बणी'।)

कंजर अपने को गऊ का जाया मानते हैं। बिजोरी और ढोली भी उनकी मान्यता के अनुसार गऊ के जाये हैं। भोजा रावत का विस्तृत रूप से उल्लेख हीड़ में आया है। कंजरों की एक 'लूँगर' में कोई कलालन प्रेमिका भोजा की प्रतिक्षा में ऊँचाई पर चढ़ कर दूर-दूर देखती है। वह अपने रसिया भोजा के जीवित रहने के लिये अन्तर से प्रार्थना करती है।

परमात्मा-परमात्मा भोजा सोरिया वाता करे बतेर।
ये ऊँची चढ़ी जा डागले जी छोरी दीखे रण बजार।
ये कठे देखे म्हारा मदवा भोजा ने छाती फाटे।
ये कठे देखे रसिया भोजा ने छाती फाटे।
ये घसियारे, मोती वाला घणा भरजो सो ने पचास।
ये रसिया भोजा तू मत मरजे त्यहारी पातुड़ी करे वण उठ त्यारी आस।[1]

एक लोक-कथा के अनुसार "भोजा रावत और मिया रावत (?) भगवान् की गाय चराया करते थे। एक दिन मिया रावत गाय की पूँछ में छुपकर भगवान् के पास पहुँच गया और कहने लगा—'महाराज मैं 'ग्वाली' (गाय चराने का शुल्क) लेने आया हूँ। भगवान् ने उसकी कुंबल में जौ डाल दिये। मिया रावत ने धरती पर आकर जौ फेंक दिये, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनका महत्व न था। भोजा ने विलम्ब से आने का कारण पूछा तो मिया ने सब वर्णन सुना दिया। भोजा ने कम्बल को झटकारा तो उसमें से हीरा, मोती गिरे। 'हे रे, तूने गजब कर दिया, जौ तो दिखते भर थे।' मिया भगवान् ने तुझे हीरा-मोती दिये थे। मिया रावत लौटकर जौ ढूँढ़ने गया तो कुछ नहीं मिला।"

[1]ग्राम सुन्दरसी में कंजरों के डेरे से सन् १९५३ में लेखक द्वारा लिपिबद्ध किया गया गीत।

लोक-कथा इस बात को प्रकट करती है कि भोजा के पास गायें थीं। गूजरों में गोधन के प्रति सम्मान और राजपूतों से संबंधित हो जाने से युद्धादि की जो घटनाएँ उनके वंश में हुईं, सब ने पशुचारण काव्य को जन्म दिया।

चन्द्रावली : गोरधन—दीपावली के दूसरे दिन की पूजा भी गीतों में जुड़ी हुई है। गोरधन पूजते समय मालवा के हर किसान के घर स्त्रियाँ 'चन्द्रावली' गाती हैं। चन्द्रावली की कथा इस प्रकार है—

"कृष्ण मार्ग में एक गूजरी को रोककर दूध-दही माँगते हैं। गूजरी कहती है—हे कान्हा, यदि तुम्हें दूध-दही का दान चाहिये तो मेरे घर आना, मेरा नाम चन्द्रावली है। पूर्व दिशा की ओर मुख किये मेरा घर है और आँगन में पीपल का वृक्ष है। कृष्ण बहन का वेश बनाकर आते हैं। पुरुष होने के कारण उनकी समस्त चेष्टाएँ पुरुषोचित प्रतीत होती हैं। रात्रि को सेज पर कृष्ण ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। रात छः महीने की हो गई किन्तु प्रातः काल देखा तो दीर्घ रात्रि के कारण, चन्द्रावली का पति गोरधन गुवाड़े में गायों के खुरों से कुचल कर मर गया था। उसकी माँ रोने लगी।

चन्द्रावली ने अपनी सास से कहा कि दीपावली के दूसरे दिन—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा—'गोरधन' थाप कर पूजा करना जिससे कार्तिक की अंतिम एकादशी को उनकी मुक्ति हो जायगी।"

कहते हैं तभी से गोरधन पूजे जाते हैं। गोरधन गोबर के थापते हैं। उस दिन पशुओं का शृंगार किया जाता है किन्तु स्त्रियाँ इस दिन को 'सुहाग पड़वा' भी कहती हैं। सुहागिनें प्रातःकाल गोरधन पूजन के अतिरिक्त शृंगार कर के स्नेह-संबंधियों के चरण स्पर्श करती हैं। सुहाग रक्षा की भावना के साथ गोरधन की ऊपर लिखित कथा असंगत प्रतीत होती है। हमारा अनुमान है कि 'गोरधन' गोवर्धन का सूचक है। लोकाचार की दृष्टि से एकादशी को गन्ने के टुकड़े गोरधन पर चढ़ाने से फसल की वृद्धि का अभिप्राय पुष्ट होता है। चन्द्रावली का मूल गीत इस प्रकार है—

गुजरन की बेटी पानी साँचरिया
आड़ा फिरी गया हो कान्हा
ओ गूजरन दे दइड़ा को दान
थें दान का हो साबला कान्हाजी
आओ म्हारा घर हो द्वार
गामनी जानू नामनो जानू
आवां किना घरे हो द्वार
गाम गोकुल, मथुरा नगरी

चन्द्रावल है जी म्हारो नाम
आंगन पारस पीपली म्हारे जी
सूरज सामो म्हारो पोल
ऊँची अटारी लाल किवाड़ी
दूर से आयी हूँ थारो बेनली
नहीं है काका की, नहीं बाबा की
कां से आई म्हारी बेनली
तू है काका की बेनिया
मैं हूँ बाबा की, तू नहीं जाने बेनली
सोना रूप का बेना घड़ा घड़ूलिया
चलोरी बेना न्हावन चलिया
वो बेन मिल चली जल यमुना
चाल चले हो जैसे मरदानी
बालपना में बेनिया धेन चरायी
वहीं से म्हारी चाल मरदानी
म्हारा तो घर में राम रसोई
चलोरी बेन जिमन चलिये
दोई बेन मिल जिमन लागी
कंस घरिया हो जैसे मरदानी
म्हारा घर में बेनिया सास करगसा
वहीं से म्हारा कंस बनिया मरदानी
चुन-चुन कलियाँ सेज बिछाई
चलो री बेन पोढ़न चलिये
वो बेन मिल पोढ़न लागी
परकट हुयो गिरधारी
इतरी छल म्हासे क्यों कियो मोहन
छः महिना की करी रातड़ली
तू तो बऊ चन्द्रावली
म्हारा गोरधन की गति चन्दा करी जाओ
कारतीक मास बड़जी दिवाली आवे
पड़वा के गोरधन थापी दीजो हो
उतरते कारतीक ग्यारस आवे
गोरधन की गति हुई जायगी हो
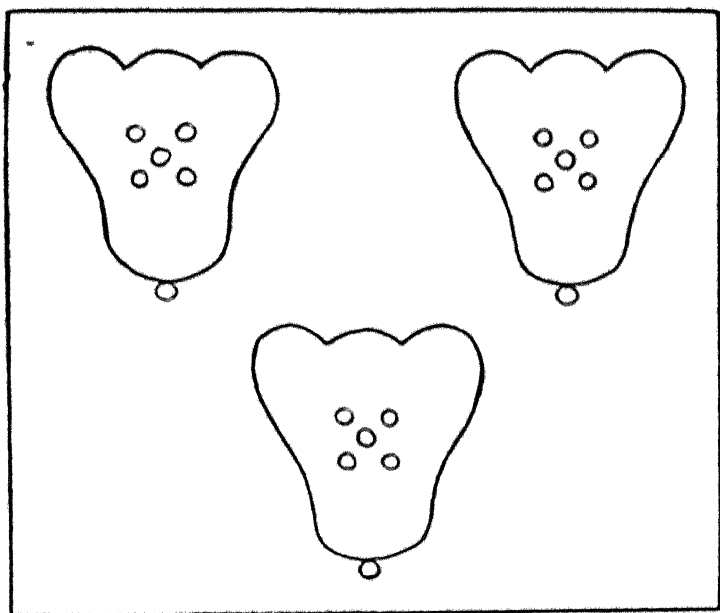
'गोरधन' ग्रौर 'चुगलखोर जमाई'

गोरधन गोबर के थापे जाते हैं और उन्हें पशुओं के खुरों से कुचला भी जाता है। गोरधन की आकृति सम्मुख चित्रानुसार स्पष्ट है।

आकृति मानव के मस्तकों की द्योतक प्रतीत होती है। इनमें तीनों में ऊपर की दो आकृतियाँ गोरधन कहलाती हैं और नीचे का 'चुगलखोर जमाई'। गीतों में इस जमाई का कहीं भी उल्लेख नहीं है। प्रत्येक आकृति पर पाँच लड्डू थाप देते हैं और प्रातःकाल इनकी स्थापना के पश्चात् इनके सम्मुख दीप जलाया जाता है।

अस्तु, लोकगीतों में गूजरों की परम्परा अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय विषय है। हीड़ के नायक देवनारायण को गूजर देव-स्वरूप मानते हैं। गूजर शक्ति के उपासक हैं और शीतला की पूजा करते हैं। गूजरों की वार्ताओं में एक प्यारेजी नामक व्यक्ति का उल्लेख भी आता है। १७वीं शताब्दी में ब्राह्मण जाति के किसी प्रेत को प्यारेजी ने नष्ट किया था। प्यारेजी अलौकिक पुरुष हुए। इनकी समाधि सहारनपुर जिले में है। जमुना के किनारे अम्बाला जिले में 'बाबा साहब' पूजे जाते हैं। मुसलमान धर्म में परिवर्तित गूजरों में अभी तक हिन्दू रीति-रिवाज प्रचलित है। भरतपुर के गूजर गोबर की गाय बनाकर उसका वध करते हैं। टोटेमिक आदान-प्रदान के ये लक्षण गूजरों के अपने नहीं प्रतीत होते।

'बालाबऊ'—धरती के विभिन्न स्थानों के लोक-विश्वासों की पृष्ठभूमि में मानव के मूलभूत संबंध और सामूहिक अनुभूति के सामान्य तथ्य निहित हैं। लोकगीतों में प्राप्त भावों की लोकप्रिय धुनों के सहारे, जो अभिव्यक्ति परम्परात्मक रूप में आज भी चली आ रही है, उसमें भले ही लघुतम सत्य (कहीं-कहीं) हो, पर वह एकदम असत्य नहीं है।

अनेक भारतीय लोकगीत रीति-रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठानों, टोने-टोटकों, अन्ध-विश्वासों एवं अन्य प्रथाओं के साथ जुड़े हैं तथा उन्हीं के क्रिया व्यापारों के साथ गाये जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के गीतों में अवश्य ही शब्द संबंधी परिवर्तन का होना स्वाभाविक है, तथापि उनके मूल संगीत एवं मूल भावों में विश्वास के स्थायी सूत्र नष्ट नहीं हो पाते। इस दृष्टि से गीतों का गेय तत्त्व एवं उनकी अभिव्यक्ति शैली लोकवार्ता-साहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं।

भारतीय लोकगीत हिन्दी लोकवार्ता-साहित्य के उपयोगी रत्न हैं। उनमें निहित विशेष संकेत, उपादान, देश-कालगत वर्णन और मिली-जुली संस्कृति का चित्र सभी जातिगत मनोभावों के उद्घाटन में सहायक सिद्ध होते हैं। 'बालबऊ' (बालाबहू) नामक मालवी गीत इसी उद्देश्य से आगामी पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

'बालाबऊ' का गीत मालवा में मुख्यरूप से मध्यभारत में शाजापुर देवास और उज्जैन जिले के गाँवों में गाया जाता है। आषाढ़ में वर्षा होने में विलम्ब होता देख स्त्रियाँ इसे मध्य रात्रि के पूर्व एकत्र होकर करुण-रस में गाती हैं। गीत के संबंध में यह विश्वास है कि उनके गाने पर शीघ्र ही वर्षा आरंभ हो जाती है। इस विश्वास के पीछे आंशिक रूप से एक सत्य घटना का उल्लेख किया जाता है कि शाजापुर जिले में ग्राम सुन्दरसी के निकट एक तालाब है जिसे 'बालामाता' का तालाब अथवा 'बालोरण' (ग्राम का नाम) का तालाब कहते हैं। कहा जाता है कि जब उक्त तालाब खुदाया गया तो उसमें जल नहीं आया, वह सूखा ही रहा। एक ब्राह्मण-पुत्र के कथन पर उसमें एक बेटेबहू की बलि दी गई और आश्चर्य की बात है कि उसके बाद ही उसमें जल हिलोरे लेने लगा।

इसके साथ ही हमें एक गीत की और जानकारी मिली है। मध्य-भारत के निमाड़ जिले के सेगाँव तहसील में खरगुन बिरला नामक ग्राम है। वहाँ ६-७ मील के घेरे में पानी से भरा हुआ एक तालाब है। इस तालाब के निर्माण की कहानी 'बालाबऊ' की कहानी से काफी निकट है। निमाड़ी में प्रचलित 'कुलवन्ती बहू' का गीत प्रायः स्त्रियाँ गाया करती हैं।

कहते हैं बिरला ग्राम के निकट पानी का प्रायः अभाव रहा करता था। जहाँ तालाब है, वहाँ किसी समय एक बावड़ी थी, जिसमें बहुत कम पानी रहता था। चूंकि आसपास के ग्रामों में पानी का प्रबन्ध नहीं था, इसलिये सब लोग सिमटकर उस बावड़ी पर एकत्र हो जाया करते थे। भीड़-भाड़ और जल की कमी से जो झगड़े पनघट पर हुआ करते हैं, वैसे ही झगड़े वहाँ भी होते रहते थे। एक दिन गाँव का पटेल ऐसे ही दृश्य को देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने उसी रात स्वप्न देखा कि देवी कह रही है कि यदि वह अपने पुत्र और पुत्रवधू को बावड़ी में समा दे तो जल का कष्ट दूर हो जायगा। प्रातःकाल पटेल ने यह बात अपने बेटे-बहू से कही। दोनों तत्काल तैयार हो गये और पूजा-पाठ करने के पश्चात् बावड़ी में उतर गये। उनके समाते ही चारों ओर जल ही जल हो गया। इस प्रकार बावड़ी एक बड़ा तालाब बन गई। इस कथा में अंतिम बात यह भी कही गई है कि बहू के प्रताप से जब पटेल प्रतिदिन तालाब के किनारे जाकर भोजन मांगता तो जल की सतह पर दो चूड़ियों वाले हाथ भोजन की थाली लेकर प्रकट हो जाया करते थे। यह अवश्य ही किसी बलि की कहानी का सुघड़ रूप है।

आदिम जातियों में वर्षा के लिये जिन आयोजनों का वर्णन हमें ज्ञात है उनमें बलि का विशेष महत्त्व है। ग्रामीण सभ्यता में यह प्रवृत्ति एक

अवशिष्ट की भाँति विद्यमान है। 'बालाबऊ' के गीत में बलि की यह कहानी अवश्य किसी घटना से छनकर जुड़ गई है। इतना अवश्य है कि कुँए-बावड़ी आदि से बलि का संबंध भारतीय लोकवार्ता का एक अंग रहा है और विश्वास की दृढ़ता उसे आज तक टिकाए हुए है। लेख में प्रस्तुत 'बालाबऊ' गीत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

"मालवा में राजा ओड़[1] थे। उनकी रानी ओड़नी मथुरागढ़ की थी। एक समय ओड़-ओड़नी बालोदा ग्राम की ओर आये। रानी ने कुँए-बावड़ी खुदवाए और राजा ने एक तालाब। रानी के कुएँ-बावड़ी जल से भर गये, पर तालाब में जल नहीं आया। ब्राह्मण का पुत्र बुलाया गया। उसने अपनी पोथी-पत्रा देखकर कहा 'राजा, कहूँ तो कहा नहीं जाता, नहीं कहूँ तो रहा नहीं जाता, सरोवर आपके बड़े बेटे-बहू का भोग माँगता है।'

राजा की आँखों में ढलमल नीर आ गया। जाकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र हँस कुँवर से यह बात कही। पुत्र के कहने पर वह अपनी बहू के पीहर गये। बालाबहू ने जल गरम करवाया और उत्तम भोजन तैयार किया। राजा ने उन्हें स्वीकार न करते हुए तालाब के भोग की बात बताई। बालाबहू तैयार होकर ससुराल आई। गाँव में बुलावा दिया गया। चौक पुराया, आभूषण और नवीन वस्त्रादि धारण कर दोनों ने शृंगार किया। इस प्रकार तैयार होकर दोनों सरोवर पर आये।

---

[1]मालवी में कुँए के समीप खेत में पानी देने के लिये उठाई जाने वाली मिट्टी को भी 'ओड़' कहते हैं। जल से संबंधित होने के नाते 'ओड़' नाम रूपकवत् प्रतीत होता है। 'ओड़' एक जाति भी है, जो मजदूरी करती है। वैसे ओड़ राजा का कोई उल्लेख मालवा के इतिहास में नहीं मिलता। गुजरात में जसमा ओड़न की एक कथा प्रचलित है जिसे १२वीं शताब्दी के गुजरात के राजा सिद्धराज ने उसके रूप की चर्चा सुनकर अपने राज्य में तालाब खुदाने के लिये आमंत्रित किया था। सिद्धराज ने उसे प्राप्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये, पर जसमा अपने सत से नहीं डिगी। संभवतः जसमा ओड़न और उसके द्वारा तालाब खुदाने की घटना का प्रस्तुत तालाब के प्रसंग से सहज ही जुड़कर 'राजा ओड़' का यहाँ काल्पनिक अवतरण हो गया है। मालवा में अधिकांश जातियों का आगमन गुजरात की ओर से ही हुआ है, अतः गुजराती लोकवार्ता का मालवा और निमाड़ में प्रचलित होना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है—[जसमा-ओड़ संबंधी गीत, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित रासमाला में देखिये]।

बालाबहू-हंस कुँवर ज्यों-ज्यों सरोवर की एक-एक पेढ़ी पर पैर रखते त्यों-त्यों उसमें जल बढ़ता जाता। जल बालाबहू के केश छूने लगा। सातवीं पेढ़ी पर चरण रखते ही जल बालाबहू की वेणी तक आ गया। उसने कहा 'ससुरजी, इस ओर मुँह फेरो, सरोवर हिलोरे ले रहा है।'

आँखों में नीर भरकर श्वसुर ओड़ ने कहा—'मेरी बालाबहू, जल तुम्हारे चूड़े तक आ गया, अपने हाथ समेटो।' आशीर्वाद देते हुए बालाबहू-हंसकुँवर जल में समा गये। गीत निम्नलिखित है—

बालाबऊ

राजा, कांय[1] से आया वोई ओड़-ओड़नी
गड़ ओ मथरा से आया ओड़नी
राजा, मालवा से आया जी ओड़
कांय उतरा राजा ओड़ने
राजा, कांय उतरा रानी ओड़नी
मेलां[2] उतरा राजा ओड़ने
राजा, कचेर्‌यां[3] उतरा रानी ओड़नी
कांय जिमाड़ा[4] राजा ओड़ने
राजा, कांय जिमाड़ा रानी ओड़नी
खिचड़ी जिमाड़ा राजा ओड़ने
राजा लापसी[5] जिमाड़ा रानी ओड़नी
जीसा[6] खोदाड़्या कूआ-बावड़ी
राजा, ससरा खेंणाया[7] समन्द तलाव[8]
कूआ न बावड़ी राजा उगली[9] र्‌या
राजा, सुकून[10] पड़्यो समन्द तलाव
तेड़ो तेड़ो[11] ने बामण को डावड़ो[12]
अणी[13] सरवर को मोरत देखाड़ो
पोथी बाँचे हो बामण माथो फेरे

[1]कहाँ अथवा क्या। [2]महल। [3]कचहरी। [4]भोजन कराएँ। [5]एक प्रकार का तरल पकवान। [6]रानी ओड़नी के लिए प्रयुक्त (राजस्थानी मालवी का आदरसूचक प्रयोग)। [7]खुदवाया। [8]समुद्र के समान तालाब [9]उगल रहे हैं। [10]सूखा। [11]बुलाओ। [12]पुत्र। [13]इस।

राजा, कहूँ तो कह्यो भी जाय
'राजा' नेणाँ में आयो ढलमल नीर
को तो साँची रे कई दो बामण
कहूँ तो साँची राजा, कह्यो नी जाय
राजा, बड़ा बेटा बऊ को मांगे सरवर भोग
हूँ[1] तने पूछूँ म्हार। हँसकुँवर बेटा
सरवर मागें तमारो भोग रे
हूँ या नी जाणू म्हारा जी सा[2]
जीसा, तमारा बालाबऊ ने जईकर पूछो
घोला घोड़ा ओ ससराजी जीण कस्या
राजा, वन तो उगे बालाबऊ का देस
ताता[3] रे पाणी बालाबऊ मेलियो
ससराजी, होई तमारी न्हावरी बेल
ऊना[4] ने भोजन ससराजी ठंडा हुया
ससराजी, होई तमारी जीमवारी बेल[5]
हूँ तो नी न्हऊँ म्हारी बालाबऊ,
बालाबऊ, कहूँ तो कह्यो नी जाय
हूँ नी जीमू म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, कहूँ तो कह्यो नी जाय
के तो सारी ओ राजा कई दीजो
ससराजी कोगा सोई कह्यो मनांगां
कांगा[6] तो सारी ओ बालाबऊ
बालाबऊ सरवर माँगें तमारो भोग
हूँ या नी जाणूँ म्हारा ससराजी
ससराजी तमारा बेटा से जाय पूछो
आगे ससराजी पाछे बालाबऊ
राजा, वन तो उगे सासरे देस

× × ×

ससराजी, तेड़ो-तेड़ो भावी रो पूत
राजा, नगरी में तेड़ो देवाड़ी

---

[1]मैं। [2]यहाँ पिता के अर्थ में प्रयोग। [3]गरम। [4]ताजा, गरम। [5]भोजन का समय। [6]कहूँगा।

ससराजी, चरवा[1] ऊनापाणी भेलो जी
ससराजी, बालाबऊ हँसकुँवर न्हाड़िया जी[2]
ससराजी, हेड़ो[3] बगच्या[4] कापड़ा
ससराजी, बालाबउल हँसकुँवर पेरावजो जी
ससराजी, डाबा[5] री गेणो[6] मंगाड़ जी
ससराजी, बालाबऊ हँसकुँवर पेरावजो जी
ससराजी, कुंवारी केड़ी[7] को गोबर मंगाड़ जी
ससराजी, ढक[8] दई आँगणो लिपाड़ जी
ससराजी, गज-मोत्या को चौक पुरावो
ससराजी, ऊपर बाजोठ्यो[9] बिछाड़ जी
ससराजी, बालाबऊ हँसकंवर बैठाड़ जी

× × ×

आगे-आगे हँसकुँवर पाछे बालाबऊ
राजा, जेके पाछे नगरी का लोग
राजा, जई ऊबा[10] सरवर पाल
पेली पेड़ी ओ हँसकुँवर बालाबऊ पगधर्‌या
राजा, अँगूठा पे आयो यो नीर
तीसरी पेड़ी ओ बालाबऊ हँसकुँवर पगधर्‌या
राजा, गोड़ा में आयो यो नीर
चारमी पेड़ी ओ बालाबऊ हँसकुँवर पगधर्‌या
राजा, कम्मर पे आयो नीर
पाचवीं पेड़ी ओ बालाबऊ हँसकुँवर पगधर्‌या
राजा, छाती पे आयो यो नीर
छठमी पेड़ी ओ बालाबऊ हँसकुँवर पगधर्‌या
राजा, खाँवा[11] में आयो यो नीर
सातमी पेड़ी ओ बालाबऊ हँसकुँवर पगधर्‌या
राजा, चोंटी[12] पे आयो यो नीर
पीठ फेरी ने ससराजी, कई हात जोड़ो
पाछी फरी ओ ससराजी देख जी
ससराजी सरवर तमारो हिलोला यो खाय

---

[1]हण्डा। [2]स्नान कराया। [3]निकालो। [4]सन्दूक। [5]डिब्बा। [6]गहने। [7]गाय की बछड़ी। [8]पोतकर। [9]आसन। [10]जा खड़े हुए। [11]कन्धा। [12]वेणी।

हात सकेलो[1] म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, चुड़ला[2] से लागो थो नीर
खाजो पीजो श्रो ससराजी, राज करजी
ससराजी जीवजी लाख करोड़

'बालाबऊ' गीत का सृजन संभवतः बालोण ग्राम अथवा उसके निकटवर्ती ग्रामों में हुआ है। सुन्दरसी ग्राम भी इसकी उत्पत्ति का क्षेत्र हो सकता है, क्योंकि कहाँ बालोण की अपेक्षा आज भी तत्काल गीत जोड़ने वाली स्त्रियों की पीढ़ी मौजूद है। बालोण का तालाब आसपास के ग्रामवासियों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी मान-मनौतियाँ की जाती हैं। प्रचलित है कि यदि बालक वाली स्त्री को दूध नहीं उतरता हो तो उक्त तालाब के जल में उस स्त्री की चोली धोकर पहनाने और उसका पानी पिलाने से दूध उतरने लगता है। बच्चे की काया भी उससे निरोगी रहती है।

बालोण का तालाब कब बना, इस बात की जानकारी अज्ञात है, पर परम्परा से चले आते हुए विश्वास को पकड़े यह अपना महत्त्व आज तक बनाये हुए है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि तालाब कितना पुराना है। गीत की भाषा निश्चित ही पुरानी मालवी है। उसके कतिपय प्रयोग, शब्द-योजना तथा जी और रे की दूरी तक जाती हुई हल्की धुन इस बात को प्रकट करते हैं कि उसका निर्माण तीन सौ वर्ष पूर्व के आसपास हुआ है।

---

[1]समेटो। [2]चूड़ा।

अध्याय ३

मालवी लोक-साहित्य की धार्मिक परम्पराएँ

मालवी संत-साहित्य के पृष्ठ में कतिपय धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव सदैव रहा है। लिखित रूप में ऐसा साहित्य जो धार्मिक परम्पराओं का विश्लेषण करने में सहायक हो, बहुत कम उपलब्ध हो सका है। काल के प्रभाव में संभवतः पर्याप्त सामग्री लुप्त हो चुकी है और अब यही विश्वास किया जाता है कि कदाचित् पुराने घरों, मंदिरों और मठों में पोथियों के रूप में यत्र-तत्र उपयोगी सामग्री दबी होगी। अतएव संत-परम्परा का विवेचन सामग्री के अभाव में केवल पिछले कुछ वर्षों में संकलित किये गये लिखित एवं लोकप्रचलित साहित्य के आधार पर किया जा रहा है। स्थूलतः ऐसा सम्पूर्ण साहित्य लोक-साहित्य की श्रेणी में आता है। पं० राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "अधिकांश संत कवि लोक-कवि थे।"[1] इस दृष्टि से सोचने की प्रवृत्ति हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचकों में अब उत्पन्न भी हो गई है। नवीन शोधकार्य के परिणाम स्वरूप यह मत अधिक पुष्ट हो भी रहा है। अतएव, भारतीय भाषाओं का संत-साहित्य अनेक अंशों में लोक-साहित्य माना जा सकता है। मालवी का संत-साहित्य उससे भिन्न नहीं है। साथ ही, यह साहित्य गीतिकाव्य के अन्तर्गत आता है। इसलिये लोक-साहित्य का अंग होने के नाते उसे हम लोकगीत वर्ग का काव्य कहेंगे।

दो धाराएँ—संत-काव्य की परम्परा सहज विकासोन्मुखी सिद्ध हुई है और चूँकि अधिकांश संत लोक-जीवन के अत्यन्त निकट होकर लोकपरक एवं लोक-भाषा में ही अभिव्यक्ति के कायल रहे हैं, इसलिये वे उन समस्त प्रवृत्तियों को छू सके हैं जो मानव हृदय को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

[1] 'संत दर्शन' (त्रिलोकीनाथ दीक्षित) की राहुलजी लिखित भूमिका, पृष्ठ १, साहित्य-निकेतन, कानपुर।

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में संत-काव्य की परम्परा "उस काल से विद्यमान है जबकि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण शास्त्र का नियंत्रण न था और न उसके काव्य रूप की व्यवस्था के लिये किन्हीं छन्द नियमों की सृष्टि हो पाई थी।" आगे चलकर क्रमशः इस परम्परा में दो स्पष्ट धाराएँ साथ-साथ चलने लगीं। एक वह जो शास्त्रीय नियमों से आबद्ध हुई और दूसरी वह जो स्वाभाविक रूप से लोकपरक रही तथा जहाँ छन्द-शास्त्र के ऊपरी नियम अपवाद स्वरूप सिद्ध हुए।

उक्त धाराओं में प्रथम का बहुत कुछ साहित्य लिपिबद्ध किया जा सका है। वह भी इसलिये कि उसमें निहित गांभीर्य तथा रचयिताओं में व्यक्तित्व की मिली-जुली छाप लिपिकर्ता भक्तों पर समय-समय पर पड़ती रही। उपदेशात्मक तत्त्वों का आधिक्य तथा अन्तर को छू जाने वाली उक्तियों के बाहुल्य ने भी उसे लिपिबद्ध कराने में योग दिया है। किन्तु लेखन से छूटा हुआ अपार साहित्य अभी मौलिक रूप से ही अवशिष्ट है। वह न केवल हिन्दी में ही मिलता है, अपितु उत्तर तथा दक्षिण की समस्त प्रान्तीय भाषाओं में भी बिखरा हुआ है। उसे ही हम लोकगीत वर्ग का साहित्य स्वीकार करेंगे क्योंकि उसमें उन सभी नियमों का उल्लंघन उपलब्ध है, जो लोकगीतों को 'कविता' की श्रेणी में लाने के लिये सार्थक होते हैं। संतों की सहजवाणी लोकगीतों की तरह विस्तृत होकर उस कड़ी में जुड़ती गई, जो लोकगीत की भाँति कंठ की संपत्ति है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि संतों की मौखिक परम्परा का यह साहित्य लोकगीत वर्ग का है तो उसमें वे सभी प्रतीक, उपमान, उक्तियाँ और परम्परा प्रचलित संत-साहित्य की शब्द-व्यंजना कैसे आयी? संत तो सभी लोक-जीवन के निकट थे, पर सत्संग के विस्तार ने आदान-प्रदान की प्रवृत्ति को निखारा और प्रभावशाली संत कवियों ने लोक-कवियों में प्रेरणा का संचार किया। इसी तरह कहा जा सकता है कि बहुत सी लौकिक-उक्तियाँ शास्त्रीय नियमों से बद्ध सन्त-काव्य में भी समाविष्ट हुई हैं। इस पारस्परिक विनिमय के परिणाम स्वरूप भाषा और शैली के कुछ निर्धारित अंश लोक-भाषा के संतकाव्य में प्रविष्ट हो गये। कबीर की साखियाँ तथा सूर और मीरा के पद तो लोकगीत वर्ग के संत-काव्य में मूल से भिन्न होकर सर्वग्राह्य अभिव्यक्ति के कारण पर्याप्त मात्रा में प्रचलित हैं। परवर्ती भक्तों ने श्रद्धावश इन्हीं संतों के नामों की छाप भी निस्संकोच दी है। अवधी में तुलसी की छाप के गीत और मैथिली में विद्यापति के नाम से अभिहित लोकप्रचलित रचनाओं का अभाव नहीं है।[1] यह प्रवृत्ति स्पष्ट ही

[1] मैथिली लोकगीत, पृ० १४७, १४६, १५२, १५५, १६१-६२।

श्रद्धा की सूचक है। कबीर के प्रति श्रद्धा का आज भी अभाव नहीं है। उसके नाम का आसरा लेकर अनेक लोक-कवियों ने अपनी वाणी का जादू दिखाया है।

कुछ शताब्दियों पूर्व महाराष्ट्र (ज्ञानदेव, नामदेव आदि), गुजरात (नरसी मेहता), राजस्थान (मीरा), उत्तर प्रदेश (रामानन्द, कबीर, दादू आदि), बंगाल (चैतन्य महाप्रभू), कर्नाटक (पुरन्दरदास, कनकदास) मालवा और निमाड़ (संत धिंगा, दूलूदास आदि) एवं अन्य प्रान्तों में संतों का प्रभाव गति से बढ़ा जिसे हम समग्र रूप से एक वैचारिक क्रान्ति के रूप में मान सकते हैं। लोक-भाषाओं में विचारों की अभिव्यक्ति पाकर धार्मिक भावों ने बिजली की तरह एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में दौड़ लगायी। १६ वीं शताब्दी तक मध्यकालीन संस्कृति विकास की चरम स्थिति पर पहुँच चुकी थी। इसकी भूमिका ११ वीं शताब्दी से बन गई थी। जैसा कि भाषा-विज्ञान के अध्येताओं का विश्वास है कि १२ वीं शताब्दी में प्रान्तीय भाषाएँ अपने मूर्तरूप में आ गई थीं, उसके अनुसार यही समय सन्त-काव्य की उक्त दो धाराओं को स्पष्ट करने में योगदायी सिद्ध होता है। इस काल की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था की पृष्ठभूमि में संतों का लोकग्राही स्वरूप अधिक सुलझा हुआ दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मणों और पुरोहितों के अनाचारों ने अनेक संवेदनशील व्यक्तियों को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। निम्नवर्ग से संतों की जो बाढ़ आयी उसका कारण भी यही संघर्ष था। इन संतों में कई संत पहुँचे हुए सिद्ध हुए। कबीर, दादू, धन्ना, रैदास, पीपा, रज्जब, मलूकदास आदि कवियों की छाप वाले गीत लोक-भाषाओं में सहज ही प्राप्य हैं। यद्यपि वे उनकी रचना न होकर भी, जैसा कि ऊपर बताया है, परवर्ती संत कवियों द्वारा उन्हीं की छाप से अभिज्ञापित किये गये हैं और प्रायः किये जाते हैं। इस प्रवृत्ति में 'साक्षी' की बात तो है ही, पर उन संतों के प्रति प्रगाढ़ आस्था भी विद्यमान है। अन्यान्य संतों की छाप वाले गीतों की भी कमी नहीं है। मालवा के ऐसे संतों का उल्लेख आगे किया जा रहा है। जिन रचनाओं में रहस्यवादिता निहित है उनमें परिवर्तन कम हुआ है। इसका कारण राहुलजी ने यही बताया है कि उनका संबंध किसी-न-किसी सम्प्रदाय या मजहब से होता है।[1] लोक-साहित्य के वस्तुवादी अंग के प्रति उनका कहना है कि उसमें "अपार रस और अपार उद्बोधन शक्ति है, लेकिन लिखित और बराबर रूप परिवर्तित करने वाला होने से उसके नमूने आसन्न वर्तमान के ही मिल सकते हैं।"[2]

प्राचीनकाल से वस्तुवादी और रहस्यवादी काव्य हमारी लोकसाहित्य की परम्परा में निर्मित होते आये हैं।[3] पर चूँकि संत काव्य में रहस्यवादी धारा

[1]संत दर्शन की भूमिका, पृष्ट १। २,३ वही।

का इतिहास सुदूर अतीत के प्रमुख सम्प्रदायों से जुड़ा हुआ है, इसलिये वस्तुवादी काव्य में भी इतिहास की इस सजीव कड़ी की झनकार अनायास गूँज उठती है। कहीं-कहीं सगुण और निर्गुण दोनों धाराओं के मिले-जुले रूप उपलब्ध हैं। विशेष रूप से लोकप्रचलित संत-काव्य में ऐसी भ्रांतियाँ विद्यमान हैं। मौखिक परम्परा की सामग्री होने के कारण लोकपरक संत-काव्य अलग से अध्ययन का विषय है। इस काव्य पर कबीर के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों के अतिरिक्त अनेक संप्रदायों और उपसंप्रदायों का प्रभाव सम्मिलित है। यह प्रभाव सिद्धों से आरंभ हुआ और सहज-शून्य के फेर में पड़ता हुआ, नाथपंथी वाणी को गहरी आस्था के साथ समेटते हुए कतिपय खरी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए गतिमान् हुआ है। इस तरह शैवमत, पाशुमत, नाथ-संप्रदाय, सूफीमत, रसेश्वरी-मत, सरभंग-मत, दादू पंथ, दरिया पंथ, वारकरी तथा माहानुभाव पंथ, भांभी मत आदि संप्रदाय अथवा पंथ लोकपरक सन्त-काव्य अथवा लोकगीत वर्ग के संत-साहित्य में अपना सम्मिलित प्रभाव रखते हैं। भक्तमाल में ऐसे संप्रदायों के अनेक संतों का जो भिन्न-भिन्न कुलों और प्रांतों में उत्पन्न हुए थे, बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया गया है। फिर भी यह सत्य है कि लोकपरक काव्य के संग्रह करने पर अनेक अज्ञातनामा संतों और सम्प्रदायों का पता चलता है।

[अ]

मालवी के लोकपरक संत-साहित्य की प्राप्य सामग्री का वर्गीकरण करने के पूर्व कतिपय लोकप्रचलित उन परम्पराओं का अलग से उल्लेख आवश्यक होगा, जो अनेक सम्प्रदायों का समन्वित प्रभाव सहेजे हुए हैं, किन्तु जो अपरोक्षतः मध्यकालीन संतों के पूर्ववर्ती संप्रदायों से संबंधित प्रतीत होती है।

कलगी तुर्रा—पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग मुसलमानी सभ्यता और साहित्य का प्रभाव लोक-भाषा और लोक-छंद पर पर्याप्त मात्रा में प्रकट होने लगा था। इस काल में मालवा निमाड़ और उत्तर भारत में गाने की एक नवीन परिपाटी का उदय हुआ जिसे कलगी-तुर्रा[1] कहते हैं।

कलगी-तुर्रा के दो पक्ष हैं। कलगी अखाड़े के लोग कलगी को माता और तुर्रा को पुत्र मानते हैं और तुर्रा अखाड़े के लोग कलगी-तुर्रा को दम्पति बताते हैं। इन्हीं दोनों पक्षों में संवादात्मक प्रश्नोत्तर प्रायः आयोजित होते रहते हैं। मध्यस्थ का कार्य 'टुंडा' नामक पक्ष द्वारा किया जाता है। 'टुंडा' वस्तुतः लुप्त होते हुए प्रश्न को उभाड़ने में सहायक होता है।

दार्शनिक व्याख्यानुसार कलगी और तुर्रा आदिशक्ति और शिव के सूचक

[1]बोलचाल में 'किलंगी-तुर्रा' भी कहते हैं।

हैं। कलगी पक्ष का विश्वास है कि आदिशक्ति ही शिव की उत्पत्ति का कारण है। शिव में 'सिसृक्षा' (अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा) की स्थिति दो तत्वों की सृष्टि करती है—शिव और शक्ति। शिव की इच्छा ही (सिसृक्षा) शक्ति है। शैव-सिद्धान्त के छत्तीस तत्वों की चर्चा प्राय: अनेक ग्रंथों में की गई है। "इन समस्त तत्वों को नि:शेष भाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्वरूप होकर अवस्थान करती है। इसीलिये वामकेश्वर तंत्र में भगवती शक्ति को 'कवलीकृतनि:शेषतत्वग्रामस्वरूपिणी' कहा गया है।"[1] कलगी पक्ष का यह विश्वास नाथसिद्धों की परवर्ती परम्पराओं से लिया गया प्रतीत होता है। तुर्रा पक्ष शक्ति द्वारा शिव को उद्भूत नहीं मानता और प्रमाणों द्वारा आदि शक्ति को शिव की पत्नी घोषित करता है। यहाँ तुर्रा पक्ष की मान्यता बहुत कुछ शिव पार्वती के सगुण रूप से मेल खाती है। शक्ति माया है, वह शिव को प्राय: छलती है। कलगी पक्ष इससे भी ऊपर सोचता है। वामकेश्वर तंत्र से स्वर मिलाते हुए उसका कहना है कि जगत् की सृष्टि शक्ति की इच्छा का फल है। इसकी सहायता से शिव कर्मरत होते हैं। स्पर्द्धा इसी प्रकार के मतभेदों में विद्यमान है। यद्यपि कलगी-तुर्रा की संगीत-योजना में मुसलमानी संस्कृति के वाद्य डफ और चंग प्रयोग में लाये जाते हैं तथापि मूल भावों का आधार सिद्धों और नाथों की दार्शनिकता है। परवर्ती संतों की परम्परा से इस क्षेत्र की बंदिशों में निर्धारित पदावली (प्रतीकों और रूपकों वाली) का समावेश हुआ है। स्पर्द्धा में विजय पाने के उद्देश्य से दोनों ही पक्ष पुराणों, उपनिषदों, कुरान की आयतों और अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त, योग, न्याय और आध्यात्म के साथ रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखाओं की सूत्रबद्धता एवं निर्गुण निराकार के उल्लेख भी यथास्थान प्रस्तुत किये जाते हैं। कलगी-तुर्रा में जहाँ तक दार्शनिक मतभेदों का प्रश्न है, शिव-शक्ति संबंधी विश्वासों का आधार परवर्ती नाथसिद्धों की विकृत शाखाओं में निहित प्रतीत होता है। १८वीं—१६वीं शताब्दी के उपलब्ध साहित्य (कलगी-तुर्रा) में हिन्दू और मुसलमान विश्वासों के बीच समन्वय पाने की चेष्टा लक्षित होती है। समाज-सुधार और थोथे अन्धविश्वासों पर चोट भी इन रचनाओं में उभरी है। पौराणिक कथानकों, संत लीलाओं और इतिहास-सम्मत घटनाओं के रोचक वर्णन भी इनमें बद्ध हैं।

कलगी-तुर्रा जैसा कि नाम से प्रकट है, उत्तर मध्यकालीन परम्परा के अधिक निकट है। इस विशिष्ट शैली की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से

[1]हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १०३।

कहा नहीं जा सकता है। कुछ लोगों का कथन है कि उत्तर-प्रदेश के बनारसीदास (कलगी पक्ष) तथा कवितागिरजी (तुर्रा पक्ष) दोनों ही इसके प्रणेता हैं। एक मत यह भी उपलब्ध है कि दक्षिण के शाहअली (कलगी पक्ष) और तुकनगीर (तुर्रा पक्ष) ने इसे संयुक्त रूप से प्रचलित किया। एक मनोरंजक कथा के अनुसार कलगी-तुर्रा की परम्परा लावनी की दो शाखाएँ बताई गई हैं। यह तो प्रमाणित है कि लावनी का उद्गम महाराष्ट्र में हुआ। १८वीं शताब्दी के आरंभ में मध्यदेशीय तुकनगीर नामक महात्मा और शाहअली नामक फकीर अपने समकालीन किसी मराठा नृप के दरबार में पहुँचे। दोनों ने अनेक प्रभावशाली लावनियाँ सुनाईं। फलस्वरूप दरबार में उनकी प्रशंसा हुई और नृप ने प्रसन्न होकर अपने मुकुट का तुर्रा उतार कर तुकनगीरि (तुकनगीर) को और कलगी निकालकर शाहअली को दे दी।[1] इसी घटना से कलगी और तुर्रा की दो शाखाएँ आरंभ हुईं। किन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाया कि वह नृप कौन थे, पर किंवदंती से यह स्पष्ट है कि लावनी ने इस परम्परा को प्रभावित किया है और दोनों ही पक्षों में स्पर्द्धा मुख्य लक्षण है।

जहाँ तक कलगी-तुर्रा के उपलब्ध साहित्य का अनुशीलन संभवतः नहीं हुआ है, भाषा की दृष्टि से उस पर उत्तर-प्रदेश का पर्याप्त प्रभाव ज्ञापित है। उर्दू का पुट और ख्याली धज दक्षिण के प्रभाव कदापि नहीं कहे जा सकते।

मालवा में कलगी-तुर्रा का प्रवेश निश्चय ही १६ वीं शताब्दी में हुआ। इसके पूर्व प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति की परम्परा अवश्य विद्यमान रही होगी, किन्तु उसका नवीन रूप इस नामकरण द्वारा नयी लहर के परिणाम स्वरूप हुआ प्रतीत होता है। एक ओर मुसलमानों ने और दूसरी ओर मराठों ने जब अपने चरण इस भूमि पर बढ़ाये तो दक्षिण से 'लावनी' और उत्तर से 'ख्याल' आकर यहाँ मिले। कगली-तुर्रा के गीतों को 'ख्याल' भी कहा जाता है, इसका कारण उत्तर का प्रभाव ही है। ख्याल की परम्परा ने मालवा में माच (लोकगीत-नाट्य) से भी संबंध जोड़ा है। यही कारण है कि ख्याल की भिन्न तर्जें जैसे गजल, बहरेतबील, दादरा, रंगत छोटी और बड़ी, झेला, अधर रकारी, तितारी, चौतारी, दुअंग, मनबसी, सिकस्ती आदि गेय प्रकार कलगी-तुर्रा और माच में मिलते हैं।

मालवा के प्रसिद्ध कलगी-तुर्रा गायकों में आगर (म० भा०) नामक स्थान

---

[1] हिन्दुस्तान साप्ताहिक, जन साधारण का साहित्य, ११ दि० १६५५। निमाड़ पर्यवेक्षण विवरण, १६५३ के अनुसार निमाड़ के खलवाट में यही कथा प्रचलित है।

के कलगी अखाड़े वाले भेरू, मोती, मुगलखाँ और चेनराम तथा तुर्रा अखाड़े के बलदेव उस्ताद पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। कहते हैं निमाड़ में कसरावद के अकबर खाँ (तुर्रा पक्ष) की रचनाएँ अभी सुरक्षित हैं। कुछ प्रतियाँ चोली नामक स्थान के भारतीय महाराज के शिष्यों के पास है। अहिल्याबाई (१७२६ ई०) ने इन गायकों को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया था। कुछ किंवदंतियों के अनुसार अहिल्याबाई के समय अनेक अलौकिक गायक थे। इस प्रसंग में जंजीरा नामक गीत शैली का पता चलता है। तंत्र-मंत्र के प्रयोगों द्वारा एक-दूसरे पक्ष को नत करने की चेष्टा ऐसे गीतों द्वारा की जाती थी। अकबर खाँ इनका प्रयोग करता था, पर कहते हैं वह अपनी पोथियों में अपने ही हाथ से इनका प्रयोग न करने की बात मरते समय लिख गया था। इसी प्रकार मणासा (मन्दसौर) के स्व० कचरूजी नाई कलगी और महन्त रामदासजी तुर्रा के नामी गायक थे।

कलगी-तुर्रा के गीतों में भाव पक्ष की प्रभावशालिता के साथ कला पक्ष का कौशल भी मिलता है। रूपक और अनोखी लक्षणाएँ तथा अलंकारों का प्रयोग चतुराई से हुआ है। 'अधर रकारी' छंद को गाने वाला व्यक्ति अपने ओठों को बिना मिलाये सम्पूर्ण पद गा लेता है। इसके लिये ब वर्ग के अक्षर और मात्राओं का लोप छंदरचना में करना पड़ता है। कठिन परीक्षा तब समझी जाती है जब गाने वाले के ओठों के बीच सलाई रख दी जाती है और गाने के बाद वह बिना टूटे निकल आये तो 'अधर रकारी' सफल माना जाता है। अधर रकारी का एक उदाहरण है—

हर जस जस अत सरस सरस रस,
अलख अखल जल थल दर दर।
दर दर दरसत अनहत गरजत,
झरत अगर रस अधर अधर॥
अधर अधर सर छत्र धरत हर,
अधर धनक कर चक्र नसर।
नसर नसर दरसत गर घर घर,
हर हर हरकत नरसत घर घर॥[1]

माकड़ खेड़ (निमाड़) नामक गाँव के निवासी मोहन महाराज नामक गायक थे। उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था। उन्होंने अपनी बहुभाषाविज्ञता अपने एक छंद में घालमेल प्रस्तुत कर व्यक्त की है। तात्पर्य यह कि कलगी-

---

[1] नव प्रभात, कलगी-तुर्रा के गीत, ३ मार्च १९५५।

तुर्रा के गायकों ने अपनी चतुराई छंदों में भी प्रकट की है। कलगी-तुर्रा की होड़ में जैसे दलीलों का महत्त्व है वैसे ही छंदों के स्वरूप-निर्वाह में कौशल भी द्रष्टव्य है। यदि एक दल ने कोई बात किसी विशेष छंद में कही है तो सामने वाले पक्ष को उस छंद की अंतिम पंक्ति लेकर ही उत्तर देना पड़ता है अन्यथा 'शिकस्त' समझी जाती है।

धीरे-धीरे मालवा की कलगी-तुर्रा परम्परा जो कभी धार्मिक-परम्पराओं और संतों के बोलों से मुखर थी, खड़ीबोली से प्रभावित होने लगी। रीतिकाल में लोक-गायकों ने इसे शृंगार से अभिसिक्त किया। आधुनिक-रामदंगल की परम्परा की पूर्ववर्ती यही 'कलगी-तुर्रा' है।

मृत्यु का आध्यात्मिक सौन्दर्य : मसाण्या गीत—मृत्युगीत की दूसरी परंपरा महत्त्वपूर्ण है। नर्मदा उपत्यका और उससे जुड़े हुए मालव प्रदेश के लोक-जीवन में मृत्यु एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। संतों की रहस्योन्मुखी प्रवृत्तियों और वाणियों ने लोक-जीवन को दूर तक प्रभावित किया है। मृत्यु, जीवन से मुक्ति है। केवल भौतिक शरीर का विनष्ट हो जाना ही मरण नहीं, अपितु मृत्यु होने पर भी आध्यात्मिक रूप से जीवन की स्थिति अपने परब्रह्म के हेतु बनी रहती है। गोरखनाथ, कबीर एवं अन्य संतों के भावों की अनुरूपता लिये हुए नर्मदा उपत्यका के कतिपय मृत्युगीतों में गहरी अनुभूति आबद्ध है। उनमें जीवन की स्थिति परमतत्त्व के प्रति गहराई से स्वीकार की गई है।

नार्मदीय एवं मालवीय जीवन के कुछ भागों में संकेतों और रूपकों के माध्यम से लोककवियों ने मृत्यु को आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रदान किया है। कबीर की दुल्हनिया की भाँति आत्मारूपी नारी परब्रह्मरूप प्रियतम से भेंट करने के लिये अपने नैहर के समस्त बन्धनों को छोड़कर जा रही है। 'परिब्रह्म' का आमंत्रण (आणा) आया है। उसने अपनी संगिनि सखियों के साथ स्नान किया, केश सँवारे और उनमें मोतियों से माँग भरी। चंपा, चमेली और मोगरे के सुवासित गजरों से शृंगार कर उसने अनुपम चोली भी धारण की है। गीत के शब्द हैं—

'आणो'

आणो[1] आयो रे परिब्रह्म को
अरे सासरिया को जाणो—
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी सांत की सईं होण[2]

[1]बुलावा, आमंत्रण। [2]साथ की सखियाँ।

अरे अपण न्हावण[1] जावां
अरे बेगा[2] मंवर[3] सिधारां
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी सांत की सई होंण
अरे अपण माथो[4] गुथावां[5]
कई गूंथ्यो और कई गूंथणो
अरे मोत्या मांग पुरावां
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी सात की सई होंण
अरे खासी बाग लगाई[6]
चंपा चमेली बोई मोगरा
अरे खासो गजरो बणायो
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी सात की सई होंण
अरे खासी चोली सिवाड़ी[7]
कई रे सीव्या ने कई सीवणो
अरे देवा अंग लगाई
आणो आयो रे परिब्रह्म को[8]।

आत्मा और परमात्मा के अद्वैत का यह रूप कबीर और उनकी तरह अक्खड़ संतों की वाणी से भी निःसृत हुआ है। कबीर ने अनेक गीतों में दुल्हे-दुल्हन का रूपक उपस्थित किया है।

मृत्यु एक अत्यन्त अनोखा, रोमांचकारी, आध्यात्मिक, वियोगात्मक और कारुणिक प्रसंग है। अनुभव के भिन्न-भिन्न स्तरों पर उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ स्वीकार की गई हैं। संतों ने मृत्यु को प्रियतम-रूपी परमात्मा के नैकट्य का कारण मानकर सांसारिक तृष्णाओं में लिप्त मानव के लिये मुक्ति का सूचक माना है। निमाड़ के अधिकांश मृत्युगीतों में प्राप्त संतों की परम्परा से प्रचलित गीत-बद्ध धारणाएँ यह सिद्ध करती हैं कि अन्त समय जीवन की निस्सारता को

---

[1]स्नान के लिये। [2]शीघ्र। [3]मंदिर। [4]शीश। [5]केश सँवारे। [6]गोरखनाथ की एक सबदी में इस प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं कि ब्रह्मा ने प्रत्येक तनरूप बाग (क्यारी) को लगाया है, इसलिये प्रत्येक के हृदय में परमात्मा बीज रूप में है—"घटि-घटि गोरख बाही क्यारी"। [7]सिलाई। [8]मालवी गीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या १२, गोरखबाणी पृ० १४।

व्यक्त करने के लिये समाज ने उन्हें भावावेश में ही ग्रहण किया है। ऐसी लोक प्रचलित रचनाएँ संतों के लोकोन्मुखी साहित्य की द्योतक हैं, और अलग से अपना अस्तित्व सहेजे हुए अनेक लुप्त सम्प्रदायों और प्रभावों का पता देती हैं।

१५वीं शताब्दी के पश्चात् भक्ति के जो रूप भारतवर्ष में फैले उनमें निर्गुणी धारा का संत-काव्य बहुत कुछ बच गया है। निम्नवर्ग के ग्रामीण एवं कृषि जातियों को इसका श्रेय प्राप्त है। भक्ति की लहर और निर्गुण-निराकार की वाणी एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए इस तरह प्रसरित हुई कि उनमें निमाड़, मालवा, और राजस्थान वंचित नहीं रह सके। नामदेव, कबीर, मंनरंग, सिंगा, दलूभगत, धरमा, सेना आदि 'संतों' के पावन शब्दों ने निमाड़ और मालवा को अनुरंजित कर दिया। निमाड़ के घर-घर में आज भी संत सिंगा के भजन और गीत गाये जाते हैं। सिंगा का अपने गुरु मनरंग (मनरंगीर) से भी अधिक जाना-पहचाना व्यक्तित्व है। सिंगा के थानकों पर भरने वाले मेलों में सिंगा के भक्त प्रतिवर्ष निर्गुणी गीतों की स्रोतस्विनी बहाकर जनजीवन के पर्याप्त निकट पहुँच गये हैं। सिंगा के गुरु मनरंग के गीतों को लोग मृत्यु के गीतों की श्रेणी में सम्मिलित कर अनजाने ही गाते रहते हैं। उनका एक गीत जिसे 'हालरो' कहते हैं, बहुत प्रसिद्ध है। हालरो वस्तुतः लोरी को कहते हैं। लोरी की भाँति ही प्रशान्त लय में प्रस्तुत गीत गाया जाता है—

सोहं[1] बालो हालरो
अरे जाकी निरमल जोत
सोहं बालो हालरो।
कि सबद धात को पालणो
अरे पाट्या तीन सौ साठ
ऐसा खील जड़ाव की जापे ठड़ियी ठाट
सोहं बालो हालरो—
आगासी[2] झुलबाला बाँधियो
अरे लागी तिरबेणी डोर
अरे जुगत से झूला चलाविया
हेच्या 'मनरंग' मोर
सोहं बालो हालरो
नहिं रे बालूड़ा[3] या सोवतो
—नहिं जागतो

[1] मैं वही हूँ। [2] आसमान। [3] बालक।

अरे नहिं जाया रे बूध
सदा रे शिव जाकी संग म
अरे खेले बाजारूण[1] को पूत[2]
सोहं बालो हालरो—
अणहद घुंघरू बाजिया
आज मांग्या छ मेव
अरे सुरता करो हो विचार
अष्ठ कमल जिया दल चढ्या
लागा सांकल डोर
सोहं बालो हालरो—
नद्दी सुक्ता[3] का घाट प
अरे बठ्या ध्यान लगाय
आवत देख्या हो पिंजरा
अरे लिया गोद उठाय
सोहं बालो हालरो[4]

इस गीत के संबंध में एक किंवदंती प्रचलित है। एक मनरंग सुक्ता नदी के तट पर ध्यान में बैठे थे कि उन्हें नदी में एक बालक का शव बहता हुआ दिखाई पड़ा। शव को नदी से निकालकर उन्होंने जब उक्त लौरी गायी तो बालक के तन में क्रमशः प्राणों का स्पन्दन होना आरंभ हुआ और बालक जीवित हो गया। पुनः प्राण-प्रतिष्ठा का क्षीण विश्वास उक्त गीत से निबद्ध है। चार शताब्दियों की लम्बी शृंखला में बँधा हुआ, पर कंठों पर स्थित मनरंग महाराज का यह गीत तत्कालीन निमाडी संतकाव्य के स्वरूप का वाहक है।

निर्गुणी धारा के काव्य-साहित्य में प्रयुक्त सांकेतिक शब्दरूपक ज्यों के के त्यों हमें यहाँ गीत में प्राप्त हैं, यद्यपि सभी गायक उनके गूढ़ार्थ से परिचित नहीं हैं। सोहं, सबद, तिरवेणी, बालूड़ा (आत्मा), अणहद, घुंघरू, सुरता, अष्ट कमल, आदि ऐसे ही सांकेतिक शब्द हैं। नाथ-संप्रदाय का विश्वास है कि शरीर रूपी नगर का गढ़ ३६० हड्डियों रूपी प्रस्तर-खण्डों से बना है जिसमें प्रवेश पाने के लिये १६ खाइयों को पार करना आवश्यक है। ये खाइयाँ तन के १६ आधार हैं—

---

[1]बाँझ। [2]पुत्र। [3]खंडवा (मध्य प्रदेश) से ६ मील दूर सुक्ता नदी है।
[4]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० ७, गीतसंख्या १२।

"तीनि सै साठि चीरागड़ रचिले सोलह पणि ले वाहि"

—गोरखवाणी, पृ० १२०

इस विश्वास की छाप उक्त गीत की इस पंक्ति—"सबद घात को पालणो, अरे पाट्या तिन से साठ" में व्यक्त हुई है।

नर्मदा उपत्यका में संतों का प्रभाव अधिक रहा है। वहाँ के जन-जन ने निकट से संतवाणी को ग्रहण किया है। यही कारण है कि जो 'स्प्रिट' मृत्युगीतों में मिलती है वह संत-साहित्य के मूल विचारों से संयुक्त है। मृत्यु के गीत यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में गाये जाते हैं, पर निमाड़ में उनका आध्यात्मिक स्वरूप उपलब्ध है। मृत्यु के अतिरिक्त 'जीवन की निस्सारता' का गहरा संकेत लोक को प्रभावित करने के लिये सहज ही आ मिला है। संत-काव्य की परम्परागत भावनाएँ संतकवियों द्वारा प्रसरित होकर काल के थपेड़ों से टकराती हुई भाषा की दृष्टि से आहत होकर भी भावों की दृष्टि से रक्षित होकर इन गीतों में अवशिष्ट है। कुछ गीत देखिये—

रहारो जलम[1] न दूजी बार
ओ म्हारी प्रेम सुहागन अन्तरी
काया ओ कलस कुमार को
कई घड़िया ने मुड़ी-मुड़ी जाय
अरे कई रे भरोसो इनी माटी को
ऐसी फोकट[2] फेरा खाय—॥रहारो॥
अरे ससरो[3] सवांगी[4] ओ संग भयो
पाँची देवर रहारी लार[5]
घट म बसे ओ नन्दल मोहेली[6]
ते कारण छोड़यो भरतार—॥रहारो॥
अरे प्राण गयो ओ काया तू न गयो
तू छे निपट गिंवार
अरे भट रे मुंडी रहारा गुण नहि—॥रहारो॥[7]

---

[1]जन्म। [2]मुफ्त, व्यर्थ। [3]गोरखनाथ ने सास के साथ ससुर का वास नाभि में माना है क्योंकि नाभि में कुंडलिनी का निवास है। यही शक्ति है। इसके द्वारा सृष्टि का सृजन हुआ है। इसलिये वहाँ ब्रह्मा और सावित्री का निवास भी है। इन्हें ही सास ससुर कहते हैं जो स्थूल माया को जन्म देने वाले हैं। [4]स्वांगी (ढोंगी)। [5]साथ। [6]मोहिनी। [7]मालवी लोक-गीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या १४।

ओ मेरी प्रेम सुहागन अन्तरी (आत्मा), तेरा दूसरी बार जन्म नहीं होता। यह काया रूपी कलश (जिसमें तेरा वास है) ईश्वर रूपी कुमार द्वारा निर्मित किया गया है, जो बार-बार नष्ट हो जाता है। इस मिट्टी का क्या भरोसा, जिसका इस प्रकार व्यर्थ में आवागमन होता है। ढोंगी श्वसुर (संसार) से तेरा संग हुआ है और पाँच देवर (काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर) तेरे साथ लग गये हैं। तेरे इस घट (कलश) में माया रूपी नन्दल आ बसी है जिसके कारण तूने अपने परमात्मारूपी प्रियतम को छोड़ रखा है। हे तन, प्राण जाने के पश्चात् भी तू नहीं गया, तू बिलकुल गँवार है...।

उक्त गीत की अंतिम पंक्तियाँ कबीर की छाप से समाप्त हुई हैं। यह प्रवृत्ति कबीर के व्यापक प्रभाव को प्रकट करती है। इससे भक्त अपने अनुभव की पुष्टि करता है। स्वयं कबीर के कई ऐसे पद हैं जिनमें जीवन से नाता टूटते समय का रहस्यमय वातावरण हृदय में आध्यात्मिक पीड़ा को उत्कर्ष प्रदान करता है—"नैहर से जियड़ा फाटा रे। नैहर नगरी जिसकी बिगड़ी उसका क्या घर वाटा रे" अथवा "रहना नहीं देस बिराना है। यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना रे—" आदि में वही स्वर है, जो मृत्यु-गीतों में उपलब्ध है। कबीर की छाप वाला एक गीत और है, जिसमें जीवन और काया की निस्सारता प्रकट की गई है।

नुगरी[1] ओ म्हारा कई जस गाऊँ
महल वण्यो जिवड़ा रेहण पायो रे
पेरत अंग संवारत पागा[2]
संवारत पागा रे—
एक दिन मास बटेगो म्हारो कागा रे
काथो सुपारी न चाबत बिड़िया[3]
चाबत बिड़िया रे
एक दन मुख म जायगी किड़िया[4] रे
पानी का बुन्द स यो पिन्डा पालयो
यो पिन्डा पालयो रे
एक दन या जंगल बिच राल्यो[5] रे
कहत कबीर सुणो मन म्हारा
एक दन हाल बे हाल हुई जायग म्हारो रे[6]

[1]व्यर्थ। [2]पगड़ी। [3]पान की बीड़ियाँ। [4]चिउंटियाँ। [5]दुर्गत होना, भ्रमित होना। [6]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या १५।

नर्मदा उपत्यका का वह क्षेत्र जिसे निमाड़ कहा जाता है, वास्तव में मृत्यु के इन गीतों के लिए उल्लेखनीय है और परम्परा से ये गीत चले आ रहे हैं। युवकों अथवा युवतियों की मृत्यु पर इन्हें नहीं गाया जाता; केवल वय प्राप्त पुरुषों अथवा स्त्रियों के मरण पर शव के साथ मार्ग में सामूहिक रूप से मृदंग की थापों के साथ इन्हें गाया जाता है। श्मशान में शव को दाह करने के पूर्व तक गीतों का क्रम चलता रहता है। संदेह नहीं कि परिवार के पुरुषों को अपने प्रियजन का वियोग दुखी करता है, पर गीतों के इस आयोजन में उन्हें आध्यात्मिक परितोष भी प्राप्त होता है।

मृत्यु के ये गीत 'मसाण्या गीत' कहलाते हैं। इनमें कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें लोककवियों की छाप है। धरमादास और सयना भगत के कितने ही गीत प्रचलित हैं—उदाहरणार्थ, निम्नगीत प्रस्तुत है—

(१)

म्हारा हंसा रे
लोभी जिवड़ा रे
काया री बाड़ी[1] मेली[2] मती जाजो
हंसा तू रे अपुण दोई जणा
अब अंत अकेला क्यों जाया रे—
हंसा तू रे अपुण पिया दूध रे
अब जाता पियो तम नीर रे
हंसा माय-बाप सेव्या[3] दोई जणा
अब माय-बाप छोड़ी क्यों जाता रे—
हंसा यही रे बिनती धरमादास की
तम राखो चरणाधार[4]

(२)

यो जीव पावणों[5] रे, राख्या से नी रेवे
सुगणा-साथब[6] म्हन मैली नक जाय रे
वागो सिवाहूं त्हारा जरकसी[7]
माथे कसूमल पाग
भरी सभा में जाई बठो रे
असा गावत छतीस राग— सुगणा ॥

[1]बगीचा। [2]त्यागना। [3]सेवा की। [4]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या १६। [5]अतिथि। [6]अच्छे गुणों वाला प्रियतम। [7]जरीका।

खांड सुवाड़ी गुड़ लापसी
घेवर रे करूँ पकवान
घीऊँ तपऊँ अकारा[1]
और खारा परसूँ अचार—सुगणा ।।
ऊँची अटारी मालिया रे फूलां चुनी सेज
झूला झुलाऊँ ने पंखा डोलूँ वीर
बार बार त्हारी बिनती करूँ रे
म्हाके संग लई चाल
वास धरमी की या बिनती
रखजो चरणा लगाय—सुगणा ।।[2]

मानव काया की निस्सारता का रूपक इस 'चुनड़ी' नामक गीत में देखिये—

नव महिना म हुई तय्यार रे
चुवड़ी बड़ी अनमोल रे
पीयर म पेरी ओढ़ी मगन रही मन म
रह्यो माया को नशो म्हारा मन म ।।
माया म भूली गई सासरा को ध्यान रे
आगु लेणख[3] आया मिजवान[4] रे ।।
न्हाई धोई ने करी तय्यार रे
म्हारा लाकड़ा की घोड़ी ऊंची आंगड़ (चुवड़ी)
चार बराती लईन चल्या
खूब कर्‌यो वो मिलाप रे ।।
पाछ सी रड़[5] पियर का लोग रे
लीजो सोवन[6] चुवड़ी ओढ़ी रे ।।[7]

मालवा के दक्षिण सीमावर्ती भागों में नर्मदा तीर्थ की भाँति पूज्या और पतितपावनी है। रेवा के प्रवाह में मुक्ति की कामना से कितने ही शरीरों की भस्म युगों से प्रभावित होती आ रही है। मान्धाता के अंक में ओंकारेश्वर की ओर असंख्य यात्रियों का जाना रेवा के प्रति उनकी उत्कट आस्था का प्रमाण है। इसलिये गीतों में मन का मान्धाता की ओर बार-बार दौड़ना अस्वाभाविक नहीं। सयना भगत का निम्नगीत द्रष्टव्य है—

[1]सुवासित। [2]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या १७। [3]लेने के लिये। [4]अतिथि। [5]रोना,। [6]सौत। [7]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ७, गीतसंख्या २।

मन रे मान्धाता बिच जई रह्या, माया जाण न देवे ।
पचमडो पंडव बसे पांचो करे असनान ।
छत्तिस मुरत जां रमी रह्या वोका अम्मर नाम ॥
आसीवड जीव जाणोजी वाकी सितल छाया ।
जां रे मादेव तप प बठ्या ओकी अगण्या बुझाई ॥
गड़ प हाथी जोतिया गड़ प माड्यो छ रोल[1] ।
अबीरे कुकूं य्हांसी निसर्या गड़ प हुई चगा बोल[2] ॥
रेवा कवरे[3] ब्यंऊः झरमले जिन पर कपला हो गाय ।
गऊ मुख अमरित वां झरे झरे गंगा माय ॥
अणहद बाजा बाजिया सतगरू दरबार ।
सयना भगत त्हारी बिनती राखो सरण लगाय[4] ॥

सयना की छाप वाले और भी लोक-गीत हैं जिनमें स्पष्ट ही गोरख के पदों का प्रभाव है ।[5] सयना के गीतों में सांकेतिक योजना अधिक स्पष्ट है ।

इस तरह की रचनाएँ लोकगीत होकर भी पूर्ववर्ती संत-परंपरा की मान्यताएँ अपने में समाये हुए हैं । संत-काव्य की लोकोन्मुखी धारा के ये संत, जो अभी तक लिपि के बन्धन में नहीं बँधे हैं, लुप्त धार्मिक परम्पराओं और सम्प्रदायों के उत्थान में सहायक हो सकते हैं । प्रायः ऐसे सन्त निम्नवर्ग से आये थे । उन्होंने जीवन की खुली पुस्तक का एक-एक पृष्ठ पढ़ा था और अपने पूर्वजों से सिद्ध और नाथों की उन उक्तियों से ग्रहण किया था, जो उनके लिये सहज हो गई थी ।

नर्मदा उपत्यका के मृत्यु-गीतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोक-जीवन में अभी भी मृत्यु साधारण विषय नहीं है । भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो जाये पर उसके द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है । संत-साहित्य से संबंधित विभिन्न सम्प्रदायों ने इन गीतों में अपनी कड़ियाँ समय-समय पर मिलाई हैं । यद्यपि मृत्यु का आध्यात्मिक सौन्दर्य साधारण मनुष्य के लिये (रागों से ऊपर उठकर) जानना कठिन है, फिर भी जीवन की निस्सारता के साथ मुक्ति की भावना का स्मरण बराबर इनमें दिलाया जाता है । गोरख ने इसीलिये मरना मीठा बताया है—

'मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा' (—गोरखवाणी पृ० १०) यह मरना साधारण मृत्यु नहीं है । इसमें जीवन मुक्त होता है ।

---

[1]रोना । [2]चहल-पहल । [3]किनारे । [4]मालवी लोक-गीत (अ० प्र० सं० संख्या ७; गीतसंख्या १८ । [5]देखिये, वही, गीतसंख्या १९ ।

[आ]

मालवी का संत-साहित्य केवल पठार तक ही सीमित नहीं है, वह अपने में सम्पूर्ण निमाड़ को समाहृत करता है। अधिक अंशों में वह लोकोन्मुखी और पंथी है, इसलिये प्रस्तुत-प्रबन्ध में वह सम्मिलित किया गया है।

मालवी संत-साहित्य पर विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरों की छाया और उससे उत्पन्न पंथों की छाप है। जो साहित्य लिपिबद्ध है, आंशिक रूप से लिखित और आंशिक रूप से मुद्रित है, उसकी संगत तो बैठ सकती है, पर अलिखित-मौखिक-भजनी साहित्य का वर्गीकरण किंचित् क्लिष्ट विषय है। जिस साहित्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है वह गेय है, अतः पद्य का अंग ही मालवी संत-साहित्य की दृष्टि से अभी तक ज्ञात हुआ है। संत-साहित्य की प्राप्य सामग्री का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है—
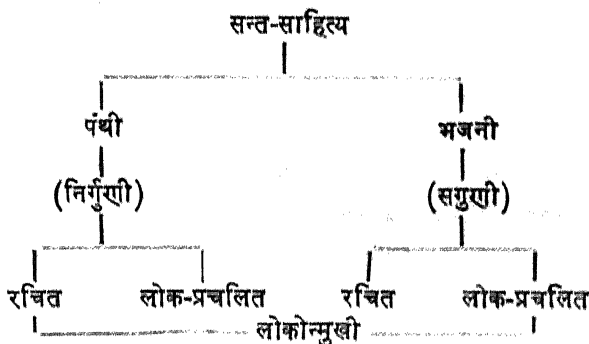
निर्गुणी रचित-साहित्य के अन्तर्गत 'गोरखनाथजी को ज्ञान', बाबा हरिदास के पद, गुलानन्द महाराज एवं नित्यानन्दजी के स्फुट पदों को स्थान दिया जा सकता है।

लोकोन्मुखी निर्गुणी साहित्य में जोगीड़ा, रामदेव, भरतरी बैराग, कबीरा और गोरख की छाप वाले गीतों को स्थान प्राप्त है। इसमें संत सिंगा की वाणी एवं उनके शिष्यों की रचनाएँ भी, जो छपित अथवा लिखित नहीं हैं, सम्मिलित होंगी। मृत्यु गीतों का उल्लेख आरंभ में किया गया है। उन्हें भी इसी वर्ग में स्थान प्राप्त है। समग्र रूप से ऐसा सम्पूर्ण साहित्य पंथी है।

मालवी का सगुणी साहित्य भजनी है। भजन के रूप में कीर्तन अथवा धार्मिक आयोजनों का वह प्रधान विषय है। इसमें रचित अथवा लोक-प्रचलित सामग्री—(१) रामाश्रयी शाखा और (२) कृष्णाश्रयी शाखा—में विभक्त करके

शेष सामग्री फुटकर शीर्ष के अन्तर्गत ली जा सकती है। 'मालवी रामायण' (श्री नारायण व्यास), चन्द्रसखी के भजन, 'लक्ष्मीकान्त पदावली (स्वामी दीनानाथ) आदि सामग्री इस दृष्टि से उपलब्ध है। लोक प्रचलित सगुणी-साहित्य प्रमुखतः भक्तिपूर्ण गीतों से भरा है।

निर्गुणी रचित-साहित्य

'गोरखनाथ' को ग्यान—'गोरखनाथ को ग्यान' ४८ दोहों की छोटी-सी प्रति है, जो लेखक को उज्जैन में प्राप्त हुई है। इस प्रति में लेखन-काल एवं लेखक का कोइ निर्देश नहीं है। केवल किसी नाथ द्वारा लिखे जाने का अनुमान 'नाथ कहै' के निरन्तर प्रयोग से पुष्ट होता है। पुस्तिका की लिखावट लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व की प्रतीत होती है। कुछ दोहे उदाहरणार्थ नीचे दिये जा रहे हैं, जो संभवतः भक्ति आन्दोलन के मिले-जुले प्रभाव की द्योतक है—

काटे सेती काँटा निकसे, कुंजी सेती ताला।
सिध ही तै सिध पाइए, तब घटि होय उजियाला॥ १॥
सर्प रहे बम्बी उठी नाचै, कर बिन डैरू बाजे।
नाथ कहै जो योपष जीते, षंड पड़ै सतगुरू लाजो॥ २॥

बाबा हरिदास—बाबा हरिदास आगरे के समीप किसी मठ में रहा करते थे। उनका साहित्य हाल ही में उज्जैन की 'ओरियण्टल लायब्रेरी' में आया है। कुछ प्रतियाँ उनके शिष्यों के पास भी मिल जाती हैं। बाबा जी ने प्रायः दोहे लिखे हैं। निर्गुणी धारा की समस्त पदावली का प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ है। प्राप्त सामग्री अभी सम्पादनाधीन है, अतः उदाहरण-स्वरूप कोई दोहा अथवा पद यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं हो सका। बाबाजी का जन्म एवं रचना संबंधी अन्य जानकारी अभी प्रकाश में आना शेष है। कहते हैं, बाबाजी का जन्म सन् १८४३ के आसपास हुआ था।

गुप्तानन्द महाराज—गुप्तानन्द जी महाराज कृत 'चौदह रत्न, गुप्त सागर तथा गुप्तज्ञान गुटका नामक संयुक्त ग्रंथ की तृतीय आवृत्ति संवत् १९३३ में हुई। इसमें ३७४ गेय पद हैं।

गुप्तानन्दजी मन्दसौर (उत्तरी मालवा) के विष्णुपुरी नामक स्थान में संवत् १९७९ में समाधिस्थ हुए। उक्त पुस्तक प्रथम बार संवत् १९७८ में इन्दौर में प्रकाशित हुई। गुप्तानन्द जी के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं।

'चौदह रत्न और गुप्त सागर' खड़ीबोली, ब्रज और मालवी मिश्रित सधुक्कड़ी भाषा में है। 'गुप्त ज्ञान गुटका' दोहा, बावनी और शेरों में लिखा गया है। पूरी पुस्तक में ख्याल, कवित्त, खड़ी चाल, कव्वाली, होली, कुंडलियाँ,

झूला, त्रोटक आदि सभी पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। विषय निर्गुणी है, किन्तु सगुणी भक्ति का प्रभाव भी साथ-साथ चलता है। विचारों में प्राचीन कवियों की भावनाओं और प्रचलित पदावलियों की पुनरावृत्ति स्वभावतः होती गई है। उदाहरणार्थ, कबीर के भावों से अतिरंजित निम्न लावनी देखिये—

लावनी (चाल दून)

सजि चलो सुहागिन साज आज घर पीके। टेक।
अजो एजी पिया को बेगी बुलाई है।
चलना पड़े जरूर सवारी सज के आई है॥ टेक॥
त्हेरे वारि खड़े लनिहार त्यार अब होले।
अजी एजी, जरा अब अखियां तो खोलो॥
कर प्रीतम घर की सुर्त शब्द कुछ मुख सेती बोलो[1] ॥ टेक।

'अजि एजी' का प्रयोग गुलानन्द जी के लिये स्वाभाविक हो गया है। उनके कुछ पदों में मालवी का प्रयत्नगत स्वरूप देखिये—

राग बंगला

बंगला खूब सभार्‌या है, चतुर कारीगर करतारा॥ टेक॥
पाँच रंग की ईंट लगी है, सात धातु का गारा
बिन औजार साल सब फोड़े, नख सिख लाग्या प्यारा॥ १॥
नज माया का कोट रच्या है, नाना रंग अपारा।
घाट-बाट चौगडटे गलियाँ, बिच में लगे बजारा॥ २॥
इस बंगले में बाग लग्या है, मन माली रखवाला।
साढ़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही अजब बहारा॥ ३॥
किरोड़ बहोत्तर नदियाँ बहती, छुटी रही जलधारा।
अन्तःकरण अगाध सरोबर, वृत्ति झुठै फुहारा॥ ४॥
इस बंगले में रास रच्या है, नाना राग उचारा।
अनहद शब्द होत दिन राती, सोहम् सोहम् सारा॥ ५॥
इस बंगले में बाजे बाजें, उठ रही झंकारा।
ढोलक झांझ बजे हरमुनिया, खिच रही स्वास सितारा॥ ६॥
बाजे तीन बजाय रहे हैं, स्वर अरु ताल निकारा।
पांच पचीसों पातर नाचें, देखत देख न हारा॥ ७॥
तीन लोक बंगले के अन्दर, नाना जगत अपारा।
गुलरूप से आप बिराजे, सबका जाननहारा[2] ॥ ८॥

---

[1]गुल ज्ञान गुटका, पृष्ठ १८०। [2]वही, पृ० २२४।

भजन

जिन जान्या अपने आपको,
सो निर्भय होके सोवे ।। टेक ।।
हिरदे की ग्रंथी जिन तोड़ी,
संसों की सब मटुकी फोड़ी।
विधि निषेध की उठि गई जोड़ी,
फिर जपे कौन के जापको ।।
करमन में कैसे रोवे ।। १ ।। इत्यादि

केशवानन्दजी महाराज—गुलानन्दजी के शिष्य केशवानन्द जी की रचनाएँ 'तत्वज्ञान गुटका' में संग्रहीत हैं, जिसका प्रकाशन प्रथम बार भुवनेश्वरी प्रेस, रतलाम से संवत् १९८२ में हुआ। यह ग्रंथ आत्मज्ञान संबंधी १३४ निर्गुणी गेय पदों का संकलन है। अपने गुरु की भाँति आपने भी राग-रागनियों में अपने भाव निबद्ध किये हैं। आपके विशेष प्रिय छन्द, गजल एवं कव्वाली हैं, परन्तु कुंडलियाँ, दोहे, कविता एवं लोक छन्द, भाड़, बधावा आदि का प्रयोग भी आपने किया है।

'तत्वज्ञान गुटका' की भाषा उत्तरी मालवी है, क्योंकि रचियता का कार्य-क्षेत्र प्रायः मन्दसौर और प्रतापगढ़ की ओर ही रहा। एक पद देखिये—

जोगिया

राम नाम कह मैना, तू तो लख गुरुमुख की सेना ।। टेक ।।
माया पारधी फंद लगाओ, लाला फल धरेना ।।
लालच के बस तू जाई बैठी, फँस गये दोऊ नैना ।। १ ।।
बँधे-बँधे में मैना बोले, अब गुरु मोहि छोड़ेना।
अब की बेर छुड़ा मोहि देना, मानूँगी आप कहेना ।। २ ।।
राम से फंद छुड़ाये, ज्ञान विराग दोऊ देना।
उड़ी फंद से शरण में आयी, गुरुजी के चरण गहेना ।। ३ ।।
निर्भय होके ब्रह्म पिछाना, मिटि गये काल के ताना।
केशवानन्द आनन्द कन्द, मिल जग में अबना बहेना ।। ४ ।।[1]

नित्यानन्दजी महाराज—नित्यानन्दजी कृत 'नित्यानन्द विलास' की प्रथमावृत्ति रतलाम से ही प्रकाशित हुई थी। तृतीय आवृत्ति संवत् १९९४ में छपी। नित्यानन्द की रचना को संग्रहीत करने का श्रेय स्व० कन्हैयालालजी

[1]तत्वज्ञान गुटका, पृ० ४८३।

उपाध्याय (रतलाम) को है। नित्यानन्दजी के पदों का प्रचार मालवा के बाहर गुजरात में भी है। तृतीय वृत्ति में 'नित्यानन्द विलास' के साथ कुछ छोटे-मोटे ग्रंथ भी जोड़ दिये गये हैं, जिनमें 'गुरु गीता', 'प्रश्नोत्तरी', 'श्री राम बिनोद' 'वार्ता प्रसं' आदि है। महत्त्व का अंश (मालवी की दृष्टि से) 'नित्यानन्द विलास' ही है। इस राग-रागनियों में गुम्फित बेदान्त पदों का संग्रह कर दिया गया है। यद्यपि अनेक पद सधुक्कड़ी मालवी में हैं, पर कुछ खड़ीबोली, उर्दू और ब्रज मिश्रित भी हैं। मालवी पदों में गुजराती और राजस्थानी का प्रभाव है। तत्व-ज्ञान वेदान्त और निर्गुणी कथा का प्रभाव सभी पदों में है। नित्यानन्द के समक्ष सन्त-साहित्य का अपार भण्डार था किन्तु विशेष रूप से उन पर निर्गुणी धारा का प्रभाव रहा। मालवी के कुछ पदों की बानगी लीजिये—

राग-सोरठ-मल्हार

मत ल्हारो, कोई नहीं हितकारी।
तू नित बंड करे बंडाई,
दुर्गति ल्हारो ॥ टेक ॥
देख खोल चक्षू तूं दोनूं,
कौन वस्तु है ल्हारी।
सबहि विभूति है श्री हरि की,
तूं कहे म्हारी म्हारी ॥[1]

राग दादरा

पंखा लेके गुरुजी मैं तो, हाजर खड़ी ॥ टेक ॥
लाख चोरासी ढूंढ थकी गुरु, अब चरनन में आय पड़ी।
देव दया की अबे, दृष्टि से, सुमर रही मैं तो घड़ी जी घड़ी ॥
अब हटेन की नहीं डोढ़ी से, निर्भय होके मैं तो आय पड़ी।
हर गुरु दुख सकल तन-मन को नित्यानन्द निज दे दो जी जड़ी ॥[2]

लोक प्रचलित निर्गुणी साहित्य खोज का विषय है। कबीर एवं लोक प्रचलित ऐसे साहित्य के अनन्योन्याश्रित प्रभाव का उल्लेख किया ही गया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—"कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं, जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के

---

[1]नित्यानन्द विलास, पृ० १०१। [2]वही, पृ० ११६।

बारह पंथों में से प्रायः सभी जीवित हैं, पर जहाँ तक मालूम है एक दो का छोड़कर बाकी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के संबंध में कुछ कथाएँ बची हैं। किसी के स्थापित मठ और मंदिर वर्तमान हैं, उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ पता चलता है... ।[1]"

"दक्षिण भारत की लोक-भाषा में लिखे हुए भक्तिमूलक ग्रंथ आगे चलकर जबर्दस्त दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म सम्प्रदायों और साधन मार्गों के विकास में लोक-भाषा का भी हाथ रहा होगा।"[2]

उक्त दृष्टि से हम देखें तो निश्चय ही लोक-प्रचलित-साहित्य से कितने ही लुप्त सम्प्रदायों की कड़ियाँ जुड़ सकती हैं। कबीर के पश्चात् कबीर के नाम से अनेक पंथ चले, जिनका पता 'कबीरा' लोक-गीतों से मिलता है। 'रामदेव के गीत' रामदेव की अनुश्रुति के अंग हैं, जो रामदेव के इतिहासपरक अंश को प्रकाश में लाने के लिये आमंत्रित करते हैं। भाटी, हरजी, भाऊदास, आदि रामदेव के परमभक्त हो गये हैं, जो कबीर की भाँति निम्नवर्ग से आये हैं। यों निर्गुणी साहित्य का अधिकांश भाग निम्न जातियों के पास ही है। जिसमें बलाई, चमार, माँझी आदि मुख्य हैं। डॉ० अम्बेड़कर का यह सिद्धान्त है कि बौद्धों के प्रति घोर विरोधी वातावरण ने 'अन्त्यजों' को जन्म दिया। यदि विकारी बौद्ध धर्म से निर्गुणी धारा का हम संबंध जोड़ते हैं तो हमारे लिये निम्न जातियों के कंठों पर अवस्थित यह निर्गुणी-साहित्य उपादेय होगा।

लोकोन्मुखी धारा का साहित्य पंथी अथवा साम्प्रदायिक है। संत सिंगा और उनके शिष्यों की रचनाएँ कुछ तो लिखित मिली हैं, पर अधिकांश रचनाएँ मौखिक हैं। इसलिये आगामी पृष्ठों में प्रमुख रूप से उल्लिखित संत-साहित्य परम्परा का उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

अलिखित निर्गुणी-साहित्य

संत सिंगा—(अ) नर्मदा उपत्यका के कृषि-प्रधान जीवन में संत सिंगा का वर्चस्व किसी भी अन्य संत या लोक-कवि की अपेक्षा कहीं अधिक है। मालवा के उन्नत भू-भाग से उतरते ही सतपुड़ा की शैल-मालाओं तक के निमाड़ में कृषकों और मवेशियों को सिंगाजी की आन लगती है। नर्मदा के कछारों से

---

[1]मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १३। [2]वही, पृ० १८।

सिंगा की वाणी उठकर मालवा के पठार को छूने लगी। उत्तर भारत की संत परम्परा के निखरे हुए सूत्रों में सिंगा ने अपना स्वर मिलाया और वे निमाड़ में बिखर कर गूंजने लगे। उनके पदों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि सिंगा में अपने पूर्ववर्ती संतों का प्रभाव विद्यमान है। जीवन में उत्कट साधना होते हुए भी वे लोक से भिन्न न थे, इसीलिये नर्मदा उपत्यका (निमाड़) के ही नहीं दूर-दूर के जन-जन को अपनी भक्ति और वैराग्य से वे विमोहित कर सकने में सफल हुए। आज भी—सिंगा बड़ा अवलिया पीर, जिसको सुमरे राव अमीर। कह कर लोग उन्हें याद करते हैं। सिंगा उनके लिये एक अलौकिक पुरुष है। यदि पशु खो जाएं या उन पर कोई आपत्ति या बीमारी आ जाए तो कृषक-गण सिंगा की मनौती करके उनकी अलौकिकता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। गूजर, भाखड़, गवली, मेघवाली, पाटीदार आदि नर्मदा उपत्यका की कृषक जातियाँ सिंगा की सौगन्ध को भगवान के बराबर मानती हैं। अतः ऐसे सिद्ध पुरुष के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री के अतिरिक्त अनेक प्रकार की किंवदन्तियों का मिलना असंभव नहीं है। यह सन्त कवि निमाड़ी भाषा के अनेक लोक-गीतों और परवर्ती संतों की वाणी में इसलिये बंधा है। दलू भगत (दलूदास या दलाजी) की छाप वाले कई गीतों में उनके कुछ विलक्षण-कार्यों का उल्लेख मिलता है। दलूजी सिंगाजी के पौत्र थे। उनके लिए सिंगा अवतारी पुरुष थे। वे ईश्वर के बराबर थे।[1] दलुदास मंडलेश्वर (निमाड़) के निकट लेपा ग्राम में रहा करते थे। मा० लो० परिषद् के 'निमाड़ पर्यवेक्षण' दल ने दुलुदास के अनेक भजन एकत्र किये हैं। उनमें से सिंगाजी की लीलाओं का वर्णन एवं परिचय देने वाले दो गीत नीचे दिये जा रहे हैं—

१. अजमत भारी कंई कूं सिंगाजी तमारी
झाबुवा देस वां बादर सिंग राजा,
अरे वां गई बाजू ने फेरी।
झाझवान ने तमख सुमरया,
अरे वां डूबी झाझ उबारी॥
नदी सिपराड़ बहे जल गंगा,

[1]हम क्या जाना पटा परवाना, एक निरगुण ब्रह्म हमारा।
एक पुरुष भी मांड मंडी है, सो देव हमारा॥—संत सिंगाजी, सिंगाजी साहित्य-शोधक मंडल, खण्डवा, १६३६, पृष्ठ २।

अरे वां बिन रुत देखी कयरी।[1]
सदासिव पय पान मंगत है,
अरे वां दुई[2] मोट[3] कुंवारी॥
दला भगत चरणों का सेवक,
अरे वां जन की फौंजां घेरी॥[4]

२. बाबा सिंगाजी जात नो गवली।
देवा भौत बजावे पावा पावली॥
बाबा सिंगाजी नाना मोटा आंगणा।
बाबा धन आयो तिन घर पावणां॥
बाबा अन-धन-लछमी भौत फली।
सेवा भौत करे वाकी घर वाली॥
बाबा अपणी हांसी के फेर लियो।
बाबा रामनाम कर लेवाली॥
बाबा दलूपति जाकी बिनती।
देवा शरणा लगी पाली॥[5]

दूसरे गीत से प्रकट होता है कि सिंगाजी जाति के गवली थे। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुए। उनके पैदा होने से अन्न-धन की वृद्धि हुई। उनकी घरवाली बहुत सेवा करती थी, पर सिंगा ने अपने जीवन के आनन्द से विमुख होकर रामनाम में अपना चित्त लगा दिया।

दलूदास का एक और पद नीचे प्रस्तुत है जिसमें सिंगाजी की महत्ता उन्नत स्तर पर व्यक्त की है—

निरगुण धाम सिंगाजी, तेरी अखंड पूजा लागी
अखंड जोत भरपूर जहां, झिलमिल बरसे नूर।

---

[1]कच्चे आम, [2]दुही, [3]केड़ी। [4]जहाज उबारने की घटना रामदेवजी के संबंध में भी मारवाड़, मालवा राजस्थान में प्रचलित है। उन्होंने रुणिजा (मारवाड़) के श्रेष्ठी को व्यापार करने के लिये बाहर भेजा था। मार्ग में तूफान आने से उसका जहाज डगमगाने लगा। उस समय उसने रामदेव का स्मरण किया और जहाज डूबने से बच गया। माँझी नामक जाति और निम्नवर्ग के लोगों में रामदेव की महिमा के अनेक गीत मध्यवर्ती भारत में प्रचलित हैं।—'निमाड़ पर्यवेक्षण—विवरण' से (मालव लोक-साहित्य परिषद्, उज्जैन), १९५३। [5]तिरमख उंखर, ग्राम घोट्या से प्राप्त।

जां ब्रह्म ज्ञान महासूर जहां, पोचे बिरला सूर ।
गुरु गम की महिमा जागी ।।
अकर मकर बेपार जहां, निरंकार अधिकारा ।
जां सोहं सबद इकतार जहां, आद अंत उंकारा ।।
दरसन पावो भागी ।।
तम तन कायो को खोजो, खोजे बिन कैसे सूजे ।
जग मारग पाया सुधा, जद निरंकार को पूजे ।
माया-ममता, भरमणा त्यागी ।।
सुफल कमल के माहीं जहां, अनहद नाद बजाई ।
बाबा सिंगाजी रम रह्या जां मिटे करम की माई ।।
निरगुण की माया गाई ।।[1]

सिंगाजी संबंधी कतिपय किंवदंतियाँ उल्लेखनीय हैं । उन्हें संक्षेप में प्रकट करना उचित प्रतीत होता है । समाज-शास्त्र के अध्येताओं के लिये इस प्रकार की सामग्री उपयोगी होगी ।

१. जन्म संबंधी—सिंगाजी का जन्म कंडे थापते समय हुआ था । उनकी माता को उस समय नाल काटने के लिये कोई धारदार वस्तु नहीं मिली, तो उन्होंने वहाँ पड़े दो पत्थरों से नाल काट दी । तभी से वे पत्थर खजूरी में पड़े हुए हैं और आज भी पूज्य माने जाते हैं ।

२. औलिया पीर से भेंट—कहते हैं औलिया पीर खानदेश में रहा करते थे । उन्हें सिंगाजी से भेंट करने की इच्छा हुई । इधर सिंगाजी भी उनसे मिलना चाहते थे । अतः वे चल पड़े । मार्ग में दोनों की भेंट हुई । औलिया पीर ने सूखी जमीन पर नदी की धारा बहादी । सिंगाजी ने भी चमत्कार दिखाये । उन्होंने नदी की रेत में सफेद 'गार' (बहकर जाने वाली श्वेत प्रस्तर-खण्ड) को फोड़ कर चांवल बनाए और कुंवारी केड़ी पर हाथ रखकर दूध निकाला तथा कटोरा भर कर औलिया को पिलाया ।

३. तुलसीदास से भेंट—सिंगाजी की प्रसिद्धि तुलसीदास तक पहुँची । वे उनसे भेंट करने को उत्सुक हो गये । अतएव उत्तर की ओर चलकर वे ग्राम पीपल्या महेश्वर तहसील में आये । वहीं सिंगाजी से उनका मिलन हुआ । दोनों संत प्रेमपूर्वक मिले और जीव और ब्रह्म के संबंध में चर्चा की ।

४. सांसारिक कार्यों से विरक्ति—पाँच वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने पर सिंगाजी अपने ढोरों को लेकर हरसूद में आ बसे । वहाँ

[1]मालवी लोक-गीत (अ० प्र०), सं० सं० ७, गीत सं० २० ।

रहते हुए २१ वर्ष की अवस्था में भामागढ़ के राव साहब के यहाँ १ रु० मासिक पर नौकर हो गये। एक दिन हरसूद से डाक लेकर वे भामागढ़ लौट रहे थे कि मार्ग में उन्होंने ब्रह्मगिरि के शिष्य मनरंगीर को यह गाते हुए सुना—

"समुझि लेओ रे मन भाई, अन्त न होय कोई अपणा।
यही माया क फन्द म नर आन भुलाया॥"

इन पंक्तियों का सिंगा पर बहुत असर हुआ और उन्होंने भामागढ़ आकर नौकरी छोड़ दी। उस समय उनको ३ रु० मासिक मिल रहा था। मनरंगीर महाराज को अपना गुरु मान कर वे आध्यात्मिक जिज्ञासा को लिये हुए पीपल्या की ओर चले गये। वहीं तुलसीदास से उनकी भेंट हुई थी। लोक-गीतों में पीपल्या की भूमि को धन्य माना गया है—

धन मुंबी धन परगनों धन संतन को भीड़
जा गरू सिंगा पावन कियो नग्र पीपल्यो गांम।

५. सफेद मकड़ी का रहस्य—कृष्ण जन्माष्टमी का दिन था। कृष्ण का जन्म रात्रि को ठीक १२ बजे होता है। गुरु मनरंगीर को नींद आने लगी तो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य सिंगा से कहा कि हमें रात्रि को उस समय जगा देना जब सफेद मकड़ी भगवान के समीप दिखाई पड़े। उसी समय मुझे पूजादि करना है। सिंगाजी भावुक थे। सफेद मकड़ी के प्रकट होने पर उन्होंने भगवान की आरती उतार दी यह सोच कर कि सोते हुए गुरु को उठाकर व्यर्थ कष्ट क्यों दिया जाय। कुछ अक्खड़ भी थे। सोचने लगे कि क्या हर वर्ष भगवान पैदा थोड़े ही होते हैं? जब गुरु की नींद खुली तो सिंगाजी की इस चेष्टा पर वे क्रुद्ध हुए और कहा "जा दुष्ट, जीते जी फिर मुँह न दिखाना" सिंगाजी को इससे हृदय में भारी चोट लगी और उन्होंने शरीर त्याग करने का निश्चय कर लिया। अपने निवासस्थान पिपल्या में आकर ये कुछ मास रहे। तत्पश्चात श्रावण की पूर्णिमा को संवत १६१६ में सिपराड़ नदी के तीर पर उन्होंने जीवित समाधि ग्रहण कर ली।[1]

समाधि का वर्णन उनके किसी शिष्य की निम्न पंक्तियों में देखिये—

ताल पखावज बजे झांझरी सिंगा न ध्यान लगायो।
पान प्रसाद कपूर की आरती, जोत में जोत मिलायो॥
संत मंडली हरि गुण गावें, ब्रह्म म ब्रह्म मिलायो॥

---

[1] सिंगा साहित्य शोधक मंडल, खण्डवा ने समाधि लेने की तिथि उसी वर्ष श्रावण शुक्ला सप्तमी निश्चित की है।

कहते हैं स्वयं सिंगाजी ने अपने हाथ से गड्ढा खोदा और एक हाथ पर कपूर प्रज्ज्वलित किया तथा दूसरे में माला लेकर स्वयं समाधिस्थ हुए। गुरु मनरंगीन को जब यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यन्त दुःखी हुए। उनके दुःख को व्यक्त करने वाली पंक्तियों की निमाड़ में कमी नहीं।[1] लोगों में समाधि का स्थान सिरराड़ नदी का किनारा प्रचलित है, पर कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर उन्होंने किकड़ नदी के किनारे शरीर त्याग किया था।

(आ) सिंगा संबंधी शोध-कार्य का प्रारंभ खण्डवा के कुछ उत्साही साहित्य प्रेमियों ने सन् १९३६ में आरंभ किया था और उसी वर्ष 'संत सिंगाजी' शीर्षक एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित होने पर काम की इतिश्री समझ ली। तत्पश्चात् खोज का कार्य शिथिल रहा। इसमें संदेह नहीं कि सिंगा के भजनों का प्रसार निमाड़ के गाँव-गाँव में है। उनके नाम से छत्तीस निशान चलते हैं, जो भादों में अपने स्थान से निकल कर होली पर लौटते हैं। सिंगाजी के नाम से बालावड़, दवाणा पीपल्या, मोहणा, खजूरी आदि ग्रामों में प्रतिवर्ष मेले लगते हैं। जहाँ हजारों की संख्या में मवेशियों का क्रय-विक्रय होता है। मानताएँ उतारी जाती हैं और भक्त मंडलियाँ कई दिनों तक सिंगाजी के गीत गाती हैं। सन् १९५३ में निमाड़ संस्कृति पर्यवेक्षण के अवसर पर मालव लोक-साहित्य परिषद् उज्जैन के सदस्यों ने निमाड़ के उस संत कवि के प्रभाव को देखकर इस संबंध में सामग्री एकत्र करने का प्रयत्न किया। कुछ सफलता भी मिली। मौखिक रूप से सुने हुए भजनों को लिपिबद्ध करने के अतिरिक्त मोहणा ग्राम से एक हस्तलिखित प्रति भी उपलब्ध हुई। परिषद् के प्रयास से प्रेरणा पाकर इन्दौर के उत्साही पत्रकार श्री नेमीचन्द जैन ने भी उन्हीं दिनों निमाड़ की यात्रा की। उन्होंने भी पर्याप्त साहित्य एकत्र किया बताया जाता है। उनका यात्रा वर्णन—मैं निमाड़ गया था इन्दौर के साप्ताहिक 'नवप्रभात' में क्रमशः प्रकाशित हुआ, वह उल्लेखनीय है (देखिये अप्रैल और मई १९५४ के रविवारिय संस्करण)। उसके अनुसार इतना ही ज्ञात होता है कि—

(१) ग्राम खजूरी (बड़वानी के निकट) में सिंगाजी की एक छतरी है। मृगशिरा नक्षत्र में जब किसान बानी करते हैं, उस समय इसी मंदिर में आकर वे सिंगाजी के "पगल्या" (पद-चिह्न) पर आम की टहनियाँ चढ़ाते हैं,

(२) सिंगाजी की इस छतरी के समीप उनके पौत्र दलुदास की भी छतरी बनी है, और

---

[1] क्रोधानल कां से आयो, दुष्ट, म्हन क्रोधानल का से आयो।
म्हन हाथ को हीरो गंवायो दुष्ट म्हन हाथ को वन गंवायो ॥
—मा० लो० (अ० प्र०) ७ गीत सं० २१।

(३) सिंगाजी के वंशधर अभी जीवित हैं जिनकी ७वीं या ८वीं पीढ़ी चल रही है।[1] उन्हीं के पास "श्री सिंघानी-परचरी" प्राप्त हुई है (जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है)। परचरी के दो चरण प्रकाशित भी किये गये हैं, जिनके अनुसार ज्ञात होता है कि सिंगाजी जाति के तो गवली थे, पर ब्याह-शादी के अवसर पर मोहक बाँसुरी बजाया करते थे और उनके गुरु मनरंगीर निर्गुण का भेद जानने वाले थे।[2]

ऐतिह्य आधार पर सिंगाजी का जन्म बड़वानी (मध्य भारत) के ग्राम खजूरी में संवत् १५७६ में गुरुवार के दिन वैशाख सुदी ११ को हुआ। पर इस विषय में शोध करने वाले नागपुर के श्री कृष्णलाल 'हंस' (जिन्हें संत सिंगा का एक हस्तलिखित परिचय ग्रंथ[3] प्राप्त हुआ है) का कहना है कि मृत्यु के समय सिंगाजी की अवस्था ६० वर्ष की थी और मृत्यु संवत् १६६४ में हुई। अतएव मृत्यु के समय उसकी अवस्था ४० वर्ष की होती है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि सिंगाजी १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए और १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अवश्य जीवित रहे होंगे।

सिंगाजी के पिता का नाम भीमा और माता का नाम गौरा था। पिता की मृत्यु के समय सिंगाजी के पास ३०० भैंसे थीं। सिंगाजी की रचनाओं में जो निर्गुणी प्रभाव व्यक्त हुआ है उसके पीछे एक परम्परा है, जो ब्रह्मगिरी से पहले आरंभ होती है। ब्रह्मगिरि पूर्णतः कबीर से प्रभावित थे और संभवतः उनके समकालीन भी थे। उनके शिष्य मनरंगीर और मनरंगीर के शिष्य सिंगा उसी तरह गुरु-परम्परा से प्रभाव ग्रहण करते हैं।

श्री कृष्णलाल 'हंस' का विचार है कि सिंगाजी की वाणी को लिपिबद्ध करने का कार्य दलुदास ने आरंभ किया। उन्होंने सिंगाजी के उपलब्ध साहित्य का ब्यौरा इस प्रकार दिया है—

नर्मदा उपत्यका का संत कवि सिंगा—१. सिंगाजी का दृढ़ उपदेश

---

[1]देखिए वंशावली।

[2]'सिंगाजी नाम जात गवली बजावे ब्यावा मेहिर बासड़ी'
उतते आये मनरंग देवा हरिगुण गावें निरगुण भैवा'।

[3]यह ग्रंथ 'सिंगाजी बाबा की परचुरी' है जिसमें ४४२ दोहे-चौपाइयाँ लिखी हैं। 'हंस' जी को सिंगाजी के महंत मांगीलाल और उनके सोहनलाल से तथा कुछ और व्यक्तियों से अभी तक लगभग ५०० पद प्राप्त हो चुके हैं, ऐसी सूचना है।

(दोहा-चौपाइयों में लिखित, २०१ पद), २. आठ बार (७ पद), ३. पद तीन (१५ पद), ४. वाप्या बड़े (२३ पद), ५. आतम ज्ञान (१६ पद), ६. महिम्न स्तोत (४० पद), ७. नराज (२० पद), ८. भागवत महापुराण (सात अध्याय)। अनुमान किया जाता है कि सिंगाजी ने लगभग ८००-६०० पद रचे होंगे।

सिंगाजी के बिखरे हुए साहित्य का यथोचित रीति से सम्पादन और संकलन करने की आवश्यकता है। इसके द्वारा हम निमाड़ी में संत-साहित्य की दिशा और महत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। निमाड़ में संभवतः निर्गुणिया साहित्य की लोकोन्मुखी धारा का जो स्वरूप इन दिनों मृत्यु गीतों और अन्य भजनों में मिलता है वह अवश्य किसी गहरे प्रभाव का परिणाम है। कदाचित् १६वीं शताब्दी में निमाड़ निर्गुणिय-संतों का केन्द्र रहा होगा। सिंगा की शिष्य परम्परा में प्राप्त नामों को देखकर संतों के गहरे प्रभाव का जन-जीवन पर जो असर हुआ वह आज भी किसी न किसी रूप में झलकता है।

समग्र रूप से सिंगा संबंधी साहित्य-सामग्री दो प्रकार की है—(१) सिंगाजी की प्रशंसा में गाये जाने वाले गीत एवं (२) सिंगाजी द्वारा रचित पद। उक्त विभाजन को भी पुनः दो भागों में विभक्त करना होगा—(१) मौखिक और (२) लिखित।

(३) अभी तक प्रकाशित सामग्री के आधार पर सिंगा का व्यक्तित्व कबीर की भाँति फक्कड़ और खरा प्रतीत होता है। वह राम और कृष्ण दोनों का उपासक है। वह जीवन के अनुभवों को निर्गुणी धारा में सहज ही मोड़कर बहुत ही बड़ी बात कह जाता है। रहस्य की जिज्ञासा धार्मिक आडम्बरों और ढोंगों का खंडन तथा ब्रह्म की एकता विषयक रचनाओं में सिंगा-साहित्य विभाजित किया जा सकता है। सिद्धों ने जिन सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया वे उसी प्रकार सिंगा की रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं। सिंगाजी के कुछ फुटकर पदों को नीचे दिया जा रहा है :—

१. मैं तो जाणू सांई दूर है, मुझे पाया नेड़ा।
　रेणी नहीं सामरथ भई, मुझे आसरा तेरा ॥टेक॥
　तुम सोना हम गेणा, मुझे लागा टांका।
　तुम तो बोले हम देह धरी, बोलै कैरंग भाखा॥
　तुम तो चंदा हम चांदणा, रैन उजियाला।
　तुम तो सूरज हम घामला, सांई चौजुग पुरिला॥

तुम तरवर हम पंछिड़ा, बैठे एक ही डारा।
चोर मार फल भांजिया, फल अमृत सारा ।।
तुम दरियाव हम माछली, विस्वास का रहणा।
देह गलो माटी भई, तेरा तूही म समाणा ।।
तुम तो वृक्ष हम बेलड़ी, मूल से लपटाणा।
कर सिंगा पहचाण, ले पहचाण ठिकाणा ।।

२. निरगुण ब्रह्म है न्यारा, कोई समझो समुझण हारा।
खोजत खोजत जलम सिराना, मुनिजन पार न पाया।
खोजत खोजत शिवजी थो, ऐसो अपरम्म पारा ।।
सेस सहस मुख रटे निरातर, रैन दिवस इस सारा।
रिषि मुनि और सिद्ध चौरासी, तेतीस कोटि पचिहारा ।।
त्रिकुति मेल में अनहद बाजे, होत सबद झनकारा।
सुकमणि सेज सूनन म झूलो, सोहं पुरुष हमारा ।।
वेद कथे अरू कहे निवाणी, स्रोता करो विचारा।
काम क्रोध मद मत्सर त्यागो, झूठा कलप पसारा ।।
एक ब्रह्म की रचना सारी, जा का सकल पसारा।
सिंगाजी भर नजरों देखे, वो ही गुरू हमारा ।।

३. खेती खेड़ो हर नाम की, जा म मुकती लाभ।
पाप का पालया कटाव जो, काटी बाहर बाल ।।
करम की कासी रचवाजी, खती चोखी थाय।
वास स्वास दो बैल है, सुरति रास लगाव ।।
प्रेम पिराणो कर धरो, ज्ञान आर लगाव।
सोहं बख्खर जूप जो, सोहं सर तो लगाव ।।
सत को मांडी रोपजो, धरम पडो लगाव।
ज्ञान का गोला चलावजो, सुआ उड़ी उड़ी जाय ।।
दया की दावण रालजो, बहुरी फेरा नी होय।
कहे सिंगा पेचाणले, आवगमन नी होय ।।

४. अगिला होयगा आग का पूला, आपण होणु पाणी रे।
जाण का आग अजाण हुई न, तत्व एक लेणु छाणी रे ।।

५. पानी पवन से पातलो, जैसी सुरयो धाम।
ज्यों हो सस का चांदणा, ऐसो मेरो राम ।।

६. संगी हमारा चंचला, कैसा हाथ जो आवे।
काम क्रोध बिल अरि रह्या तासे दुक्खम पावे ।।
माटी केड़ा सिढ़ड़ा, सबन रंग भरिया।
पाव पलक घड़ी थिर नहीं, बहु फेरो फिरिया।
संगी हमारा चंचला ।।

किसी प्रामाणिक प्रति के अभाव में सिंगाजी की रचनाओं का सही-सही रूप में उपलब्ध होना दुर्लभ है। इसलिये हमें छन्द संबंधी भूलें जो दिखाई पड़ती हैं, उनके निराकरण का कोई मार्ग नजर नहीं आता। आज भी निमाड़ में स्थान-स्थान पर उनके गीत गाने वाले मिलते हैं। पर्यवेक्षण के अवसर पर मा० लो० सा० परिषद् ने कुछ मौखिक गीतों का संकलन किया है, उसमें से दो गीत नीचे दिये जा रहे हैं—

१. मन निरभय कैसो सोवे, जन में त्हांकों कुण हे ?
काम क्रोध या अतिबल जोधा
हरे मन, बिख का बीज क्यों बोवे हे ?
पांच, रिप त्हार संग चलत हे
हरे मन, बीजड़ा मूल से सोवे हे।
मन निरभय केसो सोवे ?
मात पिता ने जनम दियो हे
अरे वो तिरिया संग न जावे।
भरम भरमय नर जनम गमावे
अरे आयो बाजू के खोवे।
मन निरभय केसो सोवे ?
कहे सिंगाजन आगन बाणी
नर अंत काल के रोवे।
मन निरभय केसो सोवे ?

२. ऐसा नर कू सेवना जिन जग कू जिलाया रे ।।टेक।।
बाबा भोपा सब कहे जिन ठग खाई दुनिया रे ।।
जिन घर का सब मरी गया वाकू क्यों न जिलाया रे ।।
बरत करे तो क्या भय, नित आत्मा कलपाते।
फिरता हरता मरी गया वा नर बेकुण्ठ जावे।
तिरथ करे सो क्या भए, तन असनान करावे।
जे नर जत कू सेवता वो नर मगर कहावे ।।

जगन कोटि एक पल हे नित साध जिमावे।
कह जग सिंगा पेचापजी व नर बेकुण्ठ जावे॥

उपर्युक्त पदों में सिंगाजी की भाषा सधुक्कड़ी प्रतीत होती है। यद्यपि उसमें निमाड़ी का पुट अवश्य है, पर अपने पूर्ववर्ती संतों की भाषा के सांकेतिक प्रयोगों और शब्द व्यंजनाओं को अपनाकर उन्होंने भाषा का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत किया है, जो निमाड़ के अतिरिक्त उत्तर भारत के जन-जन के लिये बोधगम्य है।

यह बात उल्लेखनीय है हमारे निरगुणिया संतों की सूची में उनके कवि निम्नवर्ग से आये हैं। सिंगा भी उसी वर्ग के हैं। कृषि-जीवन से उन्होंने कई उपमाएँ और रूपक लिये हैं। कृषक होने के नाते साधारण लोगों से उनका सम्पर्क ऐसा बना रहा कि आज भी उनकी महत्ता में कमी नहीं आई। उनकी शिष्य-परम्परा की सूची काफी बड़ी है। सबसे प्रिय और निकट के शिष्य दलुदास ने सिंगा की अलौकिकता का बहुत प्रचार किया। दलुभगत की अधिकांश रचनाएँ सिंगाजी की स्तुति के अन्तर्गत आती हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार सिंगाजी की शिष्य-परम्परा में मुख्यतः निम्न संतों की रचनाएँ मिलती हैं— १. दलुदास[१]; २. खेमदास[२]; ३. धनजीदास (घना भगत)—नर्मदा उपत्यका के लोक-साहित्य में इन शिष्यों के अनेक पद फैले हुए हैं। संग्रह करने पर अनेक प्रक्षिप्त अंश भी हो सकते हैं।

संत सिंगा निर्गुण धारा के कवियों की श्रेणी में आते हैं। जब तक उनके मौखिक और लिखित साहित्य का प्रामाणिक संग्रह प्रकाश में नहीं आता तब तक लोकोन्मुखी निर्गुण धारा का वह स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता, जो नर्मदा उपत्यका में प्रचलित रहा है। इतना ही नहीं हमें इस प्रकार के शोध द्वारा कई भिन्न-भिन्न लुप्त सम्प्रदायों का परिचय भी मिल सकता है। सिंगाजी की रचनाएँ और उनका प्रसार हमें इस दृष्टि से सोचने के लिये भी बाध्य करते हैं कि संभवतः सिंगा-सम्प्रदाय निमाड़ में अलग से एक संगठन के रूप में रहा होगा।

---

[१] इनके लिखे हुए १०० पद बताये जाते हैं। अभी केवल इनकी एक ही रचना मिली है—"सिंगाजी बाबा नी परचरी।" [२] ६२ चौपाइयों में लिखित सिंगाजी का परिचय मिला है।

संतसिंगा की वंशावली[1]
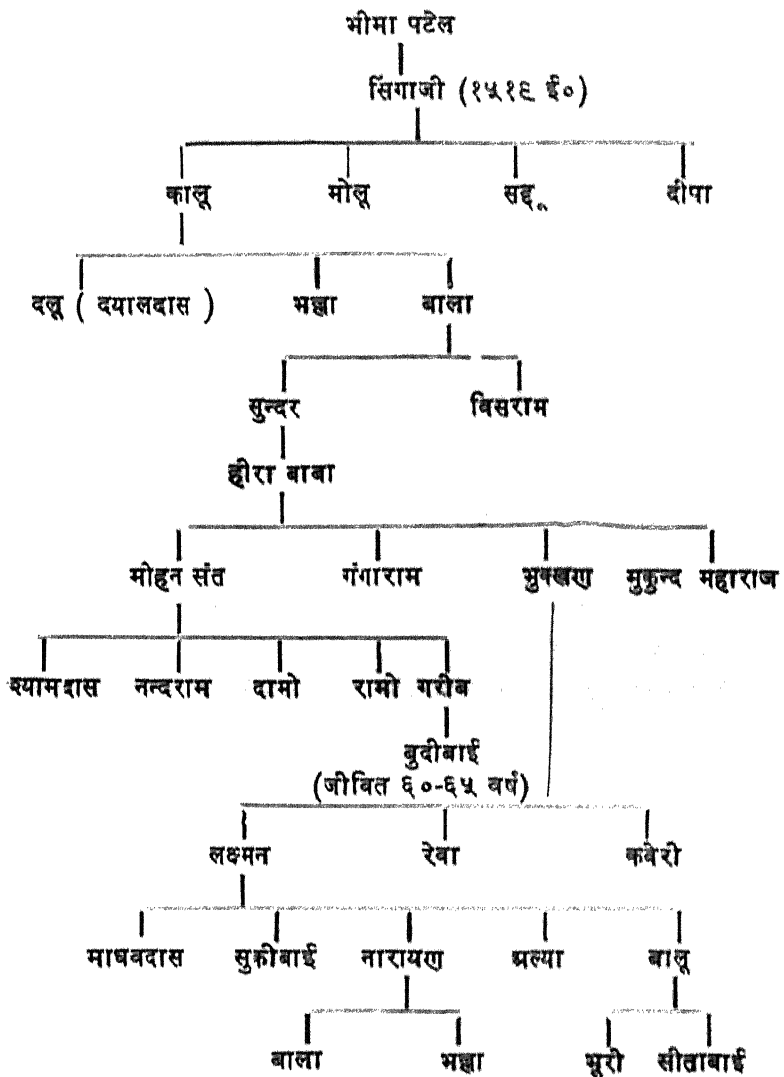
[1]प्रो० नेमीचन्द जैन लिखित "मध्य भारत में संत परम्परा" वीणा, दिसम्बर १९५५ में से उद्धृत।

घनाजी (घनाजीदास)—घनाजी अथवा घना भगत का काल १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है।[1] निमाड़ की किंवदंतियों के अनुसार वे जाति के नाई थे और गोगाँव के पास मवरकव गाँव में उत्पन्न हुए थे।[2] घनाजी के असंख्य भजन निमाड़ और मालवा में प्रचलित हैं। सिंगा-सम्प्रदाय के होने के कारण इनमें वही सादगी और खरापन निहित है। आत्मा को निखारने की क्षमता लिये हुए इनके पदों की वृत्ति प्रायः उपदेशपरक है। उदाहरणार्थ यह पद[3] देखिये—

> हरि भजी ले रे गवार्‌या पत्रेर्‌या
> तू हरी भनी ले रें गवर्‌या—
> अघोरी सो रवातो भजन नहीं करतो
> नींद भरी लेख़ तो सेर्‌या
> राम नाँव लेत तूंक ताव[4] चढ़—
> बिना सींगे का गोर्‌या[5]।
> हात-पाँव फेगड्या[6] न मुंडी थारो वाकड़ो
> खबड्यो[7] माथो ने डोला[8] ढेर्‌या,
> पीरया—पौरीनां[9] पर दाती दातो
> जसो उड़ावतो जंगल को होर्‌या[10]।

घनाजी की चार रचनाओं का पता चलता है—१. अभिमन्यु व्याह; २. लीलावती; ३. सेठ वारणशाह और; ४. सुभद्रा अर्जुन व्याह—"सिंगा बाबा की परचुरी" ग्रन्थ भी इन्हीं का बताया जाता है।

दलुदास—दलूदास अथवा दयालदास सिंगा के पौत्र थे। सिंगाजी की प्रशस्ति में कहे गये उनके पद पर्याप्त मात्रा में लोक प्रचलित हैं। मौखिक पदों का पता चल पाया है। केवल एक पद मिला है। निमाड़ क्षेत्र में इससे सम्बन्धित शोधकार्य चल रहा है। दलुदास के भजनों अथवा पदों की "दलुपतिल चाकी विनती राखो चरण आधार" छाप से पहचानना सरल है।

खेमदास—खेमदास संत सिंगा की शिष्य परम्परा में सबसे कक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उनके द्वारा लिखित सिंगाजी का एक पद्यबद्ध परिचय उपलब्ध हुआ है जिसमें ६२ चौपाइयाँ हैं।

---

[1]वाणी, (मई-जून), १९३३, पृष्ठ १०। [2]वही। [3]वीणा, दिसम्बर, ५५, पृष्ठ ८७। [4]बुखार, [5]बैल, [6]विकृत, [7]खल्वाट, [8]नेत्र, [9]बच्चे-बच्चियाँ, [10]पक्षी।

अब संक्षेप में पूर्णतः लोक-प्रचलित पंथी साहित्य पर विचार कर लिया जाय। बताया जा चुका है कि इसमें जोगीड़ा, भरतरी बैराग, कबीरा और रामदेव आदि के गीतों को स्थान दिया जा सकता है। यह वर्गीकरण केवल सुविधा के लिये है। वस्तुतः स्थिति यह है कि प्रायः इस तरह की समस्त रचनाओं में लोक-प्रचलिक अभिप्राय स्वाभाविक रूप से आये हैं। वही ढंग और लक्षण एक दूसरे को प्रभावित किये हैं।

जोगीड़ा—(१) भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर गेरुआ-वस्त्र धारण किये हुए, झोली लटकाए तथा भस्म लगाये कनफटे जोगियों, सिधीनाथों अथवा जोगीड़ों को दोनों जाँघो पर 'घुघरा' बजाकर अथवा चिकारा या सींग फूँकर गाते हुए प्रायः सभी ने देखा होगा। ये लोग चिकारे अथवा सारंगी पर भरथरी, गोपीचन्द अथवा गोरखनाथ के संबंध में गीत गाते फिरते हैं। इनको ध्यानपूर्वक देखने पर सुदूर अतीत के अनेक धुंधले चित्र कल्पना की आँखों में रमने लगते हैं। ये लोग अपने को नाथ पंथी कहते हैं और कुछ अपने को जोगी बताते हैं, जिनका सीधा संबंध वज्रयान शाखा के सिद्ध योगियों से है। यद्यपि अभी भी बंगाल में जोगी नाम की एक अलग जाति है जिसका अस्तित्व प्रायः समाप्त हो रहा है। वह अपने को 'जोगी' ही कहलाना पसन्द करती है, 'योगी' नहीं। किसी समय बिहार और युक्तप्रान्त में भी यह जाति विद्यमान थी। कबीर और दादू इसी जाति से आये बताते हैं। 'यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है।'[1] अब इस संबंध में दो मत नहीं हैं। कबीर आदि के भजनों को गाते फिरने वाली यह बिखरी हुई जमात भारतवर्ष के प्रायः सभी स्थानों में मिलती है।

हर्ष के पश्चात उत्तर भारत में बौद्धधर्म का राजाश्रय समाप्त हो गया। फल स्वरूप बौद्ध साधुओं को विभिन्न स्थानों में आश्रय पाने के लिये बिखर जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में जनता से अलग रहना उनके लिये संभव न रहा और वे सहारा प्राप्त करने के निमित्त अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग करने लगे। आठवीं या नवीं शताब्दी में बौद्धों का यह महायान सम्प्रदाय लोकाकर्षण की ओर बड़े वेग से बढ़ने लगा तथा तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा आदि से लोगों को आकृष्ट करता रहा।[2]

---

[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य की भूमिका) पृ० ३०-३१।
[2] वही, पृ० ५।

लोकाकर्षण के लिये लोकभाषा का प्रयोग वांच्छनीय है, अतएव इस महायान शाखा के सिद्धों ने भी लोक भाषा का प्रयोग आरंभ कर दिया। और यह निर्विवाद सत्य है कि लोकभाषा में अपने भावों को व्यक्त कर सिद्धों ने अगाध लोक-साहित्य का सृजन किया है। लोकभाषा में कविता कर उन्होंने अपने भावों को जनता के लिए बोधगम्य बनाया और आगे भी समय-समय पर जनभाषा द्वारा ही पंथ का प्रचार करते रहे।

नवीं और दसवीं शताब्दियों में नाथपंथी योगियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इसका जन्म नैपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनों के समिश्रण से हुआ। यह सम्प्रदाय हिन्दी-भाषी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था।[1] 'सरस्वती-भवन-स्टैडीज' के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि नाथों में जाति-पाँति का कोई भेद न था। नाथ-सम्प्रदाय में अधिकांश लोग शास्त्र-ज्ञान रहित और शिक्षा विहीन थे। अतः ऐसे व्यक्तियों को लोगों के अधिक समीप आने का अवसर मिला और ये अपने पंथ का प्रचार लोकगीतों और प्रिय माध्यमों द्वारा ही कर सके। यही कारण है कि सिद्धों की जड़ें भारतीय समाज में दूर तक फैल सकीं।

स्पष्ट है कि नाथ-पंथी सिद्धों का अपना बहुत गहरा प्रभाव रहा। 'गोरख' शब्द के पीछे अभी तक एक अनोखा रहस्य छिपा हुआ जान पड़ता है और गुरु गोरखनाथ किसी अतीत युग के कोई अद्भुत व्यक्ति समझ पड़ते हैं, जिन पर विविध काल्पनिक धारणाओं के धुँधलेपन ने एक पौराणिक आवरण-सा डाल रखा है। फिर भी काबुल के कामरूप एवं काठमांडू से सुदूर दक्षिण तक के कदाचित् ही कोई प्रदेश इनके प्रभाव से वंचित हों। भ्रमणशील यात्रियों को यदि कहीं खोह, कहीं टीले, कहीं मंदिर वा कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न जातियों वा संस्थाओं द्वारा इनका स्मरण हो आता है, तो अध्ययनशील पाठकों के सामने संस्कृत, बंगला, मराठी, पंजाबी, हिन्दी आदि भाषाओं की रचनाओं के अन्तर्गत इनकी योग-पद्धति, शरीर-विज्ञान, कायाकल्प, आत्म-निरीक्षण, शुद्धाचार वा समाज सुधार संबंधी सिद्धान्तों के अनेक प्रभाव बराबर दृष्टिगोचर होते रहते हैं। इनके नाम के साथ-साथ एक विचित्र परम्परा सी बँधी हुई है, जिसमें गोपीचन्द, भरथरी, मयनामती, मछीन्द्र, हाडिया, जलंधर, चर्पट, चौरंगी वा सैंकड़े कनफटे योगियों के जीते-जागते चित्र भरे पड़े हैं, जिनके आधार पर भिन्न-भिन्न 'गान' वा कहानियाँ रची जा चुकी है।[2]

---

[1] हि० सा० की भूमिका, पृष्ठ ६। [2] देखिये, डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल लिखित 'गोरखबानी' का वक्तव्य।

नाथ-पंथी जोगियों की नौ शाखाएँ हैं, पर समग्र रूप से ये नाथ-पंथी भारतवर्ष में गाँव-गाँव में पाये जाते हैं। गोरख, मत्स्येन्द्र या अन्य योगियों की बानी को अपनी भाषा में व्यक्त कर शताब्दियों से यह बिखरी हुई जमात भारतीय जनता के हृदय में अपनी परम्परा के प्रति आकर्षण बनाये हुए है।

उत्तर भारत के पश्चात् नाथ-पंथ का प्रचार राजपूताने और मध्य-भारत में भी पाया जाता है। इन जोगियों का अधिकांश साहित्य मौखिक है। लिपि-बद्ध न होने के कारण इनकी बानियां और गीत लोकभाषा की रचना होने के नाते बनते और बिगड़ते रहे हैं। विभिन्न स्थानों की भाषाओं का प्रभाव इनके अलिखित साहित्य में स्पष्ट है।

(२) नाथ-पंथी जोगियों का प्रमुख गीत 'जोगीड़ा' है। पूर्वी उत्तर प्रदेश (युक्त प्रान्त) और बिहार में होली के अवसर पर जो अश्लील अभद्र गान गाये जाते हैं, उन्हें जोगीड़ा कहते हैं।[१] किन्तु मालवा में प्रायः 'जोगीड़ा' गीतों में अश्लीलता का अभाव है। योगियों की इस हिन्दु शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिवभक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी-किसी ग्रंथ में मिलती है।[२]

'जोगीड़ा' योगियों का गीत है, जो चिकारे पर अवसर गाया जाता है। भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाने वाले 'जोगीड़े' अपने गीतों में अगम-अगोचर तथा सहज और शून्य ज्ञान के साथ कोमल भावों को भी लिये हुए होते हैं। जोगीड़े ऐसे काव्यात्मक भावों से खाली नहीं हैं। गोरखनाथ,[३] राजा भरथरी, और रानी पिंगला प्रायः नाथ-पंथी गीतों की कड़ियों से अलग नहीं पाये जाते। इन्हीं को लेकर गीतों में अनेक कथाओं और किवदंतियों का समावेश हुआ है। उज्जैन जिले के एक गांव में (सन् १९४९ में) एक बाबाजी द्वारा सुना हुआ गीत है—

जोगी पण[४] को कठन मांगणों
दोड़ी घर घर भीख
एजी कोई तो सपूती भखस्या[५] भेली देवे
चुड़ला वाली बोले गाल, ममता ना मरे
राणी, गाली तो देवेगा सूमरी[६] बेनड़ी[७]
हंस कर भखस्या भले तो म्हारी मावड़ी[८]

---

[१]हिन्दी सा० की भूमिका, पृष्ठ ३२ (प्रथम संस्करण)। [२]पं० रामचन्द्र शुक्ल, हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ १३ (सं० २००२ वि०)। [३]यद्यपि चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ की गणना होती है, पर उनका मार्ग निस्सन्देह भिन्न था। [४]वचन तथा आत्म-सम्मान, [५]भिक्षा, [६]वह मेरी, [७]बहन, [८]मां।

राजा भरथरी रानी पिंगला से कह रहे हैं—

"योगी होकर घर-घर दौड़कर बचन तथा आत्म-सम्मान से भिक्षा मांगना कठिन है। ऐजी, कोई तो अच्छे पुत्र वाली भिक्षा दे देती है, पर कोई चूड़ेवाली (सुहागन) गाली देती है—उसका सांसारिक वस्तुओं से मोह नहीं छूटता। हे रानी! जो गाली देगी वह मेरी बहन है और हँसकर भिक्षा देने वाली मेरी मां है।'

राजा भरथरी के इस कथन पर पिंगला क्या कहती? उसके शब्द में—

एजी, खड़ी तो खड़ी पिंगला कंई बोले
कुंआरी रेती तो पीपल पूजती
लेती ईस्वर को नाम जन्दगी पार लगाती

[ऐजी, खड़ी खड़ी पिंगला क्या कहे? कुंआरी रहती तो पीपल पूजती, ईश्वर का नाम लेती जिससे जीवन पार लगता।]

राजा भरथरी का वैराग्य मानों पिंगला के जीवन का अभिशाप बन गया। वह पति के वियोग की अपेक्षा कुंआरी रहती तो अच्छा रहता, लोकभाषा की कविता में जीवन की ऐसी कसक शब्दों की पकड़ से छूटी नहीं है। पिंगला भरथरी को आखिर क्या उत्तर दे? जिसे लगी है, वही अपना दुःख जान सकता है। निःश्वास लेकर वह आगे कहती है—

राजा कदी तो भी आया बादल मेल में।
कदी नी चढ़्या सिकार राजा भरतरो॥

[राजा कभी भी तो बादल महल (गगनचुम्बी प्रासाद) में नहीं आये और न कभी शिकार पर हो गये।]

फिर कैसे समझूँ कि तुमने जीवन को समझ लिया? सांसारिक माया-मोह की निस्सारता को तुम कैसे समझ गये। इन्हीं भावों में डूबी पिंगला संभवतः भरथरी को शिकार पर जाते हुए देखती है। जोगी की कल्पना सहित गीत आगे बढ़ता है—

सोले से घोड़ा राजए मिड़ी[1] लिया
चाल्या मिरग्या[2] रा सिकार, राजा भरथरी
एके रे खण्ड तो राजा ने, ढूँड़ी लिया
ना मली मिरग्या री डाल[3] राजा भरथरी

---

[1]जीन कसना, [2]मृग, [3]समूह, झुण्ड।

एजी, मरग्या तो मल्या चंपावाड़ी
एजी, हाथ कू जोड़ पिंगला क्या बोले
राजा मरगो एक छोड़ दो लीलो
एजी, मत करो मरगा प घाव
एजी सत्रुसे[1] नारी ने नर एक लो

[सोलह सौ घोड़ों पर राजा ने जीन कस लिया, मृग के शिकार को राजा भरथरी चले। एक खण्ड राजा ने ढूंढ़ लिया पर मृग का समूह न मिला। ऐजी, मृग तो चम्पावाड़ी में मिले। ऐजी, हाथ जोड़कर पिंगला कहने लगी—राजा मृग एक छोड़ दो लेलो पर मृग पर वार न करो ऐजी, सहस्रों नारी हैं, पर नर एक ही है।]

जीवन में अपने अभाव की अनुभूति दूसरे के अभाव और दुःख को समझने की संवेदना प्रदान करती है। पिंगला की अपनी कसक सहसा मृगी के आने वाले दुःख को पहचान गई। तो पिंगला राजा से मृग मारने के लिये मना कर उठी। किन्तु—

एजी, एक तो भल[2] राजा ने मारी लियो
लागो मरगा वे घाव मरगो पड़ीग्यो
राजा पड़्यो रे पड़्यो तन तड़पी रियो
एजी, हाथ कू जोड़ मरगो क्या बोले
एजी, सिंग तो देगा सिंगीनाथ कूं
एजी, आंख तो देगा चंचल नार कूं
एजी, खाल तो देगा साधु संत कूं
एजी, पांव तो देगा कायर चोर कूं
एजी, मटी[3] ती देगा पापी राजा कूं
एजी, इतरा तो बोल प्राण छोड़ी दिया . .

["ऐजी, एक तो भाला राजा ने मार दिया। मृग को घाव लगा और वह गिर पड़ा। 'राजा, पड़ा-पड़ा उसका तन तड़प रहा है।' ऐजी, हाथ जोड़ कर मृग बोला—'ऐजी सिंग तो सिंगीनाथ को देना, ऐजी, आंख चंचल नारी को देना, ऐजी, खाल साधु संत को देना, ऐजी, पांव कायर चोर को देना, ऐजी मृत देह पापी राजा को देना। ऐजी, इतना कहकर मृग ने प्राण छोड़ दिया।']

---

[1]सहस्रों; [2]भाला, [3]मृत देह।

गीत की उक्त पंक्तियों के भाव से मिलता हुआ ऐसा ही एक गीत श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपनी पुस्तक 'धरती गाती है' में दिया है, जो शिमले की पहाड़ियों में तथा पंजाब के कांगड़ा जिले में, बहुत प्रचलित है। प्रसंगानुसार वह गीत यहाँ उद्धृत करना कदाचित् अनुचित न होगा। गीत है—

चुएदा चुगेंदा हिरनू बोल दा
मीयां हेड़ीआ वो
संगोटा तां मेरे कुसी साधे जो देयां
साधे संत जो देयां
जेहड़ा दुर-दुर बजावे नाद
मीयां हेड़ीग्रा वो
खल्लड़ूं तां मेरी कुसी पण्डते जो देयां
पण्डते पाधे जो देयां
जेहड़ा बैठे ग्रासन लाई के
मीयां हेड़ीग्रा वो
ग्रख्खी तां मेरियां कुसी राणिएं जो देयां
राणिए सुन्दरा जो देग्रां
जेहड़ी रख्खे डब्बियां पाई के
मीयां हेड़ीग्रा वो
लतां तां मेरीयां कुसे घोड़े जो देयां
घोड़े बांके जो देयां
जेहड़ा रण विच्च पावे जीत
मीयां हेड़ीग्रा वो

सत्यार्थी ने अनुवाद किया है—

—चरता-चरता हिरन कहता है—
ग्रो मिया, शिकारी।
मेरे सींग को किसी साधु-सन्त को देना
साधु या सन्त को देना,
जो दूर-दूर नाद बजावेगा।
ग्रो मिया, शिकारी।
खलड़ी तो मेरी किसी पण्डित को देना
पण्डित या उपाध्याय को देना,
जो उस पर ग्रासन लगाकर बैठेगा।

ओ मिया शिकारी ।
आखें तो मेरी किसी रानी को देना,
रानी या सुन्दर नारी को देना,
जो उन्हें डिबिया में डालकर रखेगी।
ओ मिया शिकारी।
टांगें तो मेरी किसी घोड़े को देना
बाके घोड़े को देना
जो रण में विजय प्राप्त करेगा।
ओ मिया शिकारी।

कहाँ शिमले की पहाड़ियाँ और कहाँ मालवे का पठार। भाव एक और भाषा का अन्तर। लोकगीतों के अपने भाव सदियों से यात्रा करते आ रहे हैं। कौन जाने, कब, कौन इन्हें अपने साथ ले पंजाब के जिलों या शिमले की पहाड़ियों में पहुँचा। कदाचित् नाथपंथी घुमक्कड़ों के साथ यह गीत पंजाब तक पहुँचकर वहाँ की भाषा में स्थान पा गया हो अथवा पंजाब से इधर भाग आया हो। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "नाथ परम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने जाते हैं। भोटग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदि नाथ कहे गये हैं। सब बातों का विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परम्परा अलग की और पंजाब की ओर चले गये।"[1] इससे स्पष्ट है कि बाद में पंजाब में नाथों का बहुत प्रभाव बढ़ गया था। कदाचित् जलंधर के अनुयायियों के गीत के भाव उधर पहुँचकर कांगड़ा जिले की बोली में व्यक्त हुए हों। और यह भी क्यों न कहें, अतीत के भाव वर्षों से आगे बढ़ते हुए आज भी आगे बढ़ जाने की प्रतीक्षा कर रहे हों। यही रहस्य है, जो लोकगीतों के प्रति कुतूहल उत्पन्न करता है। संभवतः सत्यार्थी जी के संग्रह का उक्त गीत किसी बड़े गीत का अंश होगा, क्योंकि हिरन के बोल अवश्य ही किसी पूर्व प्रसंग को लेकर निकले होंगे।

हाँ तो हमारे गीत (जोगीड़ा) की अंतिम पंक्तियाँ हैं—

एजी, उठईं मरगा ने घोड़े रखी लियो
एजी साभे[2] तो मली ग्या गोरखनाथजी
राजा, चरता मरगा के कईं मार्‌यो
कईं तो कर्‌यो नुकसान, राजा भरथरी
में तो मार्‌यो जितवा कर दिजो

---

[1]हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ १४ (ई० २००२), [2]सामने ।

चेल्या वन्यों गोरखनाथ
अंबी[1] रो कुंकु महाराज[2] बफरायो[3]
उठकर भरग्यो बन में भागी गयो
एजी, बचन अईग्या कुंअर भरथरी

[ऐजी, उठाकर राजा ने मृग को घोड़े पर रख लिया। ऐजी, सामने गोरखनाथ मिल गये। 'राजा चरते हुए मृग को क्यों मारा क्या तो नुकसान किया, राजा भरथरी! 'मैंने तो मारा है, आप जीवित करदे' मैं गोरखनाथ का चेला बन जाऊँगा।' अबीर और कुंकुम महाराज ने बफराया, मृग उठकर वन में भाग गया। ऐजी, कुंवर भरथरी वचन-बद्ध हो गये।]

पिंगला आखिर क्या करे? वह तो मन मसोस कर केवल यही सोचती हैं—

राजा, कुंवारा रेती तो पीपल पूजती,
लेती ईश्वर का नाम जन्दगी पार लगती।

नाथपंथी योगियों में कितनी ही साहित्य की महत्त्वपूर्ण सामग्री बिखरी हुई है। अशिक्षित और धर्मभीरू समाज के मानसिक स्तर को थामे हुए सिद्धों का यह साहित्य, शिक्षित-समाज को दृष्टि से परे होने के कारण, अन्धकार के गर्भ में है।

कबीरा—मालवा में कबीर की छाप वाले अनेक गीत मिलते हैं जिन्हें 'कबीरा' कहा जाता है। 'कबीरा' गीतों के प्रचार का कारण स्वयं कबीर ही नहीं बल्कि कबीर के साथ उनके परवर्ती और निम्नवर्ग का आग्रह है।

कबीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने लोक-मानस को अक्षुण्ण रूप से आकर्षित किया। उनके अकाट्य तर्कों और शास्त्रों की मिथ्या बातों का खुला विरोध निम्न-जातियों को दलित भावनाओं को संतोष देने लगा। उन्हें शोषण व्यवस्था के नाम पर होने वाले अत्याचारों के प्रतिवाद के लिये कबीर के रूप में एक प्रतिनिधि मिल गया। कबीर की तरह अन्य संतों ने भी निम्न-वर्गीय लोक-समाज की हीन भावना का परितोष किया। यही कारण है कि जो कुछ कबीर ने ग्रहण किया, वही निम्नवर्गीय दलित जातियों ने अपने गीतों में ग्रहण किया। कबीर ने भी लोक-परम्परा से बहुत कुछ लिया। इसलिये यह कहना उचित होगा कि दोनों ने पारस्परिक विनिमय किया है। चाहे लोक ने कबीर आदि के सिद्धान्तों को ठीक तरह से न समझा हो पर उनके द्वारा प्रचलित कतिपय संकेतार्थी शब्द उन्होंने ज्यों के त्यों अपना लिये। यही कारण

[1]अबीर, [2]कहीं-कहीं जोगीड़ा गीतों में 'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है, [3]बुरबुराया।

है कि उन शब्दों के प्रति एक रहस्यवादी मान्यता भी उनमें बराबर चली आती हुई मिलती है।

नीचे हम कुछ ऐसे ही लोकगीत प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें कबीर का यथातथ्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। युगों को पार करता हुआ कबीर पंथियों द्वारा संतों का प्रभाव अभी तक निचली जातियों के आत्म-संतोष का साधन बना हुआ है।

[१] हाँ ए म्हारी हेली[1] में तो पूरबिया उनका देस की
बिना पड़े एक दरखत ठाढ़ा, छाय नजर नहीं आवे रे
पान-फूल तो दिसे नहीं, बास गगन चढ़ जावे रे
म्हारी हेली——
धरम डाल दोये पंछी बैठा पंख नजर नहीं आवे
उड़के पंछी चला गगन में, राम-नाम लऊ लागी
म्हारी हेली——

बिना पाल एक सरवर भरिया नीर नजर नहीं आवे
मछिया वामें दिसे नही रे समदर[2] हिलरा[3] लावे
म्हारी हेली——
पीपल पूजन में गयीं अपणा कुवल[4] की लाज
पीपल पूजन हरि मिल्या एक पंथ दोई काज
म्हारी हेली——

पती टूटी डाल से और पतंग उड़्या जाय
अब का बिछड़्या कब मिला, जाय बसा घरा दूर
म्हारी हेली——

'कबीर-ग्रंथावली' में यही भावना एक पद में मिलती है। पद की कुछ पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना उचित होगा। पंक्तियाँ हैं——

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद को करे निबेरो।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिना फूल फल लागा॥
साखा पत्र कछु नहिं वाके, घाट गगन मुख वागा।
पेर जिन निरति करा बिन जावे, जिम्या हीणा गावे॥

इन गीतों को मालवी क्षेत्र में प्राप्त किया गया है। सन् १६४६ में इन पंक्तियों का लेखक ग्रामपर्यवेक्षण-कार्य के लिये 'प्रतिभा-निकेतन' की एक

---

[1]साथिन, [2]समुद्र, [3]हिलोरा, [4]कुल।

समिति के साथ जून में मालवा के ग्राम लैकीड़ा, टंकारिया और गोंदिया में रहा था जैसा कि कहा गया है कि कबीर से दलित जातियों, बलई और चमारों के गायकों से प्राप्त हुए हैं। गायक अपने गीतों का विश्लेषण करने में असमर्थ है। हमारे सभी प्रश्नों के उत्तर श्रद्धा-भावना से बोझिल होकर अस्पष्ट रूप में ही सामने आये। वे कहते, "मालक साब तमारेतम समझावाँ कैसे—या तो सब हरि सुमरण की माया है।"

[२] आप अलख इन्दर हुई बेठा, बूँद अमीरस छूटा
एक बूँद का सकल पसारा, पुरस-पुरस नर फूटा
अवदू[1] मन बिन करम नी होता।
आदो अंग नारी को कहिये आदो हर गुरु नर को
मात-पिता का मेल मिलिया करी करम की पूजा
पेला पिता एकला होता पूतर[2] जन्भया दूजा
अवधू—

परी-आसमान[3] सुन[4] बिच नहीं था
तभी आपण दोई कुण था ?
साती सायर[5] आठ कौड़ी[6] परबत,
नव कोली[7] नाग धणी नहिं था
आठरे (१) बाहर हो वनासपति नहीं थी
नहीं था नवलख तारा
बारा मेघ इन्दर नहीं होता
बरसनवाला नर कुण था ?
अवधू—

बिरमा[8] नहीं था, बिसनू नहीं था
नहीं था शंकर देव, हाँ जी
कहे कबीर मंडप नहीं होता
मांडन वाला नर कुण था ?
अवधू—

कबीर ने कहा है—

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तन हरि-हरि के जन होते, कहे कबीर बिचारा॥

---

[1]अवधूत, [2]पुत्र, [3]धरती, आसमान, [4]शून्य, [5]सागर
[7](९ × २० = १८०), [8]ब्रह्मा।

उक्त गीत में कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अवधूत' को ही लीजिये, कबीर के अवधूत विश्वनाथसिंह जू देव की व्याख्यानुसार 'वधू जाके न हो सो अवधू कहावे' नहीं है। 'अवधूत' शब्द सहजयानियों और तांत्रिकों की देन है। यद्यपि ग्रंथों में चार प्रकार के अवधूतों की चर्चा है, पर कबीर के अवधूतों में ऐसा कोई भेद नहीं। कहीं-कहीं गोरखनाथ को भी कबीर ने अवधूत कहा है। अतः जहाँ-कहीं भी कबीर की बानियों में अवधूत की चर्चा आई है, वहाँ पर गोरखपंथी सिद्ध योगी ही है। वही 'जग थै न्यारा' और साधारण योगी से ऊपर है।

इसी प्रकार 'शून्य' शब्द भी है। नाथपंथियों में यह शब्द सहस्रार-चक्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने इसके साथ 'सहज' का भी प्रयोग किया है। कबीर ने इन्हीं का अनुकरण किया। ऊपर के गीत में सात सागर (सायर) का वर्णन तो परम्परागत है, पर 'आठ कोड़ी परवत', 'नव कोली नाग' और 'बारा मेघ' का उल्लेख अवश्य चिन्तन का विषय है।

[३] लख चौरासी भटकत-भटकत, अब के मौसम आयो रे
अब के मौसम चुकी जाय तो कहीं ठौर नहीं पायो रे
बनड़ाले भले रिझायो रे
म्हारी सुरत सुहावन नवल बनी सायब वर पायो रे
हेत[1] की हलदी ने प्रेमरस मीठी तन को तेल चढ़ायो रे
और मन पवन हतिवाली[2] जोड़यो
बीर परण घर आयो रे—
राम-नाम का मोड़ बँधाया बिरमा वेद बुलायो रे
अवन्यासी[3] को हुयो समेलो[4] बीर परण घर आयो रे
बनड़ाले—
राम-नाम का मोड़ बँधाया पड़लो प्रेम सवायो
पाँच गगन में सेज बिछाए औढ़े-औढ़े प्रेम सवायो
बनड़ाले—

[४] गणपत देव हिरदे मनाये
तिरवेणी गुण गाया
सिकर मेल में सुरता लागी-मेल जगाया
हें म्हारा हंसला हेरे भजन में
हें सतगुरु मेरी माया हें

[1]प्रेम, [2]हस्त-मिलन, [3]अविनाशी, [4]मिलन।

अगम-निगम—(?)—जार लागी
बठे कबीरा जोया हे
हे धरम पुरी का खुल्या दुवारा
बठे परम गुरू पाया
चेतन चूकी अटल सिपाई
बठे परम गुरू पाया
चाँद-सूरज की उर ली माया
जिनकू हेत चल्योहे माया
उखद-सड़द में तप से तापे
वां से जुदा बताया
ऐसा मता फक्कड़ का कीजो
सात संत की निसाणी लीजो
के वाला गोरा के सरने
गुरू भुजाना पाया

ऊपर 'तिरवेणी' (त्रिवेणी) का उल्लेख आया है। कबीर ने नाथपंथी साधना-पद्धति को अपनाया था, जो अन्तर्मुखी है। इंगला और पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना की स्थिति मानी गई है। सुषुम्ना में तीन नाड़ियाँ (वज्रा, चित्रिणी, तथा ब्रह्म नाड़ी) और हैं। इस तरह पाँच नाड़ियों की 'पंचस्त्रोत' या पाँच धाराओं का उल्लेख होता है जिसकी व्याख्या 'हठयोग प्रदीपिका' में की गयी है। कबीर ने गंगा (इड़ा या इंगला) और यमुना (पिंगला) का सरस्वती (सुषुम्ना) के द्वार ब्रह्मरंध्र में संगम कराया है। यही स्थान त्रिवेणी है। 'सिकर-मेल' का तात्पर्य शून्यचक्र या सहस्त्रारपद्म से है। सुरता (सुरति) साधकों का विशेष सांकेतिक शब्द है, जो शब्द या 'सबद' के असीम आनन्द संगीत को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होता है। हंसता (हंस) को कबीर ने सदैव मुक्तात्माओं के अर्थ में किया है। कहीं-कहीं अवधूत और हंसा को एक समझा गया है। 'सतगुरु' शब्द सहजयानियों, तांत्रिकों और नाथों में समान भाव से प्रयुक्त होता रहा और कबीर के माध्यम से वह लोकगीत में भी आ गया। यहाँ सतगुरु का प्रयोग उसी परम्परागत अर्थ में हुआ है।

'सतगुरु' शिष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करता है। वह अपनी अनंत महिमा से शिष्य पर अनंत उपकार कर, अनंत नेत्रों को खोलकर अनंत को दिखला देता है। ऊपर गीत में परम गुरु सतगुरु ही है, जिसका परम पद गौरवशाली है। गीत में 'उड़द-सड़द' का भाव अस्पष्ट नहीं है। इसी तरह 'बालागोरा' संभवतः किसी का नाम होना चाहिये।

नाथ-पंथी साधुओं के प्रति अनेक आश्चर्यजनक कथाएँ संपूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित हैं। गोरख और मत्स्येन्द्र, गोपीचन्द, भरथरी, रानी पिंगला आदि तथा आगे चल कर कबीर भी इन कहानियों के विषय बन गये। यही बात गीतों के क्षेत्र में भी हुई।' धमाली और 'जोगीड़ा' गीत इन्हीं योगियों के प्रभाव की देन है। इस तरह यदि लोक-गीतों पर कबीर के प्रभाव को अथवा उसके पूर्ववर्ती प्रभाव को ढूंढ़ना चाहें तो वह अवश्य प्राप्त होगा।

कबीर ने अपने मत के प्रचारार्थ लोक-भाषा का आश्रय लिया था। उनके पूर्ववर्ती साधकों ने भी यही किया। अतएव भाषा के माध्यम से ये लोग जनता के समीप आ सके और उन्हें अपनी विलक्षण बातों से प्रभावित करते रहे।

ऊपर के चारों गीत धूला और साधतजी नामक गायकों से प्राप्त हुए हैं।[1] धूला तो मालवा के बेटमा ग्राम के बालकदास बाबा का चेला है। किसी समय मध्यभारत में कबीर-पंथियों और नाथ-पंथी अखाड़ों का जोर रहा है। इसलिए आज भी प्रायः प्रत्येक ग्राम में नाथ-पंथी 'जोगी' अथवा 'जुग' मिल जाते हैं और उन्हीं को मानने वाले छोटे-मोटे दल भी साथ ही पाये जाते हैं। विशेषरूप से दलित जातियों पर इनका बड़ा प्रभाव है।

जैसा कि कहा है, कबीर की छाप वाले गीत कबीरा कहलाते हैं। यद्यपि इन्हें कबीर की रचना नहीं कहा जा सकता, तथापि कबीर की श्रद्धा का प्रसार लोकोन्मुखी संत-साहित्य में इस तरह व्याप्त है। मालवा में कबीरा-गीत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि कबीर लोक-जीवन से घुले-मिले थे। उन्होंने अपनी बात जन-भाषा में कही और उन्हीं के अनुभव व्यक्त किये।

सगुणी अथवा भजनी साहित्य

चन्द्रसखी—चन्द्रसखी मध्यभारत के मालवी, निमाड़ी और राजस्थानी भाषा-भाषी क्षेत्र की लोक-गायिका अथवा कृष्णाश्रयी शाखा की लोक-भजनकार है। गांवों में जिनके गीतों को भजन की संज्ञा प्राप्त है, उन्हें नगरों में पद कहा जाता है। चन्द्रसखी के भजन वस्तुतः लोक-प्रचलित गीत हैं जिनका लिखित रूप अभी तक उपलब्ध नहीं है। स्त्रियों में चन्द्रसखी के गीतों का प्रचार अधिक है। इतना ही नहीं, चन्द्रसखी के गीत अथवा भजन विभिन्न राग-रागनियों में आबद्ध होकर वर्षों से संगीतज्ञों के कंठों पर विराजित हैं।

चन्द्रसखी सम्बन्धी एक विवाद इन दिनों उपस्थित हुआ है। राजस्थान के विद्वान् अन्वेषक श्री मोतीलाल मेनारिया उसे मालवी की कवियित्री घोषित

[1]देखिये, मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ १०४-१०।

करते हैं जबकि अगरचन्द नाहटा यह मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से वर्णों की कोमलवृत्ति और मालवी का सारल्य, शैली आदि इस बात को पुष्ट करते हैं कि चन्द्रसखी अधिक अंशों में मालवा प्रदेश की ही गायिका अथवा भजनकार हैं। राजस्थान के सीमावर्ती भागों में उसके भजनों के प्रचलन से यह समझ लेना उचित न होगा कि वह मूलत: राजस्थानी है। ब्रज में भी उसके गीत प्रचलित हैं और विद्वानों की यह धारणा होती जा रही है कि चन्द्रसखी संभवतः न राजस्थान की है और न मालवा की, वह ब्रजवासिनी थी। अल्प प्रमाणों के कारण हमें यह स्वीकार करना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् चन्द्रसखी राजस्थानी और मालवा के संधि क्षेत्र के निकटवर्ती किसी स्थान की निवासिनी होगी। यह अंतिम मान्यता नहीं है, क्योंकि अभी इस दिशा में खोज अपेक्षित है। उसके एक गीत में मालवा को छोड़कर गोकुल जाने का भी उल्लेख आता है :—

छोड़ मालवी चन्द्रसखी चल
गोकुल जमना तीर।
कृष्णचन्द्र की मुरली सुण
घटि जावे मन पीर ॥[1]

मालवा में दीपावली के दूसरे दिन गोवर्धन-पूजा के अवसर पर 'चन्द्रावल' गायी जाती है। उसमें कृष्ण-प्रेम का उल्लेख है। चन्द्रावली वैसे कृष्ण की एक प्रेमिका के नाते लोकवार्ता का विषय है। संभवत: कृष्ण के प्रति सखी भाव को व्यक्त करने अथवा सखी रूप में नैकट्य की कामना से किसी भक्त कवि द्वारा स्वीकृत 'चन्द्रसखी' उपनाम हो।[2] अपने उपास्य के निकट प्रियतमा के रूप में जाने का आत्मसुख प्राय: भक्त-कवि प्राप्त करते रहे हैं। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रसखी भक्त कवि का नाम है अथवा किसी स्त्री-भक्त गायिका का। प्रचलित मान्यता के अनुसार उसे हम स्त्री-भक्त ही मानेंगे। जहाँ तक उसके स्थान का प्रश्न है, उसे हम मालवा के उत्तरी क्षेत्र में कहीं का होना संभावित समझते हैं।

वर्तमान काल में मालवा के उत्तरी क्षेत्र में ही उसके गीत अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। उत्तरापथ के खानदानी गवैयों में भी चन्द्रसखी के गीत प्रचलित हैं, जिससे हमारा विश्वास और भी पुष्ट होता है। भाषा की दृष्टि से एवं उसके गीतों की प्रवृत्तियों से उक्त विश्वास को सहज ही सम्बल प्राप्त है। यद्यपि अभी तक चन्द्रसखी के गीतों की कोई प्राचीन प्रति प्राप्त नहीं हुई

[1]मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ ५५। [2]वही।

है, तथापि लोकप्रचचित गीतों से यह प्रमाणित होता है कि चन्द्रसखी ने अपने पदों की रचना मालवा में ही की होगी। दूसरे प्रान्तों में जाकर उन पदों की भाषा में हेर-फेर होना स्वाभाविक है।

'मारवाड़ी भजन सागर'[1] में चन्द्रसखी के ५४ पद प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त नरोत्तमदास स्वामी तथा मनोहर शर्मा द्वारा संकलित पदों को मिलाकर श्री नाहटा जी के अनुसार चन्द्रसखी के सौ से अधिक भजन प्रकाशित हो चुके हैं। पद्मावती शबनम ने एक संग्रह हाल ही में प्रकाशित किया है। मालवा में श्री चिन्तामणि उपाध्याय ने लगभग ३० एवं ग्राम राजोद की माध्यमिक शाला के विद्यार्थियों ने चन्द्रसखी के लगभग इतने ही गीत प्रकाशित किये हैं। मालव लोक-साहित्य परिषद्, उज्जैन के पास ५० से अधिक गीत हैं। लगभग ५० गीत इन पंक्तियों के लेखक को देवास, इन्दौर, उज्जैन और शाजापुर जिलों से मिले हैं। कुल मिलाकर २००-२५० के लगभग गीत उपलब्ध किये जा सकते हैं जिनका उचित अध्ययन चन्द्रसखी संबंधी अन्य जानकारी देने के लिये उपयोगी होगा, ऐसा विश्वास है।

चन्द्रसखी का काल—चन्द्रसखी का काल-निर्णय विवादास्पद है। श्री मेनारिया ने उसका समय लगभग १८८० बताया है। मिश्र बन्धुओं ने चन्द्र-सखी नामक दो कवयित्रियों का उल्लेख करते हुए एक समय १६३८ (ग्रंथ 'सीरोम्दय') और दूसरे का १९०० के पूर्व (ग्रंथ स्फुट पद) बताया है। श्री अगरचन्द नाहटा चन्द्रसखी का समय संवत् १६७५ और १७२५ के बीच का मानते हैं। जैन-साहित्य के 'सतर्क-संग्रह' को आधार मानकर आपका कथन है कि 'जैन गुर्जर कवियों' (भाग ३) में प्रयुक्त देशी ढालों में रचित कविताएँ लोकगीतों की विभिन्न शैलियाँ उद्घाटित करती हैं। उक्त ग्रंथ में २३२८ शैलियों का उल्लेख किया गया है। उसमें चन्द्रसखी का एक भजन भी उद्धृत है, जो अनन्तनाथ भण्डार, बम्बई की एक स्तवन-संग्रह की प्रति से प्राप्त हुआ था। आपने लिखा है, 'न्याय सागर' नामक जैन कवि ने अपने 'चातुर्विंशति जिन-स्तवन' के अन्तर्गत 'वासुपूज्य' स्तवन बनाया है जो 'चौबीस बीसी संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। यह स्तवन 'ब्रज मंडल देश दिखाड़ो रसिया' की चाल में गाना चाहिये—इसका निर्देश कवि ने प्रारंभ में किया है। इस कवि का जन्म सं० १७२८ में भीनमाल (श्रीमाल) नगर में हुआ था और संवत् १७९७ में स्वर्गवास हुआ। इसकी रचनाएँ सं० १७६६ से १९८४ तक की प्राप्त हैं। "चौबीस-स्तवन" इसी मध्यवर्ती काल में रचे गये हैं। अतः

[1] राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, १९९०।

चन्द्रसखी के इस भजन का प्रचार सं० १७६६ के आस-पास राजस्थान में अच्छा रहा है।[1] नाहटा जी उक्त प्रमाण के आधार पर चन्द्रसखी का सं० १७०० के आस-पास होना अधिक सम्भव मानते हैं।

चन्द्रसखी के गीत—चन्द्रसखी मुख्य रूप से कृष्णाश्रयी शाखा की गायिका है। कृष्ण संबंधी परम्परागत किंवदंतियों के प्रसंग कवयित्री ने अधिक गाये हैं। श्रीकृष्ण मनिहार बनकर राधा से मिलने आते हैं। कवयित्री ने सरल शब्दों में इसका चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

श्री कृष्ण मणिहार बने
बृसभान भवन में लाई चुड़ियाँ।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में
केत फिरे कोई पेरो चुड़ियाँ॥
गोरा बदन राधेजी ठाढ़्या
हमके पेरई दो हरि चुड़ियाँ।
अंगली पकड़ पौंचों पकड़्यो
हँस-हँस मोड़ी गोरी बहियाँ॥[2]

एक गीत में राधिका को नाग ने डस लिया है। कृष्ण वैद्य बनकर उपचारार्थ उसके निकट जाते हैं।[3] संयोग के लिये कितने ही प्रकरणों की कल्पनाएँ चन्द्रसखी ने सरल भावों में गुम्फित की है।[4] प्रसंग जीवन से लिये गये हैं। कल्पना वहाँ सत्य की अनुगामिनी है। कथानकों के रूढ़ अभिप्राय गीत के विषय बनाये गये हैं।

'ब्रज मंडल देस दिखाओ रसिया' गीत चन्द्रसखी का प्रसिद्ध भजन है जो राग सारंग में गायकों द्वारा गाया जाता है।[5] इस पद के कई पाठान्तर उपलब्ध हैं। ठाकुर रामसिंह द्वारा सम्पादित संग्रह में भी यह पद है।

बंशी चुराना, बंशी की धुन पर अभिसार के लिये प्रस्तुत होना, मटकी फोड़ना, गोपियों को मार्ग में छेड़ना, उलाहना देना अथवा झूठी शिकायत करना, जैसे रूढ़ अभिप्राय चन्द्रसखी ने अपनाये हैं। मीरा की भाँति चन्द्रसखी अपने उपास्य के चरण कमल पर बार-बार बलिहारी होती है।[6]

युवावस्था के संयोग-वियोग, रुदन-हास आदि प्रसंगों के सभी गीतों में चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छवि की टेक मिलती है। लोक भजनकर चन्द्रसखी

[1]विक्रम, मार्गशीर्ष, २००६। [2]मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ ५७। [3]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ५, गीतसंख्या ४। [4]वही, गीत संख्या ६। [5]मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ ५८। [6]मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ ५८

में तन्मयता, सारल्य, अपने उपास्य के प्रति निष्कपट लगन और निष्ठा पायी जाती है ।

चन्द्रसखी के गीतों में गुजराती का प्रभाव भी पाया जाता है । सं० १७०० के आसपास मालवा और गुजरात में पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है । राजस्थानी प्रभाव की भाँति गुजराती प्रभाव भी आया है ।

दीनानाथ—भजनी रचित साहित्य के अन्तर्गत अवन्तिका के स्व० विद्वान् दीनानाथ के पद विशेष उल्लेखनीय हैं । आप ज्योतिष एवं संस्कृत, साहित्य के विद्वान् थे । मालवी में आपने 'लक्ष्मीकान्त पदावली' की रचना की है । उदाहरण स्वरूप उनका एक पद देखिये—

नंद बंस को ढाड़ी आयो, नन्द बंस को ढाड़ी ।
तीस कोस दोपेरी में आयो, को गिणी ना लाड़ी ।।
नदगाम को पंथ कठिन हे बीस कोस की झपड़ी ।
कचड़ बचड़ सब साथे आया, छे घोड़ा वो गाड़ी ।।
बुड्डी-ढुड्डी पाछे मेली, साथे छोटी लाड़ी ।
बाल बच्चा सब हजार बैठा, जैसी छज्जे बारी ।।
घर खटलो मुक्काम धर्‌यो हे, साठ भैंस सो पाड़ी ।
साठ बरस की आसा म्हारी, लेवूं खूब बधाई ।।
छैल-छबीली खोटी-मोटी, रवावे जिनंगी सारी ।
दीनानाथ बधाई दीनी, ढाढ़ी के मनमानी ।।
अटल रहो वह भाग तभारो, पूरो आस तभारी ।

श्रीनारायण व्यास—दीनानाथ जी के पश्चात् दूसरे विद्वान् श्रीनारायण जी व्यास हैं । आपने श्रीगणेश एवं पंचमुखी हनुमान की स्तुति में अनेक पद लिखे हैं । कुण्डलिया छंद में 'मालवी रामायण' के अनेक अंश जो आपकी रचना है—लोगों में बहुत प्रचलित है ।

लखन तनय—आगर के समीप कानड़ ग्राम के निवासी पटवारी मूलचन्दजी का उपनाम लखन तनय है । आप इन दिनों पर्याप्त वृद्ध और नेत्र-विहीन हो गये हैं । अपनी युवावस्था में आप नियम से पांच भजन बनाकर गाया करते थे । ऐसे भजनों की संख्या काफी है जिनमें खड़ीबोली का प्रभाव मालवी बोली की रंगत के साथ निखरा है ।

थारी काया सोना की अंगूठी वाणी
जिमें पांचों ही तत्व नगीना बड़या ।।
तुझे काटे चौरासी में तोल कियो
गरभवास कसोटी लियो रगड़ा

विधना तो सुनारन सोदो कियो
मुई किस्मत रूप मनुष्य बड़ा ।।
हरि भक्त को पानी अखंड रहे
जग प्रेम प्रेम का तेज बड़ा ।[1]

रामरतनदास महन्त[2]—आपका जन्म संवत् १८६५ के आस-पास हुआ था। आगर के महन्त किसनदास के आप शिष्य थे। आपकी रचनाएँ लिखित रूप में कम मिल सकी हैं। लोक-प्रचलित भजन आगर के समीप मिलते हैं।

मालवी का भजनी-साहित्य अभी बिखरा हुआ है। इसका यथोचित रूप से संग्रह करना अपेक्षित है।

मालवी-साहित्य की धार्मिक परम्परा के स्पष्ट चित्र सामग्री के अभाव में बन पाना कठिन है। यों स्थूलरूप से कृष्णभक्ति-शाखा के भजनों के अतिरिक्त शेष साहित्य को निर्गुण धारा से प्रभावित कहा जा सकता है।

२—गीतों में वर्णित देवी-देवता

भारतीय लोक-गीतों में बहुदेववाद की अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में दीख पड़ती है। लोक-वार्ता की प्रकृति प्रायः लौकिक मान्यताओं के कारण देवी-देवताओं के संबंध में अभिप्रायों की सूचक है। गीतों में वर्णित लोक-देवियाँ और लोक-देवों के चरित्र का संबंध कल्याण के उद्देश्य से युक्त है। परिवार की सहज समृद्धि उनका मूल आशय है। मालवी लोकगीतों में उपलब्ध चरित्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

अ : पुराण प्रसिद्ध—भेरू, शीतला, रामकृष्ण आदि।
आ : इतिहास प्रसिद्ध—देवजी, तेजाजी, रामदेव, गोगा, लालबई, फूलबई आदि।
इ : लोकप्रसिद्ध—छींक माता, पथमारी, मरीमा, आदि।
ई : पूर्वज—सतीमाता, परिमाजी, पाल्या, जुझार आदि।

लोकसम्मति-प्राप्त इन चरित्रों का देवत्व रूप सभी प्रान्त के गीतों में बिखरा है, इस पर आगे विचार किया गया है। पूर्वज के गीतों को यहाँ इसलिये सम्मिलित कर लिया गया है कि पूर्वपुरुष कुटुम्ब की दृष्टि से सहज ही देवत्व का स्थान पा लेते हैं। लोक-श्रद्धा उन्हें देवी-देवता के समकक्ष लाने में पीछे नहीं हटती, क्योंकि वे स्वर्ग में देवताओं के साथ रहते हैं।

[1]मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ ६३। [2]गणेशदत्त इन्द्र—आगर का इतिहास, पृष्ठ १४५।

शीतला—शीतला पुराण प्रसिद्ध देवी हैं। स्कन्ध पुराण में इनके प्रति एक स्तोत्र प्राप्त है। होली के बाद चैत्र के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को इनकी विशेष पूजा की जाती है। छठ की रात्रि को इनके पूजनार्थ विभिन्न पकवान बनाये जाते हैं और दूसरे दिन प्रात: काल इन्हीं पकवानों को शीतला के स्थान पर चढ़ाया जाता है। मालवा में स्त्रियाँ इसे 'सीली सातम' कहती हैं।

शीतला का अनुष्ठान स्त्रियों में प्रचलित है। कुछ स्त्रियाँ होली के दूसरे दिन से ही शीतला के स्थान पर सप्तमी तक एक लोटा जल चढ़ाती हैं। बच्चे की माँ मेल की (दो-तीन प्रकार की मिली हुई) भाजी नहीं खाती है और न गरम पानी का प्रयोग ही करती हैं।

प्रत्येक ग्राम में पीपल-वृक्ष के नीचे विभिन्न प्रकार के प्रस्तरखण्डों और सिन्दूर लगे मूर्तियों के खण्डों को संग्रह करके शीतला का देवरा बना दिया गया है।

गीतों में देवी शीतला को आसन पर बैठा हुआ बताया गया है। मालवी में इसके गीतों की संख्या बहुत कम है। कुछ निर्धारित गीत शीतला पूजन के अवसर पर अथवा विवाह आरंभ करते समय वर और वधू पक्ष की स्त्रियों द्वारा पूजन के हेतु गाये जाते हैं। कुंकुम से भरी थाल लेकर बहू शीतला पूजने जाती है, क्योंकि उसके पुत्र अथवा पुत्री का विवाह है। वह माता से पालना बाँधने की मनौती करती है। वह शीतला से केवल रक्षा करने की कामना करती है।[१]

शीतलामाता के भाई का नाम गीतों में गुणाभाई बताया गया है। गुणाभाई से बहन के यश को बढ़ाने के लिये ही आग्रह किया जाता है।[२] शेष गीत गुणा के वस्त्राभूषण के वर्णन के द्योतक हैं।

छींक—लोकगीतों में पुराणप्रसिद्ध देवी-देवताओं के अतिरिक्त भी अन्य देवी-देवताओं को स्थान प्राप्त है। छींक, शुभाशुभ की मान्यता जन्य देवी हैं। इनका स्वरूप वर्णन पराम्परागत है।[३] आभूषणों का क्रमश: उल्लेख करते हुए कुछ गीत मालवी में प्रचलित हैं।

परिमाजी—परिमाजी वह मृतात्मा है, जो मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में परिवार की समृद्धि की कामना करती है। इन कुटुम्ब में कोई आनन्दोत्सव हो, विवाह या कोई महत्वपूर्ण आयोजन किया जावे, तब स्त्रियाँ एकत्र होकर 'परिमाजी' गाती हैं। 'परिमाजी' के आने से उनका सेवक धन्य हो जाता

---

[१]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृ० ७५-७६। [२]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० ४, गीतसंख्या १०। [३]वही, गीतसंख्या १।
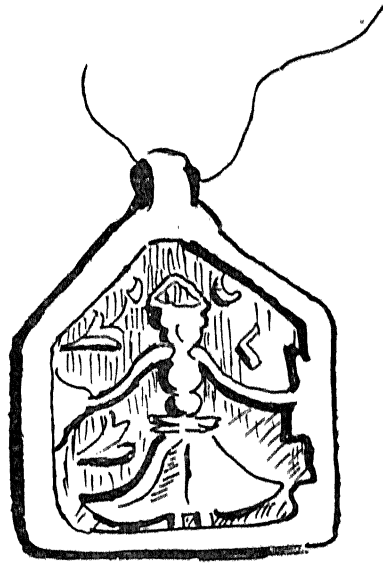
धातु का 'पगल्या'

है। पूजन के पश्चात् परिमाजी का आगमन होता है, यह मान्यता है। परिमाजी का रूप मनोहर है। आने के पूर्व परिमाजी शिप्रा में स्नान कर, केशर का तिलक लगाकर एवं श्वेत वस्त्र धारण करके, टट्टी को तोड़कर पवन की भाँति आती हैं। उनके गले में फूलों की माला होती है।[1] यही देवी-स्वरूप प्रायः अनेक गीतों में वर्णित है। जब परिमाजी की गाड़ी गाँव की सीमा पर आती है तो सीमावर्ती खेतों में काम करने वाले हली उनके रूप को देखकर मोहित हो जाते हैं। वह ग्वाल-बालों को आश्चर्यचकित करती हुई आती हैं। उनकी गाड़ी इतनी सुन्दर होती है कि सभी यह कहते हैं कि ऐसी गाड़ी तो हमने कभी आँखों से देखी ही नहीं।

जीजा या बड़ी—(क) मालवा में सौत के प्रति गाये जाने वाले गीत 'जीजा' या 'बड़ी' के कहलाते हैं। ऐसे गीत प्रायः दिवंगता सौत के प्रति ही गाये जाते हैं। गीतों में सौत को पहली स्त्री होने के नाते 'जीजा बाई' या 'बड़ीबाई' के नाम से संबोधित किया जाता है।

'पगल्या'

कुँवारी कन्या जो दूजबर से (वह व्यक्ति जिसकी पहली पत्नी मर जाती है) ब्याही जाती है, अपने गले में मृत सौत के नाम का 'पगल्या' धारण करती है।[2] यह पगल्या प्रायः चाँदी का बना होता है। धातु के पतले टुकड़े पर सौत के नाम से एक मानव-आकृति उभार दी जाती है (देखिये चित्र)। जिस स्त्री की जितनी अधिक मृत सौतें होती हैं उतनी ही संख्या में धातु-पत्र पर आकृतियाँ उभारी जाती हैं। 'पगल्या' का माप निश्चित नहीं होता पर अधिकांश रूप में ऐसी आकृति वाले 'पगल्या' १ इंच या १॥ इंच चौड़े और उतने ही लम्बे होते हैं। मुटाई प्रायः १।१० या १।८ इंच होती है। यह पगल्या इसलिए पहना जाता है कि जीवित पत्नी अपनी मृत सौत को देवी-स्वरूपा समझती रहे।

'सुहासिनी' या 'माणा-मरणा'

सौत के नाम पर प्रति वर्ष या हर ६ मास में अथवा कोई शुभ कार्य करने के पूर्व जीवित-स्त्री अपने घर में सुहागिन स्त्रियों को भोजन कराती है। इस आयोजन को 'सुहासिनी' या 'माणा' (थाली) भरना कहते हैं।

---

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० ४, गीतसंख्या २। [2]वही, गीतसंख्या ३; छींक बिजासनमाता, बीज और पूर्वज के पगल्या भी अनेक स्त्रियां अपने विश्वासानुसार धारण करती हैं। पगल्या का शाब्दिक अर्थ है—'पद-चिह्न'।

कहीं-कहीं सुहासिनी के पूर्व 'राती-जना' (रात्रि जागरण) किया जाता है और रात्रि भर देवी-देवताओं तथा सौत के गीतों को गाया जाता है। पाट पर पीला-वस्त्र बिछाकर जितनी सुहागिनें जिमाई जाती हैं उतने ही नाड़े, टीकी (बिन्दिया), लौंग, इलायची और पान-पूजापे सहित उस पर रखे जाते हैं। इस अवसर पर वह स्त्री (जो पगल्या धारण करती है) पगल्या को गले से निकालकर पानी से धोती है और उसे पाट पर रखती है। तत्पश्चात् पगल्या के सम्मुख मेहन्दी और आभूषण इस उद्देश्य से रखे जाते हैं कि मृत सौत उन्हें पहनले। इसी सौत को प्रथम भोग लगाने के बाद सुहागिनों को भोजन पर बैठाया जाता है। भोजन के बाद धन-धान्य वाले घरों में सुहागिनों को वस्त्र भी भेंट में देते हैं तथा उन्हें मेहन्दी लगाकर विदा करते हैं।

सौत के प्रति गाये जाने वाले मालवी गीत उलाहनों से भरे हैं। 'भम्मर' और 'टीका' का प्रश्न और फिर सौत का जी जलाने के लिये अपने 'झबिया' की प्रशंसा वाला गीत बहुत प्रसिद्ध है। नायिका उठती है तो झबिया बजती है, बैठती है तो झबिया बजती है। उसकी ध्वनि से प्रियतम का महल गूंज उठता है।[१] माथे के एक भम्मर के बटवारे के प्रश्न पर छोटी पत्नी स्वीकार करती है कि जीजा तुम बड़ी और मैं छोटी हूँ—तुम्हारी बराबरी मैं नहीं कर सकती। यद्यपि अभी प्रियतम दरबार में गये हुए हैं, इसलिये झगड़ा कर रही हो। ऐसी स्थिति में मैं तुमसे होड़ नहीं कर सकती।[२]

स्त्री-सुलभ द्वेष और व्यंग, जीजा के गीतों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। हमारे लिये भम्मर गढ़ाते हो और जीजा के लिये टीका। यह भेद भाव क्यों? इसीलिये कहती थी, हे प्रियतम दो से विवाह न करो।[३]

जीजा को लेकर छोटी कभी-कभी उपहास भी करती है, पर जीजा, छोटी के प्रति सदैव अधिकार-भावना व्यक्त करती है। कहीं-कहीं दो स्त्रियों के झगड़ों से तंग आकर पति के कटु-वाक्य भी उभरे दीखते हैं।[४]

सती माता—भारतीय इतिहास के समस्त कालों में सती-प्रथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष निरन्तर बनी रही। सती-प्रथा से तात्पर्य स्त्री के उस मृत्यु-उत्सव से है जिसमें वह अपने पति के शव के साथ अग्नि का आरोहण करती है अथवा उसकी मृत्यु होने पर किसी भी प्रकार अपने प्राणों को प्रसन्नतापूर्वक त्याग देती है।

---

१. मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृष्ठ ६४। २,३ वही, पृष्ठ ६५। ४. वही, पृष्ठ ६६।

यद्यपि ऋग्वेद युग में सती-प्रथा के प्रमाण नहीं पाये जाते, किन्तु उसके पश्चात् इस प्रथा का चलन अवश्य बढ़ने लगा। पति की मृत्यु के बाद देवृ-कामा की संज्ञा प्राप्त करने वाली नारी धीरे-धीरे अपने अधिकार खोने लगी। काल-प्रसूत आर्थिक अवस्था की दयनीयता ने भारतीय नारी को छाया मात्र बना दिया। देश की सामाजिक एवं राजनीतिक दारुणावस्थाजन्य परिस्थितियों ने बाह्य शक्तियों से नारी की सुरक्षा के हेतु, उसके (नारी) प्रति संचित नर के समस्त विश्वासों को ढहा दिया। भारत में आने वाली अनेक जातियाँ अपनी कन्याओं का वध किया करती थीं। पूर्व प्रचलित सती-प्रथा इसके सम्पर्क से यहाँ अब तेजी से पनपने लगी। मध्यकालीन युग में उसने जोहर का रूप लिया। भारतीय नारी ने उसे एक उत्सव के रूप में अपनाया। पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी के अपहरण, अपमान और पतिता होने की संभावना का इस प्रकार निराकरण संभव हुआ। विदेशियों के आगमन से लेकर अंग्रेजों के उत्थान-काल तक यह प्रथा नारी के सतत बलिदान की एक लम्बी कहानी बन गई। मृत्यु को हँसते-हँसते अपनाने की यह परम्परा अपने आप में एक रहस्यमय इतिहास हो गई, जिसमें सहस्रों वर्षों की जय-पराजय एवं नारी के असंख्य अग्नि चुम्बन निहित हैं।

विलियम बेंटिंग द्वारा सन् १८२६ ई० में सती-प्रथा अवैधानिक घोषित किये जाने तथा उसको रोकने के हेतु कठोर नियंत्रणों के बाद भी गुप्त रूप से यह प्रथा इस देश में बनी रही, यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक सती होने की घटनाएँ होती रहीं। अपने वंश को गौरवशाली बनाने अथवा विशेष परिस्थितियों के दबाव में आकर कुछ प्रान्तों में, मुख्यरूप से बंगाल में कई परिवारों ने अपनी विधवाओं को बलपूर्वक अग्नि में जीवित झोंक दिया है।

सती, भारतीय नारी के लिये श्रद्धा और रहस्य का विषय है। भारतीय ग्रामीण-समाज में प्रचलित लोकगीतों में इस रहस्य की हृदयस्पर्शी व्यंजना गहराई से व्यक्त हुई है। कई गीतों में अग्नि-आरोहण करने वाली सती माता के ससुराल पक्ष के जन अत्यन्त प्रसन्न तथा पितृ-पक्ष में माँ-बाप, भाई-बहन, आदि रोते बिलखते बताये गये हैं।

गीत में निहित सती माता का वर्णन स्त्रैण-प्रकृति के अनुरूप ही मिलता है। ससुराल-पक्ष में सास, ससुर, देवर, जेठ, देवरानी, जेठानी, पति और पुत्र-पुत्रियाँ तथा पितृ-पक्ष में माता-पिता और भाई-बहन विशेषरूप में उल्लेखनीय परिजन हैं।

सती, चिता-आरोहण करने के पूर्व सोलह शृंगार करती है और माथे पर झम्मर, टीका, बाहुओं में बाजूबन्द, कलाईयों में गजरे, चूड़ा, पैरों में झबिया,

नेवर, गले में हँसली तथा तन पर सालू पहनकर तैयार होती है। आभूषणों एवं अन्य शृंगार की वस्तुओं के नाम बोलियों के अनुसार यद्यपि बदल जाते हैं तथापि अन्तर्निहित भावों में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। मालवी का एक सती-गीत जिसमें 'सायब' (प्रियतम) से दूर पड़ने की करुणा राग पीलू के स्वरों में समानरूप से मालवा-भर में गाई जाती है, द्रष्टव्य।

माथा ने भम्मर घड़ावो रे सेवग[1] म्हारा
सायब को डोलो चन्दण नीचे ऊबो
चन्दण नीचे ऊबो चमेली नीचे ऊबो
सायब से छेटी[2] मती पाड़ो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो—
वहायन[3] से चुड़लो चिरावो[4] रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो—
झबिया ने रतन जड़ावो रे सेवग म्हारा
पगल्या ने नेवर घड़ावो रे सेवग म्हारा
अडूगे ने सालूड़ो रंगावो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो चन्दण नीचे ऊबो[5]

"हे मेरे परिजन, मेरे माथे के लिये भम्मर घड़ाओ, प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। वह चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है—वह चमेली के वृक्ष के नीचे खड़ा है। प्रियतम से वियुक्त न होने दो, मेरे परिजन, प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। मेरी कलाइयों के लिये सुहागनी, चूड़ा तैयार करो, झबिया में रत्न जड़ाओ, पगल्या और नेवर घड़ाओ तथा सालू रंगाकर तैयार करो। मेरे परिजन, प्रियतम का डोला चन्दन वृक्ष के नीचे खड़ा है।"

किसी-किसी गीत में आभूषण घड़ाने की यह प्रार्थना ससुर से की जाती है। कुछ ऐसे गीत भी उपलब्ध हैं जिनमें सती अपने समस्त वैभव को छोड़कर जाती है। उसका कुटुम्ब के सदस्यों से वियोग तो होता ही है, किन्तु खेत-खलिहान, घर-बार आदि सभी सामग्री इस पार्थिव संसार में जहाँ की तहाँ रह जाती है।

सतियारा डेरा हवाबाग में
करणपत सेवा[6] हिंगलाज

---

[1]परिजन, [2]वियोग, [3]सुहागिनें, [4]चूड़े तैयार करो। [5]भारतीय लोक-साहित्य, पृष्ठ १२१, [6]सेवा करना।

बावड़ लीने बीड़ो पान को······
करिणपत मेल्या सासू-ससूरा, हे म्हारी सतियार
करिणपत मेल्या मायन-बाप, हो मोटा का जाया[१]
बावड़ लीने बीड़ो पान को······
हांसत मेल्या सासू-सूसरा, रोयत[२] मेल्या मायन-बाप
मोटा का जाया, बावड़ लीनी बीड़ो पान को······
करिणयारी घंसी अम्मर पाल[३] हे म्हारी सतियार
बावड़ लीने बीड़ो पान को
सजनारी घंसी अम्मर पाल, मोटा का जाया,
बावड़ लीने बीड़ो पान को
करिणपत मेल्या ऊंडा ओवरा[४] करिणपत मेली सूरजपाल
मोटा का जाया—
करिणपत मेल्या देवर जेठ, करिणपत मेल्या नाना बालूड़ा[५]
मोटा का जाया —
अरे घोड़े चढ़ी ने बाग मरोड़ी, म्हारी सतियार
करिणपत सेवी हिंगलाज[६] मोटा का जाया
बावड़ लीने बीड़ो पान को[७]

---

[१]बड़े की पुत्री, [२]रोते हुए, [३]अमर-पाल (प्रियतम) [४]ग्राम के घरों के कमरे, [५]छोटे बालक। [६]इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खण्ड ६, पृष्ठ ७१५-१६ के अनुसार—हिंगताज का स्थान बलोचिस्तान में हिंगोली नदी के किनारे बताया गया है। पौराणिक कथा के अनुसार यह वह स्थान है जहाँ दक्ष और शिव की लड़ाई के बाद उमा का मस्तक गिरा था (गोपथ ब्राह्मण, कलकत्ता, १८७२, पृ० ३०)। स्थानीय किंवदंती के अनुसार मुसलमान उसे बीबी नानी का मजार मानते हैं। अंग्रेज यात्री गोल्डस्मिथ ने उसे सन् १८६१ में खोज निकाला था जो ३७४० फुट ऊँचे पर है। वह एक बड़ी गुहा में स्थित है। शिलाओं पर बलि के चिह्न और खून के छींटे यत्र-तत्र बताये जाते हैं। मध्यवर्ती भारत में प्रसिद्ध किंवदंती के अनुसार मारवाड़ के एक शासक ने इस स्थान की यात्रा की थी और देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें अनोखी तरवार दी थी, जिसके प्रभाव स्वरूप उन्होंने दूर-दूर तक लड़ाइयाँ जीती थी। टॉड ने इस कथा का उल्लेख किया है। हिंगलाज आज कई जातियों की देवी है। [७]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० ७, गीत सं० २२।

'कणिपत मेल्या सासू-ससूरा' पंक्ति जहाँ-कहीं भी सती माता के गीतों में प्रयुक्त हुई है, वहाँ स्वाभाविक रूप से करुण-प्रवृत्ति 'ओवरा-ओवरी' माँ-बाप आदि संबंधियों एवं बंधे-बंधाये पदार्थों का उल्लेख करने से नहीं चूकती। अभिव्यंजना की यह परम्परात्मक शब्दावली विशेषतः राजस्थानी गीतों से मालवा में आई है। उक्त गीत में सूरजपाल का उल्लेख तो स्पष्ट प्रकट करता है कि यह गीत उदयपुर से यात्रा करता हुआ मालवा की भूमि में कंठारोहित हुआ है। लेखक को संग्रह के हेतु यात्रा के अवसर पर, एक ऐसा गीत मिला है जिसमें हेमा, नोजा और चोखा नामक सतियों का वर्णन है।[1] सती के गीतों पर निश्चय ही राजस्थानी का प्रभाव है।

ग्राम सुन्दरसी (जिला शाजापुर) ठिकाने के स्व० ठाकुर की पत्नी रानी गोपाल कुँवर चालीस-पचास वर्ष पूर्व सुन्दरसी ही में सती हुई थीं। इस घटना का उल्लेख समाधि-स्वरूप स्थापित की गई प्रस्तर-शिला के अतिरिक्त गाँव की वृद्धाओं में प्रचलित एक गीत [प्रबन्ध के लिये लिपिबद्ध किये गये गीत बहुत पुराने प्रतीत होते हैं। जिन वृद्धाओं से ये गीत प्राप्त किये गये हैं, वे पचास-साठ वर्षों से निरन्तर गाती आ रही हैं] में अधिक हृदयस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हुआ है।[2]

यह स्पष्ट है कि सतियाँ धीरे-धीरे गीतों में देवी का स्थान ग्रहण करने में सफल हुईं। त्यौहारों के अवसर जब सुहागिनें मेंहदी लगाती हैं, तो सती के नाम पर सर्वप्रथम सात टिकियाँ लगाती हैं। 'जीजा या बड़ी' की अपेक्षा सती सौभाग्य के पावित्र्य का आदर्श है। अतः चिह्नों के रूप में वह इस तरह व्यक्त होने में सार्थक है।

लालबई-फूलबई—लालबाई और फूलबाई दोनों मेवाड़ की प्रसिद्ध करणीजी की बहनें थीं, जो १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई बताई जाती हैं। करणीजी की कुल ७ बहनें थीं। कहते हैं सभी में दैवी शक्तियाँ निहित थीं। अजमेर-चित्तौड़ रेलमार्ग पर चन्देरिया स्टेशन के पास 'पूठोली' ग्राम में लालबाई-फूलबाई का स्थान है। उज्जैन में भी चौसठ-जोगनियों के स्थान के पास इनका थानक है। मालवी गीतों में इन दोनों बहिनों का वर्णन अलौकिक श्रद्धा के साथ उपलब्ध है। मध्य मालवा में इनकी मान्यता प्रायः सभी स्त्रियाँ करती हैं। ये दोनों बहनें राजस्थान-मारवाड़ से आने वाली जातियों के साथ मालवा में आकर पूजा की अधिकारिणी हुईं।[3]

---

[1]भारतीय लोक-साहित्य, पृष्ठ १२२। [2]वही, पृष्ठ १२४। [3]विशेष विवरण के लिए देखिए, ठाकुर किशोर सिंह बार्हस्पत्य लिखित 'करनी का चरित्र'।

पथवारी—'उठो रानी रुकमा पूजो पथवारी'[1] पंक्ति से आरंभ होने वाले गीत में 'पथवारी' को मार्ग की रक्षिका देवी माना जाता है। यात्रा करने वालों के लिये पथवारी पूज्या हैं। यह बिछुड़े को मिलाती हैं और भूले को मार्ग बताती हैं, इसलिये कहीं-कहीं मार्ग में पत्थरों की थापी स्थापित कर 'पथवारी' संबोधित करके पूजा की जाती है। 'पथवारी' के संबंध में एक-दो गीत गाकर स्त्रियों द्वारा शकुन बनाया जाता है।

गंगा माता—पुराणप्रसिद्ध पवित्र सरिता गंगा भारतीय लोकमानस में सदैव से ही पूज्या और श्रद्धा का पात्र रही हैं। भारत के सभी प्रान्तीय गीतों में विशेषकर उत्तर भारत के लोकगीतों में गंगा के गौरव की गाथा वर्णित है। मालवा के गंगा संबंधी गीतों में गंगा को एक देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि उनमें गंगा-स्नान के महत्त्व को व्यक्त किया जाता है, तथापि पूज्य गंगा जल को लिवाने जाने वाले पात्र की विदाई भी गीतों में वर्णित है। ऋषि भागीरथ गंगा को इस भूमि पर लाये थे। जाने वाला पात्र भागीरथ को स्मरण कर गंगा के मार्ग में किसी सगे संबंधी के होने का आशय व्यक्त कर केवल लकुटी को ही एक मात्र साथी समझता है।[2]

गंगा संबंधी मालवी गीतों को भिन्न वर्गों में बाँट सकते हैं :—१. गंगा-स्नान के लिये जाते समय के गीत, २. पात्र के चले जाने के पश्चात् कुटुम्बियों द्वारा गाये जाने वाले गीत और ३. गंगा से लौट कर आने पर स्वागत के गीत।

गंगा-यात्री के चले जाने के पश्चात् कुटुम्बी जो गीत गाते हैं, उनमें गंगा की महिमा और यात्री के लिये मार्ग में बाग लगवाने तथा कुँआ खुदवाने का उल्लेख किया जाता है जिससे गंगा स्नान से आने वाला मार्ग में पेड़ की शीतल छाया और कुंए का ठंडा जल पा सके।[3]

सोमरजी के घाट पर जो उपवन लगाया गया है, उसकी शोभा निराली है। उसमें इलायची उगाई गई है। मध्य में तोते का एक पींजरा है। तोता बोल रहा है। वह कहता है कि सीता का राम से विवाह हुआ है।[4]

गंगाजी से लौटने पर पात्र का स्वागत किया जाता है। उसके साथ गंगा के जल को 'उजवाया' जाता है। आने वाले पात्र के ललाट पर पसीना है

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० संख्या ६, गीतसंख्या १२। [2]वही, गीतसंख्या १७। [3]वही, गीतसंस्था १८। [4]वही, गीतसंख्या १९।

और उसका रंग साँवला है।[१] गंगा से लौट आना प्राचीनकाल में प्रसन्नता का विषय समझा जाता था। पूर्वकालीन पथ की बाधाओं ने जहाँ 'पथवारी' को जन्म दिया, वहाँ गंगा को पुराण प्रमाणित होते हुए भी लौकिक महत्त्व प्रदान किया है। यात्री के पाग की पेंचें अद्भुत हैं। वह सौरम घाट से गंगा का जल लेकर आ रहा है। उसके कानों में मोती और गले में कंठी शोभा पा रही है।[२] यात्री की पत्नी, पति की शोभा का वर्णन करते हुए अपनी ननद से आभूषण धारण कर स्वागत के लिये तैयार होने का आग्रह कर रही है।[३] इसी आशय का गीत थोड़े परिवर्तन के साथ निम्नरूप में भी उपलब्ध है। इसमें बहन भावज को शृंगार करने का आग्रह करती है।

माथा रा भम्मर पेरो म्हारी भाभी
काना रा झालज पेरो म्हारी भाभी
कांकड़ आशा हमारा बीर
झारी झलकती आवे
जांबु उबरतो आवे
माथा रा भम्मर जद पैरां बाई
काना रा झालज जद पैरां बाई
नजरा से देखा तमारा बीर
झारी झलकती आवे—

गंगाजी का जल भरती हुई नायिका के हार टूट जाने का वर्णन भी एक गीत में आया है।[४] 'गंगोजा' नामक गीत गंगा पुजारी से संबंधित है। प्रायः ग्रामों में गंगाजल लेकर गंगोजा आया करते हैं। श्रद्धालु परिवार तब भी गंगाजी के गीत गाते हैं। गंगा के साथ गंगोजा भी लोकवार्ता में स्वागत का पात्र बन गया है।

गंगोजा

गंगाजी ने कीजो, गंगोजा आया पावणा।
चांवल रंदऊं ए गंगा माता, उजला,
हरिया मूंग की दाल
लपसी रंधाऊं ए गंगा माता, लचलची,
ऊपर हरिया नारेल।
लाडू खंडाऊं ए गंगा माता मगद का,
ऊपर मिसरी या खाण्ड।

---

[१]चन्द्रसिंह झाला, मालवा के ग्राम-गीत, वीणा, दिसम्बर १६४४।
[२]मालवी लोक-साहित्य (अ० प्र०) सं० संख्या ६, गीतसंख्या २०। [३]वही, गीतसंख्या १४। [४]वही, गीतसंख्या १४।

आंसठ-बांसठ ए गंगा माता, सारना,
चौंसठ भरैया रे भंडार।
थाल परोसे ओ गंगा माता, पद्मनी,
झालर दे झनकार।
जीम्या तो चूंठया ओ गंगा माता, रूचिर्या,
अमृत चरुए कराय।[१]

गंगा संबंधी एक दूसरा गीत है :—

तमारा सीसरा चीरा संभालो भोला संगवी
गंगारै दोरे गुल क्यारी।
या तो गुल क्यारी ने मेमा मारी म्हारी जरणी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
तमारा कानारा मोती संभालो भोला संगबी-
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
मैं तो पाना आपा ने फूलां मेली म्हारी जरणी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
तमारा हीबड़ा हीबड़ा री कंठी संभालो भोला संगवी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
मैं तो खाली आया ने मर्या मेलो म्हारी जरणी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
तमारा अंगेरा बाना संभालो भोला संगवी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
मैं तो उबट आया ने बाटे मेलो म्हारी जरणी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
तमारा हाथांरा कड़ा संभालो भोला संगवी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
तमारा पांवारा मोजा संभालो भोला संगवी
गंगारे दोरे गुल क्यारी !
मैं तो दूबां आया ने पूंता मेलो म्यारा जरणी
गंगारे दोरे गुण क्यारी !

अम्बा माता—अम्बा माता गर्बा की देवी हैं। 'गर्बा' की प्रथा का मूल गुजरात है। नौरात्रि अम्बा की प्रमुख रातें हैं। मानव समाज के विकास के

[१]शाजापुर जिले से संकलित।

साथ-साथ अनेक प्रथाओं का आरंभ और प्रचलन होता गया। जैसे-जैसे प्रथाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाने लगीं, उनके स्वरूपों में ठीक वैसे ही परिवर्तन उपस्थित हुए, जैसे जन-भाषा अथवा लोक-गीतों में उपस्थित होते हैं। प्रथाओं में यद्यपि अन्तर्निहित भावनाओं का रूप चाहे न बदलता हो, किन्तु उसके बाह्य रूपों में प्रान्तीय विभिन्नता के कारण अन्तर अवश्य आ जाता है।

अनेक प्रथाएँ रूढ़ि और अन्ध-विश्वासों के कारण अपनी वास्तविकता तक को खो बैठतीं हैं। फल स्वरूप यह जानना कठिन हो जाता है कि कौन सी प्रथा किसका प्रतीक है अथवा उसका विकास-क्रम क्या है। जहाँ अभी प्राचीन सभ्यता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न जारी है, जहाँ वर्तमान संस्कृति का विकृत स्वरूप अपनी छाप लगाने में अभी सफल नहीं हुआ है, वहाँ अभी भी प्रकृति की पूजा होती है—वहाँ उन ग्रामों में अनाज और धान के खेतों की ओट में कल्लोल करने का प्रयत्न करते हुए गरीब और मेहनत से दबे, भोले पर धर्म-भीरु लोगों में आप एक ऐसी एकता और संस्कृति को पायेंगे जो अपना सानी, नहीं रखती। ग्रामों में यह सांस्कृतिक एकता विभिन्न प्रथाओं के जाल में गुँथी हुई है।

गर्बा और देवी अम्बा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि दोनों शब्दों का अपना भिन्न-भिन्न महत्त्व है तथापि यह स्पष्ट है कि 'गर्बा' जिस वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है, वह देवी अम्बा के अतिरिक्त अन्य नहीं है।

गर्बा—बड़े शहरों में गर्बा-नृत्य अक्सर देखने को मिलते हैं। इस नृत्य का जितना प्रचार गुजरात में है, उतना अन्य प्रान्तों में नहीं। 'गर्बा' यों तो एक प्रथा के रूप में माना जाता है, किन्तु यह विशेषतः नृत्य, संगीत और सौभाग्य की रक्षा का चिह्न है। गुजरात के गाँवों में यदि आप इसके समारोह को देखें तो उसकी सादगी और आदर्श पर विचार किये बिना नहीं रह सकते। 'गर्बा' ने प्रत्येक प्रान्त की यात्रा की है। जहाँ-जहाँ वह गया, उसने अपना रंग दिया और वहाँ का रंग लिया है। हर प्रान्त ने उसे अपने ढंग से ग्रहण किया है।

'गर्बा' एक लोक-नृत्य है। गुजरात इसकी जन्म-भूमि है। यद्यपि आज यह नृत्य अपनी विशेषता के कारण आधुनिक नृत्यकला की श्रेणी में स्थान पा गया है, किन्तु इसका वास्तविक रूप अपनी कला से बेखबर लोगों में विद्यमान है।

'गर्बा' शब्द के संबंध में अनेक मन्तव्य व्यक्त किये गये हैं। साधारण त्योहार से जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, इसकी उत्पत्ति या तो (१) उन गीतों से जो ऐसे नृत्यों के साथ गाये जाते हैं; अथवा (२) गुजरात की लड़कियों को जो इन दिनों श्वेत-मिट्टी का घड़ा फूल-पत्तों से सजाकर अपने माथे पर

'गर्बा' के नाम से रखती और नृत्य का आयोजन करती हैं, से हुआ होगा। यहाँ 'गर्बा' पात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

'गर्बा' के संबंध में कुछ वर्ष पूर्व जे० सी० राय का लेख 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था। श्रीराय ने गर्बा को संस्कृत 'गर्भ' शब्द का अपभ्रंश बताया है।[1] जब से द्वारका के प्रसिद्ध मन्दिर में 'गर्बा' प्रथम बार मनाया गया, तभी से बाँझ स्त्रियाँ द्वारका-यात्रा के लिये जाने लगीं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गर्बा' जो कि एक पात्र है, 'गर्भ' का प्रतीक है और उसके अन्दर प्रज्वलित दीपक जीवन का द्योतक।

हिन्दुओं में ऐसा विश्वास है कि द्वारका की यात्रा कर वहाँ के पुजारियों द्वारा जो छापे बाँझ स्त्रियों के वस्त्रों पर लगाये जाते हैं, वे इस बात को व्यक्त करते हैं कि वह स्त्री पुत्रवती है, यद्यपि वहाँ कोई पुत्र नहीं होता।

'गर्बा' जैसा कि ऊपर कहा गया है, सौभाग्य का चिह्न है। साथ ही वह शुभ और कल्याण का प्रतीक भी है। इसका विशेष समारोह आश्विन मास में नवरात्र के दिनों में होता है। नवरात्र 'गर्बा' देवी की खास रातें मानी गई हैं। 'गर्बा' का समारोह स्त्रियों के लिये विशेष पूज्य है। यों पुरुषों का भी 'गर्बा' होता है, जो दशहरे के दिन से प्रारम्भ होता है।

नवरात्र की प्रथम रात्रि में 'गर्बा' स्थापित किया जाता है। दो मटकियाँ, जिनमें एक बड़ी और दूसरी कुछ छोटी होती है, एक पर एक रख दी जाती है। ऊपर की मटकी पर दो सकोरे (मालवी में 'सरावले') रखकर चार ज्योत प्रज्वलित कर दी जाती है। चार ज्योत चारों दिशाओं की सूचक है। यह स्थापना 'गर्बा' के नाम से सम्बोधित की जाती है। गुजरात के घरों में इस शब्द को स्त्रीलिंग (गर्बी) में बदल देते हैं।

'गर्बा' एक ऐसा त्यौहार है, जिसमें जाति-पाँति का कोई भेद कंटक नहीं बनता। सभी स्त्रियाँ एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करती हैं।

इस स्थापना के पश्चात् स्त्रियाँ ताली बजा-बजाकर गाती और 'गर्बा' के आस-पास परिक्रमा करती हैं। नृत्य में परिक्रमा की भाव-भंगिमा प्रायः सभी प्रान्तों में समान है। नियम यह है कि प्रतिरात पाँच से कम गीत न गाये जाय।

गर्बा गीत—'गर्बा' के गीतों में कृष्ण के लीला वर्णन का अपना खास महत्त्व है। स्त्रियों के कृष्ण गीतों की कड़ियों में नवेले और ऊधमी बन जाते हैं। मीरा की तरह कोइ-कोई स्त्री तो कान्हा को अपने कलेजे की कोर से कम नहीं समझती :—

---

[1] मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ३६।

तांबा का लोट्या भर्या जल से रे
पीवानो वालो परदेश छे रे
बई, म्हारो कान्हो कलेजा री कोर छे रे
कोर छे, कोर छे, कोर छे रे
बई, म्हारी सोना री अंगूठी ऊपर मोर छे रे[1]

गुजरात से चलकर गीतों ने दूर-दूर तक यात्रा की है। मालवा की श्यामला भूमि पर गुजराती बोली ने मालवी के गले में अपनी बाहें डाल दी है।

'गर्बा' में पास-पड़ोस की स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और इनके गीतों में उनकी मनोवृत्तियाँ झलक उठती हैं। ऐसा मालूम होता है, मानों जैसे-तैसे उनकी अपनी स्थिति और परिस्थिति स्वयं बोल पड़ती हो। 'गर्बा' में जहाँ हास्य गाया जाता है वहाँ नंनद-भोजाई, सास या झगड़ालू स्त्री का उल्लेख अवश्य आता है।

एक स्त्री, जिसका साजन राह में नहीं बोलता, इस पर वह भी उससे नहीं बोलती और घर आकर कलह करती है। कलह भी ऐसा-वैसा नहीं, ऐसा कि जिसमें लड़के की टाँग टूटती है और लड़की तो चकनाचूर हो जाती है। रुष्ट स्त्री की मनोदशा का सुन्दर दिग्दर्शन एक ऐसे ही ख्याल में प्रस्तुत किया गया है। सास, बहू से कुछ कहती है, बहू ठीक विपरीत कार्य करती है, यहाँ तक कि जब 'पोल' में दिया धरने के लिये कहा जाता है, तो आज्ञाकारी बहू उसे 'सोड़' में धर देती है। 'सोड़' (तकिया) जलने लगता है, किन्तु उसे बुझाने के लिये बेचारी साथ ही दौड़ती है। गीत इस प्रकार है :—

मेंदी बोई खेत में, उगो बेलू[2] रेत में
मेंदी में बोई हो राज।
छोटे देवर लाड़लो, ऊ मेंदी को रखवाल रे।
छोटी नंनद लाड़ली, वा मेंदी चूटन जाय रे
चुन्टी-चाटी खोलो भर्यो
और ली घर की वाट।
मेन्दो म्हारो मेंदौलो,
उका तीखा-तीखा पान हो।
रांच ओ मनी साय ओ
प्यारे आवसो ॥ १ ॥
लोनी म्हारी भावज,
जीमणा हाथ में लीजो।

---

[1]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ४०। [2]बालू, रेत।

मेंदी लगई पानी चली,
सीमने मिलग्या सायवा
वी नी बोल्या हम नी बोल्या
मन में राख्यो दाव हो ॥ २ ॥
बेड़ी तो म्हने आँगने मेल्यो
घर में धौली राड़[1] हो।
छोरा की टूटी टांगड़ी,
छोरी तो चकनाचूर हो ॥ ३ ॥
म्हारी सासू ने यूं किया—
बऊ, भैंस के कूंडी मेल जे ॥ ४ ॥
हूँ भोली ने यूं सूण्यो—
बऊ, लाड़ी ने खूंटे बाँध जे ॥ ५ ॥
म्हारी सासू ने यूं किया—
बऊ, दाल ने चोखा रांद जे।
हूँ भोली ने यूं सूण्यो—
बऊ, दाल में चोखा रांद जे ॥ ६ ॥
म्हारी सासू ने यूं किया—
बऊ, पोल[2] में एक दीवो मेल जे।
हूँ भोली नें यूं सुण्यो—
बऊ, सौड़[3] में दीवो मेल जे ॥ ७ ॥
सोड़ बले, सिरक्यो[4] बले,
सासू बुजावा जाय हो ॥ ८ ॥[5]

ऐसे ही सौत के प्रति अनेक सुन्दर गीत 'गर्बा' में गाये जाते हैं। सौत मेहमान बनकर आती है। इस सम्बन्ध में जो गीत है, वह सौत के चित्र को हास्यरस में डुबो देता है। देखिये—

सौकड़ बई आया पावरणा नादान राणी।
कईं कईं भिजबान मिजाजरण[6] काँ चली
म्हारा फूल दे राणी ॥ १ ॥
थूली रांदू चोखा रांदू नादन राणी।
ऊपर से भुँलूं समदन-खार[7] मिजाजरण काँ चली ॥ २ ॥

---

[1]कलह, [2]ताक, [3]बिस्तरा, [4]तकिया, [5]मालवी लोकगीत (प्रकाशित), पृष्ठ ४१-४२। [6]नखरे वाली। [7]विष।

सोकड़ बई जीभोल्या नादान राणी।
सोकड़ बई तो सुईग्या नादान राणी।
सोकड़ बई मरीग्या नादान राणी।
रोवा लागो ऊको सूसरो नादान राणी,
उनने खरच्या था दाम मिजाजण काँ चली॥ ३ ॥
रोवा लागी सासू नादान राणी।
नम-नम लागती पाँव मिजाजण काँ चली॥ ४ ॥
रोवा लोगो उको छोरो नादान राणी।
उकी मरी गो माय मिजाजण काँ चली॥ ५ ॥
सोकड़ बई मरीग्या नादान राणी।
काय का मिसे रोऊँ मिजाजण काँ चली॥ ६ ॥
चूला में लगऊँ आड़ो छानीं[1] नादान राणी।
धुँआ का मिसे रोऊँ मिजाजण काँ चली॥ ७ ॥
रोवो म्हारो घुँघटो[2] नादान राणी।
हड़हड़ काड़ूँ दांत मिजाजण काँ चली॥ ८ ॥
सोकड़ बई मरीग्या नादान राणी।
काय का मिसे जऊँ मिजाजण काँ चली॥ ९ ॥
कांख[3] में लियो टोपली नादान राणी।
छाणा का मिसे जऊँ मिजाजण काँ चली॥ १० ॥[4]

इसके अतिरिक्त 'गर्बा' के अनेक गीतों में राधा और कृष्ण की बरजोरी तथा गोपियों के शृंगार, संयोग और वियोग की ध्वनि है। सूर के कृष्ण भी कहीं-कहीं वात्सल्यमयी नारियों के कंठों से बोल पड़ते हैं।

'गर्बा' में एक जीवन है। इसके गीत जीवन की पुकार से खाली नहीं। जीवन की उठान इनमें बराबर व्यक्त हुई है।

देवी संजा के सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार से लिखा गया है। इसके अतिरिक्त तीज, गणगौर, गंगा आदि भी पूज्या हैं जिनका उल्लेख यथा-स्थान किया गया है।

देव म्हाराज—देव म्हाराज बगड़ावत गूजरों के ऐतिहासिक पुरुष हैं। मालवा में गूजरों के प्रभाववश देवजी की मान्यता अन्य जातियों में प्रचलित है। मारवाड़ राज्य की सन् १८९४ ई० की जनगणना के अनुसार देव महाराज का जन्म संवत् १३०० के लगभग माना जाता है। देवजी के पूर्वजों का इतिहास इस प्रकार है—

[1]कंडा, [2]घूँघट, [3]बगल [4]मालवी लोकगीत (प्रकाशित) पृष्ठ ४३।

बाघजी के रावत-भोज को मिलाकर चौबीस पुत्र थे। इधर अजमेर के पास मिनाथ में राव बागसिंह परिहार का अधिकार था। रावत-भोज उनके मित्र थे। मारवाड़ के बुवालगढ़ के ठाकुर की पुत्री जैमती के कारण दोनों में बैर-भाव पैदा हुआ। युद्ध में बगड़ावतों का नाश हुआ। रावत भोज की दो स्त्रियाँ थीं। पहली स्त्री से 'भूणा' नामक पुत्र हुआ। दूसरी का नाम सेढ़ां था और वह गूजरी थीं। जैमती के कारण रावत भोज का नाश हो रहा था। सेढ़ां गोधन में विश्वास रखती थी। रावत भोज की मृत्यु के समय वह गर्भवती थी। उससे देवजी का जन्म हुआ। देवजी ने बड़े होकर अपने पिता के शत्रु से बदला लिया। इसलिये गूजरों के गीतों में देव महाराज, साथ में माता सेढ़ां और भूणाजी भी पूज्य हैं। बगड़ावत गूजरों की प्रसिद्ध गीतकथा 'हीड़' में देव महाराज के युद्ध-चातुर्य का अलौकिक वर्णन उपलब्ध है। कंजरों के गीतों में भी भोज रावत की प्रशंसा मिलती है। 'हीड़' पुरुष गाते हैं। इसके संबंध में अन्यत्र विस्तार से बताया गया है।

स्त्रियों के गीतों में हीरा गूजरी, देव महाराज से अपने पशुधन की वृद्धि और पुत्र की कामना व्यक्त करती है।[1] देवजी की शोभा का वर्णन परम्परागत है। अस्तु, देव महाराज की लोक-गीतपरक स्तुति पौराणिक नहीं है किन्तु ऐतिहासिक आधार-सम्मत है।

तेजाजी—तेजाजी का जन्म मारवाड़ में हुआ था। इनके संबंध में पुरुष 'तेज्या-बोल्या' गाते हैं। सर्प काटे को तेजाजी की आन लगती है। बरसात में तेजाजी की गीत-कथा मुक्तकंठ से गाई जाती है। मारवाड़ की जनगणना-रिपोर्ट के अनुसार[2] तेजाजी अपनी स्त्री को लेने जा रहे थे, मार्ग में पता चला कि उनके ससुराल पनेर के गूजरों की गायें चोर ले गये हैं। उन्होंने तेजाजी को पुकारा और तेजाजी उन्हें छुड़ा लाने में सफल हुए। घायल हो जाने से ज्योंही तेजाजी धरती पर गिरे कि वहाँ बैठे एक सर्प ने उनकी जीभ पर काट लिया जिससे उनकी मृत्यु हो गई। तेजाजी की स्त्री उन्हीं के साथ ही सती हो गई। भाद्रसुदी १० को तेजाजी की मृत्यु-तिथि पर मालवा और मारवाड़ी में कई स्थानों पर मेले लगते हैं। मालवा में प्राप्त लोककथा का स्वरूप निम्न प्रकार है और यह सम्पूर्ण कथा गीत-बद्ध है।

---

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), संग्रहसंख्या ४, गीतसंख्या—४।

[2]मरू भारती, अक्टूबर, १९५५, पृ० १७।

घोड़े पर सवार होकर तेजाजी गौना लेने अपनी ससुराल जा रहे थे। मार्ग में बागर में भयंकर दावड़ा (जंगल की अग्नि) लगी हुई थी और उसमें फरिणधर घिरा हुआ था। तेजाजी ने सर्पराज को देखा और भाले से एक तरफ कर दिया, परन्तु सर्पराज तेजाजी का मार्ग रोक कर बोला, "मैं तुझे डसना चाहता हूँ।" तेजाजी ने निवेदन किया कि "मैंने आपकी जान बचाई है, इसके बदले में आप मेरे ही प्राण लेना चाहते हैं?" किन्तु नागराज अपनी जिद पर अटल था। तेजाजी ने वचन दिया कि मैं गौना लेने ससुराल जा रहा हूँ। जब मैं अपनी परिणीता को ले आऊँ, तब इसी स्थान पर मिलना और अपनी इच्छा पूरी कर लेना। तेजाजी जब ससुराल पहुँचे तो वहाँ चोर सारे गाँव की गायें घेर कर ले जा रहे थे। तेजाजी की वीरता की प्रशंसा गाँव वाले सुन चुके थे, इसलिये गाँव वालों ने गायों को चोरों से छुड़ाकर वापस लाने के लिये कहा। तेजाजी और चोरों में घमासान युद्ध हुआ और जब चोर एक-एक करके मारे गये तो तेजाजी गायें लेकर वापस आये। संयोग से एक वृद्धा का बछड़ा रह गया। उसने तेजाजी को ताना मारा। तेजाजी लहूलुहान थे परन्तु वे ताना सुनकर फिर गये और बछड़ा ढूँढ कर ले आये। तेजाजी गौना लेकर अपने गाँव गये और सबसे सर्पराज की बात कही। गाँववालों ने सर्पराज के पास जाने से तेजाजी को रोका, परन्तु तेजाजी वचनबद्ध थे। वे नव परिणीता वधू और गाँव वालों से विदा लेकर अपने प्राण उत्सर्ग करने के लिये नागराज के समीप गये और बोले कि, "मैं अपने प्राण गँवा रहा हूँ, इससे मुझे क्या मिलेगा।" नागराज बोला कि "जब तक मैं इस पृथ्वी पर हूँ, मेरे साथ तेरा नाम भी अमर हो जायेगा। जिसे मैं डसूँगा और तेरे नाम की तांती यदि उसे बाँध दी जायगी तो वह चंगा हो जायगा।" इतना कह कर सर्प उनके बदन पर चढ़ा, परन्तु तेजाजी के शरीर पर इतने घाव थे कि तिल भर भी जगह डसने के लिये नहीं मिली। तेजाजी ने अपनी जबान निकालकर कहा कि "मेरी जबान अछूती है, आप यहाँ डस लो" और सर्पराज ने निर्ममता से अमर प्राण तेजाजी को डस लिया।[1]

जुझार और पाल्या महाराज—भारतीय ग्रामों में कई स्थानों पर प्रस्तर की गड़ी हुई शिलाएँ प्रायः सभी ने देखी होंगी। ये शिलाएँ पक्के चबूतरों अथवा ऊँची जमीन पर गड़ी हुई पाई जाती हैं। इन शिलाओं पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ खुदी रहती हैं और प्रत्येक आकृति अपने में एक घटना लिए होती हैं। ऐसी शिलाएँ देखने में बहुत कम आती हैं जिन पर कि कुछ अंकित

[1]अनूप—लोकनायक तेजाजी, नवप्रभात।

न हो। गाँवों में इन शिलाओं को सामान्यत: मृत्यु के समाधि-चिह्नों के रूप में महत्व प्राप्त है। मोटे रूप में ऐसी समस्त शिलाओं को सती की शिलाएँ, पाल्या और जुझार में वर्गीकृत किया जा सकता है।

किसी घटना-विशेष द्वारा व्यक्ति की असामयिक मृत्यु हो जाने पर 'पाल्या' अथवा 'जुझार' की शिलाएँ संबंधियों द्वारा स्थापित की जाती हैं। किसी प्रकार की चोट लगने, कुएँ-बावड़ी में डूब मरने, साँप काटने, हिंसक-जन्तुओं द्वारा खाये जाने या इसी प्रकार की अन्य घटनाओं से जिन व्यक्तियों की मृत्यु होती है, उनकी शिलाओं को 'पाल्या' नाम से संबोधित किया जाता है। बंदूक की गोली से मरने, चोरों का मुकाबला करते हुए अथवा युद्ध में कट मरने वालों की समाधि-शिलाएँ 'जुझार' कहलाती हैं। जुज्झ (युद्ध) में आर प्रत्यय (जुज्झ + आर) लगाने से जुझार शब्द बनता है, जिसका अर्थ वीर अथवा लड़का है। पाल्या की अपेक्षा जुझार अधिक श्रद्धा की वस्तु है।

पाल्या की शिलाओं पर सामान्यतः एक ही ढंग की आकृति अंकित पायी जाती है। घोड़े पर बैठे मृत व्यक्ति की आकृति तथा उसके ऊपर चाँद-सूरज एक निश्चित ग्रामीण शैली में अंकित किए जाते हैं। जुझार में घोड़े की पीठ पर कटे हुए पुरुष का शरीर अंकित किया जाता है। इस प्रकार आकृति-मात्र से व्यक्ति की करनी प्रतीक रूप में स्पष्ट हो जाती है। 'पाल्या' अथवा 'जुझार' की आकृतियों को खोदने का कार्य गाँवों के ही कारीगर करते हैं। इतना अवश्य है कि मीलों का अन्तर पड़ने पर अंकन-शैली में भी अन्तर हो जाता है। कहीं-कहीं उक्त शिलाओं पर मृत व्यक्तियों के नाम, मृत्यु-संवत् एवं घटनाओं के विवरण खोदे जाते हैं। पुरानी शिलाओं में यह बात अवश्य मिलती है। इतिहास के पृष्ठों में जहाँ साधारण घटनाओं एवं कार्यों से प्रसिद्धि पाकर कई व्यक्तियों के चरित्र बखाने गये हैं, वहाँ ऐसे भी पत्थर इस देश में पड़े हैं जिनमें किसी का नाम पता तक नहीं, किन्तु इनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनायें आज भी गाँवों के लोगों की स्मृति में शेष है।

गाँवों में जब कभी दो व्यक्तियों में लड़ाई होती हैं तो यह वाक्य प्राय: सुनने में आता है—"तू घणी बोले मत, नी तो पाल्वान्मंडी जायगा।" अर्थात् तू अधिक न बोल, नहीं तो तेरा पाल्या बनेगा—तेरी असामयिक मृत्यु मेरे हाथों से हो जायगी।

'पाल्या' अथवा 'जुझार' की शिलाओं पर उनके संबंधियों द्वारा प्रति वर्ष मृत्यु तिथियों पर पूजा की जाती हैं। बार-त्योहारों पर उनके सामने नारियल फोड़ा जाता है। दीवाली के बाद पड़वा के दिन तो प्रायः गाँवों के सभी 'पल्या' और 'जुझार' पूजे जाते हैं।

जिन गाँवों में शिलाएँ अधिक मिलती हैं, वे गाँव अवश्य ही घटना-प्रधान होते हैं। उनका पूर्वेतिहास ऐसी ही शिलाओं एवं दंतकथाओं में मिल सकता है। 'पाल्या' अथवा 'जुझार' पूर्वज के रूप में होते हैं। दंतकथाओं के अतिरिक्त ऐसे पूर्वजों के प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त करने वाले गीतों की कमी इस देश में नहीं है। पूजा करते समय गाये जाने वाले गीतों में से मालवी बोली का एक गीत यहाँ दिया गया है।

जुजारजी धड़ तो धरती में
पग पायड़ा[1] में हो—
म्हारा साँचा जुजार
गेरा[2] रण में जुजाजी
जुजारजी, सीसा केरी पाग
जुजारजी, काना केरा मोती
अरे पेंचा प्यारी लागे हो—
म्हारा साँचा जुजार
गेरा रण में जुजाजी[3]
जुजारजी, अंगा केरो बागो
केसर प्यारी लागे हो—
म्हारा साँचा जुजार
गेरा रण में जुजाजी
जुजारजी, पावां केरा तोड़ा
चटियों प्यारी लागे हो[4]—
म्हारा साँचा जुजार
गेरा रण में जुजाजी[5]

मेरू—मेरू (भैरव) पुरान-प्रसिद्ध देवता हैं। मेरू की स्तुति और उनके संबंध में विभिन्न गीत भारतवर्ष की सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। आनुष्ठानिक आकृति के सम्मुख पूजन के अतिरिक्त आषाढ़ की अंतिम पूर्णिमा और प्रमुख शुभ-कार्य के अवसर पर मेरू गाये जाते हैं। बाँझ स्त्रियाँ मेरू से पुत्र माँगती हैं। मेरू की प्रत्येक इच्छित वस्तु के लिये क्रमशः व्यवस्था करने का वह

[1]घोड़े की जीन पर लटकने वाली पैर रखने की जगह। [2]गहरा। [3]जुझेजी। [4]एक आभूषण। [5]गुलाबबाई (छगन मा) द्वारा लेखक को २४ मई, १९५२ में लिपिबद्ध किया गया। ग्राम सुन्दरसी (प्रकाशित) नव प्रभात, ३० जून, १९५२।

आश्वासन देती है।[1] मेरू की घूघरमाल रमझम बजती है। पूजा के निमित्त सभी वस्तुएँ प्रस्तुत हैं। पुत्र की कामना करने वाली अन्तर्यामी मेरू से धन-धान्य पूरित समृद्ध परिवार के लिये बस एक ही पुत्र माँगती है।[2] वह ससुराल और पीहर के बीच में है। मेरू के रूप-वर्णन में मालवी गीत इस देवता को क्षत्री के नीचे स्थित बताते हैं। उनके कानों में मोती, माथे पर पाग, गले में कंठी, अंग पर जामा, हाथ में कड़े तथा पाँव में मोजे पहने हैं।[3]

सभी जातियों में मेरू गाये जाते हैं। भैरव का शास्त्रों में वर्णित रौद्र स्वरूप गीतों में कम उभरा है। मालवी में मेरू के अनेक गीत हैं, किन्तु उनकी मूलभूत पंक्तियाँ प्रायः सभी गीतों में परिभ्रमण करती हैं।

गोगाजी[4]—गोगाजी चौहान वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका विवाह पाबूजी राठौर की भतीजी, केलणबाई से हुआ था। गोगाजी का संबंध नाथ-सम्प्रदाय से आता है। किंवदंतियों के अनुसार गोगा सर्पों के देवता हैं। सर्प काटे को गोगा की ताँती बाँधी जाती है। गोगाजी की मृत्यु के संबंध में मतभेद है, फिर भी सन् १८८३ ई० में उनकी मृत्यु होने का अनुमान अधिक मान्य है। मारवाड़ राज्य की सेन्सस रिपोर्ट[5] में गोगाजी के संबंध में बताया है कि उनकी पूजा भाद्रपद कृष्ण ६ को होती है। 'गाँव-गाँव गोगा ने गाँव-गाँव खेजड़ी' यह कहावत गोगा के थान के प्रत्येक गाँव में है, इस बात को उसी तरह प्रमाणित करती है जिस तरह खेजड़ी (वृक्ष) का होना हर गाँव में निश्चित है।

मुसलमान गोगा को पीर मानते हैं। निमाड़ में गोगा के गीत बालक भी गाते हैं। मालवी में गोगा के पूजा-गीत, स्वरूप-वर्णन प्रधान ही उपलब्ध हैं।[6] उनका स्वरूप भैरव से मिलता हुआ है। वास्तव में स्वरूप-वर्णन के निश्चित अभिप्राय सभी गीतों में मिलते हैं।

नागजी—नागजी वस्तुतः सर्प के देवत्व की प्रतिष्ठा का सूचक है। लोक-विश्वास नाग को देवता मानता है। इस संबंध में लोक-साहित्य में अनोखी वार्ताएँ प्रचलित हैं। आकृतियों, गीतों, तंत्र-मंत्रों और उनके प्रति

---

[1]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० सं० ४, गीतसंख्या ५। [2]वही, गीतसंख्या ६। [3]वही, गीतसंख्या ७। [4]बहार पीर और वीर गोगा को प्रायः एक बताया जाता है। गोगा और गुग्गा एक ही व्यक्ति है। [5]रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, तीसरा हिस्सा, पृ० १४। [6]मालवी लोकगीत (अ० प्र०), सं० संख्या ४, गीतसंख्या ६।

प्राप्त सिद्धियों के संबंध में लोकवार्ता अध्ययन का मनोरंजक विषय है। नागपंचमी के संबंध में विचित्र लोककथाएँ और गीतों के अतिरिक्त मालवी गीतों में नागजी फूलों की बाड़ी में रमण करने वाले तथा पुत्रादि प्रदान करने वाले देवता हैं।[1] समृद्धि का संबंध नाग से है। नागाकृतियाँ प्रस्तरखण्डों पर पर्याप्त मात्रा में खुदी मिलती हैं। नागपंचमी पर मालवा के कुटुम्बों में दक्षिण भारत की भाँति नाग का पूजन किया जाता है और उसकी आकृति दीवार पर बनाई जाती है।

मालवी गीतों में देवी-देवताओं का यह स्वरूप अनेक अंशों में राजस्थानी लोक-साहित्य से प्रभावित है। ऐतिहासिक पूर्वपुरुषों की गाथाएँ जातियों के आवागमन के कारण यहाँ के लोकगीतों में प्रचलित हुईं। यह स्पष्ट है कि मालवा के पठार के अधिकांश गीतों में वर्णित देवी-देवता लोक का स्पर्श पाकर अनोखे स्वरूप में प्रकट हुए हैं।

रूप-वर्णन की निश्चित पद्धति सभी देवियों और देवताओं पर घटित होती है। समृद्धि की कामना सभी से आबद्ध है और आस्था और परम्परा या आनुष्ठानिक महत्त्व भी सभी से संबंधित हैं।

यों तो गीतों में और भी छोटे-मोटे देवी-देवों की प्रतिष्ठा है, पर प्रस्तुत अध्याय में केवल प्रमुख लोक-देवी-देवताओं का उल्लेख ही अपेक्षित है। अस्तु, देवी-देवताओं संबंधी मालवी गीतों में :—(१) सरूप (स्वरूप) वर्णन, (२) पारिवारिक समृद्धि की कामना और (३) मनोकामना की पूर्ति के लिये आग्रह निहित है।

---

[1] मालवी लोकगीत (अ० प्र०) सं० सं० ४, गीतसंख्या ११।

अध्याय ४

माच : मालवी लोकनाट्य

माच—'माच' शब्द मंच[1] का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बांधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले 'ख्याल' (खेल) दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः 'माच' मंच पर अभिनीत किया जाने वाला मालवी लोक-नाट्य है।

माच-मंच—माच-नाट्य की व्याख्या के पूर्व माच-मंच के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना यहाँ भूमिका की दृष्टि से संगत होगा। माच-नाट्य आरम्भ करने के कुछ सप्ताह पूर्व उचित मुहूर्त में ग्राम अथवा नगर की बस्ती के किसी खुले एवं निश्चित स्थान में माच-मंच का 'खम्ब' (स्तम्भ) स्थापित किया जाता है। उस समय माच-नाट्य के अभिनेता एवं कार्यकर्ता एकत्र होकर अपने गुरु के करकमलों से खम्ब का पूजन करवाते हैं। आम्रपत्र, अमरवल्लरी, धनिया, गुड़ और लाल वस्त्रपूजनसामग्री में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा पूजन की बेला में ढोलक का सतत रूप से बजना अनिवार्य समझा जाता है। माच-मंच के निर्माण के लिये यह औपचारिक आयोजन मांगलिक माना जाता है।

मंच, प्रायः दृढ़ खम्बों पर ५ फुट से लगाकर १० फुट ऊंचा बनाया जाता है। ऊपर चार बल्लियों के सहारे सफेद चादर तान दी जाती है और उसमें

[1] मालवी में 'मंच' शब्द के तीन और तद्भव रूप विद्यमान हैं, पर उनके अर्थ भिन्न हैं, यथा 'मचान' (भवन-निर्माण के हेतु सहारे के लिये) बांधा जाने वाला तख्ता एवं खेत में रखवाली के लिये चार बल्लियों पर आधारित 'डागला', 'माचा' (बैठने की बड़ी खटिया) और 'माची' (बैठने की छोटी खटोली)।

रंग-बिरंगे कागजों के फूल गोंद से चिपकाये जाते हैं। मंच के चारों ओर रंगीन पन्नियाँ, लाल-पीले वस्त्र के टुकड़े, आम के पत्तों की झालरें या ऋतु के फलों की वन्दनवारें भी टाँगी जाती हैं। मंच की लम्बाई और चौड़ाई का प्रमाण आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार सज्जित मंच यद्यपि चारों ओर से खुला होता है, किन्तु उसकी सुरक्षा के हेतु अन्य व्यवस्था भी की जाती है, जो माच की परम्परा में अपना वैशिष्ठ्य रखती है।

मंच-व्यवस्था के अनुशासनार्थ माच-मंच के दोनों ओर दो-दो पाट और सामने बंदी के चार खम्बे गाड़े जाते हैं। चार खम्बे के निकट १६ युवक, १ जमादार, १ थानेदार और १ बादशाह बैठते हैं। यह योजना माच के सौन्दर्य में उत्कर्ष प्रदान करती है। पृष्ठ के पाट 'बारह घाट के पाट' कहलाते हैं, जहाँ माच-मण्डली के कुछ विश्वासपात्र कार्यकर्ता और अभिनेता माच-नाट्य के अभिनय के अवसर पर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह 'बारह घाट के पाट' के पास एक 'टेक का पाट' भी अवश्य रहता है, जिस पर अभिनेताओं के बोल झेलने के लिये कुछ व्यक्ति बैठते हैं और सामूहिक स्वर में 'बोल' और टेक दुहराते हैं जिससे गाते हुए अभिनेता को कुछ विश्राम का अवसर मिल जाता है।

मंच के एक ओर कुछ अनुभवी वृद्धगण बैठते हैं। यदि कहीं बोल में कोई भूल हुई अथवा ढोलक की थाप में त्रुटि हुई या अभिनेता के पद-संचालन या हावभाव में कहीं असम्बद्धता आई तो वे संकेतों द्वारा सचेत करते हैं। माच के प्रणेता गुरु का आसन भी माच-मंच के एक ओर होता है, जिस पर कोई बैठता नहीं। अतः यह व्यवस्था एक प्रकार से निर्देशन के रूप में है।

प्रकाश के लिये मशालची अपनी मशालों को मंच के तीन खम्बों पर लगाकर अपना उत्तरदायित्व निभाता है। मशाल में तनिक भी प्रकाश का अभाव हुआ नहीं कि वह उठकर तेल में जलते हुए बलबट्टे भिगो देता है। आधुनिक युग में जहाँ विद्युत् अथवा गैस बत्ती (पेट्रोमेक्स) उपलब्ध है, वहाँ मशालों की आवश्यकता नहीं पड़ती। माच-मंच की इस व्यवस्था में रंगशाला का कोई स्थान नहीं, क्योंकि संबंधित पात्र मंच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्रादि परिवर्तित कर आ जाते हैं। मंच चारों ओर से खुला होने के कारण नेपथ्य नहीं होता। दर्शकगण कहीं से भी बैठकर सम्पूर्ण गतिविधि देख सकते हैं, तो भी (देखिए, माच-मंच का रेखाचित्र) सुविधा के लिये दर्शकों को तीन ओर ही बैठने दिया जाता है।

भरत ने नाट्य-मंडप निर्माण का विधान अपने 'नाट्यशास्त्र' (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिया है। उसमें विकृष्ट,
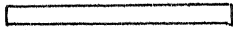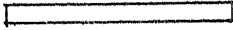
बारह थांट का पाट
टक का पाट
गुरु का आसन
माच-मंच
चौगान
ढोलकिया सारंगीसाज
मशाल
म
बंदों के खंब
द र्श क ग ण
द र्श क ग ण
द र्श क ग ण

चतुस्त्र और त्र्यस्त्र—तीन प्रकार के मंडपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम देवताओं के लिये है और शेष दो प्रकार मनुष्य के लिये अंतिम 'त्र्यस्त्र' जन-साधारण का मंडप है। यद्यपि भरत की दृष्टि में 'चतुस्त्र' ही उत्तम हैं, तथापि वर्गभेदानुसार मंडप के इन प्रकारों का उल्लेख-अनिवार्य था। माच में मंच-निर्माण के पूर्व जिस खम्ब स्थापना का महत्त्व है, वह भारत के नाट्य-शास्त्र में भी उल्लिखित है। शुभ नक्षत्र में नाट्यमंच की भूमि का नाप-जोख और दर्शकों, रंगमंच, रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के लिए उसके विभाजन के पश्चात् कार्य आरम्भ करने के हेतु स्तम्भ की स्थापना को आनुष्ठानिक विधान कहा गया है। स्तम्भ-स्थापना की बेला में स्तम्भ को सम्बोधित करते हुए निम्न प्रार्थना का उल्लेख है—

यथाऽचलो गिरिमेरुः हिमवांश्च महाबलः।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथात्वमचलो भव ॥[1]

[हे स्तम्भ ! तुम मेरु पर्वत और महाबली हिमालय की भाँति विजयी राजा के समान अचल हो।]

भरत के विधान का विस्तार स्थायी रंगमंच के लिये है, अतएव उसका विस्तृत उल्लेख लोक-नाट्यमंच के संदर्भ में अनुपयुक्त है। इसमें मत-वैभिन्न नहीं हो सकता कि भरत ने जिन विधानों का उल्लेख किया है, उनमें से कतिपय विधान आज भी जनसाधारण में विद्यमान हैं। माच की 'खम्ब' स्थापना इस बात की द्योतक है। लोक-नाट्यों में इन विधानों का परिलक्षित होना इस बात का भी सूचक है कि प्राचीन संस्कृत-नाटकों ने लोक-नाटकों से अनेक अंशों में प्रवृत्तियों, लक्षणों और विधानों का आदान-प्रदान किया है।

माच : लोकनाट्य—डॉ० कीथ ने संस्कृतनाटकों के साथ लोक-नाटकों की अवस्थिति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि वे (संस्कृत नाटक)—"जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा को समझना साधारण जनता के लिये प्रायः असंभव था।"[2] इसीलिये साधारण समाज के अपने मनोरंजन के साधन उच्चवर्ग के साधनों से भिन्न ही रहे। यह भी पर्याप्त रूप से ग्राह्य है कि ऐसे लोकधर्मी साधन हर युग में, हर प्रकार की जनता में विद्यमान रहे हैं। इन्हीं साधनों की सम्पदा में उत्कृष्ट कला और साहित्य के बीज निहित हैं तथा युगों के पारस्परिक संबन्ध अवश्य एक-दूसरे के सांस्कृतिक स्तरों को स्पर्श करते हैं। पर्याप्त विश्वास के साथ डब्ल्यू० बी० इट्स ने कहा है—"वह धरती ही है, जिसमें सभी उच्च कलाओं की जड़ें समाहित हैं।"[3]

[1] भरतनाट्यशास्त्र,। [2] कीथ—'दी संस्कृत ड्रामा'। [3] अर्ली—पोयमस् एण्ड स्टोरीज, लंदन, १६२५।

लोक-नाट्य 'पृथिवी पुत्र' की भावनाओं की समुचित अभिव्यक्ति करते हैं। लोक-नाटकों की समान विशेषताओं से भिन्न कुछ अंशों में भौगोलिक स्थिति, सोचने और रहन-सहन के समान ढंग एवं स्थानीय अथवा प्रान्तगत संस्कार प्रान्त की स्थिति के द्योतक होते हैं।[१] इस दृष्टि से 'माच' में लोक-नाटकों के सभी लक्षण विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। उसमें स्थानीय विश्वास, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, रूढ़ि-मान्यताएँ, मुहावरे, जीवन-दर्शन-आदि सभी तत्त्व मालवा की धरती की सौंधी महक से पूरित हैं।

लोक-नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से है और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा है। 'माच' को लोकनाट्य कहना सर्वथा उचित है। 'ग्रामसंगीत-नाट्य' कहने से उसका क्षेत्र ग्राम तक ही सीमित हो जाता है। जबकि उपलब्ध माचों की रचना नगर-विशेष में हुई है और जिनका कालान्तर में नगरों और ग्रामों में समान रूप से प्रसार हुआ है, तब उन्हें ग्राम की सीमा से आबद्ध करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

लोकनाटकों में—(१) व्यक्ति का महत्त्व नगण्य है। समूह, जाति या समाज की कल्पनाओं, अनुभूतियों, भावनाओं और प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना सामूहिक अभिनय द्वारा व्यक्त होती है। चूंकि अभिव्यक्ति का माध्यम भावना-प्रवण है और "समूह की स्वाभाविक भाषा गद्य नहीं काव्य है, क्योंकि काव्य की अप्रस्तुत-योजना में समूह की कल्पना का साधारणीकरण होता है,"[२] इसलिये लोक-नाट्यों के पात्र पद्य में ही अपने संवादों को बोलते हैं। पद्य में लौकिक संगीत एवं लोकगीतों की बंधी-बंधाई रूढ़ शैली का प्रवाह होता है।

(२) गद्य का प्रयोग समसामयिक विषयों के लिये अथवा हास्य के हेतु किया जाता है।

(३) 'पात्र प्रायः 'टाइप्स' या प्रवृति-विशेष या समूह-विशेष के द्योतक होते हैं। आप उन पात्रों में स्थूल विशेषताओं को तो बता सकते हैं लेकिन उनमें व्यक्तिगत और बारीक विभेदों को खोजना व्यर्थ होगा, क्योंकि प्रायः एक तरह के पात्र एक से अधिक नाटकों में तत्सम रूप में ही आते-जाते मिलेंगे।[३]

---

[१]फेलिक्सपर (Felixsper), फ्राम नेटिव्ह रूट्स, पृ० १७, १६४८।
[२]सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक), २०१० वि०, श्री जगदीशचन्द्र माथुर का लेख 'लोक रंगमंच का रूप और संगठन', पृष्ठ ३५६। [३]वही।

(४) लोक-नाट्यों का मंच खुला हुआ होता है, उसमें पट-परिवर्तन की व्यवस्था नहीं होती। दृश्य-परिवर्तन केवल पद्यमय संवाद से अथवा पात्र-परिवर्तन से समझा जाता है। दर्शकगण इन आडम्बरों की ओर ध्यान न देकर कथा एवं पात्रों के कथोपकथन में रस लेते हैं।

(५) लोकमंच पर अभिनेताओं को अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताएँ होती हैं, जो न दर्शकों को अखरती है और न नाटक-मंडलियों में कभी आलोचना का विषय बनती है।

(६) जिन पौराणिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक कथानकों का प्रयोग इन नाट्यों में होता है, उनमें स्थानीय प्रकरण सहज ही उद्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कथाप्रसंग विकृत हो जाते हैं। इन विकृति में दोनों ही पक्षों का मनोरंजन होता है। जनसमाज से संबंधित मान्यताओं, विश्वासों और प्रथाओं का प्रयोग सभी प्रकार के कथानकों में पाया जाता है।

(७) भाषा, स्थानीय और लोक-जीवन के समस्त अभिव्यक्ति के तत्वों से भरपूर होती है।

लोक-नाट्यों की उक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर यदि 'माच' की व्याख्या की जाये, तो वह सर्वथा लोक-नाट्य ही सिद्ध होता है। लोकगीतों की हृदयस्पर्शी शब्द-व्यञ्जना, मंचीयवैशिष्ट्य, रूढ़अभिनयत्व, पद्यात्मक संवाद-योजना, आदि सभी तत्वों का समावेश इन माचों में उपलब्ध है। मिथिला के 'कीर्तनिया', राजस्थान के 'ख्याल,' महाराष्ट्र के 'ललित', उत्तरप्रदेश की 'नौटंकी,' गुजरात के 'भवाई,' और ब्रज के 'रास' की भाँति संगीत इसका प्राण है। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के समय उत्कृष्ट रंगमंच के अभाव में लोकमंच को ही विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख सन्तों ने लोक-नाट्यशैली को अपनाकर गीति नाट्यपरम्परा को प्रश्रय दिया। 'माच' पर मध्यकाल के समस्त लक्षणों का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि 'माच' का विकास बहुत बाद में हुआ तथापि वह अपने अंक में इन प्राचीन प्रवृत्तियों को लेकर ही प्रकट हुआ था।

अपभ्रंश-भाषा के रासग्रंथों की खोज ने भारतीय नाट्यपरम्परा के अध्ययनार्थ नया मार्ग प्रस्तुत किया है। समस्त ग्रन्थों के स्थूल अध्ययन से विद्वानों ने यही प्रकट किया है कि 'लोक' को गद्य की अपेक्षा पद्य का माध्यम अधिक अपेक्षित एवं प्रिय रहा है। इस दृष्टि से 'माच' में पद्य का प्रयोग आकस्मिक नहीं है। लोकनाटकों के अतिरिक्त उत्कृष्ट साहित्य-नाटकों की यह परम्परा १८वीं शताब्दी तक आते-आते लुप्त हो चली थी। यद्यपि भारतेन्दुजी ने वैष्णवों की गीतिकाव्यात्मक नाट्यशैली की विशेषता को अपनाकर अंकों

और दृश्य के मध्य में गीतों को स्थान दिया[1], तथापि यह प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ पायी। भारतेन्दुजी के पूर्व तो विश्वनाथसिंह जू लिखित 'आनन्द रघुनन्दन' (रचनाकाल लगभग १७०० ई०), जोधपुर-नरेश जसवन्त सिंह द्वारा संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का हिन्दी अनुवाद (१६४३ ई० के लगभग) तथा गोपालचन्द्र रचित 'नहुष' (१८४१ ई०) आदि में स्पष्ट ही गीति-शैली का समावेश है। छन्दों के प्रयोग की इस प्रवृत्ति के लुप्त हो जाने से हिन्दी नाटकों में नीरसता व्यापित होने का पूर्ण अवसर सहज ही उपस्थित हुआ। एक ओर यह स्थिति थी और दूसरी ओर सर्व साधारण जनता में लोक-संगीत के सहारे लोक-प्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों का मंच पर अभिनय होता रहा। अतः लोक-नाट्य हर युग में अपना कार्य करता रहा। 'माच' इसी स्वाभाविक लोकमंच परम्परा की एक शाखा है।

'ढारा-ढारी' के खेल—'माच' का क्रम-संगत इतिहास पिछली एक शताब्दि-पूर्व से आरम्भ होता है। कहते हैं इसके पूर्व मालवा में 'ढारा-ढारी' के खेल प्रचलित थे। 'ढारा-ढारी' से तात्पर्य उन वीरों से है जिनका लोक-जीवन से बलवान-समर्थ सहायक के रूप में सम्बन्ध है। राजस्थानी में 'धाड़ी' शब्द का सामान्य अर्थ डाकू है। यों धाड़ी और डाकू में बहुत अन्तर है। 'धाड़ी' अन्याय के विरुद्ध लड़कर शोषितों की रक्षा करने वाले हुआ करते हैं। वे धनवानों को डाकू की भाँति लूटते अवश्य हैं, पर उस लूट की सम्पत्ति से निराश्रित और दलित की वे सहायता करते हैं। किन्तु डाकू का यह आदर्श नहीं होता। यही कारण है 'धाड़ी' लोक-जीवन में वीरपूजा की भावना से प्रतिष्ठित हैं। कई धाड़ियों के जीवनचरित मंच के विषय हैं। संभवतः इसी 'धाड़ी' सेमालवी का 'धाड़ा' शब्द बना है जिसका अर्थ है डाका अथवा लूटपाट के लिये किया गया आक्रमण। आदर्श वीरों में अभिनय की प्रवृत्ति सदैव ही रही है। मालवा में इसी 'धाड़ी' से मिलता हुआ 'ढारा-ढारी' का अभिनय वस्तुतः चरित-प्रधान नाट्य का द्योतक रहा होगा। उपलब्ध जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि इस नाट्यशैली में 'धाड़ी'-चरित्रों के साथ धीरे-धीरे पौराणिक चरित्रों और कथानकों के समावेश की प्रवृत्ति बढ़ी, जो आगे चलकर 'माच' के लिये भूमिका निर्मित करने में सहायक सिद्ध हुई प्रतीत होती है।

धाड़ी राजस्थान की एक जाति भी है जिसका कार्य मन्दिरों में स्वांग करना अथवा गीत गाना है। कदाचित् उनके द्वारा प्रचलित खेलों को ही

---

[1] देखिए, 'चन्द्रावली', 'विद्यासुन्दर', विषस्य विषमौषधम (१८७६), (१८७८), (१८८८), नीलदेवी (१८८१)।

'ढारा-ढारी' का खेल कहा जाता हो। उपर्युक्त सामग्री के अभाव में इस परम्परा के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जा सकता, फिर भी माच की पृष्ठ भूमि', 'ढारा-ढारी' के खेलों का किंवदंतियों में प्रायः उल्लेख मिलता है।

मालकम के संस्मरण—लगभग डेढ़ शताब्दि पूर्व मालवा के ग्रामों में कठपुतलियों के खेल दिखाने वाले एवं चतुर घुमन्तू अभिनेताओं के आगमन का उल्लेख सर जान मालकम ने किया है।[1] मालकम ने किसी बालूबा नामक एक ब्राह्मण अभिनेता के सम्बन्ध में लिखा है कि वह असंख्य यूरोपीय एवं भारतीय दर्शकों के सम्मुख जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं, कई बार अपना अभिनय दिखा चुका है। यह अभिनय स्वयं उन्हीं के कैम्प में हुआ था। मालकम का कथन है कि बालूबा नकल की कला में इंग्लैण्ड के कतिपय माने हुए अभिनेताओं से किसी तरह कम नहीं था।[2] इसी प्रकार उस समय के लोक-नाट्यों का उल्लेख करते हुए बताया है कि उन खेलों के विषय प्रायः पौराणिक कथानकों पर आधारित होते थे। कथानकों का स्तर तत्कालीन नरेशों और अधिकारियों के आदर्शों के अनुसार होता था। हनुमान या 'दूंद-दूंदाले' (बड़े पेट वाले) गणेश मंच पर आते, हिन्दू देवताओं और अवतारों के स्वांग किये जाते और राजा मंत्री तथा उसके दरबारी प्रायः परिहास के विषय बनाये जाते हैं।[3] ग्रामीण जनता को उन खेलों में विशेष आनन्द प्राप्त होता है जिनमें उनके यथार्थ जीवन की झांकी होती है। जिलाधिकारियों को घूस लेने का प्रकरण, पटेल का ग्रामीणों पर क्रोध करना और अधिकारियों को चापलूसी तथा उसे मंच के एक ओर घूस देते हुए अथवा लेते हुए बताना आदि परिहास प्रसंगों को देखने के लिये मालवी स्त्री-पुरुष, 'माच' के दर्शकों की भाँति, उन दिनों रात-रात बैठे रहा करते थे।[4]

मालकम के संस्मरण से यह प्रकट होता है कि १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में मालवा में मनोरंजन के साधन ऐसे थे जिनका आधार ग्रहण कर निश्चय ही 'माच' का प्रणयन किया गया प्रतीत होता है। पौराणिक कथानकों के साथ सामाजिक विषयों में लोकचेतना का रूप स्पष्ट लक्षित होता है। इन्हीं साधनों के स्थायी तत्त्व अपनाकर 'माच' को अपने प्रभुत्व स्थापना का अवसर मिला।

ख्याल और माच—राजस्थान में भी माच 'ख्याल' के रूप में प्रचलित है। वस्तुतः ख्याल और माच भिन्न होकर भी तात्विक दृष्टि से एक हैं। माच के आदि-प्रणेता बालमुकुन्द गुरु 'जिनके सम्बन्ध में आगे विस्तार

---

[1]मेमायर्स ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया भाग २, अध्याय १४, पृष्ठ १९६।
[2]वही। [3]वही। [4]वही, पृष्ठ १९७।

से उल्लेख है, ने अपनी समस्त माच रचनाओं को 'ख्याल' कहा है। इनके अनुसार माच ख्याल है जबकि राजस्थान के ख्याल माच नहीं हैं। बालमुकुन्द गुरु ने अपनी माचरचनाओं के शीर्षक में ही माच और ख्याल के भेद को तिरोहित कर दिया है। 'ख्याल माच का 'ढोलामारूणी', 'असली ख्याल माच का सेठ-सेठानी' या 'ख्याल माच का—नागजी दूदजी' जैसे शीर्षकों से स्पष्ट है कि गुरु की दृष्टि में ख्याल और माच में भेद नहीं था।

'ख्याल' लोकभाषा का परम्परागत शब्द है।[1] अगरचन्द नाहटा ने श्री उदयशंकर शास्त्री के एक लेख का उद्धरण दिया है—"ऐसा कहा जाता है कि १८वीं शती के प्रारम्भ के आसपास ही आगरे के इर्दगिर्द एक नई कविता-शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चलकर जिसका नाम 'ख्याल' पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज थी। उनको नये-नये कथानकों में बाँधना सबका काम नहीं होता। इन ख्यालियों के कई दल थे जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बंदिशें बाँधने वालों के गोल कभी-कभी होड़ भी लगाने लगते थे।"[2]—(देशबन्धु, वर्ष २, अंक ७)।

इस उद्धरण से ख्याल का प्रारंभ १८वीं शताब्दी से होना प्रकट होता है, किन्तु इस काल में रचित 'ख्याल' नामक काव्यभेद का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। कदाचित् वे मौखिक रहे होंगे।[3] राजस्थान में प्रचलित ख्यालों का उल्लेख करते हुए नाहटा जी उनके प्रचार का काल १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना स्वीकार करते हैं। प्रमाणस्वरूप एस० एच० केलांग ने 'ग्रामर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज' पुस्तक में 'डूंगजी जवरजी' ख्याल के कुछ उद्धरण दिये हैं। नाहटा जी का अनुमान है कि 'स्काच प्रेस बिटेरियन मिशन' ब्यावर से प्रकाशित एवं पादरी रोबसन द्वारा सम्पादित उक्त मारवाणी ख्याल की पुस्तक ही सर्व प्रथम है।[4] आजकल तो ख्यालों की पुस्तकें एक

---

[1]लोक-कला, भाग १, अंक २, पृष्ठ १०५। [2]वही, भाग १, अंक २, 'ख्यालों की पूर्वपरम्परा', पृष्ठ ९४। [3]मालवा में हास्यात्मक कथासूत्रयुक्त गीत 'ख्याल्यों गीत' कहलाते हैं। स्त्रियाँ इन गीतों को मनोरंजन हेतु गाती हैं। संभवतः इन्हीं ख्यालों से इस शैली का प्रचार लोक-गीतों में हुआ हो। ख्याली गीतों में किसी घटना का परिहासात्मक रूप या परिहासपूर्ण संवादों की योजना रहती है। इस प्रवृत्ति से ख्याल रचनाओं का मनोरंजनात्मक उद्देश्य लक्षित होता है, जो संभवतः बाद में परिवर्तित होता गया है।। [4]लोक-कला, भाग १, अंक २, पृष्ठ ९५।

बड़ी तादाद में उपलब्ध हैं। बालमुकुन्द गुरु ने संवत् १६०१ के पश्चात् माच-रचना करना आरम्भ किया था। कदाचित् संवत् १६०१ के पूर्व ख्यालों से एक बड़ा जनसमूह प्रभावित हो चुका होगा। यही कारण है कि गुरुजी ने राजस्थान, मथुरा, आगरा, कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों की जनता को जब ख्यालों के रंग में रंगा देखा तो उसके ढंग को अपनी स्थानीय परम्परा के संयोग से अपनाकर 'माच' का उन्नयन किया। ख्याल यद्यपि मिश्रित ढंग की रचना है तो भी उसके पृष्ठ में रास, यात्रा और भवाई का प्रभाव निसंदेह रहा है। यों स्थूलरूप से ख्याल और माच में वाह्य भेद नहीं है तथापि उनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित अवान्तर भेद द्रष्टव्य हैं :—

आरंभ की भूमिका और समान लक्षण

(अ) ख्याल: १—सभी पात्र मंच से अलग किसी अन्य स्थान पर गणेश एवं सरस्वती की समवेत स्वर में स्तुति करते हैं।

२—मंच की सफाई के लिये भंगी (अभिनेता) का आगमन होता है जो अपना परिचय गाकर स्वयं ही देता है।

३—भिश्ती आकर जल से मंच पर छिड़काव करता है। वह भी गीतबद्ध बोल कहता है।

४—हलकारा आकर प्रधान नायक के आगमन की सूचना देता है। वह सदैव 'गड़ बंगाले' से आता है। आया हलकारा गोपीचन्द का गड़ बंगाले से '—राजा गोपीचन्द का ख्याल, (नन्दराम नीमच वाला कृत) हलकारा ही ख्यालकार का परिचय देता है। इतनी तैयारी के बाद ख्याल का आरंभ होता है।

माच : १—माच-मंच पर ही समस्त अभिनेताओं और कार्य-कर्ताओं द्वारा गणेश, भेरुजी एवं माचकार की वन्दना की जाती है। साथ ही नगर के प्रमुख देवताओं का समवेत स्वर में स्तुति करना भी आवश्यक है।

२—माच में भंगी नहीं आता।

३—भिश्ती आकर मंच पर अभिनयात्मक ढंग से छिड़काव करता है। वह सदैव भूपाली भिश्ती कहलाता है।[1]

---

[1]भूपाली भिश्ती का अभिनय लगभग पौन घण्टे तक चलता है। इस बीच 'माच' की अन्य व्यवस्था सम्पन्न कर ली जाती है। यों तो भिश्ती अपने माच के प्रतीक्षकों को अपने बोल के दो घंटों से सौन्दर्य का पान कराता है, पर माच के कतिपय दर्दियों का कहना है कि भूपाली-पृथ्वी को पालने वाला राजा इन्द्र है। उसी का यह प्रतिनिधि आकर छिड़काव करता है क्योंकि जहाँ माच होता है, वहाँ देवताओं का आगमन संभव है।

"आया हूँ भूपाली भिश्ती ! भूपाल सेर से चलकर आयो उज्जैन सेर देखूँगा बस्ती ।—आया हूँ ।"[1]

अरे भरवा लो पानी !
छानी कर लायो रे समदर तीर से ।
सोना की म्हारी मसक बनी है
कंचन डोल मढ़ाया ।
म्हारी मसक का पानी जो पीले[2]
वा घर कर दूँ माया ।

४—भिश्ती के बाद फरासिन आती है[3], जो गाकर माचकार गुरु की स्तुति करती है एवं मंच पर फर्श या जाजम बिछाने का अभिनय करती है। उसके बोल भी लगभग आधा घंटे तक चलते हैं। वह अपनी व्यक्तिगत बात भी कहती है जिससे कि उसके विषय में दर्शक की सहानुभूति बनी रहे।

अजी म्हारा पियूजी गया परदेश, जाजम का बिछावांजी।
म्हारी बालक चन्दा सरीका पिताजी हमारा सूरज सरको तेज।
नणद हमारी कड़क बीजली चमके चारी देस।
हाथ लगे हिवड़ो कुमलावे, म्हारी बालक भेस जी।[4]

५—इसके पश्चात् गणेश और देवी की वन्दना। देवी के पंडे का आगमन और फिर स्वयं देवी का आगमन और अशीर्वाद के बाद गुरुजी की जय के साथ 'माच' का आरम्भ।

६—माच का आरम्भ अत्यन्त ही नाटकीय होता है। पूजन के पश्चात् प्रत्येक पात्र क्रमशः मंच पर आता है, और उस समय चोपदार उसका परिचय देता है।

मालवा के सीमावर्ती क्षेत्रों में माच का स्वरूप कुछ भिन्न हो गया है। उसमें माच आरम्भ करने के पूर्व सभी पात्र मंच पर आकर बैठ जाते हैं, तब किसी निकटवर्ती उच्च भूमि से एक व्यक्ति मंगलाचरण आरम्भ करता है जिसे चन्द्राना[5] कहते हैं, और शेष सब उसे समवेत स्वर में दुहराते हैं।

इन माचों में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। माच के प्रणयनकर्ता अपने हाथों में माच की लिखी हुई बहियाँ लिए अभिनेता के पीछे चलते हैं। वे मंच पर ही बही में से पंक्तियाँ बोलते हैं और अभिनेता साज पर उन्हें दोहराते हैं। माच

[1]गुरु बालमुकुन्द कृत 'नागजी दूदजी', तीसरी आवृत्ति, सं० १६८२, पृष्ठ ५। [2] वही। [3]वही पृष्ठ ७-८। [4]वही राधाकिशन गुरु की परम्परा में मालन आकर फूल बिछाती है। [5]मारवाड़ी गीतों की एक शैली भी 'चन्द्रायण' कहलाती है जिसकी प्रमुख टेक है—'इतरादे करतार फिर नहीं बोलणा।'

का यह स्वरूप अब लुप्त हो रहा है। इसीलिये कुछ सीमित क्षेत्रों में इसका रूप दीख पड़ता है। मध्यवर्ती मालवा में उपरोक्त क्रम से ही माच किये जाते हैं।

[आ] (१) उक्त भूमिका के पश्चात् दोनों में प्रधान नायक आकर अपना आत्म-परिचय देता है। उसके पश्चात् क्रमशः अन्य पात्र आते हैं जिनसे माच अथवा ख्याल की कथा-वस्तु खुलने लगती है।

(२) दोनों ही संगीत प्रधान रचनाएँ हैं। संगीत की दृष्टि से ख्याल में, लावनी, राग रतवा, विहाग, माड़ (जंगली टेर), काफी, सोरठा सारंग, जंगलो, बरवो, असावरी, कलिगंड़ा, भैरवी, आदि रागों में 'टेरे', (कथोपकथन) गायी जाती है। माच की धुनें 'रंगत' कहलाती हैं जिनका आगे उल्लेख किया जायगा।

(३) दोनों के कथोपकथन गीति-प्रधान और संक्षिप्त होते हैं। राग-रागनियों से ही उन्हें विस्तार प्राप्त होता है!

(४) दोनों में अभिनय की अपेक्षा संवादों का महत्त्व प्रधान है।

(५) अभिनेता अपने ढंग के अभिनय के लिये स्वतंत्र है। अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये प्रत्येक अभिनेता लोकमंचीय 'गुरु' (भेद) रखते हैं। अभिनेता स्वरूप कहलाते हैं। प्रायः सभी व्यक्ति साधारण समाज के होते हैं।

(६) दोनों की कथावस्तु—पौराणिक, ऐतिहासिक और प्रायः लौकिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक होती है। अन्त सुखान्त होता है।

(७) दोनों में नेपथ्य का अभाव है और दृश्य-परिवर्तन कल्पना और अन्य संकेतों से समझे जाते हैं।

(८) दोनों मध्य रात्रि में आरम्भ होकर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं।

(९) दोनों में संगीत के साथ सामूहिक और व्यक्ति नृत्य की परम्परा विद्यमान है। 'सम' की थाप पर एक झटके के साथ अभिनेता नाच की गति में प्रवेश करते हैं।

यह संभावना व्यक्त की गई है कि ख्याल का आरम्भ आगरा के निकट १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक नई कविता शैली के रूप में हुआ है; किन्तु ख्याल का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध है। आजकल राजस्थानी में लिखे हुए अनेक ख्यालों की पुस्तकें देखने में आती है। संभवतः राजस्थान में लोक-प्रचलित कथानकों की विपुलता एवं चारण और भाटों द्वारा उनके प्रचार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन से बाद में यह काव्यशैली अभिव्यंजना के हेतु अपना ली गई हो। राजस्थान में गायकों की पेशेवर जातियों से इसको गति प्राप्त हुई

होगी और फिर लोगों द्वारा अपनाये जाने से स्वाभाविक रूप में प्रचार में सहायता भी मिली हो। यह स्पष्ट है कि लोक-रुचि को प्रभावित करने वाले साधन प्रान्त की सीमा लाँघ जाते हैं। ख्याल भी माच की भाँति मालवा और निकटवर्ती प्रान्तों में खूब प्रसिद्ध हुए।

गुरु बालमुकुन्द की तरह ख्याल के क्षेत्र में नानूराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नानूराम शेखावटी के चिड़ावा का निवासी था। गुरु की भाँति वह स्वयं मंच पर उतरता और अपनी मंडली को उचित निर्देशन दिया करता था। उसके बनाये हुए लगभग ५० ख्यालों का पता चला है।[1] नानूराम का समकालीन उजीरा तेली था, जिसने १० ख्याल बनाये।[2] अन्य ख्यालकारों में झालाराम 'निर्मल,' भूधरमल मिसर तथा प्रेमसुख भोजक के नाम प्रायः लिये जाते हैं। माच के प्रोत्साहन में ख्यालकारों की परम्परा का निश्चय ही हाथ रहा है, यह माच के लक्षणों से स्पष्ट है।

माच और रास—माच यद्यपि ख्याल के बहुत निकट है, किन्तु मध्यकालीन परम्पराओं से तनिक पीछे हटते ही रास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसका यथोचित अध्ययन हमारी लोक-नाट्य परम्परा की शृङ्खला को दूर तक खींच ले जाता है। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक-मनोरंजन के लिये रास, चर्चरी, फागु आदि शैली में गीति-नाट्य की रचना की जाती थी। इन नाट्यों का अभिनय उसी भाँति किया जाता था, जिस तरह कुछ हेरफेर के साथ आज माच में देखा जाता है। यद्यपि माच की परम्परा उसके नाम के अनुसार इतनी पीछे नहीं जाती तथापि शैली-साम्य की दृष्टि से माच उक्त परम्पराओं से हटकर स्वतंत्र रूप में विकसित परम्परा भी तो नहीं कही जा सकती। उसे लोकधर्मी गीति-नाट्य शैली कहना ही उपयुक्त होगा। भरत ने नाटक को 'क्रीड़नीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्' कहकर ही वही बात कही है जो माच पर भी घटित होती है।

'थिरी थूलिभद्द फागु' की कथा को स्थूलरूप से देखें तो उसे 'भासों' में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भास के अन्त में 'छत्ता' द्वारा कथा को विश्राम दिया जाता है। चूँकि प्रायः रास में कथावस्तु होती है और गेयता के साथ वे नाटक रूपक हैं, अतः उदाहरणार्थ उक्त भासों के विभाजन क्रम को यहाँ देना संगत होगा—

[1]देखिए, लोक-कला (भाग १, अंक १) में मनोहर शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूची, पृ० ४४। अगरचन्द नाहटा की अंक २ में प्रस्तुत सूची भी देखिए, पृष्ठ ६६-१०४। [2]प्रेरणा, अक्टूबर १९५४ में श्री गीण्डाराम वर्मा का लेख 'शेखावटी के संगीत नाटक, ख्याल' शीर्षक लेख, पृष्ठ ८०-८१।

भास—१. मंगलाचरण, थूलिभद्द का यशःस्तवन, वेश्या के ससंभ्रम करबद्ध होकर आगमन तक का वर्णन।

भास—२. स्थूल भद्र का रंगशाला में प्रवेश और वर्षा का चारुचित्र।

भास—३,४. कोशा के नखसिख सौन्दर्य का वर्णन।

भास—५. मुनि को लुभाने के लिये कोशा के हावभाव का वर्णन।

भास—६. मुनि की चारित्रिक दृढ़ता एवं शील-संयम की अटलता।

भास—७ उपसंहार, काम-विजय और देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि, नृत्यगान से समाप्ति।[1]

माच और रास में निम्नलिखित तुलनात्मक लक्षण उल्लेखनीय हैं :—

(१) रास में केवल पद्यात्मक संवादयोजना है। यद्यपि रास में श्रव्य-काव्य की प्रतीति होती है, जबकि माच में यह स्पष्टीकरण संवाद (बोल) और लौकिक-रागों के निर्देश के कारण नहीं होता, उसमें दृश्ययोजना के सम्पूर्ण संकेत निहित हैं।

(२) रास, अधिकांश में यूरोप के 'मिराकल' या 'मिस्टिक प्लेज़' की भाँति है, जिनमें श्रीमद्भागवत की कथाएँ विभिन्न लीलाओं के रूप में की जाती हैं। इनका अभिनय मंदिरों या अन्य पवित्र स्थानों में किया जाता था किन्तु माच ने लौकिक प्रेम-कथाओं का आश्रय लिया, इसीलिये उनका अभिनय मंदिरों में न होकर खुले एवं सर्वसाधारण स्थानों में किया जाने लगा।

(३) यात्रा, रामलीला और राम के कथानक धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित हैं और माच की भाँति उनमें लोक-संगीत का प्राधान्य अवश्य है; किन्तु गीत-संवादों द्वारा कथानक की सूत्रबद्धता कायम करने के लिये सूत्रधार आद्योपान्त मंच पर रहता है जिसका माच में अभाव रहता है। माच में पात्र अपने संवाद समाप्ति पर स्वयं हटकर एक ओर खड़े हो जाते हैं और अन्य पात्र के 'आगम' के लिये मंच पर स्थान कर देते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अप्रत्यक्ष रूप से रास ने माच को प्रभावित किया है। पद्यबद्ध नाटक की प्राचीन परम्परा लोकधर्मी रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में गीति-नाट्यों का स्वरूप एक प्रकार से नाटक के क्षेत्र में चला आ रहा है। यात्रा अथवा रास परम्परा ने प्रत्येक प्रान्त के नाट्य-साहित्य को प्रभावित किया है। इस प्रभाव से ख्याल और माच अलग नहीं रहे।

माच के प्रवर्त्तक

१—बालमुकुन्द गुरु—मालवा में प्रचलित माच के आदिप्रवर्तक अवन्तिका निवासी बालमुकुन्द गुरु हैं। किंवदंतियों के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक १, २०११, पृ० २६।

भागसीपुरे में 'ख्याल' देखने जाया करते थे। उन दिनों नगर का आकर्षण इन्हीं ख्यालों में केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड़ अधिक होने के कारण उत्सुकतावश वे मंच के एक छोर पर जा बैठे, पर कुछ कार्यकर्ताओं ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। अपमान का कड़वा घूँट पीकर आवेश में उन्होंने नगर के रुद्रसागर में बटुक भैरू की इष्ट साधना की, जिसका कि मंत्र उन्होंने सुखराम यति से प्राप्त किया था। कहते हैं, साधना से प्रसन्न होकर भैरू ने दर्शन दिये। उन्होंने छन्द और काव्य के ज्ञान का वरदान माँगा। संवत् १६०१ 'सरसत हिरदे आयी' (सरस्वती हृदय में आई) और गुरुजी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किवदंती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व अपने ग्रामीण रूप में मालवा में रंगमंच था जिससे प्रेरणा प्राप्त कर गुरु की प्रतिभा ने उसका नया स्वरूप अभिव्यंजित किया। मुस्लिम-शासन के पूर्व ऐसे मंचों के सम्बन्ध में सूत्रबद्ध सामग्री के अभाव में इस विषय पर प्रकाश डालना मात्र अनुमानगम्य है। अतएव माच के संदर्भ में ग्रामीण मंच की स्थिति का वास्तविक आकलन करना कठिन है।

१६वीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारों की विलासिता, भक्ति पर हावी होकर अपने विशुद्ध शृंगारी रूप में उभर रही थी। यद्यपि आर्थिक संघर्ष नहीं था तो भी यंत्रों का प्रभाव आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते सुखी थे। वैचारिक संघर्ष के अभाव में खाना-कमाना, आनन्द करना और जीवन के अन्त समय में थोड़ा भगवत्-चिन्तन कर लेने में इतिश्री थी। मालवा प्रारम्भ से ही उपजाऊ रहा है, अत: यहाँ की भूमि से जागृति और भी दूर थी। ठीक ऐसे ही समय में बाल-मुकुन्द गुरु मालवी के माध्यम से लोकरंजन के उद्देश्य को लेकर माच नामक नाट्य शैली का प्रवर्तन किया। भक्ति, वैराग्य, शृंगार और पौरुषेय भावनाओं का लोकग्राही रूप उनकी रचनाओं में लक्षित हुआ। प्रारंभ में जिन पाँच माचों को उन्होंने रचा है, उनमें उन्होंने 'निर्गुणी कथी' है अर्थात् उनकी पृष्ठभूमि निर्गुणी कथावस्तु से सम्बन्धित है।

रचनाएँ—गुरु बालमुकुन्द ने कुल १६ माचों की रचना की है, जो क्रमश: खेले जाते हैं और जिनमें स्वयं गुरुजी मुख्य पात्र का अभिनय करते थे। आज भी उन्हीं के वंशजों में वयोवृद्ध ही इस पात्रता का अधिकारी है। उक्त १६ ही ख्यालों की मूल प्रतियाँ गुरुजी की चौथी पीढ़ी[1] के पास सुरक्षित है।

[1]वर्तमान पीढ़ी गुरुजी के अवन्तिका-निवासस्थान (जैसिंहपुरा) पर रहती है।

छापेखानों के आरम्भ होते ही गुरुजी के माचों की मुद्रित प्रतियाँ बाजार में आ गईं। यह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् ही संभव हुआ। यद्यपि उज्जयिनी में माच के खेलों की प्रतियाँ संवत् १९८२ के लगभग छपकर प्रकाशित हुईं, पर इसके पूर्व इन्दौर के किसी मुद्रणालय द्वारा इन्हीं माचों की प्रतियां मुद्रित की जा चुकी थीं। कहते हैं, उज्जयिनी में भी संवत् १९२० के लगभग माच के खेल छपाकर बेंचे जाते थे, पर उसका ठोस प्रमाण नहीं है। उज्जयिनी के 'दयाशंकर शालिग्राम बुक्सेलर' ने गुरु के कुछ माच २० × ३० की साइज में अलग-अलग छापे हैं। 'राजा हरिचन्द्र' (जो पुस्तकाकार संवत् १९८२ में प्रथम बार मुद्रित हुआ) के अंतिम पृष्ठ पर प्रकाशक ने लिखा है—"अगर हो कि जो खेल पहले छपे थे उसमें से इन्दौर वाले ने खेल छपाये सो वह खेल बेमतलब है। कड़ी में कड़ी नहीं मिलती काफिर बन्दी से गलत कड़ी टूट है। किधर का हाथ किधर का पाँव किधर का धड़ किधर का मुँह लगाकर पूरा खेल ऐसा नाम धर के लोगों को धोखा देने वास्ते छपाया है……।"

इससे प्रकट होता है कि संवत् १९८२ के पूर्व शालिग्राम बुक्सेलर ने भी माच की कुछ पुस्तकें अवश्य छापी थीं। माच के अत्याधिक लोकप्रिय होने से ही इन्दौर का कोई बुक्सेलर उन्हें छापकर बेंचने का लोभ-संवरण नहीं कर सका। 'नागजी दूदजी' की तो उक्त संवत् में तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हो गई थी। उसमें भी सूचना छपी है। बालमुकुन्द गुरु के उपलब्ध माचों की प्रतियों के आधार पर जो शालिग्राम बुक्सेलर, उज्जैन द्वारा प्रकाशित हैं, उनकी निम्न-सूची संवत् एवं आवृत्ति संख्या सहित दी जा रही है :—

१. राजा हरिश्चन्द्र	आवृत्ति	प्रथम	संवत्	१९८२
२. नागजी दूदजी	"	तृतीय	"	१९८२
३. ढोला मारूणी	"	षष्ठम	"	१९८५
४. नकल गेंदापरी	"	प्रथम	"	१९९०
५. रामलीला	"	प्रथम	"	१९८२
६. कुंबर खेमसिंह	"	प्रथम	"	१९८२
७. सेठ-सेठानी	"	षष्ठम	"	२००७
८. देवर भोजाई	"	दशम	"	२००९
९. राजा भरथरी	"	दशम	"	२००९
१०. सुदबुद सालंगा	"	दशम	"	२००९

११. कृष्णलीला — अप्रकाशित
१२. खेल रावत — ''
१३. चारण बंजारा — ''
१४. हीर रांझा — ''
१५. शिवलीला — ''
१६. बैताल पच्चीसी — ''

गुरु बालमुकुन्द ने अपने सभी माचों का अभिनय उज्जयिनी के जयसिंहपुरा में किया। आज भी वहीं, उसी स्थान पर बालमुकुन्द गुरु की परम्परा के माच होते हैं। यह स्थान उस भैरव मंदिर के सम्मुख है जिसे स्वयं गुरुजी ने बनवाया था। प्रत्येक माच के आरम्भ में दी गई 'भैरूजी की स्तुति' में इसका उल्लेख है।[1] जयसिंहपुरा माचों के कारण गुरुजी के समय में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। माच के आकर्षण से दर्शकों की एक बड़ी भीड़ वहाँ खिचा करती थी। अपने एक पात्र द्वारा स्वयं गुरुजी ने इस बात को व्यक्त किया है—

भोपाल सेर से चलकर आयो, उज्जैन सेर देखूँगा बस्ती।
जैसिंगपुरा में माच बण्यो है, मुलकों की आलम वाँ ठसती।[2]

गुरु बालमुकुन्दजी के जीवनकाल में ही माच का प्रचार दूर-दूर तक हो गया था। उनकी मूलप्रतियों की प्रतिलिपि करके उन्हीं के शिष्य गाँव-गाँव में फैल गये। अत्युक्ति न समझी जाय तो यह परम्परा हाथरस और पंजाब तक पहुँची। गुरु के समकालीन सिंधिया नरेश ने (महादजी सिंधिया) तो उन्हें ग्वालियर में आमंत्रित कर माच का अभिनय करवाया था। निकटवर्ती होल्कर नरेश ने उनके माचों से प्रभावित होकर बहुत-सी भूमि दान में दी थी।

गुरु बालमुकुन्दजी की मृत्यु संवत् १९३० में रविवार के दिन हुई।[3] कहते हैं, उस समय वे 'गेंदापरी' का अभिनय कर रहे थे। अन्धविश्वासी लोग गेंदापरी को ही गुरु की मृत्यु का कारण समझते हैं। मंच से उठाकर ही

---

[1] रंगीला है भैरव का ध्यान, सारदा दो हिरदा में ग्यान ॥ टेक ॥ विसाल रूप छोटी सी मूरत, करो दुस्मन की हान। जैसिंग पुरा में राज तमारो, और चारी खूंट में मान। कालो गोरो पालक मेरो, खेल रचया चौगान। साचे को सनमान जो देव, मार दुष्ट कू जान ॥ टेक ॥ [2] सत्य हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ५। [3] "गुरु बालमुकुन्दजी संवत् १९३०वें साल में बैकुंठ को प्राप्त भये"—नागजी दूदजी, पृष्ठ ६८।

उनका शव चक्रतीर्थ ले जाया गया। शवयात्रा के समय अर्थी के आगे-आगे उनके शिष्य माच गाते हुए चलने लगे। माच के संगीत से ही उनके शव का अग्नि-संस्कार किया गया। माच की प्रसिद्धि और माचकार के सम्मान का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है?

गुरु का कंठ खुला हुआ और प्रभावी था। अभिनय के समय उनकी वाणी और व्यक्तित्व लोक-हृदय को प्रभावित करने में बेजोड़ थे। माच के प्रवर्तक के रूप में गुरु की साधना मालवी लोकनाट्य के क्षेत्र में अविस्मरणीय घटना है।

२. कालूराम उस्ताद—बालमुकुन्द गुरु के माचों की लोकप्रियता ने उज्जैन के प्रतिभाशाली कवि कालूराम उस्ताद को कुछ वर्षों के पश्चात् नवीन माच-रचनाओं के सृजन की प्रेरणा प्रदान की। यह प्रेरणा वस्तुतः गुरु बालमुकुन्दजी की दूसरी पीढ़ी के साथ स्पर्धा के रूप में विकसित हुई। गुरु के मृत्यु के लगभग २० वर्ष के बाद होकर भी अपनी प्रतिभा और परिश्रम के आधार पर कालूराम उस्ताद ने अपनी रचनाओं का अभिनय क्षेत्र उज्जयिनी के दौलतगंज में बनाया। दौलतगंज माच के दूसरे अखाड़े का स्थान इसलिये बना कि स्वयं उस्ताद उसी मुहल्ले में रहते थे। उनकी पीढ़ी के लोग आज भी यहाँ रहते हैं। उनके लिखे माचों के नाम इस प्रकार है :—

१.	प्रह्लाद लीला	१०.	नागमती (प्रकाशित)
२.	हरिश्चन्द्र	११.	राज छोगरतन (प्रकाशित)
३.	रामलीला	१२.	सूरजकरण-चन्द्रकला (प्रकाशित)
४.	चित्र मुकुट (प्रकाशित)	१३.	ढोल सुल्तानी
५.	मधु मालती (प्रकाशित)	१४.	राजा रिसालू
६.	चन्द्रकला	१५.	इन्द्र सभा
७.	हीर रांझा	१६.	छबीली भटियारिन
८,	निहालदे सुल्तान	१७.	त्रिया चरित्र
९.	जान आलम (प्रकशित)	१८.	हीरा मोती

उक्त माचों का प्रचार बालमुकुन्द गुरु की रचनाओं के साथ होता गया। उक्त सभी रचनाएँ संवत् १९५० के पश्चात् आगामी २५ वर्षों के बीच लिखी गई प्रतीत होती हैं। कहते हैं, उस्ताद की कुछ और भी रचनाएँ हैं, जो पूर्ण नहीं हैं और ये सब उनके वंशज शालिग्रामजी के पास सुरक्षित हैं। कालूराम जी के माचों के प्रचार का कारण यह भी था कि उन्होंने प्रथमबार बाबाजन[1]

[1]बाबाजन का ८४ वर्ष की अवस्था में, सन् १९४८ की १५ जनवरी को देहावसान हुआ। दिल्ली की एक रेकार्ड कंपनी ने उसके चार रेकार्ड तैयार किये थे जो कालूरामजी के पुत्र शालिग्रामजी के पास हैं। बाबाजन मर्दाने वस्त्र धारण करती और सिर पर साफा बाँधा करती थीं।

नामक एक सुन्दर गायिका को मंच पर उतारा। बाबाजन अपनी सुस्पष्ट, ऊँची और मधुर स्वर के लिये प्रख्यात रही है। इस प्रकार कालूराम उस्ताद ने बालमुकुन्द गुरु की उस परम्परा को, जो स्त्री-पात्र को मंच के लिये वर्ज्य समझता थी, तोड़कर नया आकर्षण आयोजित करने में सफलता प्राप्त की।

कालूराम उस्ताद और बालमुकुन्द गुरु के अधिकांश माचों की कथावस्तु में विशेष भेद नहीं है। गुरु की अपेक्षा उस्ताद की रचनाएँ अधिक शृंगारी हैं। गुरु और उस्ताद में जो भेद है वही रचनाओं की प्रवृत्तियों में लक्षित होता है।

कालूराम और बालमुकुन्द गुरु दोनों के अखाड़े आज तक ग्रामीण जनता और नगर के लिये मनोरंजन के साधन बने हुए हैं। दोनों के बीच स्पर्धा-संबंधी अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं। यह स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि एक-दूसरे के मंच से खेलों के बीच-बीच में पद्यबद्ध अपमानजनक व्यंग्योक्तियाँ कही जाने लगी।[1]

कालूराम उस्ताद के प्रमुख साथियों में शुकदेव और पन्नालाल लावनीबाज में काव्यप्रतिभा थी। उनकी अनेक कविताएँ संवत् १९६६ के सिंहस्थ में छप कर बहुत प्रसिद्ध हुईं, यद्यपि उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक जागरूकता का प्रभाव स्पष्ट है जिनका कि कालूराम की रचनाओं में अभाव है।

कालूरामजी का उपनाम 'दुर्बल' था। आप में अभिनय की प्रतिभा नहीं थी। ये केवल रचनाकार के नाते ही अपनी परम्परा चलाने में सफल हुए। लगभग ४० वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

३. भेरू गुरु :—कालूराम उस्ताद के समकालीन उज्जयिनी के ही नयेपुरे का एक दल भेरू गुरु की प्रेरणा से अपनी अलग परम्परा लेकर माच खेलने लगा। भेरू गुरु रचित १२ माचों की जानकारी श्री चिन्तामणि उपाध्याय को अपने अनुसंधान के क्रम में प्राप्त हुई है। उनके कथनानुसार जो पुस्तकें उन्होंने देखीं वे सभी हस्तलिखित एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हैं। नयापुरा का दल भेरू गुरु के ५ खेल तो प्रतिवर्ष करता ही है, यद्यपि माचों की संख्या १२ हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. गोपीचन्द	२. राजा विक्रमाजीत,	३. पूरणमल
४. हीर रांझा,	५. कुँवर केसरी	६. लालसेठ
७. छैल बेटा मोयना	८. चन्नन कुँवर	९. खेमसिंह आंवलदे
१०. मदन सैन	११. सीताहरण	१२. सिंगासन बत्तीसी

[1]कालूराम का काला मूंडा गन्दे नाले न्हावे।
बालमुकुन्द को होड़ करे तो नरक कुन्ड में जावे॥

४. राधाकिसन गुरु :—एक चौथी परम्परा उज्जैन के मालियों की ओर है, जिसके प्रवर्तक राधाकिसन गुरु कहे जाते हैं। राधाकिसन गुरु के माच दो दलों द्वारा खेले जाते हैं—एक दल उज्जयिनी के ही मालीपुरे का है और दूसरा बिलोटीपुरा (ब्रह्मपोल) का। बिलोटीपुरा बड़ा अखाड़ा माना जाता है, क्योंकि वहाँ राधाकिसन गुरु का निवासस्थान था और वहीं से ही उनके माचों के अभिनय का आरंभ हुआ था। राधाकिसन गुरु द्वारा रचित नव माच हैं—

१. हीर रांझा	२. गोपीचन्द	३. सम्मतसिंह
४. दरियावसिंह	५. फूलकुँवर लीलावती	६. लालदेकुँवर
७. केसरसिंह	८. त्रिया चरित्र	९. आमलदे-भूमादे

स्पष्ट है कि माच-रचनाकारों के नाम से ही माच की चार परम्पराओं का आरंभ उज्जयिनी में हुआ, जो आज भी विद्यमान है। उक्त ५५ रचनाओं में निम्नलिखित कथाओं को दो या दो से अधिक रचनाओं ने अपनाया है—

(१) हरिश्चन्द्र	(बालमुकुन्द गुरु, कालूराम उस्ताद)
(२) रामलीला	(,, ,, ,,)
(३) हीर रांझा	(बाल०, कालूराम, भेरू, राधाकिसन)
(४) गोपीचन्द	(भेरू और राधाकिसन)
(५) खेमसिंह	(बाल० और भेरू)
(६) त्रिया-चरित्र	(कालूराम और राधाकिसन)

प्रायः सभी माचकारों की वही शैली और वही धज है, जो बालमुकुन्द गुरु में थी। इस बीच मालवा के गूजर गौड़ों ने भी अपनी परम्परा चलाना चाही थी किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

नये माचकार—राधाकिसन गुरु की परम्परा में—नाथूसिंह उस्ताद ने 'शनि महाराज' और 'सत्य नारायण की कथा' पर माच लिखे हैं। दूसरा माचकार सिद्धेश्वर सेन है जिसने संवत् २००५ और २०१० के मध्य 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र,' 'नल-दमयन्ती' 'नरसिंह मेहता' नानी बाई का मामेरा 'भक्त प्रह्लाद' 'दयाराम गूजर' और 'राजा रिसालू' खेलों की रचना नये ढंग से की है। राधाकिसन गुरु के माच के साथ कभी-कभी उक्त रचनाओं में से किसी भी माच का अभिनय कर दिया जाता हैं। इन नये माचों में अश्लीलता का तनिक भी स्पर्श नहीं है, तथापि कथाएँ प्रायः

ख्यालों से प्रभावित शैली में लिखी गई है। इस परम्परा में 'छप्पन भैरव की जय' बोली जाती है।[1]

अन्य नये माचकारों में सेवाराम परमार ने 'ध्रुव प्रहलाद' एवं 'निहालदे' की रचना की है। नीमच के ख्यालकार रामजीलाल बन्धु लालजी नन्दराम, मुडवेवाले रामरतन दरक, बड़नगर के शिवरामजी व्यास भी उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, उक्त चार परम्पराएँ ही मालवा के जनरुचि को प्रभावित किये हैं। यद्यपि स्थूलरूप से मालवा के माचों की प्रवृत्ति शृंगारी है तथापि शिक्षा के अभाव में लिखे गये स्थानीय भाषा के इस साहित्य का इसलिये महत्त्व अधिक है कि यह पिछले डेढ़ सौ वर्ष से लगभग ६०-७० लाख मालवी-भाषाभाषी लोगों को सतत रूप से प्रभावित करता आ रहा है।

वस्तु-विश्लेषण—कथा-वस्तु की दृष्टि से उपलब्ध माच-साहित्य पौराणिक, प्रेमकथात्मक, ऐतिहासिक, और लोककथात्मक है। ऐतिहासिक कथानकों में शृंगारपरक वस्तु का बहुत महत्त्व है। शौर्य के साथ प्रेम की व्यंजना कथानक का लक्षण है। धार्मिक वस्तु पौराणिक भेद के अन्तर्गत है। प्रेमकथात्मक एवं लोक-कथात्मक माच स्थूलरूप से लोकरक हैं जिसका स्वरूप या तो पूर्व प्रचलित ख्याल परम्परा से लिया गया है अथवा किंवदंतियों के आधार पर। जिनकी रचना की गई है 'ढोला मारूणी' ऐतिहासिक और लोककाव्य दोनों है। बालमुकुन्द द्वारा प्रयुक्त कथावस्तु की स्थूल रूपरेखा से ज्ञात होता है कि उन पर लोहवन के मदारी रचित ढोला का अधिक प्रभाव पड़ा है। कथा की जो संक्षिप्त योजना मदारी के 'ढोला' में है, वही संक्षिप्तता गुरु के 'ढोला मारूणी' में पाई जाती है। फिर मदारी का ढोला निश्चय ही गुरु के पूर्व की रचना है, जो ब्रज क्षेत्र में खूब प्रचलित रही है।[2] गुरु का 'ढोला मारूणी', राजस्थानी 'ढोला मारूरा दूहा' अथवा 'छतीस गढ़ी लोक-गीतों का परिचय'[3] में संकलित ढोला अथवा ब्रज के ढोला, काव्य की आत्मा से अनुप्राणित संगीत-नाट्य मात्र है। प्रस्तुत माच में कथा ढोला के आगमन से आरम्भ होती है। वह सांडनी (ऊँटनी) पर सवार होकर आता है। यद्यपि मंच पर सांडनी नहीं होती केवल 'बोल' द्वारा उस सांडनी का

---

[1]छप्पन भैरव ब्रह्म पोल में बावन वीर अगवान।
हर दम हाजर रहे माच पे ले तीर कमान। —स्तुति की पंक्तियाँ

[2]देखिये, डॉ० सत्येन्द्र का 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ १०६ और ३७७। [3]श्यामाचरण दुबे, 'छतीसगढ़ी लोक-गीतों का परिचय'।

'आगम' अनुमानित कर लिया जाता है। उधर मारू का वियोग, तोते द्वारा संदेह और रेवा द्वारा विघ्न पैदा करने की योजना की जाती है किन्तु अन्त में सुखद मिलन में कथा समाप्त होती है। प्रधानतः राजस्थानी ढोला के समस्त उपकरण—रेवा, टाड़ी, सुआ, करहरा आदि कथा में योग प्रदान करते हैं। मालवी के इस माच में नल-दमयन्ती का प्रसंग अस्वाभाविक रूप से जुड़ गया है और ढोला नल का पुत्र बताया गया है।

कथाविस्तार का अभाव प्रायः सभी माच रचनाओं में है। 'नागजी दूदजी', 'निहालदे सुल्तान', 'सुदबुद सालंगा', 'राजा भरथरी', आदि राजस्थानी ख्याल के कथानकों का निर्माण ख्याल के ढंग पर है। कालूराम उस्ताद के माचों में प्रायः सभी कथानक शृंगारी हैं और उनमें प्रेमाश्रयी शाखा की 'मधुमालती,' 'चन्द्रकला', 'हीर रांझा', जैसी कथाओं का सदुपयोग किया गया है। कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो माच के अतिरिक्त ख्यालों की रचनाएँ अधिक हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र', 'सेठ-सेठानी', 'ढोला मारूणी', देवर-भौजाई, 'सुदबुद सालंगा', 'राजा भरथरी', 'चारण बनजारा', 'हीररांझा', आदि माचों की कथाओं पर कुछ ख्याल रचानाएँ मिलती हैं जिनसे इन कथाओं के लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण—माच में चरित्र-चित्रण के विस्तार के लिये सूक्ष्म तत्वों का आश्रय लेना संभव नहीं। संगीत-शैली की संवाद योजना प्रत्येक चरित्र की उठान के लिये गायन के कौशल पर ही निर्भर है। मंच पर जो पात्र अच्छा गा जाये वही जनता की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। आत्म-परिचय की पद्धति कभी-कभी चरित्र की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। प्राचीन रासों में यह पद्धति विद्यमान थी। अतः माच में चरित्र-चित्रण का विस्तार थोड़ी ही मात्रा में संभव है।

पात्र—माच के पात्र दो भागों में विभक्त हैं—(१) स्त्री पात्र और (२) पुरुष पात्र। प्रायः प्रत्येक माच में पाँच स्त्रीपात्रों का होना अपेक्षित है। अतएव पुरुष पात्र की अपेक्षा स्त्री पात्र की संख्या कभी-कभी अधिक हो जाती है।

नायक का प्रमुख साथी शेरमार खाँ कहलाता है (बालमुकुन्द गुरु के साथी ऊंकारजी थे) शेरमार खाँ विदूषक का अभिनय भी करता हैं जिससे जनता का मनोरंजन होता रहे। नायक को विश्राम देने के लिये शेरमार खाँ नायक का प्रतिनिधित्व भी करता है। गुरु बालमुकुन्दजी के समय स्त्री-पात्रों के अभिनयार्थ गोविन्दा, कूका, टोडूंलाल और लच्छन की जोड़ प्रसिद्ध थी। रामाजी कोली, बेनिया ब्राह्मण और भागीरथ पटेल ने भी बाद में इस दिशा में प्रसिद्धि प्राप्त की।

अभिनय के समय पात्र का प्रवेश पूर्व पात्र के द्वारा ही सूचित किया जाता है। अवाञ्छनीय पात्र मंच के एक ओर बने रहते हैं। पात्र अपने बोल की समाप्ति पर स्वयं ही मंच के ओर जा बैठते हैं।

संवाद—माच के संवाद जैसाकि ऊपर बताया गया है, बोल कहलाते है। ये बोल गेय हैं। गद्यात्मक संवाद माच में नहीं पाये जाते। प्रश्न भी पद्यबद्ध होते हैं और उनके उत्तर भी।

रस और अलंकार—माच के साहित्य में संगीत के अतिरिक्त बोल का विषय इस दृष्टि का महत्वपूर्ण माध्यम है। श्रोता लोक-साहित्य की सहज अलंकारिता के बीच बोल की प्रत्येक उठान को ध्यान से सुनते हैं। साधारणतः उपमा, रूपक, यमक और अनुप्रास के उदाहरण माच में मिलते हैं। करुण, शांत और शृंगार का-समन्वय रस की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शेरमार खाँ नामक पात्र बीच-बीच में हास्य की सृष्टि करता है।

दृश्य-योजना—दृश्ययोजना श्रोता और पात्र दोनों के लिये कल्पना-जन्य वस्तु है। पर्दों के अभाव में दृश्य का आभास कभी-कभी संवादों द्वारा प्राप्त हो जाता है, अन्यथा मात्र कल्पना से दृश्य की मानसिक उद्भावना की जाती है।

माच की बरणगट—बरणगट का तात्पर्य माच की छंदयोजना और तंत्र से है। माच के लिये वैसे कोई निर्धारित छंद नहीं है किन्तु उसकी विशेष संगीत शैली ही उसके तंत्र का आधार है। यद्यपि 'रंगतो' के रूप में धुन की परिवर्तनशीलता व्यक्त होती है तथापि छंदरचना की दृष्टि से माच दूहों पर लिखे गये हैं। दूहे लगड़ी, दोकड़ी और-इकहरी रंगत में गाये जाते हैं। 'झेला' की रंगत दूहों के बीच स्वर बदलने के लिये चलती है। जहाँ लोक-गीतों का प्रयोग होता है वहाँ दूहों की बंदिश नहीं होती। परम्परागत धुन के बन्धन उसकी बरणगट को प्रभावित करते हैं। इस तरह के गीत केवल प्रसंग-विशेष के बीच में आते हैं और सामूहिक स्वरों में ही गाये जाते हैं। दोहों के स्वरूप इस प्रकार हैं :—

'रंगत दोहरी'

हूँ तो म्हारे तारा लोचनी नार।
सत को करां सभी सिनगार ।।टेक।।
पती हमारा सतवादी हरिचन्द सत की बाँदी कार।
सत धरम की नाव बनई के उतरांगा सम्दर पार ।। १ ।।

टेक—३५ मात्राएँ।
दोहा—२६ मात्राएँ।

ये जी म्हारो पीयू गयो परदेस।
जाजम कहाँ बिछावा जी ।।टेक।।
जाजम पर सतरंजी गदरा झीनी चादर बेस।
तकिया और गुल-तकिया क ये फूलां चूयी जी सेज्या ।। १ ।।

टेक—३५ मात्राएँ।
दुहा—२६ और ३० मात्राएँ

दोहे की दूसरी दौड़ देखिये—

अजी सत का राजा सत की रानी
सत का जोमें असमान तानी,
अजी सत का पवन, सत का पानी
सत की राजे बोले बानी।

टेक मात्राएँ—३६
दुहा मात्राएँ—३४

और भी अन्य उदाहरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि माच का दोहा २६ मात्रा से ४० तक दौड़ता है।

टेक के बाद दोहों में संवाद (बोल) व्यवस्था होती है। प्रत्येक दोहे के बाद टेक दुहराई जाती है। जहाँ तक हस्तलिखित पोथियों का प्रश्न है, प्रत्येक प्रसंग के दोहों पर धुन का निर्देश लिखा मिलता है। कभी-कभी एक ही बोल में टेक भी बदल जाती है। माच के संगीत के उल्लेख में बताया गया है कि माच की बणगट के अनुसार बदलती है। टेक से ही रंगत का स्वरूप ज्ञात होता है और अन्तरा दोहा बन्द में दौड़ता है।

संगीत-पक्ष—ढोलक माच का मुख्य वाद्य है। सारंगी उसकी साथिन है। ढोलक की थाप और सारंगी की 'मीड़ों' पर बोल (संवाद) की लयकारी गमकती है। श्रोतागण बोल के कौशल पर 'कई की है' (क्या कही है) कहकर झूम उठते हैं। बालमुकुन्द गुरु के समकालीन बापू उस्ताद अपने समय का विख्यात ढोलकिया था और उसका भाई धावरनी सारंगी के तारों पर अपनी अँगुलियाँ इस अन्दाज से फेरता कि 'बोल' और स्वरों में भेद करना कठिन हो जाता था। माच में ढोलक की थापें अलग ही होती हैं, जो बोल की टेक पर 'ढोलक तान फड़के' अथवा 'ढोलक सच्ची बाजे' पदांश के अनुकूल द्रुत-गति से 'तीये' में सम पर आती है।

बालमुकुन्द गुरु से लगाकर वर्तमान माचकारों तक कुछ प्रसिद्ध ढोलकियों और सारंगी साजों की जानकारी निम्नक्रम से प्राप्त हुई है—

(अ) ढोलकिये—बापू उस्ताद (बालमुकुन्द के समकालीन)
आत्माराम (बापू उस्ताद के भानजे)

दुलीचन्द (आत्माराम का ज्येष्ठ पुत्र)
बुद्दिया, नागरजी, गुल्लाजी आदि
(ब) सारंगी साज—थावरजी (बापू उस्ताद का भ्राता)
आत्माराम (थावरजी और बापू के भानजे)
भागीरथ (आत्माराम के छोटे पुत्र) आदि।

माच के बोल गाने की अपनी शैली है। उसमें लोक-संगीत के अन्तर्गत प्राप्त सादी धुनें और मालवा के ऋतु-उत्सवों के गीतों की शैली प्रचलित है। टेक प्राय: लम्बी चलती है। माच के लोकोन्मुखी संगीत की विभिन्न धुनों को व्यक्त करने के लिये 'रंगत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में जिस प्रकार रागों के नाम है, उसी तरह स्वच्छन्द रूप में माच परम्परा में रंगतें भी अपनी विभिन्नता—रंगत इकहरी,[1] रंगत मारवाड़ी, रंगत दोकड़ी[2] रंगत खड़ी, रंगत झूला की, रंगत छोटी चलन, रंगत ताल ठेका की, रंगत कलिंगड़ा, रंगत सिन्दू (छोटी-बड़ी) रंगत बड़ी चलन, रंगत बधावा, रंगत उड़ाय दूकंग, आदि सांकेतिक पदों द्वारा ज्ञापित है। रंगतों के अतिरिक्त माचकारों ने लोकगीतों की शैली का समावेश भी किया है। राग हलूर (देखिये, 'सेठ-सेठानी') में 'महारा राज' की टेक मालवी-राजस्थानी-गुजराती गीतों के कुछ लोक-गीतों की समान प्रख्यात टेक है। इस दृष्टि से 'हलूर' पूर्णतः लोकधुन है। रंगत दादरा के बोल में 'रे' का लुप्त उच्चारण और 'रंगत' बादवा में मालवी 'बधावा' गीतों की धुन निहित है। जहाँ गजल का प्रयोग किया गया है वहाँ बोल 'जुवाब' (प्रति संवाद) भी गजल में ही कहा गया है। भाहेरा के गीत 'रंगत-मामेरा' गाल गीत, दोहे और पारसियाँ (प्रहेलिकाएँ) भी गाये जाते हैं। प्रमुखतः लोक-संगीत के एक पक्ष को छोड़कर माच का अपना विशिष्ट-संगीत है। उसमें ध्वनि की ऊँचाई, तान भरने की क्षमता, बोल में 'लहरावे' की सुयोग्यता एवं ढोलक के साथ गाने का सामर्थ्य महत्व पाता है।

माच के बोल का प्रारंभिक 'गेर' और अन्तरे की पंक्तियाँ 'उड़पा' और तानों का प्रवाह चलन कहलाता है। (माच की प्रसिद्ध धुन की स्वर-तालिका बोल के साथ परिशिष्ट में देखिये)।

---

[1]एक ही प्रवाह में सम्पूर्ण दोहा कहना। [2]टेक को दुहरा-दुहरा कर कहना।

अध्याय ५

वार्ता (लोक-कथा) साहित्य

(अ)

कहानी के प्रति मनुष्य का प्रेम आदिकाल से चला आ रहा है। भारतीय लोककथाओं के अध्येताओं का कहना है कि उपलब्ध कथा-साहित्य में प्राचीन काल के अनेक अवशेष तत्व चले आ रहे हैं जिन्हें विभिन्न सभ्यताओं ने अपनी परम्पराओं के अनुकूल बाह्य रूप प्रदान किया है। लोक-कथाओं में प्रयुक्त अभिप्रायों के अतिरिक्त मानव-मनोदशाओं तथा विषय-वस्तुओं के प्रति बोधगम्य पद्धति से तन्त्र का प्रयोग अध्ययन का विषय है। लोक-कथाओं का तन्त्र पूर्णत: लोकबुद्धि के स्तर के अनुकूल है।

भारतीय कथा-साहित्य—भारतीय लोक-कथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इन्हीं कहानियों के विभिन्न रूप दूसरे देशों में फैले हुए मिलते हैं। अपने ही देश के विभिन्न प्रान्तों की लोककथाएँ प्राय: भाषा का ऊपरी बाना छोड़ कर अनेक बातों में मिलती-जुलती है। विद्वानों की दृष्टि में इस साम्य का कारण यह है कि आदिमानव का विकास संसार के समस्त देशों में एक ही प्रकार की परिस्थितियों में हुआ। भारतीय लोक-कथाओं का तो अपना विशेष महत्व है। उनकी प्रवृत्तियों के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके प्रमुख लक्षणों की पुनरावृत्ति प्राय: अन्य कथाओं में होती रहती है। वास्तव में यह एक व्यापक सिद्धान्त है, जो नृतत्व-वेत्ताओं का ध्यान लोककथाओं की ओर आकर्षित करता है। पंजाब, बंगाल, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, मेवाड़ अथवा मालवा या निमाड़ आदि स्थानों में पायी जाने वाली लोककथाओं में अनेक कथाएँ एक-दूसरे के वस्तु, पात्र, चित्रण, शैली और तन्त्र में सादृश्य रखती है।

यह बात ध्यान देने की है कि दूर-दूर तक जातियों के फैलने, बसने और सम्पर्क स्थापित करने से कथाएँ आगे ही बढ़ती रहीं। उन्होंने यात्राएँ कीं, सम्पर्क बढ़ाये और प्रभुत्व स्थापित किये हैं। वेदों की कहानियाँ पुराणों में पल्लवित हुईं। मैक्समूलर तथा उसके मतों में विश्वास रखने वाले विद्वानों का मत है कि वेदों की कथाएँ वेदों की रचना के पूर्व की हैं, क्योंकि विविध आर्य-परिवारों के पृथक् होने के पूर्व ही इन कथाओं की रूपरेखा बन चुकी थी।[१] वेदों के आख्यान काव्यों और नाटकों में भी विकसित हुए हैं। उपनिषद् के युग में कहानियों की बाढ़ रुक गयी। रामायण और महाभारत के युग में कथाओं का पुन: विकास हुआ। महाभारत तो कहानियों का ही वृहत् ग्रन्थ है। पुराणों में कथा-साहित्य की कमी नहीं। 'बड्डकथा' (वृहत्कथा) कथाओं का सागर है। संस्कृत में इसका अनुवाद 'कथासरित्सागर' के नाम से बाद में किया गया। इसमें हमें भारतीय कथाओं के सभी सूत्र मिल जाते हैं। प्रायः अनेक लोक-कथाओं का मूलरूप सरित्सागर में उपलब्ध है। 'जातक' में बौद्ध-कथाएँ संग्रहीत हैं। जैन कहानियों का भी महत्व भुलाया नहीं जा सकता। 'पंच-तंत्र' की कथाएँ तो प्रायः सभी देशों में विकसित हुईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय लोक-कथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जातक-कथाओं, प्राचीन वेदों के आख्यान, कथासरित्सागर, 'बैतालपंचविंशति,' 'हितोपदेश,' आदि ग्रन्थों में आई कहानियों के बिगड़े रूप आज भी लोक-कथाओं में उपलब्ध हैं। संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन लोक-कथाओं में स्पष्ट झलकता है। यद्यपि भारतीय लोक-कथाओं को संसार की कथाओं का मूल उद्गम कहना तो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता तथापि एल्विन के कथनानुसार अनेक कथाएँ केवल एक देश तक सीमित नहीं हैं। जिसे हम भारतीय-कथा-साहित्य कहते हैं वह वास्तव में एशियायी कथा-साहित्य, तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय और चीन साहित्य है।[२]

हिन्दी का लोककथा-साहित्य—हिन्दी का लोक कथा-साहित्य डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है।[३] (१) लोक-कहानी, (२) धर्म-माहात्म्य कथा, (३) अवदान (लीजैन्ड्स),

---

[१]इस विषय पर विषय विस्तार से डॉ० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन' नामक ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। देखिये, पृ० २६५ से ४२२ तक। [२]देखिये—'फोक टेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका। [३]ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४२३।

(४) वीरगाथाएँ (बैलेड्स), (५) संत-कथा, (६) पुराणकथा (माइथोलाजिकल), (७) संस्कार-वर्णन संबंधी कथाएँ, (८) विविध ।

डॉ० सत्येन्द्र द्वारा प्रस्तुत विभक्त विस्तृत सूची

१. कहानी (फोक टेल)

१ मूल ढोला, २ सिंहासन बत्तीसी, ३ बैताल पच्चीसी, ४ कनक मंजरी, ५ राजा चित्रमुकुट की कथा, ६ माधवानल काम कंदला, ७ कथा चार दरवेश, ८ चित्रावली, ९ माधव विनोद, १० प्रेम पयोनिधि, ११ हितोपदेश, १२ विक्रम विलास, १३ क़िस्सा, १४ सेंटा का ढोला, १५ चंदन मलयागिरि की कथा, १६ रसरत्न, १७ कथा-संग्रह, १८ मनोहर कहानियाँ, १९ शुक बहत्तरी, २० मृगावती, २१ मकरध्वज की कथा, २२ शुक-रम्भा संवाद ।

२. धर्म माहात्म्य कथा

१ गणेशजू की कथा, २ गणेशजी की कथा चार युग की, ३ सत्यनारायण की कथा, ४ यमद्वितीया की कथा, ५ एकादशी माहात्म्य, ६ अनन्तदेव की कथा, ७ चंडी चरित्र, ८ व्रतकथा कोव, ९ लघु आदित्यवार की कथा, १० पूर्णमासी और शुक की कथा, ११ पंच कल्याणक व्रत, १५ आदित्यवार कथा, १६ निशि भोजन-त्याग व्रतकथा, १७ शील कथा, १८ वारांगकुमार चरित्र, १९ भक्त माहात्म्य, २० पलनामि चरित्र, २१ रोहनी व्रत कथा, २२ अघविनास, २३ मोहमद की कथा, २४ संयुक्त कौमुदी भाषा, २५ आकाश पंचमी की कथा, २६ ध्यानकुमार चरित्र, २७ षटकर्मोपदेश, २८ धर्मपरीक्षा, २९ रत्न ज्ञान, ३० श्रीपाल चरित्र, ३१ पुण्यश्रव कथा, ३२ रूवमाङ्गद की कथा, ३३ रविव्रत कथा, ३४ विष्णुकुमार की कथा, ३५ रवि कथा, ३६ वन्दीमोचन, ३७ हरतालिका कथा ।

३. अवदान (लीजेंड)

१ हरदौल चरित्र, २ हरदौलजी का ख्याल, ३ पन्ना वीर मदे की बात ।

४. वीरगाथाएँ (बैलेड्स)

१ खान खास का कथा, २ पृथ्वीराज रासो पद्मावती समय, ३ कृष्णदत्त रासो ।

५. संत-कथा

१ जन्म साखी (कबीर की), २ नामदेव की (जन्म साखी), ३, राजा भीमा की कथा, ४ यशोधर चरित्र ।

६. पुराण कथा (माइथोलाजिकल)

१ धर्म संपद की कथा, २ जैमुन की कथा, ३ हरिश्चन्द्र की कथा, ४ नासकेत, ५ चंडी चरित्र, ६ नृसिंह चरित्र, ७ बहुला कथा, ८ सुदामाजी की बाराखड़ी, ९ श्रवणाख्यान, १० नृगोपाख्यान, ११ शिवसागर, १२ वीर विलास, १३ उषा-चरित्र, १४ प्रद्युम्न चरित्र, १५ सुन्दरी चरित्र, १६ आदि पुराण की बालबोध भाषा वचनिका, १७ महापद्म पुराण, १८ प्रह्लाद पुराण, १९ राम पुराण, २० बहुला-व्याघ्र संवाद, २१ सुखसागर कथा, २२ सुधन्वा कथा, २३ सीता चरित्र, २४ हनुमान चरित्र, २५ पाण्डव यशेन्दु चन्द्रिका, २६ महादेव विवाह, २७ उर्वशी, २८ पुरन्दर माया।

७. संस्कार-वर्णन

१ ठाकुरजी की घोड़ी, २ राम कलेवा, ३ पट रहस्य, ४ बना।

८. विविध

१ अजभान की कथा, २ विसई कथा, ३ अन्तरिया की कथा।

लोकवार्ता-कहानियों का उक्त वर्गीकरण हस्तलिखित ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर किया गया है। ग्रन्थरूप में जो कथा-साहित्य उपलब्ध है, वह प्रधानतः धर्म-माहात्म्य संबंधी है और जैन तथा हिन्दू सम्प्रदायों में यह साहित्य प्राप्य है। इनमें अधिकांश ग्रन्थ धार्मिक अनुष्ठानों से संबंधित होने के कारण उनका स्वभाव पुराणों के अनुकूल है। इस पर विस्तार से विवेचन करना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। संतों के संबंध में भी कुछ ग्रन्थ पाये जाते हैं जिनमें उनके जीवन में घटित चमत्कारों का वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक चरित्रों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ 'रासो' के ढंग पर हैं। लोकाचारों का विस्तार से वर्णन करने वाले ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। उन ग्रन्थों को भी हिन्दी में सम्मिलित किया जा सकता है, जो सूफियों के प्रभाव से प्रेमकथाओं को लेकर लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ, 'माधवानल कामकंदला' (१५८३ ई० की लिखी प्रति), 'चित्रावली' (सं० १६१३) आदि।

हिन्दी का लोक-कथा साहित्य प्रधानतः मध्यकाल में विकसित हुआ है, क्योंकि ग्रामों में अवकाश के क्षणों में प्रायः लोग आज की तरह तब भी बैठकर अपने पूर्वजों द्वारा कही गई कहानियों को सुनाया करते थे। कालिदास ने 'मेघदूत' में ग्रामवासियों को उदयन की कथा कहते हुए बताया है—'उदयनकथा कोविद ग्रामवृद्धान्'। कथाओं में उपलब्ध-वातावरण, विभिन्न अभिप्राय और मनोविश्वास प्रायः मध्यकालीन हैं। बाद में अनेक अभिप्राय कथानक-रूढ़ि बन गये। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और

घुमाव देने के लिये कुछ ऐसे अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चल कर कथानक-रूढ़ि में बदल गये हैं।''[१] ब्लूम फ़िल्ड ने भारतीय कथा-साहित्य की रूढ़ियों पर पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डब्ल्यू नार्मन ब्राऊन, बलिंगम तथा रूथ नार्टिन ने ब्लूम फिल्ड के साथ ही महत्त्वपूर्ण लेख इसी दिशा में लिखे। बेनिफी, टानी, जैकोबी और पेंजर के नाम भी उल्लेखनीय हैं।[२]

अभिप्रायों की समानता—अभिप्राय लोक-कथाओं का प्रमुख लक्षण है। शिप्ले ने जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार अभिप्राय, प्रभाव उत्पन्न करने के लिये किसी कृति अथवा जाति की विभिन्न रचनाओं में एक निश्चित शैली के रूप में प्रस्तुत विचार अथवा शब्द को कहते हैं।[३] लोक-गीतों में ऐसे अनेक अभिप्राय फैले हुए हैं। प्राचीन काव्य अथवा चित्रकला में भी अलंकरण की दृष्टि से अभिप्राय को स्थान प्राप्त है। परकाया प्रवेश, असंभव कार्य को पूर्ण करने के लिये राजा द्वारा आधा राज्य और राजकुमारी देने का वचन, अमृत फल से जीवित होना, सात समुद्र पार जाकर असंभव कार्य करना, साधु-संन्यासी द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिये फल दिया जाना, पुत्रवती के प्रति सास का अन्याय, रूप-परिवर्तन, देव द्वारा सहायता, जादू की वस्तुओं से अभीष्ट फल की प्राप्ति आदि भारतीय कहानियों के स्थूल अभिप्राय हैं। ब्लूम फ़िल्ड तो भारतीय कथाओं में प्राप्त होने वाले अभिप्रायों का विश्व-कोश बनाने की सोच रहे थे किन्तु उनकी मृत्यु हो गयी और वह विचार वहीं रह गया।

देश-विदेश की सभी कथाओं में अभिप्राय उपलब्ध है। अभिप्रायों की सहायता से लोक-कहानियों में मनोरंजक तत्त्व के निर्वाह के अतिरिक्त विशेष ढंग से कुतूहल की रक्षा की जाती है। वस्तुतः तन्त्र की दृष्टि से अभिप्राय लोक-कथाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्हें हम कथाओं की आत्मा कह सकते हैं।

भारतीय कथाओं के अभिप्राय देश-विदेश की सभी कथाओं में लक्षित किये जाते हैं। इनका मूल स्रोत मानव समाज के विकास की वे समस्त परिस्थितियाँ हैं, जिनमें समय-समय पर कथानकों की कहीं प्रतीकवत्, कहीं सोद्देश्य, कहीं कुतूहल के लिये और कहीं श्रद्धावश सृष्टि हुई है।

---

[१]हिन्दी साहित्य का आदि काल, पृष्ठ ७४। [२]ब्रजबिलास श्रीवास्तव लिखित 'पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ' नामक ग्रन्थ में (अध्याय २ और ३ में) इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। [३]देखिये, डिक्शनरी ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर (शिप्ले)।

अंग्रेज़ी में उपलब्ध भारतीय कथा-साहित्य-- सर रिचार्ड टेम्पल ने एस० हिस्लप के लेखों का, जो मध्य भारत की आदिम जातियों के विषय में लिखे गये थे, सम्पादन करते समय (१८६६ ई०) उनमें आई एक लोक कथा का विद्वत्तापूर्वक विश्लेषण करते हुए भारतवर्ष में जो परम्परा आरंभ की वह क्रमश: बढ़ती गई। मिस फ्रेयर के 'ओल्ड डेक्कन डेज़' के प्रकाशन के पश्चात् इस ओर गति से कार्य किया जाने लगा। 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' में डेमेन्ट ने निरन्तर बंगाल की लोक-कथाओं को प्रकाशित किया है। लाल बिहारी डे, कुक, कैम्पबेल, नीलिज, आर० मुकर्जी, श्रीमती ड्कौर्ट, सी० एच० बोम्पस, एम० कुलक, शोभनादेवी, स्विनर्टन, एस० एम० शास्त्री, और एन० एम० वैंकटस्वामी, टेल, जी० टी० एटकिंसन, गंगादत्त उपरेती और ई० एस० ओकले आदि विद्वानों ने बहुत कुछ कार्य इस दिशा में किया है। किन्तु इन सभी विद्वानों ने अंग्रेजी के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनके ग्रन्थों में इस बात का प्रमुख दोष निकाला जाता है कि सभी के द्वारा संग्रहित अधिकांश कथाओं को अपनी सुविधानुसार फेर-बदल किया है। उन्हें यहाँ की भाषाओं का ज्ञान न होने से और फिर उस सामग्री को अपनी भाषा में अनूदित करने के प्रयास स्वरूप उन कथाओं में स्थानीय रंग, स्वाभाविकता और मूल प्रेरक शक्ति का प्राय: अभाव है। वैरियर एलविन, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'फोक टेल्स ऑफ महाकौशल' में बोम्पस और मिल का आदर्श रखा है, इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों और संग्रहकारों ने ऐसी अनेक भूलें की हैं। उन्होंने एक प्रमुख दोष यह भी बताया है कि वर्तमान काल में अध्ययन और अन्वेषण की प्रवृत्ति इस तरह बढ़ती जा रही है कि डर है कि कहीं लोक-कथाओं के मूल में निहित-आकर्षण नष्ट न हो जायँ।[1]

'जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी,' 'जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी' की जिल्दों, 'सेन्सस् रिपोर्टस' और 'मैन इन इण्डिया' की फायलों में अनेक लोक-कथाएँ प्रकाशित हुईं। 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' में सन् १८७६ तक कथाएँ छपती रहीं। भारतीय लोक-कथाओं की प्रकाशित संख्या के संबंध में नार्मन ब्राउन का अनुमान है कि भारत और उसके निकटवर्ती देशों से अब तक कोई तीन हज़ार कहानियाँ छपकर प्रकाश में आ चुकी हैं। ब्लूम फ़िल्ड ने अभिप्रायों की चर्चा करते हुए इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है कि भारतीय कथाओं के प्रमुख लक्षणों की निरन्तर पुनरावृति होती रहती है। गत शताब्दी में यूरोपीय और भारतीय लेखकों में कथा-संकलन को

[1] देखिये, 'फ़ोक टेल्स ऑफ महाकौशल' की भूमिका।

होड़-सी लग गयी थी। पेंजर ने 'कथा-सरित्सागर' का सम्पादन कर भारतीय लोक-कथाओं के प्रति बड़ा कार्य किया है। उनके साथी ब्लूमफ़िल्ड, नार्मन ब्रॉउन और ए० वी० एवेन्यू ने अध्ययन की नवीन प्रणाली स्थापित कर इस दिशा में बहुत सेवा की है। एल्विन जो कि बहुत बाद के लेखक हैं, कहानियों के प्रति ईमानदार अनुवादक के रूप में आगे आये।

हिन्दी में प्रकाशित भारतीय लोक-कथा-साहित्य—हिन्दी में प्रकाशन की प्रवृत्ति पिछले एक दशक से ही आरंभ हुई है। वैसे बच्चों के लिये पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लोक-कथाओं के प्रकाशन की प्रवृति पहिले से विद्यमान है। शिवसहाय चतुर्वेदी द्वारा संकलित अनेक कहानियाँ 'मधुकर' (टीकमगढ़) और 'लाकवार्त्ता' (टीकमगढ़) में प्रकाशित हुईं। राजस्थान से प्रकाशित होने वाले 'मरुभारती', 'राजस्थान भारती' एवं अन्य प्रमाणिक पत्रों में अपने जनपद की लोक-कथाओं का प्रकाशन होता रहता है। शिवसहाय चतुर्वेदी के संग्रहों के अतिरिक्त हिन्दी में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, ने ब्रज, पंजाब, बंगाल, मालवा, गढ़वाल, राजस्थान, काश्मीर, विन्ध्य प्रदेश, निमाड़, छतीसगढ़, सौराष्ट्र, हिमांचल प्रदेश, नैपाल, आन्ध्र और उत्तर भारत की लोक-कथाओं का प्रकाशन किया है। इन प्रकाशनों में अनेक सुन्दर लोक-कथाएँ संकलित हो सकी हैं। पं० राहुल सांकृत्यायन के संकलन 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें' में कुरुक्षेत्र की ५६ कहानियाँ मूल-भाषा में, रामनमाई नामक ८० वर्षीय वृद्ध महिला से सुनकर प्रकाशित की गई है। 'हिमाचल की लोक-कथाएँ' ग्रन्थ हाल ही में प्रकाशित हुआ है। रेवरेण्ड ई० एस० ओकले तथा तारादत्त गेरोला द्वारा उत्तम ढंग से संग्रहित कथाओं का यह संग्रह अध्ययन पूर्ण भूमिका और टिप्पणियों से सज्जित है। शिवसहाय चतुर्वेदी लिखित 'बुन्देखंड की ग्राम्य कहानियाँ', 'पाषाण नगरी' 'गौने की बिदा (पटना, १९५३), डॉ० सत्येन्द्र द्वारा संकलित' 'ब्रज की लोक-कथाएँ' तथा सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित 'राजस्थानी वार्ता' (कलकत्ता) आदि प्रकाशनों के अतिरिक्त 'आजकल' का लोक-कथांक हिन्दी में प्रकाशित साहित्य की दृष्टि से अध्ययन की सामग्री है।

हिन्दी में जैसा चाहिये वैसा लोक-कथा संबंधी साहित्य प्रकाश में नहीं आया। प्रत्येक जन-पद की प्रामाणिक लोक-कथाओं के संकलन आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित होना अपेक्षित हैं। प्रत्येक संकलन में जन-पद के मानचित्र, संकलन-स्थानों के संकेत और मूल-भाषा में जिनमें कहानियाँ सुनी गई हों उसके नाम, पते, चित्र अवश्य होने चाहिये। यह कार्य विशेष लगन से किया जाना अपेक्षित है।

(आ)

मालवी लोक-कथाओं के संग्रह का कार्य पिछले एक दशक में ही संभव हो सका है। जन गणना के लिये सन् १६३१ के पूर्व कतिपय जातियों की उत्पत्ति सम्बन्धी कथाओं का संकलन शासन द्वारा किया गया था, जिनका समावेश बाद में प्रकाशित रिपोर्टों में हुआ है। माल्कम ने 'मेमायर्स ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया' की जिल्दों में भी ऐसी कुछ कथाओं का उल्लेख किया है। 'जंगल ट्राइब्स ऑफ मालवा' के लेखक लुअर्ड और 'हायलैण्डस् ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया' के लेखक फारसीथ ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में आदिवासी जातियों और नदियों की उत्पत्ति विषयक कथाओं को संकलित किया है। नार्मन ब्रॉउन ने भारतवर्ष और उसके पड़ोसी देशों की कथाओं की संख्या का जो अनुमान लगाया है उसमें मध्य भारत की ५० कथाओं के संकलित किये जाने का उल्लेख किया था किन्तु वेरियर एलविन ने 'फोक टेल्स ऑफ महाकोशल' संग्रह में मध्य प्रदेश की १५० कहानियाँ और अन्य रचनाओं में आई ५५ कहानियों को मिलाकर २५५ कहानियों के संकलित हो जाने की गणना की है।[1] मेरी दृष्टि में यह संख्या पर्याप्त नहीं है। 'कथा सरित्सागर', 'बैताल पंचविंशति', 'सिंहासन बत्तीसी' और अन्य प्रान्तों में प्राप्त होने वाली कई कहानियों में वर्णित घटनाएँ प्राय: मध्य भारत के विन्ध्य श्रेणियों के वनों में घटित बताई गई हैं। उज्जैन शहर और उसके राजा (विक्रमादित्य) ही का बार-बार उल्लेख एक अभिप्राय के रूप में भी आया है। धारा नगरी का उल्लेख भी बार-बार आता है। कहीं-कहीं उसका राजा भी विक्रमादित्य ही बताया गया है। श्री अगरचन्द नाहटा ने विक्रम संबंधी एक फारसी कथा भी खोज निकाली है। अत: प्राचीन ग्रन्थों में जो कहानियाँ उपलब्ध हैं उनमें अधिक रचनाओं का कथावृत्त मालवा से सम्बन्धित है और यही कारण है कि उनके विभिन्न रूप इन्हीं ग्रन्थों के माध्यम से विभिन्न प्रान्तों में फैले।

संकलन की दिशा में रिचार्ड टेम्पल ने सन् १८६६ में रेवरेन्ड हिस्लाप के मध्य भारत की आदिवासी जातियों के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों का संपादन करते हुए कुछ कहानियों का भी सम्पादन किया है। उसके पश्चात् अंग्रेजी के माध्यम से जो प्रयत्न हुए वे केवल सन्दर्भ की दृष्टि से हैं। कर्नल फ्यूज ने अभी कुछ वर्षों पूर्व निमाड़ के बलाइयों का एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसमें कुछ कथाएँ संदर्भ की दृष्टि से एकत्र मात्र की गई हैं।[2]

---

[1]देखिये, 'फ़ाक टेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका। [2]चिलड्रन ऑफ़ हरी

लोक-साहित्य के अध्ययन की रुचि में धीरे-धीरे विकास होने लगा है। स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में मालवा की कथाओं का प्रकाशन पिछले पांच-सात वर्षों में तीस-पैंतीस से अधिक नहीं हुआ है। दैनिक पत्रों को छोड़कर 'वीणा', 'विक्रम' और 'मध्य भारत संदेश' (लश्कर) तथा 'ग्राम सुधार' (इंदौर) में कथाएँ छपती रही हैं। अतः मालवा की छपित कथाओं को हम तीन प्रकार से उपलब्ध कर सकते हैं। (क) जनगणना रिपोर्टस् द्वारा, (ख) नृतत्ववेत्ताओं द्वारा यहाँ की जातियों पर लिखे गये ग्रन्थों से और (ग) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री द्वारा।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सिलसिले में लेखक को उपलब्ध सामग्री पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई। वास्तव में प्रकाशित सामग्री केवल सन्दर्भ की दृष्टि से उपलब्ध की गई थी। लोक-कथाओं के अध्ययन की दृष्टि से संग्रह-कर्ताओं ने उनका उपयोग नहीं किया था।

इस अभाव के क्षेत्र में जब-जब लेखक को लोक-साहित्य-संग्रह के लिये मालवा के ग्रामों में भ्रमण करना पड़ा, तब-तब लोक-कथाएँ संकलित होती रही। कहानियाँ प्राप्त करने के स्थान वहीं है, जो लोक गीतों तथा अन्य सामग्री के लिये संकलन स्थानों के मानचित्र में दिये गये हैं। कहानियाँ पुराने बूढ़े-बूढ़ियों से सुनकर लिखी गई हैं। बलाई, चमार, नाई, राजपूत, कोली, ब्राह्मण, बनिया, और काछी जातियों के लोगों से उन्हें सुना गया था। लगभग १०० कहानियाँ इस प्रकार संकलित की जा सकी हैं। संभवतः कुछ महत्त्वपूर्ण कथाएँ छूट गई हों। अभाव को ध्यान में रखते हुए भी लेखक का विश्वास है कि अनेक महत्त्वपूर्ण-प्रतिनिधि कहानियाँ प्रस्तुत-प्रबन्ध में आलोच्य सामग्री के लिये संकलित की जा सकी हैं।

कहानियों के संकलन की दिशा में कार्य करते हुए मालवी लोक-कथाओं का एक संग्रह लेखक द्वारा लिखा जाकर सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ है।[१] वास्तव में वह मालवा की लोक कथाओं[२] के विशाल संकलन की भूमिका मात्र है, क्योंकि उसमें बालकों के लिये १६ लोक-कथाओं का प्रकाशन किया जा सका है। कथाओं के नाम हैं :—

---

[१]मालवा की लोक-कथाएँ, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। [२]देखिये आजकल (लोककथांक) तथा 'हमारी लोक-कथाएँ' (सस्ता साहित्य प्रकाशन) में भी मालवी कथाएँ संकलित की गई हैं।

(१) बार्‌या, (२) बिरगाबई,
(३) दड़ा पटेल (४) गौव मौनावा की वार्ता
(५) मूर्ख पति (६) मेथी की क्यारी
(७) काग उड़ावनी (८) अनमानेती
(९) भेद-भाव (१०) सोनाबाई
(११) चिड़ा-चिड़ी (१२) बन्दरी
(१३) गणेश जी (१४) गेगांध्या
(१५) चतुर स्यार और मूर्ख शेर
(१६) संगीत प्रेमी मृग

शेष कई कथाएँ अप्रकाशित हैं। प्रस्तुत-प्रबन्ध के सिलसिले में वे लेखक के पास संकलित होकर पड़ी हैं। उन कथाओं की विस्तृत सूची प्रस्तुत करने की अपेक्षा उचित होगा कि यहाँ महत्वपूर्ण कथाओं का उल्लेख कर दिया जावे। वे कथाएँ हैं :—

(१) कुँवर काछला (२) धर्म की बहन
(३) सूरजनारायण की वार्ता (४) नाग महाराज की अँगूठी,
(५) सोमवार की वार्ता (६) निपुत्र्या की बहू
(७) कामचोर स्त्री (८) गोंगलो-मोंगलो
(९) कूंकड़ी-माकड़ी (१०) चिका-चिकी
(११) होगी (१२) बिरगाबई (दूसरा रूप)
(१३) नागजी, (१४) राई का भरतार दामोदर
(१५) वीरपस, (१६) बीर-सिल्ला,
(१७) ठमा काकी (१८) बामण की बेटी
(१९) धरती आसमान को न्याव (२०) बीरगाबई (तीसरा रूप)
(२१) सूर्यनारायण और उनकी बहू (२२) शकर बहन
(२३) सियार को न्याय (२४) भट भटियानी
(२५) भल-कूद्या, (२६) नट-नटनी
(२७) बांदरा की वार्ता आदि।

वर्गीकरण—मालवी लोक-कथाएँ वैसे तो संख्या में अनेक हैं और सूक्ष्म वर्गीकरण करने पर उसके विस्तार के लिये पर्याप्त संभावनाएँ हैं, किन्तु विस्तार-भय से हम संकलित लोक-कथाओं को अनुभव और अध्ययन के आधार पर निम्न-लिखित मोटे वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

क : ऐतिहासिक एवं अर्द्धऐतिहासिक कथाएँ

ख : व्रत-कथाएँ (धरम-करम कथां की वार्ता)

ग : पशु-पक्षियों की कथाएँ (नीति-कथाएँ)

घ : चतुराई संबंधी कथाएँ

ङ : चमत्कार प्रधान कथाएँ

च : क्रम-संवद्ध कथाएँ (लघु-छंद कथाएँ)

(क) ऐतिहासिक और अर्द्धऐतिहासिक कथाएँ—ऐतिहासिक एवं अर्द्धऐतिहासिक मालवी लोक-कथाएँ अधिक अंशों में राजस्थान की लोक-कथाओं से प्रभावित हैं। राजा विक्रम अथवा भोज के संबंध में जो कथाएँ उपलब्ध हैं, उनमें काल्पनिकता अधिक है। ऐतिहासिक कहानियों में प्रमाणों की खोज करना संगत नहीं क्योंकि युगों से कंठ पर अवस्थित रहने के कारण वे सभी की प्रतिभा से मुखरित होती चली आई हैं। राजा रिसालू की कथाएँ और उनके वीरोचित कार्यों का वर्णन मालवा के कुछ बंजारों की कथाओं में मिलता है। 'विक्रम की फारस की कथा' केवल मालवा की कथाओं में सुदूर प्रभाव को लक्षित करती है। 'वीरपस' और 'बिरला को तालाब' अर्द्धऐतिहासिक वृत्त हैं। गूजरों ने मालवा की भूमि पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है, कारण निर्देशक एक कथा 'वीर सिल्ला' के नाम से गूजर की बेटी के बलिदान की कहानी है। मध्यकालीन राजपूत वीरों और राजाओं की कई कथाएँ 'एक राजा था' कहकर कही जाती है। 'रूपमती और बाजबहादुर' (१७वीं शताब्दी), 'रानी अहिल्याबाई' (१७वीं शताब्दी), 'तुलसाबाई' (१८वीं शताब्दी), 'चैनसिंग' (१९वीं शताब्दी), 'ऊन के राजा' आदि के विषय में कई किंवदंतियाँ ग्रामों में बिखरी पड़ी हैं। लोक-कल्पना ने कई कथाओं में नायकों का संबंध आधिभौतिक शक्तियों से कराया है जो सहायता करती हैं। अहिल्याबाई, रूपमति और बाज बहादुर की कहानियों के पीछे ऐतिहासिक सत्य अवश्य है, किन्तु कहीं-कहीं इन्हें अपरिमित शक्ति का घोषित किया गया है। संतसिंगा, भरथरी और गोरख विषयक कथाओं का भी अभाव नहीं है। 'खंडेराव की कथा' नर्मदा के दक्षिण भाग में विशेषतः प्रचचित है। चैत्र कृष्ण प्रथमा को उनकी स्मृति में 'ठीकरी' नामक ग्राम में मेला लगता है। कहते हैं एक अहीर स्त्री के यहाँ रात दो सवार आये। स्त्री बेचारी विधवा और गरीब थी। अतिथियों ने उस स्त्री को कठिनाई में देखकर कहा कि इस कैड़ी को दुह लो। कैड़ी को दुहते ही उसके थनों से दूध आ गया। वह दूध विधवा ने अपने बेटे को पिलाया। कहते तभी से फाल्गुन

सुदी १२ से चैत्र की पड़वा तक उसके शरीर में 'खंडेराव महाराज' का वास रहेगा।[1]

'खण्डेराव' वस्तुतः कोई महाराष्ट्रीय अलौकिक पुरुष रहे हैं, जिनकी किंवदंतियाँ निमाड़ में केवल मराठों के संपर्क से प्रचलित हुई होंगी।

अस्तु ! ऐतिहासिक एवं अर्द्धऐतिहासिक लोक-कथाएँ—कल्पना, परम्परा, इतिहास, और प्राचीन कथानक रूढ़ियों के संयोग की परिणाम हैं। मालवा के पठार पर विभिन्न जातियों का सांस्कृतिक समन्वय हुआ है। राजस्थान के नायक और नायिकाओं की कथाएँ यहाँ विकृत होकर प्रचलित हुई हैं। 'माच' में प्रस्तुत-कथानकों के पृष्ठ में ये ही लोक-कथाएँ विद्यमान हैं। प्रेम-गाथाओं का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप के कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर पड़ा है। उन घटनाओं को आधार बनाकर लोक-बुद्धि ने प्रेम-गाथा का अनोखा रूप प्रस्तुत किया है। रूपमती और बाजबहादुर की प्रणयगाथाओं के अतिरिक्त मांडव के सुल्तान की पुत्री जैतुन्निसा और कुक्षी मनावर के गोविन्दराम पंडित के प्रणय के दुखद अन्त की कथाएँ इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। मालवा के मध्य सारंगपुर और इधर मांडव से लगाकर बाघ गुफाओं के आगे तक इन कथाओं का प्रसार तो है ही, प्रमाणस्वरूप इनके कई ऐतिहासिक चिह्न उपलब्ध हैं।

(ख) व्रत-कथाएँ (धार्मिक कथाएँ)—व्रत-कथाओं का उद्देश्य प्रायः मंगल कामनाओं से युक्त है। नारी द्वारा पारिवारिक सुख-समृद्धि की आकांक्षा इन कथाओं से जुड़ी हुई हैं। कुछ व्रत-कथाएँ पौराणिक आख्यानों से संबंधित हैं। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा तो अपने बीज रूप में ऋग्वेद के शुनःशेप के बलिदान की गाथा है। वही सत्य नारायण की कथा के रूप में आगे विकसित हुई।[2] व्रत-कथाएँ चूँकि धार्मिक कथाएँ हैं, अतः उनका स्त्रियों के व्रतों से अंग-अंगी संबंध है। रविवार को 'सूर्य नारायण की वार्ता' कही जाती है। मालवा में इस कहानी के तीन रूप उपलब्ध हैं किन्तु उद्देश्य तीनों का एक ही है। मनोमालिन्य रहित होकर (आपस के भेद-भाव से परे होकर) जो कार्य किया जायेगा। वह सफल होगा। साथ ही दान देने की प्रवृत्ति भी अपेक्षित है। कथाओं में ये ही बातें मुख्य हैं।' सोमवार की कथा' में शिव-महिमा का वर्णन है, तथापि उसमें शिव पूजक राजा को एक बुढ़िया अपने भक्ति-भाव से यह शिक्षा दे देती है कि वह शिव-मंदिर में बच्चों के लिये उपलब्ध होने वाले दूध को न ढलवाये। इससे

---

[1]देखिये, खण्डेराव मेला समिति, टीकरी द्वारा प्रकाशित 'श्री खण्डेराव की लोक कथा।' [2]विस्तृत विवेचन के लिये देखिये, व्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ३९७-४००।

मंदिर कभी नहीं भरेगा। मंदिर भरने के लिये आन्तरिक श्रद्धा अपेक्षित है। चैत्र में 'सीतलामाता की वार्ता', 'दसामाता की वार्ता' (नल-दमयन्ती का कथावृत) और 'आसामाता की वार्ता', श्रावण में 'नागपंचमी', भाद्रपद में 'हरताली तीज', 'गोंगलो-मोंगलो', 'हलमाता', 'भील-भीलड़ा', 'कुंकड़ी-माकड़ी', तथा गणेशचतुर्थी को गणेश संबंधी कथाएँ[1] स्त्रियों द्वारा कही जाती हैं। मालवा में उक्त कथाएँ ही विशेष रूप से प्रचलित हैं। शेष महीनों और त्यौहारों पर कही जाने वाली कथाएँ मालवी परिवारों में बहुत कम प्रचलित हैं। भाद्रपद कृष्ण १२ को स्त्रियाँ 'गोंगलो-मोंगलो' की वार्ता कहती हैं। 'बज बारस' के इस व्रत में स्त्रियाँ कुटा हुआ गेहूँ और मूँग नहीं खाती हैं। उस दिन गाय और केड़ों की पूजा करती हैं। इस कथा में सास के कहने पर नासमझ बहू 'गोंगलो-मोंगलो' (गेहूँ और मूँग) के स्थान पर गाय के दो बछड़े जिनके भी संयोग से 'गोंगलो और मोंगलो' ही नाम थे, रांध लेती हैं। सास को जब इस घटना का पता लगता है तो वह दुखी होती है और 'बजबारस' से केड़ों (बछड़ों) को सजीव करने की प्रार्थना करती है, प्रार्थना सफल होती है। 'कूंकड़ी-माकड़ी' दो बहनें थीं। कूंकड़ी को आठ पुत्र थे और माकड़ी निपुत्री थी। ईर्ष्यावश उसने अपनी बहन के पुत्रों को विष के लड्डू खिला दिये, पर उन पर कोई असर नहीं हुआ। एक पात्र में विषधर सर्प और बिच्छू भरकर उनके पास भेजे, पर वे खिलौने बन गये। कुछ काल के पश्चात माकड़ी को एक लड़की हुई। कुछ दिनों के बाद वह मर गई। माकड़ी ने अब इसका दोष अपनी बहन पर मढ़ना चाहा। सत के प्रभाव से लड़की जी उठी। तभी माकड़ी को अपनी भूल का पता चला और उसने अपने मन से कलुषित भावों को निकाल दिया। भाद्रपद कृष्ण ८ को यह कथा कही जाती है। ब्राह्मण मिट्टी की 'कूंकड़ी माकड़ी' बनाते हैं और छबड़ी में रखकर परिवारों में ले जाते हैं। तोरये और नारियल से इनकी पूजा की जाती है। जिन कन्याओं का विवाह हो जाता है, वे आठ वर्ष तक इस व्रत का पालन करती हैं।

मालवी व्रत-कथाओं में गाय, बछड़े, मकड़ी, और सर्प का उल्लेख आया है। मकड़ी को छोड़कर शेष कृषि-वृद्धि के द्योतक हैं। अनुष्ठानिक कथाओं के नाते समृद्धि की द्योतक 'आसामाता' की कथा है। लौकिक-फल, अशुभ का निवारण, भाई-बहन के कल्याण, सौभाग्य की कामना, और संकट-निवारण के पश्चात आशीर्वादात्मक भाव की परिव्याप्ति व्रत-कथाओं में उपलब्ध है। मालवी व्रत-कथाएँ कृषक जातियों से संग्रहीत की गई हैं। बाहर से आनेवाली मालवा की जातियों में प्रायः वे ही कथाएँ प्रचलित हैं, जो अन्य प्रान्तों में हैं।

[1] देखिये, 'मालवा की लोक-कथाएँ' पृष्ठ ५१ और ५४ की वार्ताएँ।

(ग) पशु-पक्षियों की कथाएँ—पशु-पक्षियों की कहानियों का सबसे पहले प्रयोग जातक कथाओं में व्याप्त है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वे 'लोक में प्राचीन छोटी-बड़ी कहानियाँ थीं और नाममात्र के लिए जिनका संबंध बुद्ध के जीवन के साथ जोड़ दिया गया।'[१] 'पंचतंत्र' में यही कहानियाँ अपने जड़ाऊ रूप में उपलब्ध हैं। विण्टरनित्स का मत है कि पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर रची हुई कहानियाँ सबसे पहले भारतवर्ष में ही आरंभ हुईं।[२] यूरोप में ईसप की कथाओं का बड़ा प्रचार है। रोज डेविड्स का मत है कि ईसप की कथाओं का ईसप से कोई सम्बन्ध नहीं। उन कथाओं का तो मध्ययुग में संग्रह हुआ है। उनमें से अधिकांश कहानियों का मूल जातक में निहित है।[३] 'एक राजा था' की भाँति जातक की प्रायः सभी कथाएँ 'पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था' इस सूत्र वाक्य से आरंभ होती है। जहाँ तक पशु-पक्षियों का उल्लेख उपलब्ध है, यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि आज की प्रचलित लोक-कथाओं के सूत्र उनसे जुड़े हुए हैं।

मालवी लोक-कथाओं में पशु-पक्षियों की कहानियाँ बहुत हैं। सियार की चालाकी जग-प्रसिद्ध है। वह अपना मतलब सिद्ध करने के लिए बड़े से बड़ा काम उठा सकता है। 'धरती और आसमान का विवाह', 'चतुर सियार और मूर्ख शेर' (मालवा की लोक कथाएँ, पृ० ५६) इसके उदाहरण हैं। पूर्वी देशों की लोक-कथाओं के मि० रेनार्ड (लोमड़ी) की भाँति ही हमारी कथाओं में सियार का महत्त्व है। हाथी का उल्लेख मालवा में नहीं मिलता। बंदरी स्नेहमयी माता की भाँति प्रगट हुई है। चिड़ा चालाक और चिड़िया होशियार। काग भी अपने को होशियार समझता है। चिड़ी, काग की तुलना में (होशियार गृहणी) सिद्ध होती है। चूहा, बिल्ली, खरगोश, जूँ, कछुआ, मकड़ी, सांप, तोता, मैना आदि का उल्लेख भी आता है। अतएव पशु-पक्षियों का जो संबंध मालवी में उपलब्ध है, वह दो कारणों से है—१ परम्परा से प्राप्त कथाओं के विभिन्न स्वरूप और २ जातक अथवा पंचतन्त्र की कथाएँ।

(घ) चतुराई संबंधी कथाएँ—चतुराई संबंधी मालवी लोककथाएँ प्रायः ठगों, धूर्त राजाओं, पुरुषों और मूर्खों से अपनी रक्षा के प्रयत्नों से संबंधित हैं। जड़ वस्तुएँ भी चतुराई से उपयोगी कार्य करती पायी गई हैं। 'बार्‌या'[४] चतुराईवश समृद्ध बन जाता है। दड़ा[५] अपनी चतुराई से मूर्ख पटेल को अपने मार्ग से हटा कर समृद्ध हो जाता है। मूर्ख स्त्री के गाने का शौक पूरा करने के लिये उसका पति 'गीत मोल लाने' के बहाने एक नया ही गीत विशेष चित्रों को देखकर बना

[१]पंचतंत्र, आमुख (राजकमल प्रकाशन) पृ० १। [२]वही। [३]बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृ० ३२। [४]मालवा की लोक-कथाएँ, पृ० १। [५]वही, पृ० ६।

डालता है।[1] 'मूर्ख पति'[2] को उसकी पत्नी ठगों, वेश्याओं और कठिन परिस्थितियों से बचाती है। होशियार बहू घर के मनोमालिन्य तथा अपने सास-श्वसुर की चिन्ता को दूर करती है। चिड़ी (चिड़ियाँ) चिड़े की परीक्षा लेने के पश्चात चतुराई से उसकी प्राण रक्षा करती है।[3]

कृषकों में प्रचलित कथाओं में चतुराई के विभिन्न प्रसंगों का समावेश है। मालवा की कथाएँ प्रायः साधारण घटनाक्रमों का उल्लेख करती हैं। कृषि-जीवन से सम्बन्धित होने के कारण उनमें मध्यम स्थिति के चित्र उभरे हैं। चतुराई संबंधी कथाओं में प्रायः छोटी बहू, छोटा लड़का, छोटा राजकुमार, सियार और चिड़ियाँ प्रधान पात्र के रूप में आते हैं। इनमें विकट परिस्थितियों में एक पात्र अपनी मूर्खतावश फँसता है और दूसरे पात्र द्वारा उन परिस्थितियों का मुकाबला किये जाने के पश्चात उलझे हुए की रक्षा होती है। वह व्यक्ति अपनी मूर्खता पर पश्चाताप करता है और विजय का श्रेय दूसरे पात्र को प्राप्त होता है। अतएव इन कहानियों का वृत्त मूर्ख-चतुर और अधिक चतुर के बीच में व्याप्त है।

(ङ) **चमत्कार प्रधान कथाएँ**—चमत्कार सम्बन्धी कथाओं की विषय-वस्तु जादू-टोना एवं बहुत अंशों में अलौकिक घटनाओं और विचित्र पात्रों से संबधित है। प्रायः मृतात्माएँ प्रेत रूप में अपने परिवारों की सहायता करती हैं और अपने शत्रुओं को कष्ट देती रहती हैं। बलि द्वारा तालाब में जल आ जाना, सर्प द्वारा प्रदत्त-वस्तु से अलौकिक महल खड़ा हो जाना, एक साधारण चरवाहे का समृद्ध हो जाना, बच्चों का जड़ वस्तुओं द्वारा पोषित होना, मानव को मक्खी बना देना, मस्तक का कमल बन जाना और उसका पुनः मनुष्य रूप में प्रगट होना, चंदन के वृक्ष का फटना या आसमान में पहुँचना, मृत पशुओं का जीवित हो जाना, देवदूतों से सहायता पाना या अचानक राजा बनने का अवसर प्राप्त होना, योगी द्वारा मनुष्यों को तोता बना देना आदि चमत्कारप्रधान प्रसंग मालवी लोक-कथाओं से आये हैं।

चमत्कारप्रधान प्रसंग भारतीय कथानक रूढ़ियों से प्रायः मिलते-जुलते हैं। यह स्वीकार करना अनुपयुक्त न होगा कि मालवी लोक-कथाओं के चमत्कार-प्रधान अभिप्राय रूढ़ हैं।

(च) **क्रम-संवर्द्ध लोक-कथा और पारस्परिक साम्य**—भारत के जनपदों में एक ही कथा अपने विभिन्न रूपों में कैसे टिकी रहती है

[1]मालवा की लोक-कथाएँ पृ० १४। [2]वही, पृ० १६। [3]वही, पृ० ४५।

इसका अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक है। यह निश्चित है कि बालकों की कथाओं से लगाकर अन्य धार्मिक, सामाजिक, अनुष्ठानिक, काल्पनिक आदि सभी प्रकार की लोक-कथाएँ एक दूसरे रूप में जनपदीय बोलियों की सीमाएँ तोड़ कर जीवित हैं। इसकी पुष्टि के लिये नीचे एक विशेष प्रकार की मालवी लघु छंद कथा (अक्यु-मलेटिव्ह ड्राल) जो बहुत प्रचलित है, दी जा रही है। यह लोक-कथा मालवा में अकसर बूढ़ी दादियों या थके माँदे 'बा' अथवा नाना-नानी अपने बालकों को पास बैठा कर सुनाया करते हैं। उदाहरण-स्वरूप कहानी इस प्रकार है—

चिड़ी-काग की वार्ता

कागला के पायो मोती ने चिड़ी के पायी चोखो। चिड़ी तो खई गई चोखो ने कागलो को रई ग्यो मोती। चिड़ी ने कियो 'काग-काग, मोती दे।'

कागलो लीम पे चढ़ी ने बैठी ग्यो। चिड़ी गई लीम का पास। "लीम लीम, काग उड़ा।" लीम बोल्यो, "काग ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो उड़ऊँ ?" चिड़ी रोती हुई चली गई।

लीम काग उड़ाय नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई सुतार कने। 'सुतार-सुतार लीम काट।' 'लीम ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो लीम काटूँ ?'

सुतार लीम काटे नी,
लीम काग उड़ाय नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई पटेल का पास। 'पटेल-पटेल, सुतार के डाट।' 'सुतार ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो उके डाटूं ?'

पटेल सुतार के के नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

छिड़ी गई राजा का पास। 'राजा राजा, पटेल के डाट।' 'पटेल ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो उके डाटूं ?'

राजा पटेल के डाटे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई रानी का पास। 'रानी-रानी, राजा से रूस।' 'राजा ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो रूसूं ?'

रानी राजा से रूसे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई उंदरा[1] का पास। 'उंदरा उंदरा, रानी का कपड़ा काट।' 'रानी ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो हूँ कपड़ा काटूं ?'

उंदरा कपड़ा काटे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई बिलई[2] का पास। 'बिलई-बिलई, उंदरा के मार' 'उंदरा ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो हूँ मारूं ?'

बिलई उंदरा के मारे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई कुतरा का पास। 'कुतरा-कुतरा, बिलई के खा।' 'बिलई ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो खऊं ?'

कुतरा बिलई के खाय नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई डांग[3] का पास। 'डाँग-डाँग, कुतरा के मार।' 'कुतरा ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो उके मारूं' ?

डाँग कुतरा के मारे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई बस्ते[4] के पास। 'बस्ते-बस्ते, डाँग के बाल[5]।' 'डाँग ने म्हारो कंई बिगाड़्यो जो बालूं ?'

बस्ते डाँग ने बाले नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई समन्दर का पास। 'समन्दर-समन्दर, बस्ते बुझा।' 'बस्ते ने म्हारो कोई बिगाड़यों जो बुझऊँ।'

---

[1]चूहा, [2]बिल्ली, [3]लाठी, [4]आग, [5]जला।

समन्दर बस्ते बुझाय नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे नी।

चिड़ी गई हती का पास। 'हती-हती, समन्दर के चूस।' 'समन्दर ने म्हारों कंई बिगाड़यों जो उसे चूसूं ?'

हती समन्दर चूसे नी
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रे रानी।

चिड़ी गई मच्छर का पास। 'मच्छर-मच्छर, हती का कान में भरा।' मच्छर बोल्यो, 'म्हारे कंई, अभी कान में भरई जऊं।'

हती के, 'म्हारा कान में क्यों भराय, हूं अभी समन्दर चूसो जऊं।'
समन्दर बोल्यो, 'म्हारे क्यों चूसे, हूं अबी बस्ते बुझई दूं।'
बस्ते बोली, 'भई म्हारे क्यों बुझाय, हूं अबी डांग बाल दूं।'
डांग के, 'म्हारे क्यों बाले, हूं अबी कुतरा के मारूं।
कुतरो के, 'म्हारे क्यों मारे, हूं अबी बिलई के खई जऊं।'
बिलई के, 'म्हारे क्यों खाय, हूं अबी उंदरा के मारूं।'
उंदरो के, म्हारे क्यों मारे, हूं अबी रानी का कपड़ा काटी दूं।'
रानी बोली, 'म्हारा कपड़ा क्यों काटे, हूं अबी राजा से रूसूं।'
राजा के, 'म्हार से क्यों रूसे, हूं अबी पटेल के डाटूं।'
पटेल अरज करे, 'म्हारे क्यों डाटों, हूं अभी सुतार के कूं।'
सुतार के, 'म्हारे क्यों डाटों, हूं अबी लीम काटी दूं।'
लीम बोल्यो, 'दादा, म्हारे क्यों काटे, हूं अबी काग के उड़ई दूं।'
काग बोल्यो, 'लीम काका, म्हारे क्यों सताव, हूं अबी मोती दई दूं।'

काग ने मोती दई द्यो।
चिड़ी रोती रई गी।

डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, में इस प्रकार की कथाओं पर एक सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऐसी कहानियो को 'क्रम-संबृद्ध' कहानी कहा है। शरतचन्द्र मित्र ऐसी कहानी की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, 'अक्यूम्यूलेटिव्ह ड्रालस् आर कम्यूनेटिव्ह फोक टेल्स ऑर स्टोरीज इन विच दी नरेटिव्ह गोज आन बाय मिन्स ऑफ़ शार्ट एण्ड पेटी सेन्टेन्सेस् एण्ड, एट एव्हरी स्टेप ऑफ़ विच आल दी प्रिव्हीयस स्टेपस् देअर ऑफ आन रीपिटेड, टिल एट लास्ट दी होल सीरिज आफ स्टेप्स देअर ऑफ़ आर रीकेपिच्युलेटेड'।

उक्त कथा में एक विशेष गति-क्रम और जिज्ञासात्मक विलक्षणता निहित है। पूर्व कथित अंशों की पुनरावृत्ति, बाल-सुलभ मनोवृत्ति के अनुकूल-मनोवैज्ञानिक सामीप्य का प्रयास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार की कहानी में मुख्य पात्र द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति का उद्योग, पशु-पक्षी, मनुष्य, जड़ अथवा चेतन पदार्थ से सहायता के लिये प्रार्थना, क्रमशः प्रार्थना की निष्फलता, प्रतिहिंसा का अनुरोध और अन्त में क्षुद्र प्राणी के तैयार हो जाते ही कहानी पीछे की ओर लौटती है। क्रम-संवर्द्धता टूटती जाती है और प्रत्येक प्राणी अथवा पदार्थ अपनी हानि की आशंका से भयभीत हो मुख्य पात्र के कार्य के लिये तैयार होता जाता है। अन्त में अभीष्ट फल प्राप्ति के साथ कथा समाप्त होती है।

यह कहानी बिहार में तोता और मुर्गी के बच्चे की कहानी, बंगाल में तुन-तुनी पक्षी और नाई की कहानी, सीलोन की बटेरी की कहानी और ब्रज की कौए और ढोल वाली कहानी से मिलती है। निश्चय ही अन्य प्रान्तों में ऐसी ही कहानी भिन्न पात्र और पदार्थों को लेकर कही जाती है। उपकरण और पात्र बदल जाते हैं, किन्तु कथावस्तु, तन्त्र और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आता।

क्षुद्र प्राणी की सहायता के लिये तैयार हो जाना एक ऐसा वृत्त है जिसको कुछ विद्वान् बुद्धजातकों के आन्तरिक उद्देश्यों में निहित मानते हैं,[1] यद्यपि इस विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। क्षुद्र जीव का तत्पर हो जाना अनुभवगम्य सत्य है। 'भरोसे की भैंस पाड़ा व्याय' वाली मालवी कहावत में सन्निहित भावों में यह अनुभव भी छिपा है कि बड़ी और भरोसे की वस्तु भी कभी-कभी धोखा दे जाती है और जिसकी कल्पना न हो, ऐसी वस्तु काम दे देती है। छोटे मुँह बड़ी बात निकलना असंभव नहीं। फिर क्या मजाल है कि मच्छर जैसा प्राणी हाथी को न डरा दे। ऐसी कहानियों में जहाँ एक ओर बालमनोवृत्ति की तुष्टि के उपकरण अवस्थित हैं, वहाँ ठीक सामने छोटे और शक्तिहीन प्राणियों की उदारता द्वारा एक तीखा व्यंग्य भी प्रस्तुत है।

छत्तीसगढ़ी में इसी प्रकार की एक कथा है—'कौवे का चोंच धोना'[2] पर इस कथा में कौवे की मृत्यु लोहार द्वारा गरम हँसिये को उसकी गरदन पर रख देने से हो जाती है। प्रायः इस श्रेणी की कहानियाँ सुखान्त ही होती हैं। भोजपुरी में 'फदगुदी के उज्जोग' सुखान्त हैं। मालवी की उक्त कहानी भी सुखान्त है। क्रम-संवर्द्धता लोककथा की व्यापकता और उसके तन्त्र में सादृश्य-योजना को देख-

[1]ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन। [2]छत्तीसगढ़ की लोककथाएँ, पृष्ठ १४।

कर अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की लोककथाएँ काफी पुरानी हैं। कहीं-कहीं खुर से मिट्टी खोदने का उल्लेख पाकर संभावना व्यक्त की गई है कि इनका निर्माण पाषाण काल में हुआ होगा। किन्तु इस प्रकार के कमजोर प्रमाण-मात्र से यह कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। छत्तीसगढ़ी की उक्त लोक-कथा भी थोड़े हेर-फेर के साथ मालवा में कही जाती है। शिवकुमार 'मधुर' द्वारा संकलित कथा को आगे ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा रहा है :—

चिड़ी-कागला की कथा

सांझ पड़ने लगी और दिन आथमनें लागियो, उना बखत एक ओटला पै दुई चिड़ी को बच्चो गिरी गयो। कबीट का झाड़ पे बेठियो हुआ कागलो यो देखी रियो थो। ऊफर ने उड़ी ने आयो, ने चिड़ी से बोलियो कि इके तो मैं खऊंगा। चिड़ी बिचारी घबरई गई। सोची ने बोली कि 'थारी चोंच गोबर से खराब है पैला उके धोई न आ और फिर खाई लीजे'' कागलो खुशी-खुशी हुई ने कुवा कने गयो ने बोलियो कि—''कुवा तुम कुवनदास, हम कागदास, देवो घड़ा, खीचे पानी, धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाय कालो पूंछ।''

कुवो देखी ने बोलियो कि पानी देने में म्हारे कई बिगड़े पर कोई बर्तन होय तो लई जा। कागला पास बर्तन नी थो। बर्तन लेने वास्ते कुम्हार का पास गयो कुम्हार से उन्हें कियो—''कुम्हार तुम कुम्हारदास, हम कागदास, देवो घड़ा, खीचे पानी, धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाय कालो पूंछ।''

कुम्हार ने अपनो चाक रोकियो कागला से बोलियो कि मिट्टी तो सब खतम हुई गयी है। अबे तू मिट्टी लावे तो घड़ो बनाई दूं। कागलो मिट्टी लेने गयो। पर खोदने वास्ते पास में कई नी थो। इन वास्ते ऊ हिरन कने गयो। उनसे सिग्गी मांगी—''हिरन तुम हिरनदास, हम कागदास, देवो सिंगी खोदे मिट्टी, घड़ुन म्डलिया हेचें पानी धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाव-कालो पूंछ।''

हिरन ने भी दया आई गयी न इना सास ऊने कागला से कियो कि ऊके सिग्गी लेनी होय तो ऊ कुत्ता से म्हारे मरवई दे। इन काम के करने का बाद ही सिग्गी मिली सके। कागला दौड़ियो-दौड़ियो कुत्ता कने गयो ने कियो—''कुत्ता तुम कुत्तनदास, हम कागदास, मारो हिरन लेवें सिग्गी, खड़ुन घड़लिया, हेचें पानी, धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाय कालो पूंछ।''

कुत्ता ने बात सुनी। थोड़ो सोचियो ने कियो कि हिरन तो तेज भागे है। इन काम में उके बहोत मेहनत करनी पड़ेगी इस वास्ते पेला ऊ दूध पीले, फिर

हिरन को पीछी करी सकेगो। कागलो दूध सारू गाय कने गायो। गाय ने बोलियो—"गव्वा तुम गवनदास, हम कागदास, देवो दुद्धा, पीवे कुत्ता, मारे हिरन, लेवें सिग्गी, खोदे मिट्टी, घड़ुन घड़ुलिया, हेंचे पानी, धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाय काली पूंछ।"

गाय देखी ने बोली कि "म्हारे काम तो दूध देने ही है। पर इसका वास्ते पेला म्हारे खाने वास्ते चारा होनो जरूरी है। ऊ खाई ने ही दूध दूँगा।" कागला ने तो चिड़ी का बच्चा के खाने वास्ते मुंह में पानी अई रियो थी। ऊ फट से लपकी ने चारा कने गयो और बोलियो—"चारा तुम चरनदास, हम कागदास, देवो चारा, खावे गय्या, देवो दुद्धा, पीवे कुत्ता, मारे हिरन, लेवें सिग्गी, खोदे मिट्टी, घड़ुन घड़ुलिया, हेंचें पानी, धोवें चोंच, खाय चिड़ी के चोंच ले मटकाय काली पूंछ।"

चारा ने भी कागला को उतावलेपन देखी ने समझी गयो कि इके सच्ची में जरूरत है। उन्हें कियो कि "म्हारो काम भी यो ही है कि म्हारे कोई लई जाये। तू नी ली जायेगो तो थारो भई कोई दूसरो खोदी लई जायेगो। इना वास्ते तू खुरपी लया ने खोदी जा।" कागलो फुर से उड़ी ने लुहार कने गयो ने बोलियो कि उके एक खुरपी चहिये। लुहार ने खुरपी बनई ने रखी ही थी। वा गरम थी। इन वास्ते ऊने कियो कि थोड़ी देर बाद अई ने लई जा जे। पर चिड़ी का बच्चा के खाने को साबलो[1] कागला ने कियो कि "म्हारे तो तम ऐसी ही दई दो।" लुहार ने कियो कि "खुरपी कैसे लई ने जायगो?" कागला ने पीठ पर धरने को किया। लुहार ने चिमटा से उठई ने कागला की पीठ पे खुरपी धरी दी। कागलो थोड़ो ही उड़ियो ने नीचे गिरी पड़ियो। ऊका पीख जली गया था। ऊ झट पटई ने मरी गयो ने वंयाड़ी[2] चिड़ी का बच्चा के पंख निकली आया।

मालवी लोककथाएँ और अन्तर्प्रान्तीय साम्य—मालवा, ब्रज और निमाड़ की लोककथाओं में प्राय: समानता विद्यमान है। कतिपय लोक-कथाओं का स्वरूप तीनों हो जनपदों में एक-सा पाया जाता है।

ब्रज में प्रचलित 'ओथ द्वादशी'[3] की कहानी, मालवा में प्रचलित 'राजा ओढ़'[4] और निमाड़ में प्रचलित 'बिरला को तालब' की कहानी से मिलती-जुलती है। तीनों ही कहानियों में सूखे तालाब में तभी जल का संचार होता है जब राजा ओढ़ (कहीं-कहीं गाँव का पटेल) की पुत्र-वधू अपनी बलि देती हैं। कृष्णलाल

[1]उतावला, उत्सुक। [2]उधर। [3]ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६५। [4]देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध के पृष्ठ २१७-२१।

'हंस' द्वारा संग्रहीत 'निमाड़ी लोक कथा' (भाग २) में यही कहानी 'आदर्श बलिदान' शीर्षक से दी गई है ।

सूर्यनारायण संबंधी वार्ता का एक रूप ब्रज में भी उपलब्ध है । सूर्य की पत्नी और माता आपस में लड़ा करती थी । परिणामतः दोनों सूर्य के चले जाने पर कभी सुख से नहीं रह पाती थीं, जबकि सूर्य भगवान जितनी संपत्ति अपनी प्रजा को देते थे, उतनी ही दोनों को दे जाते थे । प्रजा आनन्द-चैन से रहती और ये दोनों कष्ठ उठाती थीं । एक दिन बहू ने पूछा कि ऐसी कौन सी बात है कि हम लोग उतनी ही सम्पत्ति पाकर दुखी हैं, पर सम्पूर्ण प्रजा उतने में ही सुख-चैन से रहती है ? सास-बहू दोनों अपने-अपने मार्ग से बेटे के पास पहुँची । बेटे ने स्पष्ट बात बता दी और तभी से दोनों सुखी रहने लगीं । यह वार्ता मालवा और निमाड़ में रविवार को कही जाती थी । मालवा में इसके तीन रूप हैं । आशय की दृष्टि से तीनों ही के कथानक समान हैं । एक में सास-बहू झगड़ती है और बेटे से उसका कारण जानकर सुखी होती हैं । दूसरे में सास बहू से छुपाकर कुम्हार से ऐसा पात्र बनवाती है जिसमें दो भाग थे ।[1] एक-भाग में वह खीर पकाती है और दूसरे में खिचड़ी । सूर्यनारायण के आने पर यह भेद खुलता है और समस्त कुम्हारों को आज्ञा दी जाती है कि उनके राज्य में कोई भी ऐसा पात्र न बनाये जिसके भीतर से दो भाग हों । तीसरे में दुखी होने का कारण दान, धर्म, सेवा आदि का अभाव बताया गया है । सूर्यनारायण सास-बहू की अनेक प्रकार के परीक्षा लेते हैं और अन्त में दोनों को खरी पाते हैं । ब्रज में जो कहानी उपलब्ध है, उसमें बहू के काम न करने से दुःख उत्पन्न होता है, किन्तु सबको कर्मरत देखकर बहू भी कार्य करने लगती है । सूर्यनारायण साधू का वेश धरकर उसकी परीक्षा लेते हैं ।[2] सूर्य और उनकी पत्नी तथा माता का सम्बन्ध यहाँ पूर्णतः लौकिक हो गया है ।

दीपावली की कहानी के विभिन्न रूपान्तर प्रायः एक ही जनपद में पाये जा सकते हैं । वैसे सम्पूर्ण उत्तर भारत में इस कहानी का स्वरूप एक-सा है । मालवा में यह कहानी एक ब्राह्मणी को चील द्वारा रानी की माला प्राप्त हो जाने से आरम्भ होती है । ब्राह्मणी तभी माला लौटाती है, जब राजा से यह वचन ले लेती है कि दीपावली के तीन दिन सिवा उसके राज्य में किसी के घर दीपक नहीं जलेगा । राजा मान जाता है । इन्हीं दिनों लक्ष्मी ब्राह्मणी के घर प्रकाश देखकर जाती है, किन्तु ब्राह्मणी तभी उन्हें घर में प्रवेश करने की

[1] इसे 'दो मुंडा की दागी' वार्ता के नाम से भी सम्बोधित करते हैं ।
[2] ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६१-६२ ।

आज्ञा प्रदान करती है, जब स्वयं लक्ष्मी उसके घर बहू बनकर आती है। निमाड़ में ब्राह्मणी के स्थान पर जाट और जाटनी का प्रयोग प्रचलित है। ब्रज में भी यही रूप है।

सर्प सम्बन्धी लोककथाओं की मालवा में कमी नहीं। सर्प किसी कहानी में भाई बनकर आता, कहीं सहायक और कहीं सम्पत्ति का रखवाला। निमाड़ में प्रचलित ऊन बसानेवाले एक राजा सम्बन्धी लोकवार्ता है जिसमें दो साँपों की बात दुखी राजा की पत्नी सुनती है[1] और उसके अनुसार चूरा पिलाकर पहले तो राजा का रोग दूर करती है और फिर बताये हुए पेड़ के नीचे के बिल में गरम तेल डालकर सम्पत्ति पर बैठे हुए सर्प को मारती है। इस प्रकार राजा के हाथ में अपार सम्पत्ति आ जाती है और वह उस स्थान पर ९९ मंदिर बनवाता है। सौ में एक मंदिर कम रहने से उस स्थान का नाम न्यून (अथवा ऊन) पड़ जाता है। 'शक्कर बहन' मालवी वार्ता में बहन भावज से त्रस्त, भाइयों के परदेश जाने पर जंगल में बिना रस्सी के लकड़ी बीनने जाती है। उसे रोती देख कर एक सर्प को दया आ जाती है और वह स्वयं एकत्रित लकड़ियों पर लिपट जाता है। इस प्रकार वह शक्कर बहन की सहायता करता है। एक कथा में एक लड़का मछली पकड़ने जाता है तो उसके जाल में एक सर्प आ जाता है। वह उसे मारने के लिये अपना गंडासा उठाता है तो सर्प कहता है कि "मुझे न मारो, मैं अपनी लड़की से तुम्हारा विवाह कर दूँगा।" लड़के का विवाह सर्प की लड़की से हो जाता है और दहेज में उसे एक अंगूठी मिलती है जिसकी सहायता से दोनों पति-पत्नी एक महल बनाते हैं। और उसके आस-पास नगर बसाकर सुख से रहते हैं।[2] इसी प्रकार एक कहानी में सर्प काटने के लिये आता है तो पति-पत्नी उससे प्रार्थना करते हैं, कि उन्हें न काटा जावे, क्योंकि वे भविष्य में सदैव नाग की पूजा करेंगे। कुछ कहानियों में सर्प को एक स्त्री अपना भाई मानती है। भाई को बुलाने पर सर्प उसकी सहायता करता है। मालवा की सर्प सम्बन्धी लोककथाएँ निकटस्थ प्रान्तों की कथाओं से अनेक अंशों में समान हैं।[3] सर्प एक अभिप्राय के रूप में इन कहानियों में आता है। इसके दो स्वरूप हैं—(१) कल्याणकारी (२) हानिकारक। चूँकि मालवी कथाएँ कृषि-सभ्यता के विकास की द्योतक हैं, अतः उनमें सर्प का हितकारी स्वरूप ही अधिक विकसित हुआ

[1] ब्रज में भी इसी आशय की एक कहानी मिलती है। देखिये, ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४७९। [2] निमाड़ की लोककथा (भाग २) की ७वीं कहानी से मिलाइये। दोनों में मामूली अन्तर है। [3] देखिये— मरु भारती, अगस्त, सं० २०११, पिलानी।

सर्पपूजा सम्पूर्ण मालवा में प्रचलित है। एक ओर जहाँ विषधर सर्प को कुचलने की प्रवृत्ति पायी जाती है, वहाँ दूसरी ओर श्रावण पंचमी के दिन उसे दूध-पिलाकर पोषित भी किया जाता है। कतिपय कहानियों में सर्प के पातालवासी होने का उल्लेख प्राप्त है। पताललोक में उसके अनेक महल हैं जिनमें पहुँचना साधारण मानव के लिये संभव नहीं। पाताल के मार्ग से होकर इन महलों में प्रवेश किया जाता है। महाभारत का प्राचीन अभिप्राय[1] इसमें अनेक कथानकों में ज्यों का त्यों व्याप्त है। किसी व्यक्ति को उसके शत्रु मारकर पानी में फेंक देते हैं। वह बहता-बहता नाग लोक में पहुँच जाता है। नाग उसकी सहायता करते हैं और अन्त में वह अपार सम्पत्ति लेकर धरती पर पुनः जीवित होकर आ जाता है। स्व० झवेरचन्द मेघाणी ने इन कथाओं के मूल में नाग नामक अनार्य जाति द्वारा आर्यों पर किये गये उपकारों की कल्पना की है।[2] क्योंकि नाग सम्बन्धी गीतों में, जो मालवा के अतिरिक्त राजस्थान और गुजरात में भी प्रचलित हैं, नाग-नागोली के जीवित रहने की कामना की गई है।

एक अद्भुत कहानी के अनुसार पहले बादल धरती के निकट थे। जब कभी पानी की आवश्यकता होती, उन्हें रोक कर पानी ले लिया जाता था। एक बूढ़ी स्त्री रोज प्रातःकाल उठकर बुहारा करती थी। प्रायः उसकी कूबड़ इन बादलों से टकरा जाती थी। एक दिन उसने क्रोध में आकर बादलों को ऐसी झाडू टिकायी कि वे बेचारे ऊपर चले गये। तब से वे ऊपर ही हैं। एक व्रज लोक-कथा भी इसी प्रकार की है। निमाड़ में भी यही कहानी इसी प्रकार के कथानक से पूर्ण है। एक कथा के अनुसार सूर्य और चन्द्र मेघ के पुत्र हैं। दोनों में चन्द्र सुन्दर था, इसलिये शीघ्र विवाह कर सका। सूर्य ने अपना विवाह करने के लिये ईर्ष्यावश एक दिन चन्द्र का सिर काट लिया। जब उसका भी विवाह हो गया तो उसने चन्द्र के सिर के टुकड़े कर दिये। वही टुकड़े चन्द्र १५ दिन में जोड़ कर अपने को पूर्ण बनाता है और सूर्य क्रोध में उन्हीं टुकड़ों को एक-एक कर फिर छिन्न-भिन्न कर देता है। यह कहानी आदिम अवस्था के कतिपय अभिप्रायों की सूचक प्रतीत होती है। निमाड़ में इसी आशय की कहानी उपलब्ध है।

'सोना-रूपा' के संबंध में एक मालवी कहानी बड़ी महत्वपूर्ण है। एक राजकुमार अपनी स्वर्ण और रूपा (चाँदी) के केशवाली बहनों से विवाह करने

---

[1]महाभारत के भीम को कौरवों ने विष पिलाकर गंगा में फेंक दिया था। वह नागलोक में पहुँच गये। वहाँ आर्यक के कहने पर वासुकि ने उन्हें अमृत पिला दिया। यही कथा लोककथाओं के रूप में अनेक तरह से लिखी है। [2]लोक साहित्यनुं समालोचन, पृष्ठ ३०-३१।

की जिद्द करता है। सभी प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मना करने पर भी वह अपना हठ नहीं छोड़ता। अन्त में विवाह की व्यवस्था की जाती है। इधर सोना-रूपा अपने सतीत्व की रक्षा के लिये वर्षों से जल द्वारा पोषित चन्दन के पेड़ की शरण में जाती हैं। वे दोनों पेड़ पर जाकर बैठ जाती हैं। लग्न का समय निकट आ रहा था। महल में दोनों बहनों को न पाकर दास-दासियों ने बाग में जाकर खोज की तो देखा दोनों बहनें चन्दन के पेड़ पर बैठी हैं। माता और पिता उन्हें बुलाने पहुँचते हैं। दोनों नीचे नहीं उतरती, तब भाई स्वयं बुलाने आता है तो वे कहती हैं :—

पेलां तो हम भैयाजी हो केती
अबे सायबजी कैसे कांगा ?
फट-फट रे म्हारा चंदन का रूखड़ा
तू फटी क्यों नी जाय ?[1]

अर्थात् पहले तो हम भाई कहा करती थीं, अब आपको प्रियतम कैसे कहेंगी ? हे चन्दन के वृक्ष तू फट क्यों नहीं जाता ?

चंदन का वृक्ष फट जाता है और दोनों बहनें उसमें समा जाती हैं। कुछ स्थानों पर यही वृक्ष इतना ऊँचा हो जाता है कि बहनें आसमान में समा जाती हैं।

लोकवार्ता में स्वर्ण की कल्पना अनेक प्रकारों से व्यक्त हुई है। कहीं स्वर्ण-मृग नायक को विचित्र लोक में ले जाता है तो कहीं स्वर्ण-पुरुष नायक की सहायता करता है। सोने के बालवाली राजकुमारियों की चर्चा प्रायः सभी प्रान्तों की कथाओं में आई है। काश्मीर की एक लोककथा 'शाहजादा शेरदिल'[2] में इसी प्रकार की एक राजकुमारी नदी में स्नान करके लौटी तो कंघी करते हुए कुछ बाल उसके हाथ में आ गये। वह उन्हें एक दोने में रखकर बहा देती है। बाल एक अन्य राजकुमार को मिलते हैं और वह उस राजकुमारी को पाने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। बुंदेलखण्ड, बंगाल और ब्रज में भी इस कथा के रूपान्तर प्राप्त हैं। भोजपुरी में यही कथा अच्छे ढंग से कही गई है और 'बालामदन रानी' के नाम से प्रख्यात है।[3] मालवा की प्रसिद्ध दड़ा 'पटेल'[4] और पंजाब की 'भोला'[5] कथाएँ एक ही उद्देश्य से कही गई हैं। 'काना भाई'[6] कथा का आशय भी यही है।

[1]मालवा की लोककथा, पृष्ठ ४३। [2]काश्मीर की लोककथा (भाग २) पृष्ठ ३०। [3]देखिये, भोजपुरी भाषा और साहित्य, डॉ० उदयनारायण तिवारी, परिशिष्ट ३४४। [4]मालवा की लोककथाएं, पृष्ठ ६। [5]पंजाब की लोक-कथाएँ, पृष्ठ ३३। [6]अवध की लोककथाएँ, पृष्ठ १४।

'अनमानेती' शीर्षक मालवी लोक-कथा सौतों के अत्याचार से पीड़ित पुत्रवती रानी के संबंध में है जो बाद में भेद खुलने पर सम्मानित होती है और राजा उसी के पुत्रों को पाकर शेष रानियों को दण्ड देता है। 'अनमानेती'[1] का कथानक विभिन्न रूपों में हिमाचल प्रदेश: (कानी हरमान[2]), निमाड़ (सौतिया डाह[3]), बंगाल (सात भाई चम्पा[4]), उत्तर भारत (सात भाई और पूलनदे[5]) और व्रज में भी मिलता है। मेरा अनुमान है कि 'अनमानेती' का कथानक एशिया की विभिन्न लोककथाओं में पाया जा सकता है। सौतों के द्वारा पुत्रवती रानी के प्रति अत्याचार और उसके निवारण का अभिप्राय काफी पुराना है।

'ठनठन पाल' शीर्षक कथा से सभी परिचित हैं। सभी प्रान्तों में यह प्रचलित है। भोजपुरी का 'ठठपाल' तथा छत्तीसगढ़ी का 'ठनठनिया' मालवा, और राजस्थान में 'ठनठन पाल' ही है। जातक कथा का पापक नामक पात्र नाम की समस्या का समाधान करके कहता है :—

जीवकञ्च अन्त बिस्या
धनपालिञ्च दुगातं
पंथकञ्च वने मूल्हं
पापको पुनरागतो।[6]

आशय स्पष्ट है। अमरपाल को मरते हुए देखा और धनपाल को खेत जोतते हुए, तथा लक्ष्मी को गोबर उठाते हुए। यह देखकर ठनठनपाल को समाधान हो गया। कथा का यही वृत्त सर्वत्र है, किन्तु जातक में जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उससे कथा के मूल का पता चलता है। दो हजार वर्ष पूर्व जो लोक-कथाएँ प्रचलित रही होंगी, उनमें से एक कथा यह भी रही है।

मालवी की कथा 'चिड़ा-चिड़ी'[7] और राजस्थान की लोक-कथा 'चिड़िया की चालाकी'[8] का कथा-वृत्त समान है। 'हमऊँ कबऊँ राजा हतु' जैसी गीदड़ संबंधी कथा मालवा में 'धरती और आसमान' के विवाह के प्रसंग के अन्तर्गत आती है। मालवा में सियार धरती से आसमान का विवाह करने के लिये आसमान को नीचे बुलाता है। देवता इस बात से घबरा जाते हैं और सियार को धरती का राज्य सौंप देते हैं। तभी से प्रत्येक रात्रि को ये 'हूँ-आँ हूँ-आँ' करके अपने

[1]मालवी लोक-कथा, पृ० २६। [2]हिमांचल की लोककथाएँ (इ० एस० ओकेले तथा तारादत्त गैरोला), पृ० ३५-३६। [3]निमाड़ी लोक कथाएँ, पृ० ११। [4]बंगाल की लोककथाएँ, पृ० १-४। [5]उत्तर भारत की लोककथाएँ, पृ० ३४-३८। [6]जातक (भाग १), जातक संख्या ९७, पृ० ५२६। [7]मालवा की लोककथाएँ, पृ० ४५। [8]राजस्थान की लोककथाएँ, पृ० २६।

प्रभुत्व का परिचय देते आ रहे हैं। ब्रज में कुत्ते, सियारों को जंगल में खदेड़ देते हैं और स्वयं नगरों में आ जाते हैं। चूँकि कुत्ते उन्हें फिर से नगरों में नहीं आने देते, अतः वे प्रत्येक रात्रि का 'हमऊँ कबऊँ राजा हते' की घोषणा शहर के समीप आकर किया करते हैं। सियारों के बोलने का कारण दोनों की कथाओं का उद्देश्य है। एक प्रकार से यह कहानी कारण-निर्देशक है। मालवी कहानी में सियार होशियार सिद्ध होता है और ब्रज में धूर्त।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मालवा की कई कथाएँ दूसरे प्रान्त की कथाओं के समान है। यह समानता लोक-साहित्य में सर्वत्र देखी जाती है। लोकभावनाओं की अभिव्यक्ति अपनी-अपनी भाषाओं में होती है। भारतीय संस्कृति में एक आन्तरिक साम्य है। लोक-कथाओं के अभिप्राय, वृत्त, पात्र और शैली इस बात की पुष्टि करते हैं। उत्तर-भारत के समस्त जनपदों में वर्षों से आदान-प्रदान का क्रम चलता आ रहा है। विदेशों में जो कथा-वृत्त पहुंचे हैं, संभवत: वे मध्यवर्ती भारत से ही पसरे हैं।

मालवी लोक-कथाओं की विशेषताएँ—मालवी लोककथाएँ मैदानी हैं। पहाड़ी कथाओं की तुलना में भूतप्रेतों या परियों के प्रति विश्वास का प्रभाव उनमें कम है। यद्यपि समस्त जनपदों के लोक-साहित्य में अभूतपूर्व समान सिद्धान्तों का प्राधान्य है, तथापि प्राकृतिक उपकरणों का उन पर जो प्रभाव होता है वही उनकी अपनी मौलिकता है। मालवा सदैव विभिन्न जातियों के संपर्क में आता रहा है। यहाँ की काली माटी ने लोगों को आकर्षित किया। उसकी उपजाऊँ शक्ति के कारण प्रकृति के प्रकोप से भयभीत होकर पहाड़ी लोक-साहित्य की तरह उनमें विचित्र कथानकों का समावेश नहीं के बराबर हुआ है। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण केवल राजाओं के वीरोचित कार्यों और उनकी प्रजा पर घटित होनेवाले प्रभावों को ही अभिव्यक्ति मिली है। जहाँ राजा और रानी पात्र हैं, वहाँ पशुपक्षी, साधारण किसान, देवी-देवता, अलौकिक पुरुष और साधारण वस्तुओं को भी कहानियों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मध्यवर्ती भारत में नाथ साधुओं अथवा सिद्धों का प्रभाव कुछ कहानियों में लक्षित किया गया है। उनके तांत्रिक चमत्कारों के उल्लेख भी मिलते हैं। 'बिरणबई' कहानी में साधु, कन्या को अपने साथ भगा ले जाता है।[1] उसके सात भाइयों को वह तोते बना देता है। 'शक्कर बहन' कहानी में तो भाई अपनी बहन को 'मोण की माखी' (मोम की मक्खी) बना लेता है। मृत व्यक्ति के जीवित होने, मृग द्वारा स्वर्ण मुद्रा प्राप्त होने[2], गणेशजी के साधारण बालक

[1]मालवी लोक-कथाएँ, पृ० ५। [2]वही, पृ० ५८।

के रूप में आकर भोजन करने,[1] ठोकर लगने पर अपने प्रिय के मृत होने की सूचना पाने,[2] जड़ और चेतन वस्तुओं द्वारा बालकों के पाले जाने,[3] बार्‌या (मृतिका पात्र) द्वारा साधारण मानव के सभी कार्यों को सम्पन्न किये जाने[4] आदि के विचित्र अभिप्राय मालवी कथाओं में उपलब्ध हैं।

मालवी लोकवार्ताओं में कृषि सभ्यता के समस्त उपकरणों की अभिव्यक्ति हुई है। पशु-जगत का उनमें मानव से गहरा सम्बन्ध है। साधारण पात्र के प्रति संकट में सहानुभूति के लिये तुरन्त दूसरे पात्र उपलब्ध हैं। सत की महत्ता बखानी गई है; क्रूर, अन्यायी और लोभी सदैव नत हुए हैं। लौकिक शक्तियों की तरह इस प्रकार के कार्यों में अलौकिक शक्तियाँ भी सहायक होती हैं। व्रतकथाओं में धार्मिक लोक-वार्ता का समावेश विशेष उल्लेखनीय नहीं है। अनेक वार्ताएँ अभी भी अनगढ़ रूप में प्रचलित हैं। मालवा के पठार पर बसने वाले आदिवासियों की लोक-कथाओं का भी इन पर प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। प्रेतात्मा और जादू-टोने के प्रसंग में हमें जंगली अवस्था के अनगढ़ विचारों का पता चलता है। भीलों में प्रचलित माही नदी की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

मध्य भारत के आदिवासियों और मालवा तथा निमाड़ की जातियों में अच्छी कथाएँ प्रचलित हैं। कुछ कथाएँ पौराणिक आख्यानों के रहस्यों को स्पर्श करती है। मध्य भारत के गोंड और सहरियों में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी और मानव जाति के विकास विषयक कथाएँ इस अभिप्राय को स्पष्ट करती हैं। इन जातियों के सम्मुख प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री के आविर्भाव की समस्या में एक प्रधान समस्या है। कहीं-कहीं ऐसी कथाएँ आती हैं जिनमें दोनों भाई-बहन बताये गये हैं (देखिये, सेन्सस रिपोर्ट, १९३३), पर इनका सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से हेय है। अतः कथाओं में इस अनैतिकता को ढकने के लिये किसी रोग की कल्पना और प्राकृतिक जटिलता की सृष्टि की गई, जिसके कारण दोनों अनजाने मिल जाते हैं और सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि जहाँ जटिलता कम होगी, वहाँ कहानी उतनी ही आदिम हो सकती है। भारतीय दर्शन में परम पुरुष, स्त्री की सृष्टि करता है और कभी स्त्री के रूप में आदि शक्ति के नाते वह पुरुष की सृष्टि कर लेता है। कबीर ने बीजक में कहा है।

"तब ब्रह्मा पूछल महतारी
को तोर पुरुष केकरि तुम नारी।
हम-तुम, तुम-हम और न कोई
तुम मोर पुरुख तोहर हम जाई।।"

[1] मालवी लोककथाएँ, पृ० ५४। [2]वही, पृ० ४८। [3]वही, पृ० ३०। [4]वही, पृ० १।

मालवी लोककथाओं में नैतिक मान्यता, नीति, अपनत्व, धर्मभीरुता, रूढ़ अभिव्यक्ति एवं मध्यकालीन विश्वासों की झलक है। निमाड़ी और मालवी लोक-कथाएँ एक दूसरे के पर्याप्त निकट है। उनमें सांकेतिकता के लक्षण द्रष्टव्य है। इन कथाओं के अध्ययन से हम अनेक निष्कर्षो पर पहुँचते हैं। 'सोना-रूपा' में हम सृष्टि-प्रक्रिया के निमित्त भावनाओं का प्रभाव पाते हैं। समाजिकता के लक्षण वाद की कथाओं में झलके हैं। इस दृष्टि से 'कथा सरित्सागर' की अनेक कथाएँ मध्य भारत की ही घटनाओं से जुड़ी हैं। विन्यास का महत्व इन घटनाओं के लिये उनमें विशेष महत्वपूर्ण है।

अध्याय ६

लोकोक्ति साहित्य की रूप-रेखा

'लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है'।[1] लोकोक्ति की यह व्याख्या उसके व्यापक अर्थ की द्योतक है। इस प्रकार लोक-साहित्य के वे समस्त अंग जिनका संबंध उक्तियों से है और जो अपने बुद्धिपरक सारगर्भित्व के नाते लोक-प्रचलित हैं, लोकोक्ति साहित्य के अन्तर्गत स्थान पा सकते हैं। संसार के समस्त देशों में उक्ति-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। मानव-स्वभाव और परम्परा से प्राप्त अनुभूति के सजीव तत्वों की भाँति उक्तियाँ मौखिक सम्पत्ति रही हैं। जहाँ तर्क हार मान लेता है, बुद्धि काम नहीं करती है, वहाँ छोटी सी उक्ति समाधान करने की सामर्थ्य रखता है।

लोकोक्ति का क्षेत्र व्यापक है, किन्तु उसकी गठन सूक्ष्म। लोकजीवन के वर्षों के अनुभूत सत्य लोकोक्ति का बाना पहनकर जन-मानस में प्रवेश पाते हैं और समयोचित प्रयोगों से उनका लाक्षणिक अर्थ-गौरव क्रमशः महत्ता प्राप्त करता है। इसीलिये डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोकोक्तियों को 'मानवीय-ज्ञान का घनीभूत रत्न'[2] कहा है। वास्तव में लोकोक्ति थोड़े से में अधिक कहने की सामर्थ्य रखती है।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोकोक्ति के व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर उसके दो प्रकार बताये हैं—१. पहेली और २. कहावतें। पहेली को लोकोक्ति इस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है कि उसके द्वारा लोक-मानस 'अर्थ गौरव की रक्षा करता है'। यद्यपि पहेली में बुद्धि परीक्षा का तात्पर्य निहित

---

[1]ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५१६। [2]मेवाड़ की कहावतें (भाग १) पुस्तक की भूमिका, प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर।

है, तथापि उसका सूत्र रूप और मूल अर्थ को गोप्य रखने की शैली उसे लोकोक्ति के निकट ले आती है।

पहेली की प्रवृत्ति कहावत से भिन्न है। कहावतें जहाँ अनुभूत सत्य के आधार पर सूत्र रूप धारण करती है, वहाँ पहेलियाँ बुद्धि-परीक्षा के उद्देश्य से कहावतों से अधिक शब्दों में आबद्ध विशेष शैली में रचित पद हैं। दोनों की बनगट (रचना) उक्तियात्मक है, इसलिये पहेली को भी लोकोक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है।

मालवी लोक-साहित्य में पहेली को 'पारसी' या 'प्याली' और कहावत को 'केवात' कहा जाता है। प्रारंभ में हम 'केवात' अर्थात् लोकोक्तियों पर विचार करेंगे और तत्पश्चात पहेलियों पर।

(अ) केवात (लोकोक्तियाँ)

'केवात' (कहावत) और मुहावरा दो भिन्न प्रयोग हैं। मालवी में जिसे 'केवात' कहा जाता है, वह वस्तुतः कहावत या लोकोक्ति का देशज प्रयोग है जिसका प्रत्यक्ष अभिधेय अर्थ से विलक्षण अर्थ होता है।[1] यों मुहावरे प्रायः वाक्यांश होते हैं जिनका लाक्षणिक अर्थ के लिये बोलचाल में प्रयोग किया जाता है। मालवी की 'केवात' वाक्यांश और पूर्ण वाक्य दोनों रूपों में उपलब्ध हैं। वाक्यांश रूप मुहावरा के द्योतक हैं। 'हराम का हाड़का', 'पैलां जाया ने पैलां बोया', 'काणी राणी ने विघन धणा' आदि मुहावरे हैं, किन्तु केवात कहलाते हैं। 'केवात' की मालवी में कमी नहीं। पूर्ण वाक्य-रूपों में कहावतों का प्रयोग प्रायः बोलचाल में किया जाता है।

कहावतों और मुहावरों के भेद को स्पष्ट करते हुए कन्हैयालाल सहल ने लिखा है—

'मुहावरे किसी वाक्य के सूक्ष्म शरीर हैं, स्थूल शरीर के बिना जिनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। लोकोक्ति वाक्य समाज-भाषा के प्रमाणिक व्यक्ति हैं, जिनका व्यक्तित्व ही उनकी प्रमाणिकता का प्रमाण होता है, जहाँ कहीं और जिस किसी के पास जा बैठे, उनकी तूती बोलने लगी।"[2]

संसार के समस्त देशों में कहावतें भाषा का शृंगार करती हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोकोक्तियों की जीवन की गुत्थियों अथवा उलझनों को सुलझाने वाला साधन कहा है। "लोकोक्ति का आश्रय पाकर मनुष्य की तर्कबुद्धि शताब्दियों के संचित ज्ञान से आश्वस्त-सी बन जाती है और उसे

[1]हिन्दी शब्द सागर, पृ० २७६३। [2]कल्पना, मई १६५४।

अँधेरे में उजाला दिखाई पड़ने लगता है, वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में तुरन्त समर्थ बन जाता है।"[१] डॉ० फेलन ने वर्षों पूर्व एक ऐसे ही व्यक्ति का उल्लेख किया था जो तर्कबुद्धि की अपेक्षा कहावत के कथन मात्र से आश्वस्त हो गया।[२] अतएव, कहावत या लोकोक्ति तर्कबुद्धि की कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् अन्तिम निर्णय की सूचक, अनुभूत सत्य की खरी ज्योति है।

'गागर में सागर' भर देने का गुण लोकोक्तियों में विद्यमान है। व्यापक समस्याएँ, अनुभव-गाम्भीर्य और जटिल प्रश्न छोटे-छोटे नुकीले और गठे हुए वाक्य या वाक्यांशों में सिमिटकर सदा से प्रचलित रहे हैं। लोक-साहित्य में लोकोक्ति-साहित्य का बड़ा महत्व है। जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्वसाधारण जन के मानस को प्रभावित करके उसकी अभिव्यक्ति से संबंधित अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये ही अनुभव लोकोक्तियाँ अथवा कहावतें हैं।

अनुभवों के पृष्ठ में जीवन के घटना-व्यापार कार्य करते हैं। कहावतें अथवा लोकोक्तियों में घटनाएँ झलकती हैं। ऐसी अनेक कहावतें हैं जिनकी पृष्ठभूमि पूर्णरूपेण घटनापरक है। गढ़वाली में 'पखाणो' या 'अखाणो' शब्द कहावतों के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि 'पखाणो' (पाख्यान) उपाख्यान से और 'अखाणो' आख्यान से संबंधित है, किन्तु 'पखाणो' का प्रचलित रूप कहावतों के अनुरूप ही है।

कहावतों की व्यक्तित्व से प्रभावी सत्ता नहीं होती। कहावत वस्तुत: उक्ति है, पर 'लोक' से संबंधित होने के कारण वह लोकोक्ति कही जाती है, उसका प्रचार जन के स्वीकार्य पर निर्भर है। लोगों के अनुभव का सादृश्य उसे महत्ता प्रदान करने में जब तक योग नहीं देता तब तक कहावतें लोकोक्ति नहीं कही जा सकतीं। अनुभव जब सार्वजनीन हो जाता है और सबकी बुद्धि और मन को प्रभावित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, तभी कहावत के रूप में उसका जन्म होता है।

कहावतें अपनी प्राचीनता के लिये लोक-साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। सभ्य किंवा असभ्य, सभी प्रकार के लोगों में सर्वदा कहावतों का प्रयोग देखा जाता है। जीवन के स्वभाव से उनका निकटतम संबंध है। जिस प्रकार बिना लवण के भोजन फीका लगता है, उसी प्रकार भाषा और बोलियों के क्षेत्र में बिना कहावत के प्रभावी तत्व नष्ट हो जाते हैं।

---

[१]मेवाड़ की कहावतें, भूमिका से उद्धृत। [२]देखिये, बाइड पायोनियर, ६ दिसम्बर १८८४।

कहावतों की प्राचीनता—"ऋग्वेद से शुरू करके अब तक के भारतीय साहित्य में प्रवाद और कहावतों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कितने ही पूरे अर्ध ऋटक्, पाद या अर्ध पाद को अर्थंत: लोकोक्ति या कहावत कहा जा सकता है।"[1]

ऋग्वेद की तरह ब्राह्मण-ग्रन्थों में कितने की प्रवाद वाक्य उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

१ कृष्णो वै भूत्वा पर्जन्यो वर्षति (काली घटा बरसंत)

२ सत्यं वा धर्म:

३ मनुष्या एवैकेऽतिक्रामंति

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'सुभाषित' शब्द लोकोक्ति अथवा कहावत का ही पर्याय जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण की एक उक्ति "चक्षुर्वै सत्यम्"[2] मालवी की 'आँखों देखी कदी न झूठी' अथवा राजस्थान की 'आंख्या देखी परसराम कदे न झूठी होय' जैसी कहावतों से मिलाकर देखने से प्रवाद, सुभाषित और लोकोक्ति की समानता सिद्ध होती है। 'अथैव कुरू यच्छेय:' जैसी उपनिषद् की लोकोक्ति 'काल करे सो आज कर' जैसी कहावतों के रूप में आज भी प्रचलित है। वाल्मिकीय रामायण में तो सूक्तियों की कमी नहीं। 'अहिरेव अहे: पादान्विजानाति न संशय:'[3] (खग जाने खग ही की भाषा) 'न कश्चिन्नापराध्यंति'[4], 'यथा हि कुरूते राजा प्रजास्तुमनुवर्तते'[5] (यथा राजा तथा प्रजा) आदि लोकोक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। बहुत सी लोकोक्तियाँ सभी भारतीय भाषाओं में समानत: मिलती हैं। 'महाभारत' तो लोकोक्तियों का भण्डार है। पुराणों की कहावतें भी द्रष्टव्य हैं।

लोकोक्ति-साहित्य नीति-साहित्य का भाग है। मिश्र, बैबिलोन, भारत आदि देशों के प्राचीन ग्रन्थों में इस नीति-साहित्य की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। बाइबिल का 'प्रोवर्ब' नामक अध्याय, पंचतंत्र की कथाएँ, उपनिषद्-युग के पश्चात् का बौद्ध-साहित्य तथा प्राकृत एवं संस्कृत ग्रंथों में नीतिपरक अथवा बुद्धिपरायण साहित्य की बहुत सामग्री पायी जाती है। भारतीय भाषाओं में प्राचीन ग्रन्थों की यह परम्परा आज तक सजीव एवं गत्यात्मक बनी है। प्राचीन ग्रन्थों की सैकड़ों कहावतें कालान्तर में प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हो गईं। वस्तुत: आज की असंख्य कहावतें संस्कृत, प्राकृत और पाली के नीति-साहित्य की

[1]देखिये—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखित 'राजस्थानी कहावतां' की भूमिका। [2]तैत्तिरीय ब्राह्मण१।५४। [3]बाल्मीकीय रामायण ५।४२।६; [4]वही, ४।३६।१; [5] वही, ७।४३।१६;

उत्तराधिकारिणी हैं। काकतालीय, अजाकृपाणीय, अरण्यरोदन, अन्धदर्पण, आदि शतशः न्यायों के रूप में संस्कृत की सुगठित कहावतें पाई जाती हैं। 'लौकिक न्यायाञ्जलि' ग्रन्थ के तीन भागों में जेकब नामक विद्वान् ने अपने पचास वर्षों के अध्ययन के फलस्वरूप इन प्राचीन न्यायों पर बहुत ही सुन्दर सामग्री का संकलन किया है। हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्राचीन न्याय और लोकोक्तियों का उत्तराधिकार बहुत अंशों में यथावत् चला आया है। राजशेखर का 'हत्थकंकरण', 'किं दप्पणेण पेक्खी'[1] आदि हिन्दी में 'हाथ कंगन को आरसी क्या' जैसे सुन्दर रूप में जीवित है। इस प्रकार और भी न जाने कितना लोक-साहित्य प्राचीन काल की विचारपटुता लिये हुए अर्वाचीन कहावतों में घुलमिल कर बचा हुआ है।[2] आज हम बड़ी सरलता से कह देते हैं 'अकल बड़ी का भैंस' अर्थात् हम अपरोक्षतः बुद्धि की महत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। चाणक्य ने एक श्लोक में कहा है कि बुद्धि असंख्य सेनाओं से बढ़कर है। चाणक्य के सूत्र तो अधिकांश लोकोक्तियाँ ही प्रतीत होते हैं, उदाहरणतः 'न क्षुधार्तोऽपि सिंहस्तृणं चरति' (सिंह भूखा होकर भी घास नहीं खाता), 'अयसेरायसं छेद्यम्' (लोहा लोहे को काटता है), 'श्वो मयूराद् कपोतो वरः' (कल के मोर से आज का कबूतर भला) आदि लोकोक्तियाँ ही हैं।

अस्तु, कहावतों की प्राचीनता के संबंध में कोई संशय नहीं। कहा जाता है कि पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू और प्लेटो ने भी अपने समय की कहावतों का संकलन किया था। बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहावतों का आश्रय लिया। नीति का हर वाक्य सूत्र रूप में मुखरित हुआ।

कहावत की परिभाषाएँ—कहावत की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) तत्वज्ञान के खण्डहरों में से चुनकर निकाले हुए टुकड़े - बचा लिये गये अंश। अरस्तू
(२) जीवन में व्यवहृत प्राचीन काल के छोटे-छोटे कथन। —एग्रीकोला
(३) जनता में निरन्तर व्यवहृत होने वाले लघु कथन। —जॉनसन
(४) व्यवहारिक जीवन के मार्ग-दर्शक वचन। —फिश्ते
(५) वे कथन जो अनाम हैं, जिनके निर्माता का पता नहीं। —ट्रैंच
(६) दीर्घकालीन चतुराई से बने हुए छोटे-छोटे कथन। —सर्वेण्टीज
(७) सर्वथा जनता की अपनी भाषा में किसी सर्वमान्य लाभ को थोड़े शब्दों में प्रकट करने वाला लोक प्रचलित कथन। —बोरकार्ट

[1]कर्पूरमंजरी, १। १८; [2]पृथिवी पुत्र, ११४

(८) अनेकों का चातुर्य और एक की बुद्धि का चमत्कार—एक की सूझ जिसमें अनेकों का चातुर्य सन्निहित है। (दि विज़डम ऑफ मेनी एण्ड दि विट ऑफ़ वन) —रसेल[1]

विशेषताएँ—लाघत्व : लोकोक्ति अपने लाघत्व के कारण सबके मुँह पर रहती है। बड़े वाक्यों को स्मरण करना कठिन होता है। अनुभवों का विस्तार लाघत्व-गुण के कारण हृदय पर एकदम प्रभाव डालता है। सम्पूर्ण प्रभाव एक मुख होकर छोटे से वाक्य अथवा वाक्यांश में इस तरह व्यक्त होता है कि लम्बे-चौड़े तर्क और विस्तृत वर्णन वहाँ व्यर्थ हो जाते हैं। लोकोक्ति का लाघत्व ही उसे सूत्र रूप प्रदान करता है।

अनुभूति और निरीक्षण : अनुभूति और निरीक्षण का जीवन में विशेष स्थान है। सार्वजनीन अनुभूत सत्य और निरीक्षण सामान्य सिद्धान्तों को जन्म देते हैं। कहावतों में हमें इस भूमि पर आधारित निश्चित सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं।

सरलभाषा, प्रभावोत्पादक शैली और लोकरंजन भी कहावतों की विशेषताएँ हैं। हॉवेल ने कहावतों की तीन विशेषताएँ बताई हैं :—'शार्टनेस, सेन्स एण्ड साल्ट' (लाघत्व, अर्थ और चटपटापन)। ये ही प्रधान गुण हैं जो लोकोक्ति में विद्यमान हैं।

वर्गीकरण—समग्र रूप से कहावतों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कल्पना और व्यर्थ का आडम्बर उनमें नहीं है। वे यथार्थ की भूमि पर जीवन के लिये नीति-वाक्यों की भाँति प्रचलित हैं। अन्योक्ति के रूप में कहावतें कई बार घटित होती हैं।

मोटे रूप में कहावतों का निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) विषयानुसार
(२) स्थानानुसार
(३) भाषानुसार
(४) जात्यानुसार

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत और भी वर्गीकरण संभव हैं। भारतीय भाषाओं की समग्र कहावतों की चर्चा करते समय उक्त चारों वर्ग उल्लेखनीय हैं। कई कहावतें ऐसी हैं जो स्थान-विशेष से संबंधित हैं। उनको उस स्थान के बाहर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जातिगत कहावतें जातियों तक सीमित हैं। तात्पर्य यह कि मोटे भेदों के अन्तर्गत उपभेदों की पर्याप्त व्यवस्था है।

---

[1]देखिये, राजस्थान की जाति-संबंधी कहावतें (राजस्थान), सं० १९९२।

डॉ० सत्येन्द्र ने ब्रज की कहावतों में उपयोगिता के अनुसार चार दृष्टियों का उल्लेख किया है :—

(१) पोषण : किसी बात को देखकर या अनुभव कर पुष्ट करना।

(२) शिक्षण : नीति, सीख आदि को व्यक्त करना।

(३) आलोचन : दूसरों की आलोचनार्थ गढ़ी गई कहावतें।

(४) सूचन : बुद्धि और ज्ञानवर्द्धक कहावतें।

प्राय: ये चारों दृष्टियाँ सभी कहावतों में लक्षित होती हैं।

घाघ[1] और भड्डरी[2] के नाम से पाई जाने वाली कहावतें उक्त वर्गीकरण में सम्मिलित की जा सकती हैं अथवा उन्हें रचयिताओं के नाम से अलग भी रखा जा सकता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने परिश्रम करके 'ग्राम-साहित्य', भाग ३ में घाघ, भड्डरी, लालबुझक्कड़, माधोदास, हृदयराम आदि व्यक्तियों द्वारा निर्मित कहावतें संग्रहीत की हैं।

प्रान्तीय भाषाओं की कहावतों में भी रचयिताओं के नाम मिल सकते हैं। उनका अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

कहावतों में देश और काल की विशेषताएँ विद्यमान होती हैं। कम से कम उनके द्वारा उनके उद्गम-स्थान और तत्कालीन परिस्थिति का अटकल तो लगाया ही जा सकता है।

घोड़ा की खोड़ गवेड़ो,
उदेपुर की खोड़ बनेड़ो।

\+ + +

देख्यो राणाजी थांरो देश,
रॉड सुहागन एकही भेष।

\+ + +

मक्की पै मुलक्या करे,
कुल थां ऊपर राड़।
फूल्या पै फुबक्यां करे,
धन माता मेवाड़॥

---

[1]घाघ कन्नौज के पास के रहनेवाले थे। [2]भड्डरी के जन्म-स्थान का पता नहीं चलता। गोरखपुर जिले के आसपास भड्डरी नाम की एक जाति पाई जाती है जो वर्षा के संबंध में भड्डरी की कहावतों के आधार पर भविष्य बताया करती है। राजस्थान में भंडारी नामक एक स्त्री की कहावतें भी प्रचलित हैं। भड्डरी और भड्डली की कहावतें प्राय: एक दूसरे में मिल गई हैं।

ये कहावतें मेवाड़ की उपज है या "नो पेता तेरा लगवाल, छोड़ती ने लेगो कोतवाल" जैसी कहावत राजस्थान की है, यह सहज ही जाना सकता है। भाषा की दृष्टि से तो सभी कहावतें पहचानने में आती हैं। हर प्रान्त का अपनापन कहावतों में मिलेगा। अनुभव रूपी सागर में सभी ने रत्न ढूंढ़कर सुरक्षित रखे हैं। कहावतें अनुभव की निचोड़ हैं। अनुभव सर्वकालीन और सार्वदेशिक है, अतः उनके आधार पर निर्मित कहावतें अलग-अलग राज्यों में विभिन्न शब्दों में बँधी हुई मिलती हैं। "अन्धा बाटे रेवड़ी अपने-अपने को दे" यह लोकोक्ति मेवाड़ में इस प्रकार है—"आन्धी बाटें सीरनी फर-फर घर का न देव।" और देखिये मेवाड़ी में—

कवि, चनारी, पारधी, नृप, वेश्या अर भट्ट।
यां से कपट न कीजिए यांरा रख्यां कपट ॥

साधारण रूप में—

कवि, चितेरे, पारदी, मंगल गाती नार।
इन चारों को जानिये, सभी नर्क के द्वार ॥

राजस्थानी कहावत में—

"भूख के लगावण कोनी, नींद के बिछावण कोनी"

इसी को बढ़ाकर यों भी कहा गया है—

प्रीत न जाने जात कुजात, भूख न जाने बासी भात।
नींद न जाने टूटी खाट, प्यास न जाने धोबी घांट ॥

कहावतें जब संक्राति-काल से गुजरती हैं, तब उनके रूप का विकृत हो जाना संभव है। परिस्थितियाँ जब बदलती हैं तो कितनी ही कहावतें केवल ऐतिहासिक महत्व की बन जाती हैं। उस समय यदि वे लिपिबद्ध नहीं की जातीं तो निश्चय ही नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि काल का प्रभाव उन पर खासतौर से पड़ता है।

कहावतों के संकलन का प्रयत्न—कहावतों के संकलन की दिशा में बहुत कम प्रयत्न हुए हैं। फेलन ने हिन्दी कहावतों पर "फैलन्स डिक्शनरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्रोवर्ब्स" (१८८६) नामक ग्रन्थ में मारवाड़ी, पंजाबी, भोजपुरी और तिरहुती कहावतों पर प्रकाश डाला है। काश्मीरी लोकोक्तियों पर जे० एच० नोवल्स् का काम उल्लेखनीय है। पंजाबी, मराठी, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में भी महत्वपूर्ण संग्रह तैयार किये गये हैं। मेरठ क्षेत्र के मुहावरों पर लगभग १७ वर्ष पूर्व रामराजेन्द्र सिंह वर्मा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में विस्तार-पूर्वक (संकलित सामग्री सहित) एक निबन्ध प्रकाशित किया था। इसी प्रकार उन्हीं दिनों डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की भूमिका सहित 'गढ़वाली भाषा की कहावतें' शीर्षक लेख श्री शालिग्राम वैष्णव के प्रयत्नों से पत्रिका के भाग १८,

अंक ४ में (संवत् १९९४) में प्रकाशित हुआ। गुजराती में 'गुजराती कहेवात संग्रह' (दलीचन्द शाह), मालवी में 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), मेवाड़ी में 'मेवाड़ी कहावतें' (लक्ष्मीलाल जोशी),[१] 'राजस्थानी कहावता'[३], 'कहावतों की कहानियाँ' (महावीरप्रसाद पोद्दार)[४] आदि संग्रह उल्लेखनीय हैं। कहावतों के क्षेत्र में कन्हैयालाल सहल ने हाल ही में एक महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। फिर भी जहाँ तक इस दिशा में कार्य होना चाहिये, वह अभी नहीं हो पाया है। जनपदीय बोलियों की कहावतों का बड़े पैमाने पर संग्रह और अध्ययन ही हिन्दी की लोकोक्तियों का सही अध्ययन होगा।

'यह बात जानने योग्य है कि कहावतों का जितना गहरा संबंध बोलियों से रहता है, उतना साहित्य की भाषा से नहीं। कहावतों को बोल-चाल की ठेठ भाषा की सच्ची पुत्रियाँ कहा जा सकता है। उनके सर्वाङ्गपूर्ण संग्रह के लिये घरों और गाँवों में फैली हुई अपनी भाषा की बोलियों को निरन्तर छानने की आवश्यकता पड़ेगी।'[५]

मालवी 'केवात'—मालवी कहावतों में जीवन के विभिन्न अनुभव संचित हैं। जैसा कि हर जनपदीय बोलियों के लिये सत्य है, मालवी लोकोक्तियाँ हजारों की संख्या में मौखिक संपत्ति बनी हुई हैं। लेखक ने विभिन्न ग्रामों से लगभग दो हजार 'केवात' संग्रहीत किये हैं। यद्यपि यह संग्रह अपर्याप्त है तथापि विभिन्न व्यक्तियों के प्रयत्नों को दृष्टि में रखकर मालवी कहावतों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) कृषि संबंधी कहावतें—कृषि संबंधी कहावतें मालवी में सबसे अधिक प्राप्त हैं। इसका एक कारण स्पष्ट है। यह भूमि उर्वरा है। किसान को यहाँ जी तोड़ हाड़ नहीं खपाने पड़ते, इसलिये उसकी सजग दृष्टि सदैव ही प्रकृति की गतिविधि और उसके परिणामों पर लगी रहती है। एक प्रकार से वह प्रकृति संबंधी विभिन्न कार्यों का सचेत अंग होकर भी अध्येता है। इन कहावतों में ऋतु-संबंधी अनुभूत सत्य समाविष्ट है। घाघ और भड्डरी की कहावतों से इनका मेल बैठाया जा सकता है। राजस्थानी की कृषि संबंधी कहावतों से अलग इनका क्षेत्र है, क्योंकि दोनों ही स्थानों के कृषकों की समस्याएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। कुछ कहावतें द्रष्टव्य हैं—

---

[१],[२] प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर। [३]राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता। [४]सस्ता साहित्य प्रकाशन, दिल्ली (१९५५)। [५]डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, भूमिका—मेवाड़ की कहावतें, भाग १।

(१) कार्तिक देख्या काल ने समया देख्या सुकाल।
(२) भादो भिलनी भज्जा खाय।
(३) खेत में नालो घर में सालो।

खेत की उपज का सारा श्रेय ठीक समय पर होनेवाली वर्षा को प्राप्त है। वर्षा संबंधी कहावतें इसलिये प्रायः सभी जनपदों में मालवी की तरह प्राप्त हैं। भाग्य किसान का दूसरा लक्ष है। तर्क किसान के सामने नहीं है। भला होता है तो भाग्य के कारण और बुरा होता है तो भाग्य के कारण। भाग्य सर्वोपरि है। यह उसका परम्परागत संस्कार ही कहा जा सकता है, किन्तु भाग्यवादी कहावतों में यहाँ-वहाँ बिखरी हुई कर्म-संबंधी कहावतें किसान के आत्मविश्वास की सूचक हैं। १५वीं शताब्दी की राजकीय परिस्थितियों में मालवा संतप्त हुआ था और बाद में भी उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यही कारण है कि अन्ध विश्वास, रूढ़ मान्यताएँ और भाग्य का प्राबल्य उसके संस्कारों में समा गया। भाग्यवादी कहावतें किसानी कहावतों के अन्तर्गत भी ली जा सकती हैं और उनको स्वतंत्र वर्ग में रखा जा सकता है। वास्तव में लोकवार्ता के अध्ययन की दृष्टि से मालवी किसान के मस्तिष्क को समझने के लिए भाग्यवादी कहावतें महत्वपूर्ण हैं। कुछ कहावतें इस प्रकार हैं—

(१) भाग बिना खाणो ने करम बीना सगा नी मिले।
(२) करम अभागी खेती करे,
बैल मरे ने टोटो पड़े।
(३) चालनी में दूध छानो, करम होय तो बचे।

(ख) सास-बहू सम्बन्धी कहावतें—सास और बहू लोकगीतों के उल्लेखनीय विषय हैं। गृह-संबंधी कहावतों में सास-बहू और नंनद-भौजाई संबंधी अनेक कहावतें भी मालवी में उल्लेखनीय हैं। संभव है, इतनी अधिक कहावतें दूसरी जनपदीय भाषाओं में भी मिले, पर यह सत्य है कि मालवी का कोश इन कहावतों से भरा हुआ है। शिक्षाविहिन ग्रामीण महिलाएँ अपने राग-द्वेषों को गीतों की तरह कहावतों के रूप में बद्ध करती रही हैं। इसलिये उनके अनुभव तीखे और चोट करने की क्षमता रखते हैं। कुछ कहावतें द्रष्टव्य हैं:—

(१) सासू मरी ने साल भागो।
उठो बउबड़ कामे लागो॥
(२) लंगड़ी बऊ काम करे,
ने सो जना से टेको देवाय।

(३) नित की रनूबई सासरे जाय।
कागला कूतरा कूलर खाय ।।

(४) जेलू चली रे सासरे ने सौ घर सन्ताप।

(५) हलर मलर को पीसनो ने, बाव डुलन्ता पाणी।
बारूं सासजी म्हारो कातनो, हात पाव दिया तानी ।।

(ग) नीतिपरक कहावतें—नीतिपरक कहावतें अनुभव की खरी सार हैं। किसानों ने अपने अनुभव एक ढंग से कहे हैं और स्त्रियों ने दूसरे ढंग से, पर सत्य दोनों में निखरा है। प्रायः इन कहावतों में परम्परा से एक और हटने के प्रति सचेत करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। 'तेली की बेटी अलसी को झाड़ भूली गो' जैसी मालवी कहावत उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) हाथ फेर्‌या की लक्ष्मी।
जीव फेर्‌या को दलदर।
(कर्म की महत्ता)

(२) काम सुधारो तो आगे पधारो।

(३) जेको धन खाय उको बुद्धि आय।

(४) बेटी से कई घर बसे।

नीतिपरक कहावतों में कुछ अनुभव सामान्य हैं :—

(१) न्हाया का बाल,
खाया का गाल,
छिपाये नी छिपे।

(२) पेट में दुखे तो अजमो मांगे।

(३) आंधो उठे तो घर का न कूटे।

(४) गोरी का गुण बालम जाणे।

(५) लोहो जाणे, लुहार जाणे,
धमवा वाला की बलाय जाणे।

(घ) रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालनेवाली कहावतें रीति-रिवाज लोकवार्ता के अंग हैं। इनके द्वारा लोक-मानस की परम्परागत उन मान्यताओं का ज्ञान होता है जो धार्मिक, सामाजिक एवं अनुष्ठानिक श्रद्धावश प्रचलित हुई हैं। प्रथाओं की सूचक कहावतें प्रत्येक जाति और प्रान्त में उपलब्ध हैं। उदाहरण स्वरूप नीचे 'हीड़' का संकेत करनेवाली कहावत दीपावली के अवसर पर गूजरों के द्वारा गाये जानेवाले प्रबन्ध गीत का उल्लेख करती है। इसी

प्रकार दूसरी कहावत मालवा की उस प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य करती है जो प्राय: ग्रामवासियों में कहीं भी भोजन का बुलावा आने पर देखी जाती है।

(१) गई दिवाली गाए हीड़।
(२) शकर गले तो भेला हुई जाय।

(ङ) जाति-सम्बन्धी कहावतें—जाति सम्बन्धी कहावतें कतिपय जातियों के सम्बन्ध में सामान्य अनुभूत सत्यों की ओर लक्ष्य करती हैं। इन कहावतों के पीछे शोषित जातियों की कुढ़न भी हो सकती है। नीचे की कुछ कहावतें देखिये :—

(१) आंबा, लींबू, बाणिया गल दाबे रस दे।
(२) छाणो फूटे न बामण उठे।
(३) कुलड़ी भर दाणा,
भील भई राणा।

जाति-सम्बन्धी कहावतों को जातियों की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षेप में लेखा-जोखा कहा जा सकता है।

(१) खाली बाण्यो कंईं करे,
अईं का बाट वईं वरे।
(२) बारा बामण ने तेरा चूला।

मालवी की अधिकांश जाति-सम्बन्धी कहावतें ब्राह्मण और बनियों के विषय में हैं। कायस्थ, राजपूत, जाट, गूजर, बलाई, चमार, नाथ, बैरागी और गवली के सम्बन्ध में भी कहावतें प्राप्य हैं।

(च) मानव-स्वभाव सम्बन्धी कहावतें—इस वर्ग की कहावतें मानव-स्वभाव के सूक्ष्म अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। मनोवैज्ञानिक सत्य की कसौटी पर कसी जाकर इन कहावतों का रूप कंठ में निखरा है। प्रयोग ने उन्हें माँजा है। इन कहावतों में शारीरिक लक्षण द्वारा स्वभाव की ओर लक्ष्य करने वाली कहावतें सम्मिलित की जा सकती हैं। जैसे :—

कणो, कंजरो, कायरो, चपटो मुंडो, मूच्छ भूर।
ओछी गर्दन, दाँतलो, इनसे रीजो दूर॥

अन्य कहावतें हैं :—

(१) गोल खाय ने गुलगुला से परेज।
(२) चोर की मां छाने रोवे।
(३) रपट पड़या की हर गंगा।

(४) परायी थाली ने घो घणो।
(५) भटजी भटा खाय,
दूसरा के परेज बताय।

(च) सामान्य कहावतें—सामान्य विषयों की कहावतें अनेक हैं। हर विषय की कहावतें उपलब्ध हैं। यदि सूक्ष्म भेद करना चाहें तो किये जा सकते हैं, किन्तु विषय-विस्तार के भय से शेष कहावतें सामान्य भेद के अन्तर्गत लेना ही उचित होगा। वैसे तो सभी वर्गों की कहावतें सामान्य के अन्तर्गत स्थान पा सकती हैं, फिर भी मालवी कहावतों का सबसे बड़ा भाग किसानों की कहावतें हैं। कृषि-सम्बन्धी सामान्य उपकरणों, गृहस्थी सम्बन्धी चोंचलों और कटु अनुभवों तथा आवश्यकता को लक्ष्य कर इन कहावतों की सृष्टि हुई है।

(१) अडारो पावड़ो ने उड़द की दाल।
(२) चुड़ेल को वाव सूतड़ में।
(३) हीरा के मिल्यो खीरो।
(४) ज्वार तो उनसे बार तेवार।
ने गऊँ उनसे सरग दुवार॥
(५) मांजया में कई टिपकी दे।
(६) कागला के गले कंकू पत्री।
(७) गंगा गया गंगादास,
जमना गया जमना दास।
(८) खुल्या में पइसा कोनी,
कागला ने सई देवा जाय।
(९) कानी राणी ने बिचन घणा,
(१०) कदे बाप मरे ने कदे बैल बँटे। इत्यादि

मालवी कहावतों की प्रकृति—मालवी 'केवात' (कहावतों) की प्रकृति राजस्थानी कहावतों से मिलती है। इसका एक कारण स्पष्ट है। मालवा के पठार पर राजपूत जातियों के आगमन के फलस्वरूप इनका प्रचार मध्यकाल में हुआ है। गुजराती कहावतों की सादगी और राजस्थानी कहावतों की चटक मालवी कहावतों में लक्ष्य की जा सकती है।

यों मालवी कहावतों की तुलना सामान्य जनपदीय कहावतों से करना साधारण विषय नहीं है। प्रायः सभी जनपदों के लक्ष्य वही हैं जो मालवा के हैं अथवा राजस्थान के। सामान्य अनुभव सभी के पृष्ठ में हैं। अतएव तुलना की दृष्टि से मालवी कहावतों का ऐसा कोई वैशिष्ट्य अनुभव नहीं किया जाता। इतना

अवश्य है कि कतिपय संकेत उनकी अपनी परम्पराओं और लोकवार्ताओं से सम्बन्धित हैं। उन्हें ही मालवी की अपनी विशेष कहावतें कहा जा सकता है। "प्रायः सब बोली और भाषाओं की कहावतों में इस प्रकार के स्थानीय और प्रादेशिक भाव अवश्य पाये जायेंगे। उनके अस्तित्व से लोकोक्तियों के साथ भूमि का निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है।"[१]

मालवी और उसके उपभेदों में असंख्य कहावतें प्रचलित हैं। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन कहावतों का अध्ययन रोचक होगा।

उपसंहार—भाषा की सबलता अथवा उसकी रसात्मकता में कहावतें बड़ा सहयोग देती हैं। स्व० प्रेमचन्द की लेखनी ने कहावतों के प्रयोग से भाषा को जैसा सँवारा है, वह सभी के सामने है। लोकोक्ति भाषा का एक अलंकार भी साहित्य में विद्यमान है जो इस बात का प्रमाण है कि लोकोक्ति भाषा का अलंकार है। प्रादेशिक लोकोक्तियाँ भाषा के स्वरूप को निखारती हैं। मालवी 'केवात' मालवा के हिन्दी-लेखकों के लिये भूमि के प्रगाढ़ सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये आवश्यक साधन है। इन केवातों के कतिपय अप्रकाशित संग्रह उपलब्ध भी हैं। जन-भाषाओं के विकास के अध्ययन की दौड़ में 'केवात' का महत्व भुलाया नहीं जा सकता।

मालवी 'केवात' का एक और स्वरूप अध्ययन का विषय है। वह है उसका गीतात्मक अंश। प्राय: कई कहावतें तुकबन्दी के रूप में प्राप्य हैं। यद्यपि उन्हें हम लोकोक्ति के अन्तर्गत ही स्थान देंगे, तथापि उनका अलग से अध्ययन संभव है। 'केवात' को 'केवाड़ा' भी कहते हैं पर छंदोबद्ध कथनों को ही 'केवाड़ा' कहना उपयुक्त समझा जाता है।

आ : 'पारसी' या 'प्याली' (प्रहेलिका)—प्रहेलिका (पहेली) या बुझौवल को मालवी में 'प्याली' या 'पारसी' कहा जाता है। निमाड़ी में इसे 'ताड़नू की वार्ता' अर्थात् 'पूछने की बात' कहते हैं। बताया जा चुका है कि पहेली को डॉ० सत्येन्द्र ने लोकोक्ति साहित्य का ही अंग माना है, क्योंकि लोकोक्तियों में शब्द-संकोच द्वारा अर्थ-विस्तार का जो तत्व निहित है, वह पहेली में विद्यमान है। पहेली द्वारा गोप्य वस्तु के सम्बन्ध में कतिपय लाक्षणिक संकेत दिये जाते हैं। रूप, रंग गुण और आकार-प्रकार भी सांकेतिक रूप में व्यक्त किये जाते हैं। उन्हें ही आधार मानकर उत्तर दिये जाते हैं। ग्रामों में अवकाश के क्षणों में पहेलियाँ बालकों, बूढ़ों और युवकों सभी के लिये मनोरंजन का

[१]मेवाड़ की कहावतें, भूमिका, पृष्ठ १६।

उत्कृष्ट साधन हैं। स्त्रियाँ भी इन्हें अपना अस्त्र समझती हैं। ससुराल में जामाता की बुद्धि-परीक्षा के लिये मनोरंजन करती हुई स्त्रियाँ पहेलियों की प्रायः झड़ी लगा देती हैं। स्मृति पर विश्वास रखनेवाले, अनुभवी और बुद्धिमान व्यक्ति भी कभी-कभी इनके कुतुहल-मिश्रित अर्थगौरव के सम्मुख हार मान लेते हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों को कदाचित् इसीलिये 'बुद्धि पर शान चढ़ाने वाला यंत्र या स्मरण शक्ति द्वारा और वस्तुज्ञान बढ़ाने की कला' कहा है।[1] आपका विश्वास है कि 'ऋग्वेद' में पायी जानेवाली पहेलियों के ज्ञान से उसे पहेलियों का वेद कहा जाये तो कह सकते हैं।[2] ऋग्वेद के कुछ मंत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य,।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महादेवो मर्त्यां आ विवेश।

'जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगहों से बँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ-महादेव है।'[3]

'साधारण अर्थ यही है, पर गूढ़ार्थ यह है कि यह वृषभ यज्ञ है जिसके चार सींग चारों वेद हैं, प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल तीन पैर हैं, उदय और अस्त दो सिर हैं, सात प्रकार के छन्द सात हाथ हैं, वह मंत्र, ब्राह्मण और कल्प रूपी तीन बन्धनों से बँधा हुआ मनुष्य में प्रविष्ट है।'[4]

'महाभाष्याकार पातंजलि ने प्रारंभ ही में लिखा है कि वह शब्द है। चार सींग चार प्रकार के शब्दः नाम, आख्या, उपसर्ग और निपात; तीन पैर भूत भविष्य और वर्तमान तीन काल, दो सिर दो प्रकार की नित्य और कार्य भाषाएँ, सात हाथ सात विभक्तियाँ, हृदय, गला और मुख बाँधने के स्थान हैं।'[5]

'दूसरों के मत से वह सूर्य है। चार सींग चारों दिशाएँ, तीन पैर तीन वेद, दो सिर रात और दिन, सात हाथ सात किरणें, बाँधने के तीन स्थान पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक।'[6]

यह है 'ऋग्वेद' की एक पहेली का स्वरूप। इस प्रकार की पहेलियों की गठन बुद्धिमान के अनुकूल है, पर जो तत्व इनमें निहित है, वह ग्रामों में प्राप्त होने वाली पहेलियों से भिन्न नहीं कहा जा सकता। जिस प्रचुरता से इन पहेलियों के

---

[1]ग्राम-साहित्य (तीसरा भाग), पृ० २८५ (१९५२)। [2]वही, पृ० २८८। [3]वही। [4]वही। [5]वही। [6]वही।

दर्शन हमें 'ऋग्वेद' में होते हैं, उससे अनुमान किया जा सकता है कि 'ऋग्वेद' के लिपिबद्ध होने के पूर्व लोकजीवन में पहेलियों की महत्ता सिद्ध हो चुकी थी। लोग बोध-परीक्षा के इस अनोखे तरीके से परिचित थे। ऊपर दिया गया मंत्र निश्चय ही पहेली है जो साधारण जनबुद्धि से उच्च स्तर की है। वैदिक युग में 'ब्रह्मोदय' अनुष्ठानिक क्रिया का अंग समझा जाता था। अन्य देशों में भी पहेलियों को अनुष्ठानिक महत्ता प्राप्त थी। 'ऋग्वेद' में प्रयुक्त ब्रह्मोदयों से ज्ञात होता है कि पहेलियाँ जन की विकासोन्मुख अवस्था के साथ ही क्रमशः विकसित हुई। वेदों से पूर्व के मौखिक साहित्य ने वेदों के निर्माताओं को अपनी महत्ता से आकर्षित किया, इसीलिये आज इस लोक में प्रचलित इस बुद्धि-परक साहित्य के विस्तार का अध्ययन करते हैं तो कुतूहल होता है। आदिवासी जातियाँ भी पहेलियों का प्रयोग करती हैं। वैवाहिक अवसरों पर पहेलियों द्वारा परिजनों की बुद्धि-परीक्षा समान रूप से सभी प्रकार की जातियों में विद्यमान है। किन्हीं अंशों में आर्येतर जातियों में भी इनका प्रचलन था। कालान्तर की आर्येतर जातियों में यह प्रथा उसी तरह विद्यमान है जिस तरह की आर्य-जातियों में है।

लोकवार्ता के प्रकाण्ड पंडित जेम्स फ्रेजर ने पहेलियों की उत्पत्ति की संभावना उस अवस्था में की है जबकि किन्हीं कठिनाइयों में बोलनेवाले को अपनी बात व्यक्त करने के लिये सीधे शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा संकेतों का आश्रय लेना पड़ा होगा।[1]

पहेलियों की इस परम्परा के दर्शन हमें जैन-साहित्य में भी मिलते हैं।

हीयालिये—जैन-साहित्य में 'हीयाली' जैसी रचनाएँ पहेलियों की अनुरूपता सूचक हैं। इनका १२ वीं और १३ वीं शताब्दी में वर्तमान होने के प्रमाण प्राप्त हैं। १४ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक जैन कवियों द्वारा लिखी गई पर्याप्त हियालिये उपलब्ध हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने इस दिशा में कुछ शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित भी की है।[2] राजस्थानी में हीयालिये 'आड़ियाँ' कहलाती हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्येक प्रान्त में पहेली-साहित्य अपने मौखिक रूप में वर्तमान है।

हिन्दी में पहेलियों की परम्परा अमीर खुसरो से मिलती है। कबीर ने भी पहेलियाँ लिखी हैं। उनके दृष्टिकूट पहेलियों से कम नहीं। संभवतः उनका आधार परम्परा से प्राप्त इसी प्रकार का मौखिक और शिष्टवर्ग का साहित्य रहा होगा।

---

[1]दी गोल्डेन बो, खण्ड १, पृष्ठ १२१। [2]जैन ज्योति में "जैन कवियों का हीयाली साहित्य" शीर्षक लेख, मृगसर, सं० १९८९।

हिन्दी में कार्य—हिन्दी भाषा में पहेली साहित्य पर बहुत ही कम काम हुआ है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने ग्रंथ 'ग्राम-साहित्य' भाग ३ में उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ संकलित की हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' प्रबन्ध में ब्रज की पहेलियों पर विवेचना प्रस्तुत की है। राजस्थान की पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर 'आड़ियों' पर लेख निकलते रहते हैं। किन्तु यह कार्य पहेलियों के पर्याप्त विस्तृत साहित्य को देखते हुए कम है। पहेलियों की प्राचीन परम्परा का निखरा हुआ अध्ययन, मध्यकालीन भाषाओं में उसका स्वरूप और प्रान्तीय भाषाओं में भिन्न-भिन्न संग्रह अभी आवश्यक हैं।

पहेली की विशेषताएँ—पहेलियों में प्रायः जिन वस्तुओं का वर्णन निहित होता है वह रूप, गुण, स्वभाव, उपयोग आदि का श्लेषात्मक संकेत भर कहा जा सकता है। "यह ऐसा वर्णन है जिसमें अप्रकृत के द्वारा प्रकृत का संकेत होता है। अप्रकृत इन पहेलियों में बहुधा वस्तु, उपमान के रूप में आता है। यह स्वभाविक ही है कि गाँव की पहेलियों में ऐसे उपमान भी ग्रामीण वातावरण से ही लिये गये हैं।"[1]

रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि "गाँव के बिना पढ़े-लिखों में निरीक्षण-शक्ति शहर के पढ़े-लिखों से अधिक और विचित्र होती है।" यही कारण है कि शहर के व्यक्ति जब तक ग्रामीण उपमानों से परिचित न हों तब तक उनके लिये ग्रामीण पहेलियों का उत्तर देना संभव नहीं होता। यह निरीक्षण-शक्ति उन विशेषताओं का उल्लेख करती है जिनकी जानकारी प्रायः सभी को होती है। पर उत्तर ढूँढ़ते समय यदि उसे बताया नहीं जा सका तो पहेली प्रस्तुत करनेवाला जब उत्तर घोषित करता है, तब होने वाली हार भी मनोहारी हो जाती है। इससे प्रकट है कि पहेली बुद्धि-परीक्षा का साधन है।

पहेलियों में प्रस्तुत उपमानों से यद्यपि पहेली बूझनेवाले को पूर्ण संकेत नहीं मिलते, उससे अधूरा चित्र प्राप्त होता है, तथापि संकेत इतने ठोस होते हैं कि जरा-सा प्रयत्न करते ही वस्तु समझ में आ सकती है। प्रहेलिका की यह प्रवृत्ति उसका अपना मूल गुण है। सनातन परम्परा के रूप में यही प्रवृत्ति सभी प्रकार की पहेलियों में वर्तमान है। आर्चर् ने इस ओर संकेत किया है कि पहेली का अन्तिम विश्लेषण मानो काव्य का मूल्य है।[2] डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि भारतीय साहित्य में उपलब्ध प्रहेलिका अलंकार, शब्दालंकार का एक भेद है, पर ग्रामीण पहेलियों में अर्थ-शक्तियों की चरम परीक्षा होती है। उसमें शब्दालंकारिक चमत्कार उतना नहीं जितना ध्वनि का चमत्कार है।[3]

---

[1]ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५२२। [2]मैन इन इण्डिया, दिसम्बर १९४३, कमेन्ट, २६६। [3]ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५२८।

पहेलियों का प्रधान भाव 'अद्भुत' है। 'दृष्टिकूट' के ढंग पर रचित पहेलियाँ ग्रामों में नहीं मिलतीं, यद्यपि उनका आधार ग्रामीण पहेलियाँ ही हैं। हास्य और यौन-वृत्तियों के चित्र एवं उनकी क्रियाओं में सुख ढूंढने की प्रवृत्ति ग्रामों में विद्यमान है। कहीं-कहीं असंयमित चित्र मालवी की पहेलियों में मिलते हैं। यह आदिम प्रवृत्ति है जो कृषि-सभ्यता में पनपे गाँवों में सर्वत्र विद्यमान है।

विषय—विषय की दृष्टि से पहेलियाँ सम्पन्न हैं। डॉ० सत्येन्द्र और पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों के विषयों की सूची अपनी-अपनी पुस्तकों में दी है।[1] विस्तारभय से उन्हें यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त नहीं होगा। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पहेलियों का जन्म लोक-भाषाओं में होता है, अतः कृषि-संबंधी, प्रकृति-संबंधी, घरेलू वस्तुओं-संबंधी, पशु-पक्षी संबंधी और अंग-प्रत्यंग संबंधी पहेलियों के अन्तर्गत प्रायः वे सभी विषय आ जाते हैं जो पहेलियों में बहुधा पाये जाते हैं। चूंकि पहेलियों का वातावरण ग्रामीण है, अतः समस्त ग्रामीण उपकरणों का उनमें संकेत निहित है।

साधारण से साधारण वस्तु भी पहेली की पकड़ से बची नहीं है। नित्य ही पहेलियों का निर्माण होता है। गाँव के बुद्धि-कौशल की यह साधना रुकने वाली वस्तु नहीं है। "गाँववालों को सूर न मिले, न तुलसी, न कबीर, न केशव, उन्होंने युगों से चली आती हुई ज्ञान की इस घुमावदार सलोनी नदी को अभी तक सूखने नहीं दिया। ऋग्वेद का यह देवता देहाती रूप में आज भी हमारे सामने हैं। सभ्य और शिक्षित समाज के लिये ग्रामीणों के पास यह अनमोल निधि संचित है।"[2]

पहेलियों का निर्माण करनेवाली बुद्धि अपने ढंग की अलग ही वस्तु है। परम्परा-प्रचलित लोक-साहित्य के आत्मीय वातावरण में उसका विकास होता है। उसके लिये दृष्टि का पैनापन और उक्ति-वैचित्र्य तथा विनोद की भावनाएँ आवश्यक हैं। पहेली वैसे तो वस्तु का वर्णन होती है, पर उपमानों के सहारे उन्हें प्रस्तुत किया जाता है। अस्पष्ट संकेत देकर श्रोता से वस्तु का नाम पूछना वस्तु-बुद्धि-परीक्षा के समान ही व्यापार है।

साहित्य में प्रहेलिका अलंकार का एक भेद है। अर्थ-चमत्कार से संबंधित यह साहित्य अभी अध्ययन के अभाव में एक ओर बिखरा पड़ा है। हिन्दी में मराठी या अन्य भाषाओं में फुटकर रूप से यहाँ-वहाँ कुछ पहेली-साहित्य मिल

---

[1]देखिये, ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५२२-२४ तथा ग्राम साहित्य (भाग ३) पृष्ठ २८६। [2]ग्राम-साहित्य (भाग ३), पृष्ठ २९०।

जाता है। हिन्दी में 'ग्राम-साहित्य' भाग तीन में त्रिपाठी जी ने कुछ पहेलियाँ दी हैं, परन्तु स्वतंत्र रूप से कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

मालवी पहेलियों में प्रयुक्त वस्तुएँ—मालवी पहेलियों में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख वस्तुओं के नाम निम्न हैं :—

तुरई, सूकरी, तलवार, बन्दूक, लौंग, आम, मसूर की दाल, पैसा, सुई-डोरा, प्याज, अफीम के डोडे, तारे, धरती, कुंजी, दरी, इत्र की शीशी, मटका, ढक्कन, उलचना, लहसुन, दवात-कलम, भँवरी, खटमल, तवा-कढ़ाई, छाछ-घी, खजूर का पेड़, गूलर, सर्प, सुराही, आग, पजामा, जुवार का भुट्टा, कटारी, बिजली, दियासलाई, सूर्य-चन्द्र, चट्टी, खुरपी, चरस, नथ, मक्खियाँ, छलनी, दृष्टि, बिन्दिया, मगर, अँगुलियाँ, दाँत, जीभ, नमक, आकृतियाँ, (माँडना), चना, चूड़ा, चरखा, मृदंग (माँदल), मुर्गा, तोता, अलगनी, मूली, जामुन, लाल रंग, काई, मेहन्दी, बकरी, मोगरे की कली, लेहंगा, चिमनी, कंचुकी, काँचली, बादल, घट, पान, महुआ आदि।

इन वस्तुओं की सूची से यह स्पष्ट हो जायगा कि मालवी पहेलियों के विषय कृषि-जीवन से बाहर के नहीं हैं। इन विषयों को दृष्टि में रख कर हम मालवी पहेलियों के प्रसार का अनुमान लगा सकते हैं। इनमें घरेलु वस्तुओं-संबंधी, वस्त्र-संबंधी, भोजन-संबंधी, कृषि-संबंधी, पशु-पक्षी-संबंधी तथा अन्य जीवन संबंधी विषय ही समाविष्ट हैं जो साधारण तथा आवश्यक प्रकरण कहे जा सकते हैं। मालवी पहेलियों के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

प्रकृति-संबंधी —

मोती बेराना[1] चंदन चौक में।
ओ मारुजी[2] म्हन से सोर्‌या[3] नी जाय ॥
— तारे

प्रस्तुत पहेली में आसमान को चंदन का चौक बताने में मालवा की सौन्दर्यवादी दृष्टि का आभास होता है।

जाजम डाली चन्दन चौक में,
ओ मारुजी म्हन से समेटी नी जाय।
—धरती

पशु-पक्षी-संबंधी ..

सोना सरकी सोजड़ी
जीरा सरखी आँख।

---

[1]बिखरे। [2]प्रिय। [3]एकत्र करना।

असी चटकारे[1] तो
रोवणो[2] नी आय ।

—भंवरी (भ्रमरी)

छै पग ने कमर कूबड़ी ।

—मकोड़ा

काली डांड[3] तो काय कोनी,
बोड़यो[4] बलद्यो[5] हकाय[6] कोनी ।

—सांप, शेर

अंधारी ओवरी[7] में मूंग बैराना[8] ।

—मक्खियाँ

वस्त्र-संबंधी—

एक नार दो के लई बैठी ।

—पजामा

एक बेरा वर में हाथ घाले ।

—कांचली (कञ्चुकी)

कृषि-संबंधी—

ऊपर तासा, नीचे तासा,
बीच में लाल तमासा ।

—मसूर

कूआ पछाड़ी जिनावड़ी[9]
वा नी बोले,
ऊका अण्डा बोले ।

—अफ़ीम के डोडे

धोलो धोड़ो धरमर पूछो ।

—मूली

---

[1]काटती है । [2]रोना । [3]लकड़ी । [4]सींग रहित । [5]बैल । [6]हाँका नहीं जाता है । [7]कोठरी । [8]छितराये ।

सर्प-संबंधी एक और पहेली देखिये :—

अस्सी रे तोला को साकलो, पड़्यो है बाजार बीच ।
चतर होय तो मोल वे, मूरखे फिर-फिर जाय जानवर ।।

अन्य :—

कालो खेत कड़ब[1] को भारो ।
लेनूं डोरी चलके[2] तारो ॥
—दियासलाई

कड़-कड़ कागद बाजे,
मिसरू[3] झोला खाय ।
को[4] राणाजी,
यो कई जिनावर जाय ॥
—बिजली

वा गई, वा गई ।
—दृष्टि

गाँव में पीयर गाँव में सासरो,
रोती आय ने रोती जाय ।
—चड़स

प्रमुख प्रवृतियाँ—मालवी पहेलियों की कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं । उन प्रवृत्तियों पर हम नीचे विचार करते हैं ।

(क) शर्त बदना —शर्त बदना मालवी पहेली का प्रमुख लक्षण है । प्रायः कतिपय शर्तें उत्तर न दे पाने की स्थिति में अत्यन्त कठिन प्रतीत होती हैं । पहेली को प्रश्नात्मक ढंग से प्रस्तुत कर पहेली पूछनेवाले पहेलियों की पंक्तियों में ही शर्त की पंक्ति जोड़ देते हैं । ये शर्तें घर की नार हारने[5], दोहरी गोठ देने[6] अथवा उत्तर न दे पाने की स्थिति में मूर्ख की उपाधि पाने[7] के विषय में होती हैं । उसे 'भाटा को टोली' अर्थात् पत्थरों का ढेर कहा जाता है । एक शर्त तो पहेली न बूझने की स्थिति में पिता को बलाई घोषित करने की भी है । शर्त बदनेवाली पहेलियाँ सामूहिक रूप से स्त्रियों द्वारा गाकर कही जाती हैं ।

(ख) आग्रह करना—शर्त बदने की भाँति आग्रहसूचक पंक्तियों का समावेश भी कतिपय पहेलियों में उपलब्ध है । आग्रह प्रायः 'मारूजी' (प्रियतम),

---

[1]पिण्डियों का समूह । [2]चमके । [3]मालवा का चमकदार वस्त्र । [4]कहो । [5]नी तो हारी घर की नार । [6]नी तो लागे दोवड़ गोठ । [7]चतर होय तो प्याली रो अरथ बताय, मूरख फिर फिर जाय ।

'हटीला डावड़ा' (हटीला प्रियतम), व्याई, चतुर व्यक्ति अथवा पंडित के प्रति किया जाता है। आग्रह सूचक पंक्तियाँ निम्न हैं।

(१) हटीला डावड़ा म्हारी प्याली रो अरथ बताव
(२) मारुजी म्हारी प्याली रो दोनी जुवाब
(३) बूजो हो बेवई म्हारी पारसी
(४) चतर म्हारी प्याली रो अरथ बताव
(५) आड़ी नरखे ऊदी नरखे, करे बांटा चूट रे
ये बांका नर ने सूदो करो, कुण है रे पंडता

आग्रह सूचक प्रवृत्ति की दृष्टि से पहेली बूझते समय एक अज्ञात पंछी को संबोधित कर यह भी का जाता है कि 'हे पंछी, तू बता इनमें कौन सरदार है।' अर्थात् कौन पहेली का उत्तर दे सकता है। के भई पंछी, सुण भई—साधो इतना सा जन में कुण सिरदार)।

(ग) बहु-प्रश्नी पहेली

बहु-प्रश्नी पहेली वह होती है जिसमें एक ही प्रश्न के साथ अन्य प्रश्न भी जुड़े होते हैं। बूझने वाले को सभी वस्तुओं की ओर उत्तर देते समय संमेत करना पड़ता है। यदि एक भी वस्तु की कमी रह गई तो पहेली पूर्ण रूप से बूझी गई नहीं कही जायेगी। मालवी में ऐसी पहेलियाँ बहुत हैं। उदाहरण स्वरूप निम्न पहेलियाँ प्रस्तुत हैं—

बाप बेठो नें बेटो थड़ो करे
नाती दौड़्यो-दौड़्यो जाय

अर्थात् बाप बैठा हुआ है, बेटा प्रायः उठने का प्रयत्न करता है, फिर बैठ जाता है और नाती दौड़ता फिरता है। उत्तर है मटका, ढक्कन और उलचना।

पाँच पीपल
पदम तलई

पाँच अंगुलियों से घिरी हुई पद्म-कमल की भाँति जो तलैया है, वह हथेली अर्थात् पाँच अंगुलियाँ और हथेली।

चार कोट चौबीस नगारा
जी पै बैठा दो बनजारा

(चार कोट—चार दिशाएँ, चौबीस नगारा—२४ घन्टे, दो बनजारे चन्द्र और सूर्य)

मालवी पहेलियाँ मोटे रूप में दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं।

(१) गेय पहेलियाँ
(२) गद्य पहेलियाँ

गेय पहेलियों में दो या दो से अधिक पंक्तियाँ होती हैं। शर्त की पंक्तियाँ भी प्राय: गेय पहेलियों में जुड़ जाती हैं।

गद्य पहेलियाँ साधारण पदों में व्यक्त की जाती हैं। मालवी में गेय पहेलियों का ही प्राधान्य है। परम्परात्मक रूप से यही पहेलियाँ प्राप्त हैं।

कुछ पहेलियों में उपमानों की संयोजना ध्यान विकर्षण की प्रणाली पर की गयी है।

तालाब भर्‌या था
हिरण खड्‌या था

यह दीपक की कल्पना है। तेल से पूरित दीपक पर हिरणरूपी ज्योति का संकेत इस पहेली में है।

यद्यपि ऐसी पहेलियों से ध्यान दूसरी ओर ले जाने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु चतुर व्यक्ति अभिप्रेत वस्तु से भिन्न की कल्पना कर सकता है। आर्चर ने ऐसी पहेलियों को काव्य की वस्तु माना है।

वा गई वा गई, (वह गई वह गई)

अभिप्रेत उत्तर की दृष्टि से यह पहेली "नजर" के विषय में है। संकेत कितना सूक्ष्म है, किन्तु उत्तर पाने पर चमत्कृत करने की क्षमता रखता है।

यौन वृत्ति को व्यक्त करने वाली पहेलियाँ आदिम मानव की प्रवृत्तियों के स्पर्श से पूरित होकर भी संयमित हैं। मालवी पहेलियों में यद्यपि कहीं-कहीं फूहड़पन लक्षित होता है तथापि अति का अभाव है। भाव और अर्थ उनमें भरे पूरे हैं। जिन मुख्य जातियों के नाम पहेलियों में आते हैं, वे हैं—राजपूत, बनजारा, कायस्थ, बरगुण्डा, बलई, ब्राह्मण, और भोपा। मनीराम, फूलबई, पद्मिनी, रावजी और कँवर जी प्रसिद्ध चरित्र हैं। आग, चन्द्र, सूर्य, तारे और नदियों पर अनेक पहेलियाँ हैं। भँवरी, मिर्च, सुई-तागा और प्याज के सम्बन्ध में भी पहेलियों का अभाव नहीं।

अन्त में यह कहना उचित होगा कि मालवी का पहेली साहित्य भरा-पूरा है। उसमें काव्य, कुतूहल, आश्चर्य, मनोरंजन, सभी सहज भाव से व्यक्त हुए हैं। उनकी गिनती बताना कठिन है। अनुमान है कि मालवी में लगभग तीन हजार पहेलियाँ बिना दुहराये उपलब्ध की जा सकती हैं।

अध्याय सात

उपसंहार

लोक-साहित्य के विविध अंगों का जो विवेचन आरंभिक पृष्ठों में किया गया है और उसके पश्चात् मालवी के (आंचलिक) लोक-साहित्य पर विशेष रूप से जो अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत की गई, उसके संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लोक साहित्य का उत्कृष्ट साहित्य और कला की दृष्टि से क्या महत्व है ?

कला और साहित्य के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के जिन प्रकारों से हम परिचित हैं, उनसे भिन्न एक व्यापक क्षेत्र हमें लोक-साहित्य में प्राप्य है। यद्यपि अभिव्यक्ति के साहित्यिक कौशल और परिमार्जन की कोटि में उसका स्थान नहीं हो सकता है, तथापि उसकी अपनी शैली, कला और साहित्य के इस उद्देश्य की पूर्ति अवश्य करती है, जो लोक जीवन के मनोभावों का सही-सही आकलन करने की क्षमता की ओर उन्मुख है।

जैसा कि आरंभिक पृष्ठों में प्रकाश डाला गया है, लोक साहित्य के विभिन्न अंगों में लोक जीवन के सभी चित्रों और मनोगत् भावों तथा परम्परा को व्यक्त करने की क्षमता है। यह क्षमता हमारे साहित्य और कला के क्षेत्र में दो दिशाएँ प्रदान करती है।

(१) लोक साहित्य की अभिव्यक्ति शैली इस बात को सार्थक करती है कि यदि विशिष्ट साहित्य में उसका प्रयोग किया जाये तो वह अधिक प्रभावी हो सकेगा। वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कविता तथा कहानियों में कुछ ऐसे प्रयोग दृष्टव्य हैं। लोक नाट्य की शैली भी लोक जीवन के अधिक निकट ले जाने की क्षमता धारण किये है। नये विषयों को लोक शैलियों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे हमारे साहित्य को अधिक लोकोन्मुखी होने का अवसर प्राप्त होगा। अनेक परम्परागत लौकिक प्रयोग ऐसे हैं जिनके साथ

हमारा युगों का संबंध है और जिनमें बिम्ब-ग्रहण कराने की पूरी क्षमता निबद्ध है। वर्तमान साहित्य में शक्ति उद्भूत कर सकते हैं। लोक साहित्य में मंगल (शिवम्) का उदात्त स्वरूप अंकित है। वैसा ही स्वरूप हमारे शिष्ट साहित्य के लिये स्पृहणीय है। उसकी प्रतीक योजना जैसी स्वस्थ है, वैसी हमारी नयी कविता के लिये काम्य है। अतः नये साहित्य के लिये लोक साहित्य एक स्फूर्ति और प्रेरणा की भूमिका है।

(२) लोक साहित्य का समाज-शास्त्र, नृतत्व-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न जातियों की सामाजिक परम्पराएँ, आदिम मानव के विश्वास, त्यौहारों और उनसे संबंधित लोकाचार, अनुष्ठान तथा प्रतीकात्मक आंकिक अभिव्यक्तियां एवं परम्परा से प्राप्त शब्दों के भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उपलब्ध प्रयोग उल्लेखनीय सामग्री है। इतिहास की अनेक ग्रन्थियाँ लोक साहित्य सहज ही खोलने की क्षमता रखता है। लोक गीतों में कई गीत शताब्दियों पहले से प्रचलित हैं। उनकी मौलिकता निर्भ्रम है। रीति-रिवाजों से संबंधित गीतों में प्रत्येक जाति के लोकाचारों, विचारों, मनोभावों और सामाजिक घात-प्रतिघातों के चित्र उपलब्ध हैं। इसी दृष्टि से लोक-कथाएँ केवल मनोरंजन का विषय ही नहीं है, बल्कि एल्विन के शब्दों में कहूँ तो वे प्रतीकात्मक शैली में प्राप्त विकृत इतिहास के अंश कही जा सकती हैं।[1] एस० सी० राय तथा अन्य विद्वानों की मनोरंजनवादी मान्यता इस दृष्टि से खंडित की जा चुकी है। लार्ड रागलन तथा मालिनोविस्की ने मनोरंजन-वादियों की पर्याप्त आलोचना की है। हमारे यहाँ अभी तक लोक-कथाएँ केवल मनोरंजन साहित्य की कोटि में ही स्थान पाती रही हैं। लोकोक्तियों का संग्रह और उनका आंचलिक साहित्य में यथोचित प्रयोग भाषा को सँवारेगा। हिन्दी अभी नई दिशाएँ ग्रहण कर रही है, उसके अभावों की पूर्ति लोक साहित्य से ही होगी। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रारंभ में उपोद्घात के अन्तर्गत इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने के पश्चात यहाँ उसका उल्लेख भर ही पर्याप्त होगा।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि लोक साहित्य की रचना 'लोक' द्वारा होती है। लोक ही उसका विषय है और लोक-भाषा ही उसका माध्यम। मंगल कामना उसमें अन्तर्निहित है।

व्यक्तित्व का पूर्ण विलयन इसमें हो जाता है। वह जनपदीय बोलियों में जनपद की वस्तु होकर भी स्वदेशीय है। शास्त्रीय नियमों का बंधन लोक

---

[1] मिथ्स ऑफ मिडिल इंडिया, परिचय, पृ० ११।

साहित्य में स्वीकृत नहीं है। उसमें सहज ही सौंदर्य उपलब्ध करने की क्षमता है। लोकगीतों में बिखरी हुई स्वाभाविक उक्तियाँ और हृदयस्पर्शी व्यंजना शिष्ट कविता से कहीं ज्यादा प्रभावी हैं। अतएव लोक साहित्य मानवीय प्रवृत्तियों का सचाई से अंकित कोष है, जिसका उद्देश्य मंगल की प्राप्ति है।

लोक साहित्य की अन्य विशेषताएँ हैं --१-प्रतीक योजना और २-पुनरावृत्ति। उसके प्रतीक कभी पुराने नहीं पड़ते। हम देखते हैं कि हमारी भाषा में कई तरह के प्रयोग समय-समय पर किये गये, पर वे शीघ्र ही पुराने पड़ गये। टेकों की पुनरावृत्ति, रूढ़ अभिप्राय और एक ही प्रकार की उक्तियाँ, उपमा-उपमान, सूत्र वाक्य आदि का बार-बार दुहराया जाना लोक साहित्य का गुण है। "विन्ध्य-भूमि" के संपादकीय के शब्दों में "शिष्ट साहित्य अधिकतर सेज का फूल होता है, वह क्षण मात्र सुरभि और शोभा देकर कुम्हला जाता है, वह एक के कर से दूसरे की श्रेणी में जाते-जाते म्लान हो जाता है। लोक-साहित्य डाली का फूल है, झरकर भी वह पुनः नये पौधे में अपनी सुरभि, शोभा अर्पित कर देता है। उसका यह पुनरावर्तन सत्य के प्रकाश में उसे और अधिक सूक्ष्म बना देता है।"[1]

लोक साहित्य की अभिव्यक्ति सरल है और रस की दृष्टि से उसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य है। अर्थबोध की कठिनाई उसमें नहीं होती। लोक संगीत का पक्ष भी महत्वपूर्ण है। संगीतकारों का विश्वास है कि शास्त्रीय रागों की उत्पत्ति लोक संगीत के मूल स्वरों से हुई है। वर्षों पूर्व अरनाल्ड बाके ने इस दिशा में प्रयत्न किया था। बाद में अनुसंधान का क्रम शिथिल हो गया। मालवी गीतों के मूल स्वरों के अध्ययन का श्री गणेश भी हो गया है। अतः यह दिशा भी उल्लेखनीय है। परिशिष्ट पृ० ५७४ पर श्री कुमार द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण उद्धृत किया गया है।

आंकिक लोकाभिव्यक्ति—लोक साहित्य का संबंध लोक कला से भी है। उसे हम आंकिक लोकाभिव्यक्ति की संज्ञा दे सकते हैं। प्रायः अनेक अनुष्ठान बिना आकृतियों या विशेष चिन्हों, मांडनों अथवा रेखाओं के पूर्ण नहीं होते। गीतों की तरह वे भी आवश्यक हैं। आंकिक लोकाभिव्यक्ति में यद्यपि स्थानीय एवं जातीय विशेषताएँ लक्षित होती हैं, पर सामान्य रूप से उसमें संगठित जन समाज की स्वीकृति एवं लगाव होता है। वही उसका अन्तर्निहित व्यक्तित्व है, जो उसे कला के अनेक प्रकारों से भिन्न व्यक्त करता है। हरबर्ट रीड ने इस प्रकार की कला के लिये "पीजेन्ट आर्ट"

---

[1] लोक संस्कृति अंक, अगस्त १९५५।

शब्द का प्रयोग किया है। उसके शब्दों में "दी आर्ट ऑफ सिम्पल, अनसोफिस्टिकेटेड प्युपल, जनरली नोन एज पीजेन्ट" और..."इट इज दी आर्ट देट स्प्रिंग्ज फ्राम ए सोफिस्टिकेटेड लव ऑफ सिम्पलीसिटी एण्ड सिम्पल लाइफ।"[1] और इसीलिये लेनिन ने कहा है कि कला जन की सम्पत्ति है, उसकी जड़ें समाज के अन्दर तक पहुँचनी चाहिये। वह जन के लिये बोधगम्य और प्रिय होनी चाहिये। इस कसौटी पर लोक कला अथवा "पीजेन्ट आर्ट" खरी उतरती है।

मालव की आंकिक अभिव्यक्ति को दो भागों में विभाजित करना अनिवार्य है। प्रथम भाग के अन्तर्गत "चित्रावण" और दूसरे के अन्तर्गत वे सभी आकृतियाँ होंगी. जो परम्परा से घरों में रीति-रिवाजों से सुसम्बद्ध होकर—अंकित या आलेखित की जाती रही हैं, तथा जिनके पीछे समृद्धि, शकुन, एवं मांगल्य की कामना निहित है। स्पष्ट करने के लिये निम्नांकित सारिणी अधिक विस्तार से विषय के उपभेदों को व्यक्त करती है :—
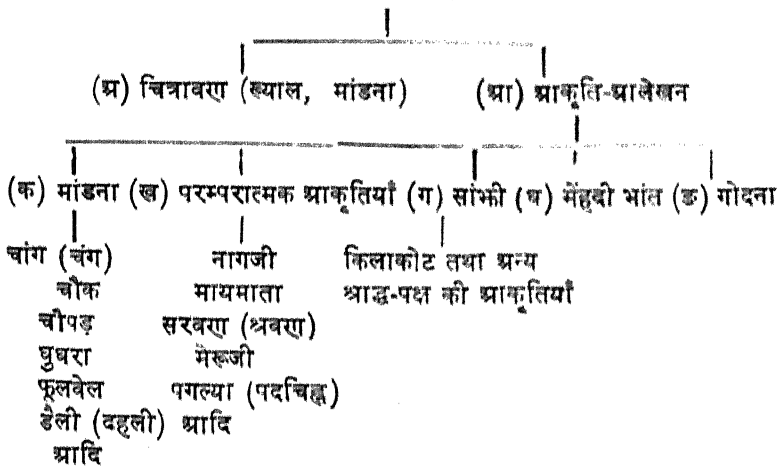
उक्त सभी भेद अवसर, माध्यम और ध्येय की दृष्टि से पूरक होकर भी एक दूसरे से भिन्न है।

(अ) चित्रावण :

मालवा में चित्रावण[2] की परम्परा वर्षों पुरानी है। इसने कालान्तर में चित्रकला की एक विशिष्ट शैली को विकसित करने में योग दिया, जिसे मालव

---

[1] हरबर्ट रीड, दी मीनिंग ऑफ आर्ट (पेलीकन बुक्स) पृ० ६५। [2] इन्हें 'स्याल मांडना' भी कहते हैं।

शैली कहें तो अनुपयुक्त न होगा। "प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम" (बम्बई) में सुरक्षित 'विरही परदेशी', 'वर्षा विरहिणी', 'मुग्धा' (१६८० ई० के लगभग) आदि चित्रों की शैली वास्तव में वर्तमान चित्रावण के रंग सज्जा, रेखा विन्यास, सादगी और खुलेपन के पूरे आभास को व्यक्त करती है।

मालवा में चित्रावण बनाने का कर्म पेशेवर 'चितेरों' (चित्रकारों) द्वारा किया जाता है, जिन्हें विवाहादि मांगलिक अवसरों पर इस कार्य के लिये आमंत्रित किया जाता है। वर्षों से बँधे बँधाये विषयों पर कलम (कूँची) माँजने के पश्चात अब उनके चित्र-कर्म में कला-तत्व की अभिव्यक्ति क्रमशः एक शिल्प के रूप में परिणित हो गई है, यहाँ तक कि किसी निश्चित आकृति को आँख मीचकर बनाने का अभ्यास कई चितेरों को है।

चित्रावण का यहाँ उल्लेख इसलिये किया जा रहा है कि लोक साहित्य के कितने ही विषय इससे संबंधित है। मुख्यतः विवाह संबंधी विषयों और अवतारों के चित्रण का बड़ा रिवाज है। वैवाहिक विषयों में वर वधू की हाथी पर सवारी, बरात आगमन, 'बई व्याण', 'चँवरो', 'देरानी-जेठानी', 'घट्टी पीसते, व्याईजी', आदि। धार्मिक विषयों में ऋद्धि-सिद्धि, गणेशजी, लक्ष्मी और कलश आवश्यक वस्तुएँ हैं। शिव पार्वती, राधा-कृष्ण या राम-लक्ष्मण-सीता भी मालवी चितेरों के प्रिय विषय हैं। द्वार पर दोनों ओर प्यादे, हाथी और अश्वारोही भी बहुधा बनाये जाते हैं।

मालवी गीतों में जिस प्रकार का वर्णन प्राप्त है, ठीक वैसा ही अंकित करने की चेष्टा चित्रावण में लक्षित होती है। चित्रावण में लाल और नीले का प्रयोग अधिकांश रूप में किया जाता है। अलंकार, वेषभूषा, केश-सज्जा आदि का भी ध्यान स्थानीय विशेषताओं से युक्त है। नासिका में नथ, 'चीणादार लहँगा' तथा उस पर लाल लुगड़ा और कंचुकी के ढंग की 'कसने' (बँध) वाली चोली को स्त्री के लिये समान रूप से सभी अलंकरण के आवश्यक अंग मानते हैं हैं। पुरुष के तन पर श्वेत बंडी और माथे पर मालवी 'चीरा' (पगड़ी) अंकित किये जाते हैं। हाथी और अश्व सशक्त और अभिनेय मुद्रा में बनाये जाते हैं। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति के लिये हस्त मुद्रा को ध्यान से अंकित किया जाता है जो कठिन कर्म है। इस बात को लक्ष करते हुए स्थानीय चितेरों द्वारा प्रायः निम्न पंक्तियाँ कही जाती हैं :

हाथ हाथी और घोड़ो,
और सब थोड़ो-थोड़ो।

तात्पर्य यह कि हाथ, हाथी और घोड़ा बनाना कठिन है, शेष के लिये मामूली प्रयास करने से ही काम चल जाता है।

चित्रावण के रंग आदि विषयों पर यहाँ विस्तार से लिखना संभव नहीं है।[1] चित्रों के संबध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि लोक जीवन की सौंदर्य वृत्ति का स्वरूप इनमें प्राप्त है। सर ई० बी० टेलर के शब्दों में 'देअर प्रापर पर्राज इज नाट टू प्रोड्यूस सब्जेक्ट इमिटेशन्स बट व्हाट दी आर्टिस्ट स्ट्राइक्ज टू ब्रिंग आउट इज़ दी आइडिया दैट स्ट्राइक्स दी बीहोल्डर।'[2]

(आ) आकृति आलेखन—

(क) 'मांडना'

'मांडना' उन समस्त आकृतियों को कहते हैं जिन्हें धरती पर 'पांडू' (खड़िया) और गेरू से बनाया जाता है। मालवी में 'मांडना' शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों रूप में व्यवहृत होता है। मांडना क्रिया का अर्थ है—अंकित करना (टू ड्रा) और संज्ञा के रूप में आकृतियों से तात्पर्य है। इस प्रकार 'मांडना' का अर्थ है—आकृतियाँ बनाना। 'मांडना' प्राय: प्रत्येक त्योहार पर घर लीपने के पश्चात् बनाये जाते हैं। विशेष रूप से दीपावली और दशहरा इनके लिए मुख्य अवसर है। समस्त 'मांडना' (आकृतियाँ) मांगलिक समझे जाते हैं। इनमें मानव आकृतियाँ नहीं बनाई जातीं, केवल सौंदर्य वृद्धि के लिये त्रिकोणात्मक, चौकोर, पंचकोण, षट्कोण और अष्टकोण आकृतियाँ अथवा भाँत (डिजाइन) बनाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त 'चोपड़ भाँत', 'फूल भाँत', 'बेल भाँत' आदि मांडना के प्रकारों में प्राकृतिक वस्तुएँ प्रतीकवत् ग्रहण की गई हैं। दीपावली पर 'देवल फूली' 'सात्या' (स्वस्तिक) की जोड़, 'सुवापंखी', 'घरकुल्या' (जिनमें मृत्तिका दीप ज्योतित किये जाते हैं) तथा द्वार के पास 'सादी डेली', 'गांठ्य की डेली' कक्ष के कोनों में 'फूल', 'खांडा', मध्य के 'चोक' अथवा 'चांग' (चंग) जिसमें 'छलंगा' आदि बनाकर घर द्वारा सजाये जाते हैं।

राजस्थानी-मालवी की एक पारसी (प्याली, पहेली) में चौक अथवा 'मांडन' को पचासों फूलों से चित्रित, बिना टाँकों की गुदड़ी कहा है।[3]

मांडन अंकन का कार्य स्त्रियों का आवश्यक कर्म है जिसकी शिक्षा उन्हें बचपन से मिलती है। इनमें समानान्तर रेखाओं का प्राधान्य और वक्र रेखाओं की न्यूनता ने आधुनिक चित्रकला में ज्यामितिक शैली को विकसित किया है।

---

[1] विस्तार से इस विषय पर देखिये लेखक का निबन्ध—'मालव जनपद की आंकिक अभिव्यक्ति', सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक), २०१० वि० पृ० ३९८-४०७। [2] एन्थ्रोपॉलजी, खंड २, पृ० ५५ (दी थिन्कस् लायब्रेरी)।

[3] 'बिन टांका की गोदड़ी
फुलड़्या पड़ी पचास'

(ख) परम्परात्मक आकृतियाँ :—

परम्परागत् आकृतियाँ धार्मिक उत्सवों एवं अनुष्ठानों से संबंधित होती हैं। ऐसी आकृतियाँ रूढ़ हैं। मालवा में 'भैरूजी', 'मायमाता', 'नागजी', 'सरवण', 'पगल्या' आदि की आकृतियाँ परम्परागत हैं। प्रायः समस्त आकृतियों के विषय निश्चित होते हैं। मानव प्रतीक शैली में ज्यामितिक रेखाओं से बनाया जाता है। दो त्रिकोण एक दूसरे के सिरों को सीधे स्पर्श करते हुए बनाने से धड़ बन जाता है। उसमें हाथ, पैर, मुँह आदि अक्षरों पर मात्राएँ लगाने की भाँति अंकित किये जाते हैं। इस प्रकार का सांकेतिक अंकन अभिव्यक्ति की आदिम-प्रवृत्तियों से संबंधित है। प्रायः देखा गया है कि मानव की क्लिष्ट बैठकें (पोज़) अथवा पशु-पक्षियों की उलझी हुई स्थिथियों को बनाने की प्रवृत्ति लोक कला में नहीं मिलती। लोक कला में वस्तु के प्रत्येक अंग को मोटी और स्पष्ट रेखाओं में दिखाया जाता है—आँख, कान, नाक भी स्पष्ट, हाथ-पाँव की पाँच-पाँच अंगुलियाँ भी स्पष्ट। परम्परात्मक आकृतियों में अनुपात का ध्यान नहीं रखा जाता। वैसे अवलोकन मात्र से इनमें कोई सौंदर्य प्रतीत नहीं होता। हाँ, आकृति अवसर और प्रसंग के प्रतीक का तरह ही तरह अपने महत्व को अवश्य सिद्ध करती है।

विवाह के अवसर पर वर-वधू दोनों के घरों में 'मायमाता' और 'भेरू' बनाये जाते हैं। मायमाता का स्वरूप जातियों के अनुसार मालवा में बदलता जाता है। कहीं-कहीं १३ कुंकुम की बिन्दिया को एक सरल रेखा में अंकित कर त्रिकोण की आकृति में क्रमशः १ बिन्दी तक ले जाते हैं। इसी के नीचे घृत से रेले उतार कर ऊपर सिन्दूर लगाकर 'भेरू' की सांकेतिक आकृति बनाई जाती है। 'मायमाता' का स्वरूप बिन्दियों वाली आकृति से स्पष्ट नहीं होता। उज्जैन जिले की कुछ जातियाँ इसे मानवीय स्वरूप देने का प्रयत्न करती हैं।

'पगल्या' का अर्थ है पद-चिन्ह। प्रथम बालक के जन्म के अवसर पर लड़की के पीहर अथवा ससुराल पक्ष के लोग कागज पर लाल स्याही से पगल्या अंकित कर एक दूसरे के घर भेजते हैं।

मालवी कृषकों के 'ओवरों' (कच्चे घरों) की बाह्य दीवारों पर हल और हलवाहे की आकृतियाँ अवश्य मिलेंगी। हल और हलवाहे उनके साधन हैं। 'हाली' नामक गीत में हलवाहे की महिमा गायी गई है। इनके ही प्रयत्नों से धरती सोना उगलती है। दीवाली, दशहरे पर किसान श्रद्धावश इन्हें लाल रंग से घरों के बाहर प्रतीकवत् अंकित कर सुख पाते हैं। रूढ़िगत आकृतियों के विधान की चर्चा कुछ प्राचीन ग्रंथों में मिलती है। यथा, नागपूजा के विधान में नागाकृति अंकित करने का उल्लेख निम्न पंक्तियों में प्राप्त होता है :—

'श्रावणेमासि पंचम्यां शुक्ल पक्ष नराधिप ।
द्वारस्योभयतो लेख्या गोमयेन विषोल्वणाः ।।
(भविष्य पुराण)

'नागाश्चैव तु कर्त्तव्याः खड्ग खटेक धारिणः ।
अतः सर्वाकृतिस्तेषा नाभेरूर्ध्वं तु मानुषी ।।'
(मत्स्य पुराण)

(ग) सांझी (संजा)

साँझी की आकृतियों पर प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी है। ये आकृतियाँ भी मालवी के लोक गीतों से विशेष संबंधित हैं। (देखिये प्रबन्ध के पृ० १६६ पर)।

(घ) मेंहदी भाँत :—

नारी के सौंदर्य प्रसाधनों में मेंहदी अथवा महावर का सौभाग्य एवं मांगल्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। मेंहदी घोलकर "सीक" के द्वारा स्त्रियाँ अपने कर-पगों पर आकृतियाँ बनाती हैं। भाँति-भाँति की त्रिकोणात्मक, चौकोणात्मक और पंचकोणात्मक आकृतियाँ रेखाओं और बिन्दियों के सहारे उभारी जाती हैं। मालवी में इन आकृतियों के कुछ नाम हैं—"चौपड़ भाँत", "मोर भाँत", "पंखा भाँत", "लेरिया भाँत", "पान भाँत", "फूल जोड़", "सात्या जोड़", "सिंगोड़ा भाँत", "पतासा भाँत", "घेवर, खजूर, छल्ला" आदि। मेंहदी के संबंध में कुछ गीत भी गाये जाते हैं। मालवा की मेंहदी दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। एक लोक गीत की पंक्तियों के अनुसार मेंहदी मालवा में बोयी जाती है पर उसका रंग गुजरात तक जाता है।[१]

(ङ) गोदना :—

मालवा में गोदना चिन्हों का अध्ययन मनोरंजन का विषय है। विभिन्न जातियों के विभिन्न गोदना-चिन्ह उनकी लुप्त परम्पराओं को जोड़ते हैं। मालवा में ऐसे कई चिन्ह अपने मूल रूप में उपलब्ध हैं। लोक साहित्य से उनका यद्यपि सीधा संबंध नहीं है, तथापि पुरातत्वविदों एवं समाज-शास्त्रियों को उनमें नई सामग्री मिल सकती है। मालवा में ६८ प्रतिशत ग्रामीण महिलाएँ गोदना गुदवाती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में विशेष प्रकार के चिन्ह प्रचलित हैं।

अतएव लोकाकृतियाँ अनेक अंशों में लोक जीवन से संबंधित अनुष्ठानों,

---

[१] "मेंहदी तो बोयी मालवे,
ऐनु रंग गयो गुजरात, मेंहदी रंग लायी"
(गुजराती गीत)

त्योहारों और उत्सवों से संबंधित हैं। लोक साहित्य के अध्येयताओं के लिये उनकी जानकारी रखना आवश्यक है।

मालवा की आंकिक अभिव्यक्ति उसके लोक-साहित्य से जुड़ी हुई है।

लोक नृत्य और गीत—मालवा की कृषि प्रधान जातियों में गीतों की भाँति नृत्यों का भी महत्व है। नृत्य आंगिक अभिव्यक्ति की कोटि में है, जो अपने भावों को गीत की कड़ियों से जोड़ते हैं। प्रायः स्त्रियाँ गाते हुए नृत्य करती हैं। पुरुषों के नृत्यों में भी गीत का प्राधान्य है। स्त्रियों का प्रसिद्ध नृत्य है "मटकी नाच"। "आड़ा" और "खड़ा" नाच भी स्त्रियों में ही होता है। "जोड़ी" दो स्त्रियों का नृत्य है जिसमें गीत की पंक्तियाँ बारी-बारी कही जाती हैं। पुरुषों के नृत्य "गर्बा" और "माच" और "अन्टया" के खेलों में होते हैं। कृषक जातियों की अपेक्षा आदिवासी जातियों में पुरुषों के नृत्यों की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित हैं। यहाँ इतना भर कहना पर्याप्त होगा कि नृत्य गीतों की दृष्टि से लोकवार्ता की श्रेणी नृत्यों को भुलाया नहीं जा सकता। मालवी के नृत्य गीतों में शृंगारिकता का प्राधान्य है।

लोक साहित्य की शैली और अन्य विशेषताएँ—वस्तुतः लोक-साहित्य में—त्रिधाभिव्यक्ति का संयोग प्रधान है। शैली की दृष्टि से उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं। यों हम गीतों को (१) लघुवृत्त प्रधान, (२) कथा प्रधान, (३) दीर्घ कथायुक्त और (४) नृत्य गीत; इन चार कोटियों में बाँट सकते हैं। कृषि जातियों के गीतों की भाँति आदिवासी जातियों के गीतों का भी अलग परिवार है। गीतों की शैली बहुधा रूढ़ाभिव्यक्तियों से आबद्ध है। अभिप्रायों का उनमें परम्परागत प्रवेश है। टेक, पुनरावृत्ति, वस्तुओं के क्रम से नाम गिनना और अन्त में सुरुचि संपन्न अन्त पर पहुँचना गीत के उल्लेखनीय क्रम हैं। प्रबन्ध गीतों में सरस्वती (सरसत वन्दना) और गुरू की महिमा का विधान है। सभी रसों का गीतों में समावेश है। प्रतीकों में बात कहना, अन्योक्तियों का प्रयोग, निर्धारित संख्या का दुहराना, तीन वनों का वर्णन, चंदन चौक की चर्चा, हरे मूँग की दाल बनाना, मोती जैसा भात का राँधना, आदि उपादान गीत शैली के अंश हैं।

स्त्रैण प्रवृत्ति से पूरित गीतों में सुरुचिसम्पन्नता, शृंगार का समृद्ध चित्रण और परम्परागत अभिधानों का वर्णन पाया जाता है। पुरुष गीतों में किंचित् दृढ़ता और अनपढ़ तत्वों का समावेश है। मालवी के स्त्रियों के गीत पुरुषों के गीतों की अपेक्षा अधिक पुराने और रस संपन्न हैं। उनमें मामूली परिवर्तन हुए हैं। अनुष्ठानों से संबंधित होने के कारण प्रायः गीतों में

उतना ही अधिक प्राचीन्य विद्यमान है। प्रश्नोत्तर शैली के गीतों में भी नाविन्य का अभाव है। ऐसे गीत प्रायः मध्ययुगीन कृषि जीवन के संपन्न चित्रों को प्रगट करते हैं।

अलंकार की दृष्टि से लोक साहित्य में रूपक, अन्योक्ति, उपमा और उत्प्रेक्षा का ही समावेश होता है। उसकी प्रतीक योजना समासाभिव्यक्ति के रूप में परिणत होती हुई एक साधारण अलंकार बन गयी है।

रस की दृष्टि से गीत सभी सम्पन्न हैं। शृंगार और करुण रस का प्राधान्य है। शेष रस यथास्थान बिखरे हुए हैं। दाम्पत्य प्रेम, कलह, स्नेह, वात्सल्य आदि विभिन्न भावों में रस के चित्र निबद्ध है। स्थूलतः ओज, उल्लास और क्षोभ में विभिन्न वृत्तियाँ समाहित की जा सकती हैं। वीर, अद्भुत, रौद्र आदि भावों का वर्णन हमें प्रबन्ध गीतों में प्राप्त होता है।

चरित्र—साधारणतः लोक कथाओं में विभिन्न प्रकार के चरित्रों का वर्णन मिलता है। लोक गीतों में ननद, भौजाई, सती स्त्री, मातृप्रेम, वीर पुरुष और देव-चरित्रों के दर्शन होते हैं। इनका मनोवैज्ञानिक स्तर अभिप्रायों के आसपास वृत्त की तरह व्याप्त है। आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हुए बहुधा सभी चरित्र पाये जाते हैं। केवल ननद-भौजाई और सास-बहू का बैर शाश्वत है। भाई अपनी बहन के लिये बड़ी-से-बड़ी वस्तु त्यागने के लिये प्रस्तुत है। सौत के चरित्र लोक-साहित्य में दुष्टता से पूरित हैं।

मानसिक स्थितियों के स्तर—इन चरित्रों के अध्ययन से हमें लोक साहित्यकार की मानसिक स्थितियों के तीन स्तर प्राप्त होते हैं।

१—आदिम वृत्ति से पूरित मानसिक अवस्था, जहाँ विश्वास का प्राधान्य है तथा अलौकिक शक्तियों को अपने से संबंधित सभी वस्तुओं में स्थित मानना।

२—दूसरा स्तर वह है, जहाँ विश्वासों के ऊपर कार्य कारण का संबंध हुआ है, किन्तु इस संबंध के पीछे ठोस सत्य की अपेक्षा कल्पना का सहारा है। कहानियों में यह स्तर प्रायः लक्षित किया जा सकता है।

३—तीसरा स्तर भाव प्रवणता का है

मालवी लोक-साहित्य—मालवी लोक-साहित्य में समाज-शास्त्रियों एवं नृतत्वविदों के लिये अधिक सामग्री का मिलना संभव नहीं है। मालवा के पठार पर आदिम जातियों के विश्वासों और लोक साहित्य में ऐसी सामग्री अवश्य प्राप्त है। मालवा की ऐतिहासिक परम्परा उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उसका लोक-साहित्य अध्ययन की वस्तु है। उसका लोक-मंच अपने ढंग की वस्तु है। पिछले तीन सौ साल से उसका इतिहास प्राप्त है। लोकोक्तियों और कथा का स्वरूप प्रायः सभी मध्यवर्ती जनपदों के समान है।

उक्त सामग्री के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मालवी का लोक साहित्य अधिक अंशों में समन्वय पूरित है। उसमें मध्यकालीन मध्यवर्ती भारत की कृषि-सभ्यता की स्थिति विद्यमान है।

लोक-साहित्य का हिन्दी-साहित्य से संबंध—लोक-साहित्य का हमारे जीवन से गहरा संबंध है। हिन्दी साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उसने समय-समय पर अपने लोक-साहित्य से सामग्री प्राप्त की है। मध्यकालीन प्रेम कथाओं ने अपनी विषयवस्तु लोक कथाओं से ही ली है। रामायण के विविध रूप, जो आजकल लोक गीतों में देखे जाते हैं, इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं कि उपलब्ध रामायण की कथाएँ लौकिक रूप में विविध प्रसंगों को समाहित किये है। कबीर आदि संतों की रचनाओं में हमें लोक-परक संत-काव्य का प्रभाव बराबर दिखाई देता है। इस विषय पर विस्तार से लिखना संगत न होगा, किन्तु इतना स्पष्ट है कि लोक साहित्य के उपादानों और हिन्दी के उपलब्ध साहित्य के बीच संबंध कराने वाली कड़ी मात्र लोक-जीवन की गहरी आस्था रही है। दोनों ने एक दूसरे का प्रभावित किया है। व्यापकता लोक साहित्य का गुण है।

अतएव मालवी लोक-साहित्य का प्रस्तुत अध्ययन एक जनपद की लोक भाषा, परम्परा का साधारण परिचय मात्र है। इसके व्याप्त रूपों का अध्ययन दूसरा चरण होगा।

बाल गीत

संग्रह संख्या—१

साँझी के गीत

'आरती'

(१) हर्यों[1] सो गोबर पीली-सी माला
करो संजा की आरती
तमारा भई भतीजा रो जोग
माता, बई संजा की आरती
पाना-फूलां भरीरे थगेर[2]
केसर भरियो बाटको
संजा बई की माँ, संजा ने भेजो
करे संजा की आरती

(२) छोटी-सी संजा बेन्या
ले फुलड़ा आरती करी रिया
छोटा-सा सूरजनारायण बीरा
ले घोड़ी उड़ाय रिया जी ··

(३) पेली आरती, पेली आरती
रई रमझोल

---

[1] अंतिम चार पंक्तियों का दूसरा रूप :—
संजा की माँ संजा ने भेजो
करो संजा की आरती
भई पाना फूलां भर्यो कचोलो
केसर भरियो बाटको।

[1] हरा। [2] थाली।

भई बाप की इमरत जोड़
वारी हे संजा,
म्हने पूजूँ चंपा कलियां
सिंघासण धालूँ हीरा
तम दो संजाबई मीरा

(४) संजा की आरती संजा को फूल
रोलो भाभी रोलो, दई को कचोलो
संजाबई का हाथ में बेल्या बेल
तन तन ताजा उजली भतीजी
और पोरनी चा पाया, ऊँचा पाया
राज करे भोजाया का जाया
चुगली पर चोर ग्रहग्यो नारायण सुनार
घड़े रे म्हारी माला
माला में का मोती, चमके म्हारी चोटी
चोटी में का हीरा, संजाबई का बीरा

(५) म्हारा बीराजी जीमण बैठा
नी कलसा में पाणी जी
चलो देरानी, चलो जिठानी
आपण चालां पाणी जी
ऐली सरवर तम भरो
पेली सरवर हम भरांजी
भरते भरते अंई लचकाना
वंई लचकाना
आवी कलका[1] अटका बटका
आवी कलका मोती जी
मोती लई ने चलवा लागा
लाड़ूलो ललकारे जी
ऊबोरे लाड़ूला म्हारा मई-बिरा से केवादे
मई बीरा की सातर[2] राणी
साती कामण[3] गावेजी

[1]लचक, [2]सात, [3]एक प्रकार का गीत ।

'दांतन तारो'

(६) आंबा भोर्‌या, लींबू मोर्‌या
लींबू डाड़म दाख
श्रीकिसनजी सेवा बेठा
उठो राणी पीयो पाणी
झालर बाजे, घड़यावल बाजे
ऊगा तारा, संजा फूली
छोड़ो मुन सीताफल लाग्या
मुनीजो की मुन छूटो

केसवजी का कवांड़ खुल्या
मुनी बाबा राम-राम[1]

(७) संजा तो मांगे हर्‌यो-हर्‌यो गोबर
कां से लऊँ बई, हर्‌यो-हर्‌यो गोबर ?
म्हारा बिराजी गवलो घरे बैठा
ले ओ संजा, हर्‌यो हर्‌यो गोबर ।
संजा तो मांगे फूले कांचली
कां से लऊँ बई, फूले कांचली ?
म्हारा बिराजी माली-घरे बैठा
ले ओ संजा, फूले कांचली ।

(८) लो संजा बई जानुणियो
जामुणिया की रवतो[2] डांडी
पीलो फूल, पीलो फूल

(९) संजा तू बड़ा बाप की बेटी
तू खाय खाजा रोटी
तूं पेरे मानक मोती
संजा ऐवड़ो हो
माथे बेवड़ो हो
त्हारा डाबा हाथ करेलो हो
त्हारा जिमणा हाथे मोती हो
त्हारी चोंटी लेरिया लेती हो

---

[1]मुनी (मौनी) व्रत समाप्ति के समय कहा जाता है । [2]लाल [3]सूआ (तोता)

'सोवेट्या'[1]

(१०) कुवा पिछाड़ी चार कबूतर कोन सो बीरो गोरो रे
—सोवेट्या

चांद-सूरज बीरो गोरो रे —सोवेट्या
चांद-सूरज बीरा ने मूँदड़ो पायो
जाय बऊँ ने सोप्यो रे—सोवेट्या
बऊ सपूतन ओढ़न जाने पेरन जाने
कौन-सी नँनद बुलाऊँ रे —सोवेट्या
संजा नँनद बुलाऊँ रे—सोवेट्या
संजा की तो ऊँची नाक—नीची नाक
कमल की चोंटी
मोत्या माँग भराऊँ रे—सोवेट्या

'हिरनी'

(११) संजाबई तम तमारा घरे जाव
कि तमारी माँ मारेगी
कि तमारी माँ कूटेगी
चाँद गयो गुजरात
कि हिरनी[2] ऊगेगी—बई उगेगी
हिरनी का बड़ा-बड़ा दाँत
कि छोरा-छोरी डरपेगा—बई डरपेगा

(१२) कोरी-कोरी कुलड़ी में
बालोरेया बगार्‌याजी
अई म्हारी संजा बेन्या,
जीमी चूँठी ने थरे पधार्‌याजी
वाकी माता धम्-धम् धमकार्‌याजी
काये माता क्यों धमकार्‌या ?
तमारा मामा घणा सपूता
ऊँदा[3] चांटा मार्‌या जी

[1]सूआ : तोता
[2]'किरती माथे ढल गई
हिरनी लूँबा खाय'—झीमा चारणी : रानी उमादे और राव अचलदास
के गीत से
[3]उलटे

(१३) जीरो लो भई जीरो लो
जीरो लई ने संजा ने दो
संजा का पीयर सांगा सोल
परण पधार्‌या, घोड़ा डकार्‌या
राम थारी चाकरी गुलाम म्हारो भेस
छोड़ो म्हारी चाकरी, पधारो म्हांका देस[1]

(१४) ये माँ कौन सी बेन्या रो बूरो सासरो
ये माँ कौन सी बीरो लेवा जाय
ये जमण म्हारी कोयल होती तो उड़ी जाती
ये माँ संजा बेन्या रो बूरो सासरो
ये मां सूरज नारायण बीरो लेवा जाय जमण
म्हारी कोयल होती तो उड़ी जाती

(१५) दो सोना री चिरकली
दो रूपा री चिरकली
उड़ती उड़ती संजा का सासरे जाय
संजाबई बीरो पिचाण लो
कंई पिचाणू बीरो लाम्बो, घोड़ो पातलो
सैर गली में खेल रे एक लो
वंई जमावे चोखलो

---

[1]पाठान्तर :— माला लो बई माला लो
माला लई म्हारी संजा ने दो
संजा को पीयर सांगा में
पग पधार्‌या घड़ियक में
श्याम म्हारी चाकरी, कल्याण म्हारो देस
छोड़ो म्हारी चाकरी, पधारो म्हांका देस
"रखड़ी लो री बाई रखड़ी लो
रखड़ी 'ले' र म्हांका संझ्या बाई ने दो
संझ्या बाई को सासरियो गढ़ अजमेर
परण पधार्‌या सांगानेर
राणाजी की चाकरी, कल्याणजी को देस
छोड़ो म्हांकी चाकरी, पधारो थांका देस"
—लोक कला, भाग १, अंक १, पृष्ठ २६

(१६) संजा बई का सासरे जावांगा
खाटो रोटो खावांगा
संजा बई सासू दूतड़ली
ऐसो दूँ दारी के चमका की
काम कराऊँ तड़का से
हूँ बैठूँ गादी पे
उसे बिठाऊँगा खूँटी पै

(१७) कारे तू खोड़्या बामरा
सांभी लेवा आयो रे
म्हारी संजा वास्ते कई कई लायो
भम्मर लायो, टीका लायो
माला भूली आयो रे
माला बेंच तमाखू लायो
गुड़-गुड़ करतो आयो रे

(१८) बई संजा ए, थारा सासरिया से
हाथी भी आया ने घोड़ा भी आया
पालकी भी आयी ने म्याना भी आया
तम तो जाव बई संजा सासरे
हम तो नी जावां दादीजी सासरे
हाथी ठ्हाने बंधऊँ, घोड़ा पायगे बंधऊँ
पालकी छज्जे धरऊँ, म्हाना मेले धरऊँ
तम तो जाव बई संजा, सास रे

(१६) आज म्हारी संजाबई पावरणा
चलो सखी आरती सजावो
दो दन पावणां ने तिसरा दन सूना
म्हारा संजाबई ने लेवा आया पावरणा
भोजन जिमाऊँ म्हारी संजा ने
बारा महिना में पाछी आवेगा
सूरजनारायण बीरा लेवा ने जावेगा
सोला दन रिया म्हारी संजाबई
पालकी में बैठी ने जावेगा
आज म्हारी संजा बई पावरणा

(२०) चांदे बैठी चिड़कली
उड़ाव म्हारा दादाजी
आंगन बैठा पावणा
जिमाव म्हारा दादाजी
संजाबई चाल्या सासरे
मनाव म्हारा दादाजी

(२१) नानी-सी गाड़ी रड़कती जाय
जीमे बैठा संजा बई
घाघरियो चमकाता जाय
चूड़लो चमकाता जाय
बई को नथनी झोला खाय

(२२) संजुलालजी ने बदुआ रंग्या
संजा बई रा चीरा जी
चीरा ओढ्या, पनघट चाल्या
जल जमना रा नीर जी
भरत-भरत पर डोर टूटे
अब घर कैसे जाऊँगी
घरे जऊँ म्हारी सासू लड़े
कुवे जऊँ पनिहारी जी

(२३) इलक तिलक का तोर्या
बई, बेकल की तरवार जी
कां को बीरो बाग लगावे
कां की बेन्या सींचे जी
सूरजनारायण बीरा बाग लगावे
संजा बेन्या सींचे जी
बई तो चाली सासरे
म्हारो बाग सूखेजी
रू रूपया लई लो रोकड़ा
म्हारी बई ने पाछी लावोजी
बई तो आया गोयरे
म्हारो बाग लेरायेजी

'केल'

(२४) म्हारा आंगणे केल उगी
केल उगी—केल उगी
हूँ जाणू पपइयो बोल्यौ
बड़ा जेठजी जीमण बैठा
नई कलस्या में पाणी जी
घूंघट खोली सान बताई
चलो जिठानी पाणी जी
येले घांटे हम भरांजी
येले घांटे तम भरो
भरते-भरते मोती पायो
जा बैठी थी बाबूड़ो
बाबूड़ा रे बाबूड़ा,
कई, सुनो बात हमारो जी
गुड़ो खेलता भई हमारा
राण्या सरखी भोजायांजी

(२५) म्हारा पिछवाड़े केल उगी
—केल उगी
हूँ जाणू पपइयो बोल्यौ
म्हारा बीराजी चढ़वा लागा
चड़जो अच्छी सी डाली
म्हारा देवरिया चढ़वा लागा
चड़जो टूटी सी डाली
म्हारा बीराजी जिमवा बैठा
वऊँ रे ताजा-सा भोजन
म्हारा देवरिया जीमण बैठा
वऊँ रे सूखा-सा टुकड़ा
म्हारा बीराजी घरे छोरो हुयो
लई जऊँ भगल्या ने टोपी
म्हारा देवरिया घरे छोरी हुई
वऊँ रे सिल्ला पे ववकी

(२६) रंग-रंग रे गुलाबी छोपा
घाघरारी बूटो छे
रंगू छे ये डावड़ा
म्हारा कितरा भई छे
पंचम पच्चीस म्हारे
सूरजनारायण भई छे
तारा-बिजली लाल,
म्हारी संजा बई बेन छे

(२७) किका-किका घर को नोतो रे—कागेला
संजा बई का घर को नोतो रे—कागेला
कंई-कंई नोत जिमावे रे—कगेला
लबसी का लोंदा, ऊपरे घी का झारा रे—कागेला

(२८) संजा जीमले हो—चूंठले हो
चोरेलो चिराय ले
चीरा ऊपर मोर नाचे
डेढ़ घड़ी ए रात
चमक चांदनी-सी रात
फूलां भरीरे परात
एक फूल गिर्‌यो
म्हारी संजा बई उदास

(२९) काली बावड़ा का हाट जइयो जी
छल्ला मुंवड़ी लइयो जी
मूंगा हो तो लइयो जी
घर में नंनदल कुंवारी जी
देवर है वूतारो जी
'घड़ल्या के गीत
अथवा
'गड़बड़्या' के गीत

(३०) (गड़बड़्यो) घड़ल्यो म्हारो लाड़लो
सेरी भागो जाय रे भई
सेरी भागो कांटो
नावी घेरे जाय रे भई

नावो दीदी नेरनी
बागरी घरे जाय रे भई
बागरी दीद्या छावल्या
माली घरे जाय रे भई
माली दादी फूलड़ा
देव चढ़ावा जाय रे भई
देव दीदा लाडू
मगरे बेठा खायरे भई
मगरे लागा ऊंवरा
काने कतरी खाय रे भई
काने बांधा सूपड़ा
फड़ फड़ करती जाय रे भई
चूं चूं करती जायरे भई
चूं-चूं करती जायरे भई

(३१) गडव्यो तेल बलै, घी घालो
कि नन्दजी का लाल रे ।
गडव्यो जसोदा बई को बीरो
कि नन्दजी का लाल रे ।
गडव्या लाड़ी बऊ को बीरो
कि नन्दजी का लाल रे ।

(३२) छोटी-छोटी टोकरी घड़ई दे रे बीर
सासरिया में पेरांगा
सासरिया का खोटा लोग
साथ खजूरा बेचे बोर
बोर की गुठली लइग्या चोर
चोर का घर में नाचे मोर
दे दी होंय तो दे पड़ोसन
त्हारो बेटो अन्नी लायो
पन्नी लायो
लाख रुपया[1] की लाड़ी लायो
वींछा की रमझोल लायो

[1] 'तड़ा' : निमाड़

घाघरा की घेर लायो
ऊबो ऊबो पान चावे
बऊ कर सिनगार
(सुन्दरसी)

'गाड़ी'

(३३) गाड़ा नीचे कूपल फूटी— सात सहेल्या हो
कूपल की म्हने भाजी रांदी—सात सहेल्या हो
वा भाजी म्हने वीरा आगे मैली—सात सहेल्या हो
वीराजी के म्हने मीठी-मीठी लागे—सात सहेल्या हो
वा भाजी म्हने देवर आगे मैली—सात सहेल्या हो
देवर के म्हने खाटी खाटी लागे—सात सहेल्या हो
वा कूपल के म्हने काटी लावो—सात सहेल्या हो[1]

[1]श्रीमती बसन्तीबाई, उज्जैन, १२ जून, १९५५
पाठान्तर :—गाड़ा तले जीरो बोया, सात सहेल्या हो
गाड़ो रड़क्यो कोपल भागी - सात सहेल्या हो
कोपल की म्हन भाजी रांदी - सात सहेल्या हो
भाजी के म्हने वीरा जिमड़्या - सात सहेल्या हो
वीरा के म्हने कड़वी लागे - सात सहेल्या हो
भाजी तो भूरी भेंसा के मेली - सात सहेल्या हो
भूरी भेंस ने दूधड़ो दिया - सात सहेल्या हो
दूधड़ा की म्हने खीर रांदी - सात सहेल्या हो
वीराजी के म्हने मीठी लागे - सात सहेल्या हो
वीराजी ने म्हके चूनड़ करी - सात सहेल्या हो
चूनड़ ओढ़ी पानी चाली - सात सहेल्या हो
सुसरा वेरी ने बागुड़ गाड़ी - सात सहेल्या हो
बागुड़ को म्हने कांटो लाग्या - सात सहेल्या हो
कांटा का म्हन आंसू आया - सात सहेल्या हो
आंसू के म्हने चूनड़ से पूछ्या - सात सहेल्या हो
चूनड़ के म्हने धोबी दी दी - सात सहेल्या हो
धोबी ने दरजी के दी दी - सात सहेल्या हो
दरजी ने ऊको कोथलो सीयो - सात सहेल्या हो
कोथला में म्हने बइजी भर्‌या - सात सहेल्या हो
बइजी मलके
चूड़ी चलके—देवास

(३४) नन्ही नन्ही पोंगली में
राम फली को तेल
सासू लागी बांता में
कंई करूँ म्हारी माजी हो
बड़बड़ पी गई तेल
गेल्या घर की नार
छोरा हो जो तीस
छोरी हो जो बीस
(उज्जैन)

(३५) अमली झर झामली
ऊका झीना-झीना पान हो
मेल दे दरी रामजी वाली
पलो भरी ने तेल हो
आलिया कुवालिया कंई देखे
त्हारा चुल्हा पाछे तेल हो[1]

(३६) गड़बड़िया तेल बले, घी धालो
नन्दजी का लाल रे
गड़बड़ियो जसोदा बई को बीरो
कि नन्दजी का लाल रे
गड़बड़ियों लाड़ी बऊ को बीरो
कि नन्दजी का लाल रे

(३७) बेगा बेगा जीमो म्हारा माड़ी जा
घर में सासू आंकड़ोजी
सुसरा आगे कई दो जी
सासू है कुत्ता की सोक
मरी हतई में कई दोजी
सुसरो है बेटी को बाप

---

[1]पाठान्तर :—
नानी सी मोमली में रामफली को तेल
घाल घाल हो (अमुकजी) वाली
थाल पलो भर तेल

सासरा का खोटा लोग
खाय खूजरा बेंचे बोर
बोर की गुंठली लईग्या चोर
चोर का घर में नाचे मोर

(३८) नानी नानी टोकरिया घड़ई दे रे बोर
सासरिया में पेरांगा
सासरिया का गेल्या लोग
खाय खजूरा बेंचे बोर
बोर का गुंठल्या लई ग्या चोर
चोर का घर में नाचे मोर
मोर मुड्यार्‍या उड़ी गया
सासू रांड के लई उड़्या
बेती होय तो दे पड़ोसन……

(देवास)

'अबल्या-छबल्या'

(३९) अबल्या छबल्या बोय म्हारा बीर
बोय संदेसो मोकालियो
एक ने तोड़ी बड़ की डाल
…… एक ने तोड़ी कूपल जी
तोड़त तोड़त पड़ गई सांझ
आज बीरा घरे बावणाजी
बेगा बेगा आव म्हारा माड़ी जाया बीर
सासरिया का खोटा लोग
खाय खजूरा बेचें बोर
बोर की गुंठली लई ग्या चोर
चोर का घर में नाचे मोर[1]

---

[1]बन्सतीबाई, उज्जैन, १२ जून १९५५

दशहरे से पूर्णिमा तक "ऐठवाड़" जाता है। उसमें सूर्य के सन्मुख जूठन नहीं डाली जाती। रात्रि को ही उसे बाहर फेंकते हैं। पूर्णिमा के दिन एक काली माटी के कलस में जल भर कर, उस पर चार ज्योत प्रज्वलित कर एवं कुंकुम या सिन्दूर से स्वस्तिक बनाकर पूजन करते हैं। खीर-पूरी से पूजा की

(४०) अबल्या छबल्या दोय म्हारा बीर
दोई संदेसो मोकल्या
बेगा बेगा जिमाडूं म्हारा माड़ी जाया बीर
सासू ए दूताड़ी
दूताड़ी के धूरे करो
आयो रे यो कान गुवाल

जाती है। मालवा में यह परम्परा कहां से आई और किस बात की सूचक है, यह विचारणीय है।

पाठान्तर :—अवल्या-छबल्या दोय म्हारा बीर
दोय संदेसो मोकल्या
एक ने तोड़ी वाकड़ी डाल
एक ने तोड़ी धुंधरा की डाल
तोड़त - तोड़त पड़ गई सांझ
आज बीराजी घरे पामणा
मड़ी - मड़ी जाय म्हारा बीर
सासू हे कुत्ता की सौक
बेटो हे बेटी को बाप
(देवास)

पाठान्तर :—
आज वैन्या घरे पामणाजी
खोड़ी फोड़ी रांदू भात
बीरा जिमाडूं आपणा जी
(उज्जैन)
'नव रात्रि के गरबा गीत'
''मधुर'' जागरण १-११-५४

(बेना)
आज बीरा घर पावणाजी
खोड़ी फोडूं, रांदूं भात
बीरा जीमारी आपणाजी
(गीत नृत्य पर्व) (गडवा)
नव प्रभात, ४ दिसम्बर १६५५
शिवकुमार ''मधुर''

कई कई सोदो लायो रे
काजल कोट बनायो रे
काजल कोट पे नाचे मोर
हूँ जाणूं पपइयो बोल्यो
बेती होय तो वे पड़ोसन
त्हाके लागी माइ हो
त्हारो छोरो अन्नो लायो—पन्नो लायो
लाख तड़ा की लाड़ी लायो
घाघरा को घेर लायो
बींछ्या की रमफोल लायो
मेंवा पाती सीस
बेटा हो जो बावण बीस
बऊ आजो तेवण तीस
(···लेकोड़ा) २१-६-५०

(४१) बाज खजूर भली थी जी भली थी
खोड़्या कटाया था
बीज खोड़्या भला था जी] भला था
म्हने छबल्या गुंथाया थी
बोज छबल्या भला थाजी भला था
छबल्या में गोबरियो उगायो थी
उज गोबर भली थी जी भली थी
म्हने आंगनिये लिपायो थी।
बूच आंगन भलो थो जी भलो थी
म्हन गंउड़ा (गेहूँ) सुखाया था
बीज गऊंगा·····························
म्हने घट्टी में धमकाया था
बाज घट्टी·····························
म्हने लाडूला बँधाया था
बीज लाडू·····················
म्हने पीयरे पोंचाया था
बूज पीयर·····················
म्हने साड़िया ओड़्या था

वाज साड़ी..................
म्हने गोड़ी दई-दई फाड़ी थी
—(देवास)

"गोगो"

(४२) गोगो कांई करे
गोगो पाछे नहीं बवे
नद्दी नद्दी छमु गई
गई पीयर की वाट
देती होय तो दे पड़ोसन...

"मोरियो"

(४३) व्हाणा की कोर से नाचे हो बन को मोरियो
घुमड़ दई-दई नाचे हो...बन को मोरियो
कांका राय को साली रे...बन को मोरियो
घुमड़ दई-दई नाचे हो...बन को मोरियो

"डेडर्माता"

(४४) डोडड्या डोडड्या साल सूखे
गद्दो भूके गद्दो भूके
काला खेत में दई की हांडी
नारण टूटी बेल भाग्या
पाणी बावो बरस गयो
(खलघांट)

(४५) धतोव धतोव
कोठी प सुई
थारी बेटी ग्रई
धतोव्—धतोव्
कोठी फोड दा
कोठी प दांतलो
म्हारो बेटो पातलो
धतोव्...धतोव्
छींका प पाली

थारी बेटी काली

धतोद्...धतोद्

...(खलघाट) २८-५-५३

(४६) काकड़ बोई बेल करेली

गोयरे आई बेल रे

...का पावणा कई तमारो नाम रे

...हमारो नाम रे

'हिरनी'

(४७) म्हारा घर पाछे खड़ो तूमड़ो

तोड़ बगारी भाजी जी

अंडो तोड़्यो बंडो तोड़्यो

तो नी सीजी भाजी जी

आखा गाम का छेना चोर्‌या

तो नई सीजी भाजी जी

छोटा देवर की टांग तोड़ी

बड़ा जेठ की मूंछ्या कतरी

सासरो डाकी जीमण बैठ्यो

नई परेन्ड पाणी जी

आगे तो म्हारी चले जेठाणी

पाछे म्हू देराणी जी

पग रपट्यो म्हारी पायल टूटी

म्हूँ जाणू म्हारी कम्मर जी

कम्मर तो म्हारी राम बचई

फूटी कोरी गागर जी

भग्गर, अंक १, लोक कला, ३४

'छलो बोलेरे'

(४८) छून छला रे

हां रे छला रे

माज्यो कूंज्यो वाटको रे जिकमें धर्‌यो कमल को फूल।

असा भोलया से पालो पड़्यो रे कई फल लागे ना फूल।

(४९) पाणी माय को डोंगली[1] फुण-फुण बोवड़ होय।

दो गोरी को बालमो झुर झुर पिंजर होय।।

---

[1]पानी की घास

(५०) नत को कईं पेरनो
नाक को रसियो जाय
भवो विचारो 'सेरक्यो'[1]
जोबन पे झोला खाय

(५१) ओटला ऊपर ओटलो रे
जिक पर बैठो मोर
तेसों मेसों विक पर बैठ्यो मोर
मोर विचारो कईं करे
घर को देवर चोर

(५२) रातरकी राती घांटी
मेनपुरा की फाटी
परगोला का तीर छूटा
रत्नाखेड़ी नाटी
रत्ना खेड़ी भोत कचेरी
बम्बोरे बिचारो
अकासुदा में लाय लागी
नलवा में नगारो
(लेकोड़ा···भागीरथ नाई)

(५३) उदबुद सेर में
चार कबूतर जाय
पड़ोसन ने मार्‌यो कांकरो
उकी जोड़ी बिखरी जाय
छलो बोलो रे······

(५४) काली घोड़ी घूघरा
राती त्हारी बाज
जगने वाला जागजो
तो आज छला की रात
छलो बोलो रे······

(५५) आम्बो बड़ो लाम्बो
डाल गई गुजरात

---

[1] रुपयों का हार

डाल का मोती बीणो ग्वाल
छलो बोलो रे......

(५६) आंधा त्हारो लाकड़ी
आंधा त्हारा बोल
आधा...............
आंधा कूटे पेट
छलो बोलो रे......

(५७) छलो छापाजी की केड़ी
लापाजी की गाय
लापा लाप लड़िया
तो हीट म्हारी गाय
छलो बोलो रे......

(५८) खड़-खड़ खोड़या वाली चूमली
फूंदा वाली नेज
पाणी भरवा वाली पातली
चूड़ो अम्मर बेल
छलो बोलो रे......

(५९) हूती पड़यो पड़यो मूत रे
समदर भराय
धोबी लता धोवे तो
पड़यो पड़यो गंवाय

(६०) कालो हाड़ कतर कावरयो
माय टप्पल सींग
जई पड़यो खिरचा में
तो हेड़ी लायो सींग
छलो बोलो रे......

(६१) काश्रो हरनी तू क्यों दुबली होय
चल म्हारा देस
काचा गऊ की घूघरी
मोर मचावे सोर
छलो बोलो रे......

(६२) झालर माता रमती आवे रे
परती आवे लार
लार लार का मोती
तो बीणो रे गुवाल
छलो बोलो रे······

(६३) ऊंडों ऊंडों कूम्रो रे
करेली का पान
(अमुक) का घरे छोरो हुयो
सूपड़ा सा कान
छलो बोलो रे······

(६४) छला बोला की भोलकी रे
भेंस को पोलो सींग
जिनमें बैठ्यो रायो दरजी
तो टोपी सीवे तीन
छलो बोलो रे ·····

(६५) कुम्रा माय करेली रे
तीखा तीखा पान
सेठजी घरे छोरो हुयो
तो सूपड़ा सा कान
छलो बोलो रे······

(६६) ऊपरी पै ऊपरी रे
मिया पकावे दाल
मिया की दाढ़ी जल गई
बीवी तोड़े टांग
छलो बोलो रे······

(६७) कुवा माया को कबूतर रे
चुगो पानी नी खाय
सिपरा माता को पानी पीवे
तो न्हार सामे जाय
छलो बोलो रे······

(६८) नानी गाय गटर गंगरी रे
सो-सो पूला खाय
माता जमना को पानी पीवे
तो म्हारा सामे जाय
छलो बोलो छल्ली रे ······

(६९) सन की सांटी सन में रे
सन हिलोरा खाय
म्हाराज का राज में तो
गांव हिलोरा खाय
छलो बोलो रे······

(७०) छल्ला छाछ करने बैठी रे
गोड़ा फूटे
म्हाराज का राज में तो
तोपा छूटे
छलो बोलो रे ······

(७१) मका माता घरणी निबजी
घट्टी तड़ींगा[1] खाय
पीसने वाली के ताव[2] चढ़ियो
तो नत की पनी खाय
छलो बोलो रे······

(७२) काली घोड़ी कालो घुंघरो रे
बाजे सारी रात
दाना मैलती हो तो मैलदो हो
आज छला की रात
छलो बोलो रे······

(७३) हरनी माथे तरणी रे
बीबी माथे खाट
मिया माथे गोवड़ा रे
चाल मह्र की बाट
छलो बोलो रे······

[1]चलती है। [2]ताव-बुखार

(७४) रामभऊजी को मेड़ी ऊँची रे
तालो में कूंची
रामभऊजी लाया लाड़ी रे
नाक कान बूची
छलो बोलो रे······

(७५) कूआ माय कबूतर रेवे
नी चुगे नी खाय
सूरत को प्यासो घणो रो
देख-देख फिर जाय
छलो बोलो रे······

—राजगढ़

बालकों के गीत (हलो)

(७६) हलो रे झूलो रे भई हाँसी को
लाल चूड़ों भई मासी को
नानो तो म्हारो अटेरो घणो
खी खावा को।चटेरो घणो
धुरे रे कुतरा, धुरे रे बिलई
नाना की अड़बी लइजा बिलई

(७७) हलो रे नाना, भुलो रे नाना
सुई जा रे नाना, भुलो रे नाना
हुल रे नाना हुलरे
दूध पतासा पीले रे नाना
हलो रे नाना
नाना का मामाजी भूला दे
हलो रे नाना······

(७८) नाना का काकाजी देसावरिया
गढ़ गुजरात
माभल रात
नाना की टोपी नत नवी
टोपी फुन्दा वाली

टोपी भोल्या वाली
वा नाना का सिर सोवे
मायड़ मन हरखे
नाना की टोपी नवी

(७९) सुई जा रे नाना झोली में
माथे टोपी मखमल की
गले खलांगी तीन से की
माथे टोपी चार सेर की
पांव में पत्ती कंचन की
सुई जा रे नाना······

(८०) सुई जा रे नाना झोली में[1]
हलो रे नाना हलो रे भई
म्हारा नाना की मा गई पानी भरवा
घर में कुतरा रोकी गई
कुतरा ने कर्‌यो उजाड़
नाना के पड़ी ग्या धमका चार
हलो रे नाना······

(देवास) १९४८

(८१) नानो तो दौड़्यो मामा घरे जाय
मामा ने दई दी रूपाली गाय
नानो दौड़्यो मामा घरे जाय
मामा ने दई दी गाबन गाय
नानो तो पीये भई दस गाया को दूध
नानो पीवे भई सवा सेर दूध

(८२) नाना तो नगजी मोटो नाम
उजई बोल्यो मामाजी के गांम

पठान्तर :—
सुई जा रे नाना एक घड़ी
थारी मा खइले चार घड़ी
वा तो नद्दी कपड़ा धोवाने जाय
नद्दी का डेंडका मारी-मारी खाय

मामा जी ने दी छानर गाय
कुण धुवे, कूण उचखाने जाय
दूफ तो म्हारो नानो खाय
छोटी बेन्या उचखाने जाय

(८३) नानो तो दौड़्यो मामा घरे जाय
मामा ने दई द्या झांझरिया
नाना तो ठुमक-ठुमक बाड़्या में जाय
बाड़्या का बन फूल तोड़ी-तोड़ी खाय
सामे मिल ग्यो माली कौ छोरो
नाना का बांध्य दोई हाथ
नाना का मामा जी माली घरे जाय
छोड़ी दे माली का छोरा नाना को हाथ
जिता इने फल फूल खाया
उता रुपया लई ले······

'झूलो'

(८४) नाना त्हारो पालनो बंदई दूँ सामी पोल रे
आवतड़ा कोई जावतड़ा
नाना का काकीजी झूल्या देस्यारे
हुलरे नाना हुलरे
तू दूध पतासा पीले
त्हारा सोनारा झांझरिया
त्हारा रूपा रा मांवड़िया
रेसम लम्बी डोर
लालजी आंगण नाचे मोर

(८५) नाना ने राखो एक घड़ी
उने जीमावो सीरो ने पूरी
नाना का पालने फर का फुन्दा
झू दे जिने घी का लून्दा
नाना का पालने रेसम डोर
हुलरावे जीने घूघरी ने गोल
आवो रे चिड़िया रंगरौल करां

नानाभई को ब्याव करां
नाना तो रांया को, दूध पीये दस गायां को[1]

(८६) नानो तो म्हारो रांया को, दूध पिये दस गायां को
चिड़ी बो चिड़ी यारो ब्याव करूं, छः मण चोखा तैयार करूं
गुंडली गुंडली पानी भरूं,
म्हारा नाना ऊपर लूण करूं।

(८७) नाना भई नाना भई करती थी
रस में पोली पोती थी
रस में पड़ गई कांकरियां
नाना का बाप ठाकरिया
ठाकरिया ठकराई करे
नाना भई ऊपर चंवर ढुले

"थेपड़ छाणा"

(८८) थेपड़ थेपड़ छाणा
चोर माथे बाणा
चोर लइग्यो पिण्डी
रोटो हुईगो ठंडी
(नेवरी)

"आकुल्या-माकुल्या"

(८९) आकुल्या माकुल्या
अवकारो डवकारो
जो म्हारा नाना पे रिसा बले
उकी आंख मे लाल अंगारो

[1]पाठान्तर :—
नाना का आंगणे पाली बोर
आओ रे छोरा छोर्‌या खाओ बोर
काचा काचा फेंकी दो पाका पाका म्हारा नाना के दो
नाना का पालने रेसम डोर,
हुलरावे जिने घुघरी ने गोल

(६०) ऊली-भूली
नानी भई जोमें, दूध ने धूली
लपा लप झपा-झप

"अटकन"

(६१) अटकन मटकन[1]
दही चटौकन
अगला झूले बगला झूले
सावन मास करेला फूले
फूल फूल की बावड़ी
राजो गयो दिल्ली
दिल्ली से लायो सात कटोरी
एक कठोरी फूटी
राजा की टांग टूटी

"आकच-कूंकच"

(६२) आकच कूंकच खेजड़ी रे
दादाजी गहूँ वोवो
थांका बोया घणा नीबजै
लालू ने परणावो
लालू लायो लाचक लाड़ी
धर्मोजा को हार

पाठान्तर :—

अटकन-चटकन दही चटोकन
वग झूले वग वारे के
सावन मास करेला झूले
फूल फूल बन जारी के
बाबा कैसे नारी के
बाबा ल्याओ आलनी-चालनी
सयोट धुल्ला पानी पी
— विश्व भूमि, लोक संस्कृति अंक, अगस्त १९५५, ब्रज-भूषण गोस्वामी लिखित लेख, बुन्देलखंडी क्रीडा संबंधी गीत, पृष्ठ ६६-६६ :

साड़ी खोल भंडारयो मांडलो
लाड़ी छै मोटियार
बड़ा घरा की बैन्या बेटी
माथे चूनो लाई
कांचली में तो कोथली राखे
चणा चावती आई
—(मन्दसौर)

(९३) आरिया में 'गोपारियो बाजै
पीपरा में झांई
बारा बरस की लाड़ी लायो
उको नाम कई

(९४) आरिया में गोपारियो नाचे
पीपरा में झांई ।
पीपरा में ढोल बाजे
कारी सिंध ताई ॥
—नन्दकिशोर, शजोद

"टेसू"

(९५) हमारा टेसू यहीं अड़े
खाने को मांगे दही बड़े

"पानी बाबो"

(९६) पानी बाबा आजे
काकड़ी भुट्टा लाजे

"डेडक माता"

(९७) डेडक माता पानी दे
पानी की परवाल दे
म्हारा मामा को झाड़ सूखे
बड़ सूखे कोलू सूखे

"सल्ला"

(९८) सल्ला की सटपट
पागड़ी बान्धू लटपट
छोगा को तीर
सल्लो बोलो को रे

"मामा जी"

(६६) "मामाजी मामाजी आम दो"
"आम है सरकार का"
"हम हैं दरबार का"
"काली कुत्तो काटेगी"
"घी की रोटी डालांगा"
"घोड़ा लात मारेगा"
"चंदी-चारा डालांगा"

(१००) "सुवा कि सुई ?"
"सुई।"
"थ्हारी सासू मुई"
"सुवो कि सुई ?"
"सुवो"
"थ्हारो सुसरो मुवो"

(१०१) एक दो दस
तीतर की तोडूं नस
बंगले का तोडूं ताला
गिनलो पूरे बारा
बारा में लगी रस्सी
गिनलो पूरे अस्सी

(१०२) इरिंग बिरिंग लोंगातिरिंग
डुग डुग बाजा
गाय गोपी, उतल्ला राजा

(१०३) रांड ओ रांड, खिचड़ो खांड
अईग्या पामणा, व्हईगी रांड

(१०४) कर कर कांकरों, पली में तेला
खांड मिठाई, मीठो तेल ।।
आरे कोवा, हंडी चाटीजा।

(१०५) 'कोड़ा-बदामशाही'
"कुकडूं कूं"
"यो कुण बोल्यो ?"

"कई मांगे ?"
"हार मांगे, डोर मांगे
सुन्ना की कटार मांगे"
म्हारा पेट में बुखे तो ?
राणाजी को हड़को मांगे"

(१०६) कांख में धाणो, गेन्दपुर जाणो
तपेला नी खांडी कोर
तपेलो हराम खोर

(१०७) नन्हा चोर धमके, ने घूंघरमाल धमके
'चाऊँ-म्याऊँ'
'चाऊँ-म्याऊँ गाडर म्याऊँ
कान पकड़ के घर में लऊँ

जन्म-संस्कार संबंधी गीत

(संग्रह संख्या : दो)

"धनबऊ"

(१) अगरनी की छब लागी हो केसरिया
भम्भर तो तम पेरजी हो धनराणी
म्हारे टीका रतन जड़ाये
अगरनी की छब लागी हो केसरिया
के मेवा से गोद भरावे

(२) भम्भर पेरिया लीबूं तले
टीका री झलक बतेजा म्हारे
थोड़ी सी म्हारे, जरासी म्हारे
तू जई जा म्हारी धनराणी लीबूं तले

(३) दोय दोय भम्भर धनबऊ घर में
पड़ोसन तो पेरे धनबऊ, म्हारा कई मन में
सोची लो समजी लो सासू थेंई म्हाका मन में
परनिया ने परदेस पोंचाया जरमन की लड़ाई में

"कुलबल"

(४) कंवले ऊबी कुल बऊजी
आई-आई कमर माथे पीड़ा
चिन्ता म्हारी कुण करेजी ।
सुसरा हमारा राज विजयी

सासू अरक भंडारे
चिन्ता म्हारी कुण करेजी ।
बेठ हमारा चौधरी जी
जेठानी भोली नार
चिन्ता हमारी कुण करेजी ।
देवर म्हारा लाड़िला जी
देराणी आणे अई नार
चिन्ता हमारी कुण करेजी
ननद हमारा लोड़लाजी
हो जी नन्दोई पराया पूत
चिन्ता हमारी कुण करेजी ।
ओवरा मायको ओवरी जी
वी सूता ननंदबई का वीर
चिन्ता हमारी कुण करेजी ।
अंगूठो मोड़ जगाविया जी
जागो जागो नंनदबई रा वीर
खाली कर दो ओवरी जी
लटपट बांधी पागेड़ी जी
झटपट हुया असवार
या लो, सुन्दर ओवरी जी
जा तम जावोगा दीयड़ी जी
होजी आवे सांतीड़ा में लाज
चिन्ता हमारी कुण करेजी ।
जो तम जाओगा पूत
होजी घर में बदाई होय
चिन्ता हमारी कुण करेजी ।

"चोपड़"

(५) मांडियो मांडियो चोपड़ केरो खेल
पासा उलटा पड़िया
जई-जई कम्मर माय पीड़
अवे नी जीवने की
मांडियो मांडियो चोपड़ केरो खेल

पासा सुलटा पड़िया
अई-अई कम्मर माय पीड़
जाया नन्दलाल म्हारी सासूजी ने उरारे बुलाप
घर वार म्हारा है

"जच्चा"

(६) सवा मण सूठ अढ़ाई मण अजमो
दोई मिलकर यां खांडो हो
पियाजी धमको लोग सुणेगा
सासू सुणेगा सो दोड़्या दोड़्या जावेगा
दस दन रेगा ने दस मण खायगा
जापो बिगाड़ी घरे जायगा
पियाजी धमको लोग सुणेगा

'गोदड़ी'

(७) गोदड़ी सिवाड़ पटेल्या गोदड़ी सीवाड़
गोदड़ी में राता तागा गोदड़ी में धोला तागा
गोदड़ी सीवाड़ पटेल्या गोदड़ी
घुरका घुरको गोदड़ी में
छोरा छोरी गोदड़ी में
गोदड़ी सीवाड़ पटेल्या गोदड़ी

'जच्चा'

(८) जच्चा रानी हो, सुघड़ रानी हो, खोलो नी कवाड़
तमारा ओवरिये हम सुई रांगा जी राज
केसरिया जी राज, पातलिया जी राज, नी म्हारे जावो
हमारे ओवरिये सासूजी सूता जी राज
जच्चा रानी हो, सुघड़ रानी, खोलो नी कवाड़
तमरा पलका पे हम सुई रांगाजी राज
केसरियाजी राज, पातलियाजी, नी म्हारे जावो
हमारा पलका पे नंनदजी सूताजी राज
जच्चा रानी हो, सुघड़ रानी, खोलो नी कवाड़
तमारा सामे हम सुई रांगाजी राज

केसरियाजी राज, पातलिया नी म्हारे जावो
हमारे सामे बालूड़ा सूताजी राज
जच्चा रानी हो, सुघड़ रानी, खोलो नी कवाड़
तमारा पाछे हम सुई रांगाजी राज
केसरियाजी राज, पातलियाजी, नी म्हारे जावो
हमारे पीछाड़ी देरानी सूताजी राज
जच्चा रानी, ओ सुघड़ रानी, खोलो नी कवाड़
तमारे सिराने हम सुई रांगाजी राज
केसरियाजी राज, पातलियाजी, नी म्हारे जाओ
हमारे सिराने जेठानी सूताजी राज
जच्चा रानी ओ, सुघड़ रानी खोलो नी कवाड़
हमतो जांवागा लसकर चाकरी जी महाराज
केसरिया जी राज, पतलियाजी, हे म्हारे जावो
हमारा मेला में तम सुई रीजो जी राज

"आलीजा को पालनो"

(९) म्हारा पिछवाड़े म्हारा आलीजा चंदन को झाड़
कई जोको बनाऊँ म्हारा आलीजारो पालनो
कई आदी सी रात म्हारा आलीजा दरद लाग्यो
कई दौड़ी सी आई सुतारण देवयां
कई अब के तो हेले आलीजा पार लगावो
कई दोवड़ बनावां म्हारा आलीजा रो पालनो
कई ऐरे तो मेरे म्हारा आलीजा मोर पपइया
कई अध बीच धड़ जो रे बन की कोयल
कई मोर पपइया म्हारा आलीजा बोलन लागा
कई सबद सुनावे बन की कोयल

'कागेलो''

(१०) मगरे बैठो कागेलो, कुर कुर कुरखे रे
म्हारा राय नाना को दादो वा रे
म्हारा राय नाना को सोवटो रे
म्हारा राय जच्चा को सूसरो रे
म्हारा राय लाड़ी वो वेवई रे

"मिनकी"

(११) चूला पाछे मिनकी वा तो कुर कुर पापड़ खाय रे
म्हारा राय नाना की दादी मा रे
म्हारा राय जच्चा की सासू रे
म्हारी राय वऊ की वेवाण रे

"पील्यो"

(१२) गाम देवास का गोयरे अच्छा पील्या बेचाय
कुण राय पील्यो मोलवे जी
कुण राय खरचेगा दाम
सुहागण पूत जणी ने पील्यो पेरेहो
(अमुक) जो पील्यो मोलवे जी
(अमुकजी) खरचेगा दाम
(अमुक) सुहागण पूत जणी ने पील्यो पेरे
कुण राय घर पील्यो लावेजी
कुण राय ले रे बदाय
सुहागण पूत जणी ने पील्यो पेरे
(अमुक) जी पील्यो घर लायाजी
लाडीबऊ लेरे बदाय
सुहागण पूत जणी ने पील्यो पेरे
कुण राय पील्यो ओड़ाविया जो
कुण राय ओड़न जोग—सुहागण
(अमुक) जी पील्यो ओड़ावियाजी
(अमुक) लाडी ओड़न जोग—सुहागण

(१३) पानी पड़े रे तुसार[1]—इना घर में
रंग उड़े रे गुलाल—इना घर में
जाय ने कीजो ओ पीरा का पेरय्या
पेंचा का निरखइय्या—
दई ने वेग बुलाव—इना घर में

(१४) पेलो मास जो लाग्यो
आल-भोले[2] मन जाय

[1]तुषार, [2]खोये-खोये मन की स्थिति ।

दूसरो मास जो लाग्यो
थूक तड़े मन जाय
तीसरो मास जो लाग्यो
अलजागे मन जाय
चवथे मास जो लाग्यो
केला खावा ने मन जाय
पांचमो मास जो लाग्यो
नारंगी तड़े मन जाय
छठमों मास जो लाग्यो
दूध-जलेबी मन जाय
सातमो मास जो लाग्यो
सतवासे[1] मन जाय
आठमो मास जो लाग्यो
अगरनी आड़ी मन जाय
नवमो मास जो लाग्यो
ओवरी[2] आड़ी मन जाय
दसमो मास जो लाग्यो
हालारिये[3] मन जाय
म्हारो पचपेले[4] मन जाय

"अगरनी"

(१५) बसुदेव के मन हरीक[5] घनेरो[6]
रुकमणि की अगरनी जी
विप्र बुलायो, पत्रिका लिखाई
कुसने पुर निवतों पोचायो जी
अंगणा ऊबा बई का बाबाजी पूछे
विप्र कांय से आयों जी
हम छां जी गोकल का बासी
रुकमणि की अगरनी जी
बीर रुकभइयो यों हांसी पूछे
किन मोरीव हम आवांजी

---

[1]सप्तमाह का बालक, [2]कोठरी [3]बालक, [4]वस्त्रादि जो बालक जन्म के बाद पीहर से प्रसूता और बाल को दिये जाते हैं। [5]प्रसन्न, [6]बहुत

तेरस चौदस परी हो निवारो
पुन्नम की हे अगरनी जी
पाँच पदारथ छेड़े[1] बांध्या
को म्हारी माता मनराड़ी वातां
कैसे करां पेरावणी[2] जी ?
वसुदेव सासु के साल दुसाला
देवकी सासू डडियो जी
नंदबाबा सासू के साल दुसाला
जसोदा सासू के सालूड़ा जी
अरजुन की सासु के गवड्या में मूँदी[3]
सुमदरा सासु के खासा बाग
माथ जरी का साफाजी
रुकमणि सासु चूनड़ मोलावो
माय भरत की चोलीजी
चूनड़ पेरी चौक में बैठ्या
नंनदल मूं मचकोड़े[4] जी
तम क्यों मूँ मचकौड़ी म्हारी बई जी
या चूनड़ तम लेवोजी
जद म्हारी भावज बेटो होगा
या चूनड़ हम लांगाजी
आरतड़ी को नाथ्यो नारो
साती पुड़ा की या भौंटी जी

"लाखारस की चूनड़ी"

(१६) ताणी तो तणियो मालवे लखारस रे
हरी रे मरी अजमेर लखारस चूनड़ी रे
सिरीकिसन रुकमणि मतो कर्‌यो लखारस रे
पिया म्हने चूनड़ी रंगावो—लखारस चूनड़ी रे
जैसे तारा छायी रात लखारस चूनड़ी रे
जैसे काजलिया री भांत लखारस चूनड़ी रे
चूनड़ पेन घनाबऊ निकल्या

[1]पल्ला, [2]वस्त्र पहनाने का कार्य, [3]अंगूठी, [4]मुँह बिगाड़ना।

गोकल का राजा राणी यूं के
या कुण बऊजी जाय ?
ठाकर बसुदेव की कुलवधू
सजना भीमकराय री धीय[१]
रूकमणि बेन्या सहोदरा
रसिया सिरी किसन की नार

"अंगीया"

(१७) ऐले पार गंगा ने पेले पार जमना
बिच में सीये दरजी को लाल
घनबऊ के अंगिया री चाव
मोरा देखे अंबिया री चाव
छावरी[२] बिछई जणी सियजेरे दरजी
गलीचौ राली[३] ने सियौ म्हारा बीर
सार कों सुई जणी सियजेरे दरजी
सुन्ना की सुई से सियो म्हारा बीर
सूत का धागा जणी सियजेरे दरजी
रेसम धागा से सियौ म्हारा बीर
अड़पन-खड़पन[४] धुंघरू दे दरजी
टुकियन[५] पर दुई दादुर मोर
अईयन- बईयन[६] सखी रे सहेली
कसन्या[७] पर दोई जालम सौक
उठूं तो बाजे घुंघरू रे दरजी
बैठूं तो नाचे दोय दादुर मोर
हंसन-बोलन को सखी रे सहेली
तड़वा ने दोय जालम सौक

"घेवर"

(१८) हलवई री दुकाने घेवर सीजे
घी मोया घेवर सीजे हो राज

---

[१]पुत्री, [२]चटाई, [३]बिछाकर, [४]बांह के निचले टुकड़े, [५]सामने वाले हिस्से [६]दोनों बाहें, [७]चोली के बन्द ।

म्हारो मन लाग्यौ घेवर से ।
पांच रुपया का घेवर मंगाया
गोड़ा येठे छिपाया हो राज
हिरता-फिरता सायब आया
गोरी धन पाणी पावो हो राज
म्हारी तो सरदा नई सायबबी
थें ही भरकर पीओ हो राज
हाथ पकड़ ऊबा कर दिया
घेवर परघट हुआ हो राज
म्हारी सोनन तमके हो सायबा
सासूजी रा आगे मत कीओ हो राज
जो गोरी तम पूत जणो तो
घेवर ओर चटावां हो राज
जो गोरी तम धीय जणो तो
दूणां घेवर लेवां हो राज
आधी रात पेर की डंको
कुंवर हुआ तम जागो हो राज
हम तो गोरी हंसी करी थी
थें सांची कर मानी हो राज
पचास रुपया का घेवर मंगाया
सारा नगर बंटावा हो राज

"मेहन्दी"

(१९) मेंहदी तो लाई टोड़ा देस से
केसरिया हो राज ।
रुपइया दी टांक बेचाय
मेंहदी म्हारो रंग चुवे हो राज
बाई जी रा वीरा घर नई
मेंहदी कुण मोलावन जाय
छोटो देवर लाड़लो केसरिया हो राज
मेंहदी मोलावण जाय
लसर लसर मेंहदी बांटस्यां
केसरिया हो राज

झबिया झोला खाय
मेंहदी म्हारी रंग चुवे हो राज
देवर की राची चीटी आंगली
भावज का रचिया दोय हात
न्हाई धोई सील गुथावियो
मोतीड़ा से भर ली माँग
दो हो जेठानी तमारो हालरो
दो हो जेठानी तमारो चीर
पेली पेली पग दियो
कुंकू में रपस्या पांव
दूसरी पेड़ी पग दियो
मेंदी में रपस्या पांव
तीसरी पेड़ी पग दियो
झबलक दिवलो हाथ
चोथी पेड़ी पग दियो
सिरनी वी छापां हाथ
पांचमी पेड़ी पग दियो
पाना री चोली हाथ
मड़-मड़ में मेल्या चढ़ीया
जई ऊबा ढोला रा पास
जागता था परण सोई गया
मुख पे राल्यो रुमाल
अंगूठो मोड़ जगाविया
जागो जागो हो नंनद बई रा बीर
आज का दन गोरी पीछा फरो
सिर चढ़्यो मथवार
ऐसी म्हारा मनड़ा में जानती
लई आती सतवा सोंठ
घसी लाती चरका लोंग
मढ़-मढ़ मेल्यां उतर्या
जई ऊबा राय आंगणा बीच
लो हो जेठानी तमारो हालरो
लो हो देराणी तमारो चीर

लो हो सासूजी तमारा पूत के
खोला में लई ने घपाड़ो
तमारो दूध लजायो
लो हो बाईजी बीर के
गेंदा दई समझावो
एक दमड़ी का भुंगड़ा मंगाऊ
अली गली में चबाओ
पटसाल पालणो बंधास्यां
तले बिछाऊँ म्हारो चीर
आते जाते झूला दऊँ
तम झूलो हो नंनदबई रा बीर

"जच्चा"

(२०) साजापुर का राणा रजपूत
जी उनकी गोरी जच्चा जायो बालू पूत
नावी ना नगजी ने तेड़ो विवाड़ो बिजलो रो
जी अबे उठो बई—बेठो बाई चंदन चौक
जी अबे अमरत जिठानी का बोल
म्हारी सासू नंनद बोल्या बोलना
जी बई तम सरू दखनी हो चीर
जी लिवण दो राणी जिठानी को झूमको—
(शाजापुर, नवम्बर '५५)

"पीरजी"

(२१) के दरगा देखण को चली आई
के मेजत देखण को चली आई
पीरजी, तमने बाटे बुलाई, उबट आई
के दरगा—
पीरजी, तमने नारेला मंगाया पाछी आई
के दरगा—
(शाजापुर, '५५)

(२२) घोड़िला फेरन्ता देवर बोलिया बोल
संकट पड़्यो रे बेरण फूक

सिद्धवड़ की करी हमने मांन
दुलड़ो पड्यो रे बेरण कूक
जिकी करी हमने मांन
छोटा-मोटा देव संबर लेतो
क्यों करी सिद्धवड़ की मांन
कंठी दात मंगाव म्हने धोकन दो
सिद्धवड़ देव
छोटा कुंवर म्हारी गोद में
मोटा की करू' या मान
(शाजापुर, '५५)

(२३) पीरू ने दिया ललना
(अमुक) भाभी बाझ-बझौली
पीरू की दरगा पे ले चलो बलमा
बाजूबंद बेंच खरच घरलो
झुमना बेंच खरच घरलो
पीरू की दरगा पे ले चलो बलमा
(शाजापुर)

(२४) ओ मेरे पिया ओ मेरे राजा
दौड़ दई घर जाओ, उन्हें तो बुला दो जी
ओ मेरी माता, तमारी बहू बेहाल तमे तो बुलायाजी
जच्चा पड़ी बेहाल, तमे तो बुलायाजी
ओ मेरे बेटा, सेल बऊ का बोल
हमो तो नहीं आवांजी
ओ मेरी गोरी, कोई तो नई आवेजी
चले धरती असमान, कोई तो नई आवेजी
ओ मेरे पिया, ओ मेरे राजा, छटक पड्या नंदलाल
सबी तो झक मारेजी...... ।
(शाजापुर)

(२५) म्हारी माजी बई मंवर किनने झाड़ियो रे
झाड़्यो-झाड़्यो रे बई म्हारी बालूड़ा री माय
नाना होलरिया री माय
हालरो हुलरावता बाज्या घुंघरा हो माय
(शाजापुर)

विवाह के गीत

(संग्रह संख्या तीन)

(१) चालो गजानन जोसी क्यां चालां
तो आछा आछा लगन लिखावां
गजानन जोसी क्यां चालां ।
कोठारे छज्जे नोबत बाजे
नोबत बाजे तो इन्दर गढ़ गाजे
तो झीनी-झीनी झालर बाजै
गजानन जोसी क्यां चालां ।

(२) कंई चालो गणेश, आपण जोसी क्यां चालां
आछा आछा लगना मो‑वां गणेश
म्हारा गणेश दूंदाला ।
कंई नानो सो झगल्या रे गणपत, मखमली टोपी
कंई बूढ़ा रा बालक हुई करो आओ गणेश
म्हारा गणेश दूंदाला ।
दूंद दूंदाला रे गणपत
सूंड सूंडाला ......

(३) तमारा सीस मोटेरा गणेश,
तेल सिन्दूर चढ़े
तमारी सूंड मोटीरी गणेश,
बासक नाग रमे
तमारा कान मोटेरा गणेश,

बिजणारा[१] बाव[२] दुलै

तमारी आँख मोटीरी गणेश,

झबलक बिबली बले

तमारी दूंद मोटीरी गणेश,

सवा मण चूरमो चढ़े

तमारा पाँव मोटेरा गणेश,

देवल खम्ब बणे

तमारा हाथ मोटेरा गणेश,

चंपा री डाल नये

तमारी पीठ मोटीरी गणेश,

अम्बाबाड़ी भीत खुलै

तमारी पूँछ मोटीरी गणेश,

बनड़ा ये चंवर दुलै

तम मनो म्हारा गेरा गणेश,

तम बिन घड़ी नी सेर

(नरसिंहगढ़)

"भजन"

(४) कांसे आया म्हारा गणपत राजा,

कांसे आयी सरसती सती —भजो राधे गोबिन्दा गणपति पति।

रणत भंवर से आया म्हारा गणपति राजा

उज्जैन से आई सरसती सती—भजो०

काये उतारू म्हारा गणपत राजा

काये उतारू सरसती सती—भजो०

सिंघासन बैठाडूं म्हारा गणपत राजा

मेलां उतारू सरसती सती—भजो०

काये जिमाडूं म्हारा गणपत राजा

काये जिमाडूं सरसती सती—भजो०

लाडू जिमाडूं म्हारा गणपत राजा

लापसी जिमाडूं सरसती सती —भजो०

काये पोढ़ाऊं म्हारा गणपत राजा न

काये पोढ़ाऊं सरसती सती —भजो०

---

[१]पंखा, [२]वायु।

सिंघासन पोढ़ाऊं म्हारा गणपत राजा
छज्जे पोढ़ाऊं सरसती सतां—
भजो राधे गोविन्दा गणपति पति

(५) आमे सामे मांड्या रे गणेश तो
जिमणे ओ कबले पूतली
पूतली कंई है (अमुकजी) की नार तो
उन म्हारा गणपत नौतिया

(अमुक के स्थान पर संबंधियों के नाम जोड़कर देर तक यही गीत गाया जाता है)

(६) जल तो चढ़ावां गणपति नहीं रे अछूता
जल तो मछली बिटाल्यो जी ।
सेवा म्हारी मानो पूजा म्हारी मानो
गणपत स्वामी खोले म्हारा हिरदा का ताला जी
खोले म्हारा बजर किवाड़ जी ।
फूल चढ़ावां गणपति नहीं है अछूता
फूल तो भंवरा बिटाल्या जी ।
नवेद चढ़ावां गणपति नहीं रे अछूता
नवेद तो बालूड़ा बिटाल्या जी ।
(शाजापुर)

(७) बधावो म्हाको देवरोजी गजे दुंदाला
किने लगई गेरी धामें
रिधसिध मेलां हो गजनंद दुंदाला
सूरजजी बन्धायो म्हाको देवरोजी गजे दुंदाला
राघल बऊ लगाई गेरी धामें
रिधसिध मेलां हो गजानंद दुंदाला
(शाजापुर)

(८) तमे मनाऊं गणेश गजानन गजधारी
सीस तमारे देवा मोटा कहियो
तेल सिंदूर चढ़े हो गजानन गजधारी
तुम्हें मनाऊं गणेश गजानन गजधारी

"सीतला माता"

(९) कुंकू भरीरे चंगेलड़ी, बऊ थें कां चाल्या आज
आज सीतला माता आसन बैठा यों म्हारे पूजन काज
माता म्हारी एक बालूड़ो ।
हरती-फरती रे हलरावती, म्हारो हिवड़ो हिलोला ले
माता म्हारी एक बालूड़ो ।
अटसन बांदू पालनो माता पटसन बांदू रेसम डोर
माता म्हारी एक बालूड़ो ।
तू रच्छा करजे माता म्हारी पूरन करजे आस
माता म्हारी एक बालड़ो ।[1]

"पाँच लाडू"

(१०) पाँच लाडू पगे धर्‌या
कि सूरज जी तो पगे पड्या
तो जाच रे म्हारा गणपतिया
गणपतिया ऐसा नाचेगा
के रुनझुन घुघरा बाजेगा
नाच रे म्हारा गणपतिया
(सूरज के स्थान पर चन्द्र और घर के लोगों के नाम जोड़ते जाते हैं)

"जवारा"

(११) बऊ का जवारा ने कंकु का क्यारा
जऊ म्हारा लेर्‌या ले
कुण राया बायी कांकी बऊ सींचे
जऊ म्हारा लेर्‌या लै

[1]पाठान्तर :

कुंकू भरी रे चगेड़ली बऊ थे सिद चाल्या आज
आज राजला री राणी आसण बैठा यो म्हारे पूजन जोग
माता म्हारी एक बालूड़ो दे ।
एक बालूड़ा के कारणे म्हारा सुसराजी बोल्या बोले
माता म्हारी एक बालूड़ो दे ।
पीपल बांदू पालनो माता बड़ रेसम डोर
माता म्हारी एक बालूड़ो दे ।

सूरज जी बाया ने रावल बऊ सींचे
जऊ म्हारा लेरया ले
(नाम जोड़कर बढ़ाया जाता है)

"साल-सूपड़ा"
"चौक"

(१२) धरती तू मती जाणे के हूँ मोटो
म्हारा छाव्या बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

छाव्या तू मती जाण हूँ मोटो
म्हारा लीप्या बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

लीप्या तू मती जाण हूँ मोटो
म्हारा चोकज बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

चौकज तू मती जाण हूँ मोटो
म्हारा बाजोट्या बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

बाजोट्या तू मती जाण हूँ मोटो
म्हारा दुलया बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

दुलया तू मती जाण हूँ मोटो
म्हारा बनड़ा बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

बनड़ा तू मती जाण हूँ मोटो
(बनड़ी तू मती जाण हूँ मोटी)
म्हारी कुंआसी बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

कुंआसी तू मती जाण हूँ मोटो

म्हारा टका बिना कैसी म्हारी सोब
तू कर म्हारी बेन्या आरती

"चौक"

(१३) समी सांझ गोरो लाड़ो चौक बैठो
केवड़ा री कौर री
तू वेग जोसी बेग लगना लाव रे
सभी सांझ गोरो लाड़ो चौक बैठो
केवड़ा री कौर रे

"पाँच सुहागरा"

(१४) म्हारी पाँच सुहागण पाँची हिलमिल अइयो रे
म्हारी (अमुकबई) सुहागण हार पेरी ने अइयो रे
(नाम लेले जाते हैं)
म्हारो बालक बनड़ो जिके चौक बिठइयो रे
(म्हारी बालक बनड़ी जिके चौक बिठइयो रे)

"कोल्या"

(१५) म्हारो नानो सो लाड़ो[१] कोल्या जीमे रे
बी तो मेरे बैठा भुवाजी दुंगी रिया रे
बी तो लाड़ा का वेन्या दुंगी रिया रे
भुवा बाजोट्या नीचे छिपी बैठा हो
म्हारा पड़ता कोल्या झेलीरिया हो
—इत्यादि

"झरमर"

(१६) (वर को घर के बाहर ले जाते समय का गीत)
झरमर झरमर वरसे यो मेवलो
लाड़ो ओढ़े लोवरी
लोवरी का जतन कराव
चारी वो पल्ले हीरा जड़्या जी
(अमुकजी) तमारो यो राज तो
लाड़ो ओढ़े लोवरी

[१]कन्या पक्ष में "लाड़े" के स्थान पर "लाड़ी" का प्रयोग होता है।

"आरती"

(१७) (वर को घर में लेते समय का गीत)

म्हारा लाड़ लड़ाला ऊबा दूखे पांव
तू कर वो वेन्या आरती
म्हारी आरती में रुपया पाँच
सुपारी मेलूं ढेर से
तू कर वो वेन्या आरती

"हलदी"

(१८) हलदी गांठ-गंठीली हलदी भोत रंगली
निपजे वा वालू रेत में
लाड़ी का काकाजी ने कीजो
लाड़ी का दादाजी ने कीजो
वी तो हलदी मोलवे जी
लाड़ी का काकी से कीजो
लाड़ी की भाभी से कीजो
वी दोय सुहागण हलदी केलवे

"हलदी"

(१९) आई बनजारा री मोट उतरी बड़ तले
मोलावे लाड़ लाड़ा का दाउजी
माता को मन रले
लाड़ा थोड़ी सी अंग लगाव अंग परमाणे
लाड़ा न्हई धोई बैठ्या बाजोट के आमण-धूमेना
के तो लाड़ा मंगवा चंदर हार
के घोड़िला हिसेता
नी हो मांगा दाउजी चन्दर हार
नी घोड़िला हिसेता
हम मांगा लाजनिया री बीय
वा म्हारी चत चढ़ी

"छठी जगावो"

(२०) तू तो पीलो रे लाड़ा, काय गुणे
म्हारी माता ने छठी रे जगई हलदो रुख तले ।

तू तो गोरो रे लाड़ा, काय गुणे
म्हारी माता ने छठो रे जगई चन्दन रुख तले ।
तू तो चरपरो रे लाड़ा, काय गुणे
म्हारी माता ने छठी रे जगई मिरच्या रुख तले ।
—इत्यादि

"तेल चढ़ावो"

(२१) लाड़ा की मां कई सुता के जागो ?
लाड़ा के तेल चढ़वो के चंपा पांखड़ी से
सली रे सोना की गढ़ावो के
तरगस लोहा का रे
(तेल चढ़ाते समय का गीत)

(२२) "गोरा सूरजजी पूछे बालरिया गोरी
चूनड़ चोगस कां भुलिया ?
"गोरा लाड़ा ने तेल चढ़ावलो
म्हारी चूनड़ चोगस वां भुलिया"

(२३) सुन सुन रे सेरा का तेली
थारणी पेलो केसर-कस्तूरी
मापे रालो जायफल ने जावत्री
दमड़ा उनकी माता कर लेसी
लेखो उनका दायजी भर लेसी

"सेवरा"

(२४) जोसीड़ा री गलिया हुई निकल्या रे बनड़ा
कर गया सेवार रो चाव "
हो फुलां मालनी ।
हो गेंदा मालनो ।
सेवरा में चारी रंग लावजे हो मालनो

"सेवरा"

(२५) उज्जैन सेर का माली मालन
कई कई किसब करे हो राम
दो सीवे दो कनी मरोड़े
दो सेवरा गुंथी लावे हो राम

यो सेवरो गणपत ने सोवे
म्हादेवजी का पुतर हो राम

"बना"

(२६) बना तम ऊबा रीजो बड़ तले
माता बई देय असीस ।
बना तम खाजो पीजो बिलसजो
जीवजो करोड़ बरस

(२७) होजी, चीरा भेजूँ दोय चार
बनाजी चीरा पेरो क्योनी जी ।
होजी, सुणोरा बईजी म्हारी बात
बनाजी परने दूसरी जी
होजी, सावली सूरत लांबा केस
हमारा सरकी न मिलेजी
होजी, कोटा की लावां दोय-चार
बूंदी की लावां डेढ़ सौ जो

"कामण"

(२८) कोरी कोरी कुलड़ी में दई ये जमायो राज
आज म्हारा दायजी घर राईवर ने नोत्यो राज
दादाजी घर नोत्यो म्हारी माता नोत जिमायो राज
लीली टिलड़ी लीलो सूत बांदों रे सासू को पूत
बांद बूंद कर करी सलाम
एक सलाम लाड़ी ने दूजी सलाम
तीजी सलाम त्हारा बाप गुलाम
छोड़ दो दादाजी की प्यारी, अब तो त्हांका चाकर राज
चाकर था तो पेंला केता, अब तो कामण किया हो राज
(राजोद)

"कामण"

(२९) उड़द मूँग सब दललो
सुवा कामण करलो
लाड़ी की माता दाल दलो उड़द्या की
लाड़ी की काकी दाल दलो उड़द्या की

उड़द मूंग सब बललो
सुवा कामण करलो

(३०) माता बई कामण करवा लागी
म्हारी राजकुंवर ऊबी धूजे हो राज
थें क्यों थर थर कांपो म्हारी नानीबई
म्हारा बाबाजी की घणी प्यारी हो राज
माता जान जुगारी म्हारा, बाबाजी ने बस कीबा हो राज
(राजोव)

"बीरा"

(३१) बीरा म्हारो गली निकल्या
करी गया सानी से बात हो नंनदबई
बई जी, तांबो पीतल हो तो बदली लो
बई जी, तमारा बीरा बदल्या नी जाय
हो नंनदबई···

(३२) तमारा सीसानी पागा हो बीराजी, अजब बणी,
पेंचा को अजब सरूप
भावज बई ने कीजो हो, बीराजी ने लेवा मोकले,
तमारा आना-जाना हो, बईजी तमारा बाप से गया
माताजी से गया तमारा लाड़, हरवो पाछे फेरो
बाईजी, तमारा घर बारे तमारा काना को मोती हो,
बीराजी म्हारा अजब बन्या
चूकी को अजब सरूप ।
भावज बई ने कीजो, भई ने लेवा मोकले ।

(३३) हूँ तम से पूंछूं माड़ी जाया बीर
हमने बताड़ो जूना रूख[1]
आयो हिमाल्यो[2] ने बी तो गली गया
कांती बताड़ा जूना रूख

(३४) बीरा माथा ने भंमर घड़ावो,
म्हारो टीको रतन जड़ाजो रे ।।

---

[1]पुराने लोग, [2]शीत काल ।

बीरा रमा झमा से म्हारे आजो ।
बीरा थें भी आजो ने भावज लाजो
खिरदार भतीजा लारा लाजो रे ।।
बीरा काना ने झाल घड़ाजो
म्हारा झुमना रतन जड़ा जो रे ।।
बीरा आंगन सालू रंगाजो
म्हारी अंगिया ने गोटा लगाजो रे ।।
बीरा पोंचा ने, गजरा घड़ाजो
म्हारी चुड़िला ने चोंप चढ़ाजो रे ।।
बीरा पगल्या ने सांकल्या घड़ाजो
म्हारी बिछियां रतन जड़ाजो रे ।।

"मांडवा का गीत"

(३५) तम जाजो (अमुकजी) अमझरे रे
तम लाजो काचा-पाका पान रे
मोल्या छायो माडवो रे

"सातंग"

(३६) सुबाग रेणा सातंग बैठा सो जणा
बिच में बैठा (अमुकजी) राजवी
पाछा फिरी ने बउवड़ देख जो
बैठो तमारो सोई परवार
(३७) कर तोरे भंवरो रुणझुण सांचर्यो
भंवरा जई बैठा बाजोट्या केरा छोड़
भंवरा कुंकुं केरो चाव तो
भंवरा जवतल घी गोल होमिया
भंवरो रुणझुण करतो रे भंवरो सांचर्यो

"बरद"

(३८) गंगा की गार मंगाव के दूध सिचावजो जी
जीको तो बरदड़ी बनाव
गोती हमारी भरसी रे
बरवड़ी ली भर-सी (अमुकजी) का भीम
(अमुकजी) डोकरा रे ।

(३९) वी कला बई (नाम लेना) सेके धानी
वी लक्ष्मीनारायणजी चाल्या पानी
उनने मुट्ठी बई वी धाणी
उनको सीट भरेगा पानी

(४०) इना बरद लाड़ी बऊ अड़ीर्‌या
मुसराजी वो म्हारी बरबरी नेग
बरब हम भरी लाया हो

"तेल चढ़ाई"

(४१) गोरा (अमुकजी) पूछे बालारिया
गोरो चूनड़ चीगस का भरिया
गोरा लाड़ा रे तल चढ़ावतिया
म्हारी चूनड़ चीगस वा भरिया

(४२) गाजो नी गड़ल्यो सलिजई
मेउड़लो नी बरस्यो हो
आगंण में कीचड़ सखीबई
किनने करियो हो
आज काकाजी का बेटा न्हावण बैठा
आगंण में कीचड़ सखी बई
उनने करियो हो

"बान"

(४३) बरसे म्हारो काली बादल
बरसे सवाई जी
रूपया को ब्याज न बट्टो
आटा को साटोजी
थाली में ठनको मेल्यो
हयड़ो सिलानो जी

"बना"

(बरात चढ़ाते समय का)

(४४) होजी देस पराया रइबर आवेगा
म्हारी हवेला का केवलू उड़ावेगा
म्हारा दादाजी का होंस उड़ावेगा

देवी देवताओं के गीत

(संग्रह संख्या चार)

"छींक माता"

(१) माथा रो भम्मर हवे वण्यो हे माय
काण्या रो झालज हवे वण्यो हे माय
टिलडी लागी जगा जोत-चलो झूलवा वो माय
चलो छातर पति—झूलवा वो माय
ये सरवरसी आई पाल चलो झूलवा वो माय
ये अम्मरवाड़ी डाल चलो झूलवा वो माय
झूले छातर पति पातलाए माय
ये मचका देगा छोटा वीर—चलो०
अलवे तो अलवे झूलजो वो माय
से सालूड़ा में सेज भराया—चलो०
गंगा तो जमना नदी बहे
ये सालूड़ा के लांग झकोर चलो झूलवाये माय

(गेंकाबाई, सुन्दरसी)

"परिभाजी"

धन धन म्हारा (अमुक) सेवग
तम घर परिबई आया जी
परिबई आया म्हारा मन भाया
दूध परेवा लाया जी

सिपरा में सापड़ना[1] करिया
केसर तिलक लगाया जी
टाटी[2] तोड़ पवन हुई आया
गले फूलन की माला जी

(३) जब हो परि की गाड़ी काकड़ आई
काकड़[3] हालोड़ा[4] लुभाव हो परिबई
ऐसी ऐसी गाड़ी हमने नजरा नी देखी
जब हो परि की गाड़ी गुवा[5] में आई
गुवा में गुवाल्या लुभाय हो परिबई
ऐसी ऐसी गाड़ी हमने नजरा नी देखी।

"देव महाराज"

(४) ये उठो हो हीरा[6] दिवली संजोवो
आँगन ऊबा[7] धरमी ओ देवजी
ये नाहीं म्हारा धरमी, बांझी[8] केरा ठाट
काय को दिवली जी जोऊं
बऊं ओ हीरा बांझी केरा ठाट
जई ओ घी को दिवली संजोओ
ये नाहीं म्हारा धरमी पुत्तर[9] जाया
जोड़ तो कुण उछेरे बाझी
बऊंआ ओ हीरा पुत्तर लारी जोड़
तो बी को उछेरे बाझी रे
ये नाही म्हारा धरमी, देवर-जेठ
कुण परणावे पुतराजी
य बऊंवा वो हीरा देवर जेठ
वी वो परणावे पूतराजी
नाहीं म्हारा धरमी माड़ी ओ जाया वीर
कुण पेरावे मायेरो[10]

[1]स्नान, [2]झाड़, टट्टी, [3]ग्राम की सीमा, [4]हली, [5]गौशाला, [6]हीरा गूजरी का नाम है। धरमी देवता जो बाझ (भैस) को फलाने का आश्वासन देते हैं। बांझी की कहानी स्वयं गूजरी के बन्ध्यापन के उद्धार पाने एवं अन्य अभिलाषाएं पूर्ण होने के हेतु से संबंधित है। [7]खड़े, [8]बन्ध्या, [9]पुत्र, [10]माहेरा।

दऊंवा वो हीरा माड़ी ओ जायो वीर
वी वो पेरावे मामारो

"भेरूजी"

(५) भेरूजी, रमझम बाजे तमारा घूघरा;
म्हारा आगंन बाज्या जंगी ढोल।
कलियां छाय रह्यो, भरवो मोगरो ॥
भेरूजी तम जो बाजोट्या का साबल्या,
सुतार्या को बेटो हाजर होय ॥ १ ॥
भेरूजी, तम जो कलस्या का साबल्या,
कुमार्या को बेटो हाजर होय ॥२॥
भेरूजी, तम जो फुलड़ा का साबल्या,
माली को बेटो हाजर होय ॥३॥
भेरूजी, तम जो छत्तर का साबल्या,
सुनार्या को बेटो हाजर होय ॥४॥
भेरूजी, तम जो नारेला[1] का साबल्या,
वाण्या को बेटो हाजर होय ॥५॥
भेरूजी, तम जो मदरा[2] का साबल्या,
कलाल्या को बेटो हाजर होय ॥६॥
भेरूजी, तम जो पूजा का साबल्या,
पटेल्या को बेटो हाजर होय ॥७॥

"भेरूजी"

(६) भेरूजी लीप्या तो छाबया म्हारा आगेणा
भेरूजी, पगल्या रा मांडन वाला वोनी
अन्तरजामी पाती वोनी यो कड़वा लींम की।
भेरूजी, गाया तो मेस्या म्हारे अतधणी
भेरूजी दूबड़ा रा पीवन वाला वोनी
अन्तरजामी०—
भेरूजी, राम, रसोई, म्हारे सींग चढ़ी
भेरूजी, टुकाड़ा रा तोड़न वाला वोनी
अन्तरजामी०—

[1]नारिकेल, [2]मदिरा।

भेरूजी, सासूरी देवर म्हारे अतधणा
भेरूजी, काकारा केवण वाला दोनी

अन्तरजामी०—

भेरूजी, सासूरी जायी नंनदल अतधणी
भेरूजी, भुआ रा केवण वाला दोनी

अन्तरजामी०—

भेरूजी, माता रा जाया वीरा अतधणा
भेरूजी, मामा रा केवण वाला दोनी

अन्तरजामी०—

भेरूजी, अनधन लछमी म्हारे अतधणी
भेरूजी, लछमीरा बिलसन वाला दोनी

अन्तरजामी०—

(७) भेरूजी, सीसरो बोरा अदेवण्या
भेरूजी, पेंचा रो अवक स्वरूप।
हटीला भेरू लाड़ला अपनी छतरी
वणी छेजी राज।।
छतरी रा भींज्या कांगरा,
भेरूजी, बावड़ी रो निरमल नीर।
अठीने पीयर, वठीने सासरो,
भेरूजी, अदबीच लागूं थाके पांव।
कानारा मोती अदेवण्या,
भेरूजी, लाल रो अवक सरूप।
कठेरी कंठी अदेवणी,
भेरूजी, चोसर रो अवक सरूप।
अंगेरा जामा अदेवण्या,
भेरूजी, केसर रो अवक सरूप
हाथा रा कड़ा अदेवण्या,
भेरूजी, पोंची रो अवक सरूप।
पांवरा मोजा अदेवण्या
भेरूजी, मेंदी रो अवक सरूप।
चढ़वारी तेजी अदेवणी,
भेरूजी, चाबुक रो अवक सरूप।

"गोगाजी"

(९) सीस पगा गोगाजी धरम अदवाणी
पेंचा अदक सरूप ।
इन्द्रासन से उत्तर्‌या गोगाजी धरम पालकी ।।
कानारा मोती अदेवण्या,
लाला रा अदक सरूप ।
हिवड़ी री कंठी अदेवणी,
चोसर को अदक सरूप ।
चढ़वा री तेजी जिनका अदक सरूप ।।
पांवा रा मोजा, गोगाजी धरम अदेवण्या
मेंदी रो अदक सरूप ।। इन्द्रा० ।।

"गुणाभई"

(१०) गुणाभई, सीस की पागा अदेवणी,
गुणाभई, सीस का चोरा अदेवण्या,
गुणाभई, बेन्या ने जस दो म्हारा बीर ।
गुणाभई, गला री कंठी अदेवणी,
गुणाभई, मोती को अदक सरुप,
गुणाभई, बेन्या ने जस दो म्हारा बीर ।
गुणाभई, अंगारो बागो अदेवण्यो
गुणाभई, पोंची को अदक सरुप,
गुणाभई, बेन्या ने जस दो म्हारा बीर ।

"नागजी"

(११) नागजी केलग आवे बांझा-बांझूली[1]
केलग बालूड़ा की माय
बासक राजा फूलां की वाड़ो में रमीर्‌या[2]
नागजी, नौलख आवे बांझा-बांझूली
नागजी, दस लख वालूड़ा[3] की माय
नागजी, कई तो मांगे बांझा-बांझूली
नागजी, कई तो मांगे बालूड़ा की माय

[1]बांझ, [2]घूम रहे हैं, [3]पुत्र ।

नागजी, पुत्तर मांगे बांझा-बांझूली
नागजी अनेधन मांगे बालूड़ा की माय
नागजी, कई चढ़ावे बांझा-बांझूली
नागजी, कई चढ़ावे बालूड़ा की माय
नागजी, छत्तर चढ़ावे बांझा-बांझूली
नागजी, वाछी[1] बँधावे बालूड़ा की माय
नागजी, कायन उतारा बांझा-बांझूली
नागजी, कायन उतारा बालूड़ा की माय
नागजी, तड़के उतारा बांझा-बांझूली
नागजी, गेरी छांया उतरा बालूड़ा की माय
नागजी, किना रस्ते आवे बांझा-बांझूली
नागजी, किना रस्ते बालूड़ा की माय
नागजी, उबट रस्ते आवे बांझा-बांझूली
नागजी, सूधी सड़क आवे बालूड़ा की माय

(गेंदाबाई, सुन्दरसी

"पथवारी"

(१२) उठो राणी रुकमा पूजो पथवारी।
पथवारी पूज्या कई गुण होसी।
भूल्या ने मारग, बिछड़्या ने मेलो
उठो राणी रुकमा पूजो पथवारी।
पूजो पथवारी अन्न होसी-धन होसी
पूता का परवार होसी
उठो राणी रुकमा पूजो पथवारी।

"गंगाजी"

(१३) गंगाजी ने कीजो—गंगोजा आया पावणा।
चावल रंधाऊं ए गंगा माता, उजला हर्‌या मूंग की दाल।
लापसी रंधाऊं ए गंगा माता, लचलची,
ऊपर हरिया नारेल।
लाडू लडाऊं ए गंगा माता, मगद का,
ऊपर मसर या खांड।

[1]दूधवाली गाय।

ग्रांसठ-बांसठ ए गंगा माता, सारना,
चौंसठ भर्‌या रे भंडार।
थाल परसे ओ गंगा माता, पद्‌मनी,
झालर रे झनकार।
जीम्या तो चूंठया ओ गंगा माता, रुचिर्‌या,
अमरित चरूए कराय।
(मन्दसौर)

(१४) या मटकी सोरम जी से भरी हे
या मटकी गंगाजी से भरी हे
भरत-भरत लागो तड़को,
म्हारो हार टूटो नवसर को।
सासू लड़त म्हारा ससरा लड़त हे
ए जेठानी लड़े पर घर की
म्हारो हार टूटो नवसर को।
टूटो गयो हार बिखर गया मोती
ए बीनत-बीनत लागे तड़को
म्हारो हार टूटो नवसर को।
जेठानी लड़त म्हारा जेठजी लड़त हे
देरानी लड़े पर घर को
म्हारो हार टूटो नवसर को।
देवर लड़े म्हारी देरानी लड़त हे
नंनद लड़े पर घर को
म्हारो हार टूटो नवसर को।
हार का कारण सायब लड़त हे
सोकन लड़े म्हारा घर को।
म्हारो हार टूटो नवसर को।
(शाजापुर, नवम्बर १९५४)

(गंगा यात्रा से आने पर गाया जाता है)

(१५) बोरा भारी तो झलकती आई।
माथा ने मम्मर पेरो बाई,
नजरा से देखो तमारा वीर।

झारी तो झलकती आई ।।
नीर उबरती आवे ।
(जांबू झलकती आवे)
झारी झलकती आवे ।।

गला में हँसली पेरो म्हारी भावज
गीया में आया म्हारा बीर
पगल्या ने सांकल्या पेरो म्हारी भाभी
गोगा में आया म्हारा बीर
झारी झलकती आवे-जांबू उबरती आवे ।

(शाजापुर)

(१६) हो काय की गगरिया
हो काय की मलनिया
हूँ कैसे भर लाऊं रे गंगाजल झारिया
हो सोना की गगरिया
हो रूपा की मलनिया
हूँ कैसे भर लऊं रे गंगाजल झारिया
हो सासू हठीली
म्हारी नंनदल बुलाड़ी
वा म्हारे मोकले .....
हूँ कैसे भर लऊं रे गंगाजल झारिया

(शाजापुर, १० नवम्बर ५४)

(१७) हरी रस मेलो पालने रे
प्रेम रस हिरवा माय, म्हारा माधीरथ,
हरि रस मेल्या नी जाय ।
गंगाजी के बाटे
सगा ने सोई रे
सगी म्हारी लकड़ी
बेन म्हारी गंगा——
हरि रस मेल्या नो जाय

(गंगा यात्रा पर जाते समय गाया जाता है)

(तीर्थ यात्रा के लिए जाने पर घर वालों द्वारा गाया जाता है)

(१८) गंगाजी री बाटे बगीचो लगायो
गंगाजी री बाटे कुअलो खंणायौ
आवेरा गंगारा वासी ठंडो छाया बैठे
इतरो धरम तमने होय भोला संगवी
गंगाजी री बाटे कूअलो खंणायो
आवेरा गंगा रा बासी ठंडो पानी पोवे
इतरो घरम तमने होय भोला संगवो
जऊ बिना झारी ने तिल बिना तुलसा
पुत्र बिना पिण्ड कैसे होय भोला संगवो

(१९) सोरमजी का घाट पे हो
हरी ने बाग लगाया—हो राज
गंगाजी का घाट पे हो
हरी ने बाग लगाया—हो राज।
बाग लगायो डोडा-एलची
चारी कोना लगाया—हो राज।
बीच माथ टांग्या पींजरी,
सुड़ो कई वाणी बोले हो राज।
वाणी जो बोले सियाराम की
सीता राम बिजाई—हो राज।

(२०) (गंगाजी से आने पर स्वागत का गीत)
सोसेरा चीरा हवे वण्या रे वीर
पेचा रा अदक वणावणा।
नाना कावड़या रे वीर,
जल भर लाजो सोरम घाट को।
कावड़ मेलो रेत में रे वीर,
आवो म्हारा साथीड़ा रा साथ।
काना रा मोती हवे वण्यारे वीर
चूनीरो अदक वणावणा।
गला री कंठी हवे बणी रे वीर
डोरा रो अदक वणावणा।

(२१) माता धोलो ओ धोली
कई' हो केवाय ?
माता धोलो हो फूल
कपास को केवाय ।
माता उगता उगास बरण्या
आथमता सिन्दूर, बरण्या
गाया रा गुवाल छुट्या
पंथीड़ा वोई मारग लाग्या
सरस गंगा मई की आरती कीजो
आरती कीजो चरनामृत लीजो
माता पीली हो पीली
कई' हो केवाय ?
माता पीली हो बाल
चणा री केवाय ।
(इत्यादि)

(२२) गंगाजी कीजो गंगोजा आया पावणा ।
चांवल रंधाऊं ए गंगा माता, उजला,
हरिया मूंग की दाल ।
लापसी रंधाऊँ ए गंगा माता, लबलबी,
ऊपर हरिया नारेल ।
लाडू लडाऊँ ए गंगा माता, मगद का,
ऊपर मिसरी या खांड
आंसठ-बांसठ ए गंगा माता, सारना,
चौंसठ भर्या रे भंडार ।
थाल परसे हो गंगा माता, पद्मनी,
झालर रे झंनकार ।
जीम्या जो चूंठ्या ओ गंगा माता, रुचिर्या,
अमृत चळू भराय ।

चन्द्रसखी के गीत

(संग्रह संख्या पांच)

"होरी"

(१)

बाबा नन्द के द्वार मची होरी
के मन लाल गुलाल मंगई
के मन केसर घोली।
दस मन गुलाल मंगई
दस गाड़ी केसर[1] घोली।
अपना अपना घर से निकली
कोई गोरी कोई सांवली।
अंई से आया कृष्ण कन्हाई
वंई से आयी राधा गोरी।
घुटना कीच हुआ आंगन में
खेले रंग-रंग छोरी।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि
बाबा नन्द खड़े पौरी।

(२)

कैसे आऊं रे सांवरिया
दूर त्हारो नगरी।
त्हारी नगरी में जमन बहुत है
वां बह जाऊं सगरी।
थारी नगरी में फाग बहुत है
रोके गुजरिया सब डगरी।

भर पिचकारी मारत अंग पर,
भींजत चुनरी औ घघरी।
म्हारी नगरी में बंसी बजत है
भूल जाय सुध-बुध सगरी।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि
लूट लेय माखन गगरी।

(३) श्री कृष्णचन्द्र मणिहार बने
ब्रजमान भवन से लायो चुड़ियां।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में
केत फिरे कोई पेरो चुड़ियां।
गोरा बदन राधेजी ढाड्या
हमके पेरई दो हरी चूड़ियां॥
अंगलो पकड़ पोंचो पकड़्यो
हंसु-हंसु मोड़ी गोरी बहियां।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि
हरि के चरण गाओ भइया॥

(४) डस खायो कनेयो काली नाग
राधेजी अंगली में॥
एक सखी तो पानी पावे
दूजी ठाड़े बाय॥
तीजो चली नंद भवन को
लायी वेद बुलाय॥
राधेजी को अंगली में कैसे खायो रे
कनेयो काली नाग॥
गढ़ गोकल से चले वेदजी
आये नन्द किसोर।
मोर पाँख हाथ में लीना
गेरी लेर चढ़ाय॥
एक सखी यूं कर बोली
सुनजो नन्द किसोर।
जो जीवे तो कुंवर लाड़ली
थाने ही दूं परणाय॥
चन्द्रसखी मोहन की मिलनो

मिले नी बारम्बार।
यो मोहन अलगूंजा वालो
ले गयो प्रीत लगाय।।

(५) मदन मोहन मेरी बिनती सुनो
करुणा सिंधु जगत-बन्धु संतन हितकारी
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे कुंडल की छब न्यारी
यमुना के नीर-तीर धेनु चरावें ओढ़े कामरी कारी
वृन्दावन की कुंज गलिन में निरत करे गिरधारी -
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि, चरण कमल बलिहारी।
(उज्जैन)

(६) रथ लई न आया श्याम
रुकमणी देख-देख-देख
माथे मोर मुकट मकराकृत कुंडल
कुंडल की छब प्यारी लग
तू देख--देख-देख
गल बिच सोभे मोतियन माला
हीरा प्यारी लग, तू देख-देख-देख
अंग बिच सोभे जरी को जामु
केसर की छवि प्यारी लग, तू...
हाथ बिच सोभे मोतियन कंगना
अंगली की छब प्यारी लग, तू...
संग में सोभे राधा प्यारी
जोड़ी की छब प्यारी लग, तू...
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब प्यारी
मुरली की धुन प्यारी लग, तू...
(निमाड़)

(७) हिरवा में बस गयो सांची।
हो गोवाल थारी झाँकी ।।
वा झाँकी थारी अद्‌भुत बाँकी ।।
क्या ताकत बिधना की ।।
ऐसे उपमा फिर नहीं आवे ।
शारद लिख-लिख थाकी ।।
मोर मुकुट कुंडल को लटको ।

सिर पर कलंगी ठांगी।
माधुरी राग मुरली में गावे।
गले माल मोत्यां की।
कोटि भानु अरू कोटि चन्द्रमा।
करे खवासी थाँकी॥
दोई कर जोड़, कहूँ कर जोड़ी।
राखो लाज बाना की॥
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब।
देव भरे थारी साकी॥
मांकी देख तन-मन लिटानी।
लोक लाज सब म्हांकी॥

(८) तुम नंदलाल जनम के कपटी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे॥
गले बैजन्ती माला लटकी।
और गागर भर भर देवे।
हमरी गागर सिर से पटकी॥
औरन को प्रभु दरस दिखावे।
हम दरसन बिन बन-बन भटकी॥
और की नैया पार लगावे।
हमरी नैया भंवर बिच अटकी॥
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब।
हरि के चरण से राधा लपटी॥

(६) बनि आये बैद मोहन गिरधारी।
वृन्दावन की कुंज गलिन में
डोल रही एक नारी।
उतते आये कुंवर कन्हैया,
देखो न हो लाला नबज हमारी॥
अंगुली पकड़ वाको पौंचो पकड़यो।
देखन लागे नाड़ी।
ताप तेज रो कई मन राधे
पीर उठे राधे कम्मर भारी।
बाय बड़ंग और सौंप कासनी
सोठ की पुड़िया न्यारी॥

एक जड़ी जंगल की लाऊँ
हठ जायेगी राधे पीर तुम्हारी।
आज लाल तोहे जाने न दऊंगी ॥
खातिर करूँ तुम्हारी।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब ॥
आज रहूँगी लाला शरण तुम्हारी।

(१०)

श्रीकृष्ण म्हारा नाम,
म्हारी अरजो सुन लीजो।
प्रभुजी म्हने दरसन झट दीजो।
फूल कमल से चरण तुम्हारे।
नाथ म्हारा हिरदा में लिख दीजो।
भवसागर जल नीर अपार
नाथ मोहे डूबन मत दीजो।
काठ की नैया डगमग होवे
नाथ मोरी बैंया पकड़ लीजो।
परम रामजी लेखो मागे
नाथ जरा दसकत कर दीजो।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब
नाथ मोहे पार लगा दीजो।

(११)

म्हारी बंसीवाला ठाडी रहूँ
किधर जाऊँ।
जल जमुना को निरमल पानी
कहो तो गगरी भर लाऊँ रे।
हाथ माँय कंगन, पाँव मांय पिजन
रमक झमक मंदिर आऊँ रे।
सासु सपूती, नंनद हठीली
कृष्णजी घणा नखराला।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब
चरणों में शीश नवाऊँ।

(१२)

श्रीकृष्ण मेरी गलियों में आया करो
मोर मुकुट गले फूलों की माला।
साँवली सूरतिया दिखाया करो।
ये अखियाँ दरसन की प्यासी

इनको ना तरसाया करो।
दिन नहीं रैन, दैन नहीं निंदिया
सपने में दरस दिखाया करो।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब
दासी को ना बिसराया करो।

(१३) ऐसी हंस गुण बंसी बजाय, मोहिरे मोहे नन्दलाल ।।टेक।।
ऐसी निरगुण बंसी बजाय, मोहिरे मोहे नन्दलाल ।।
छीकत लीनों बेड़लो, आंगन बोल्यो काग
के तो सिर की गागर फूटे, के मिले मदन गोपाल ।।टेक।।
पनघट उपर जायके भर-भर दो उलचाय।
पवन चले फुलवारी चले घूंघट जाय उड़ाय ।।टेक।।
म्हारे पिछवाड़े आइ के रे छेरी बंसी बजाय, मधुरी बंसी बजाय
म्हारा मन में घर हर कौंदू, सासू नंनद को बास ।।टेक।।
चन्द्रसखी मोहन को मिलनो मिले नी बारम्बार
यो मोहन अलगूंजा वालो ले गयो संग लगाय ।।टेक।।

(१४) नन्दलाल गागर भर दे रे, गोकुल में म्हारो घर है ।।टेक।।
गागर भर दे सिर पर धर दे, चार कदम म्हारा संग चल रे।
गंगा जमना है तिरवेणी, माय है मगर को डर रे ।।टेक।।
यू मत जानो फिरे अकेली, सात सहेल्या म्हारा संग रे
यू मत जानो फिरे कुंवारी, श्रीकृष्ण म्हारो वर रे
यू मत जानो फिरे कौन ग्राम की, बरसानो म्हारो घर रे ।।टेक।।
चन्दसखी भज बालकृष्ण छब, हरि चरणों में मन रे नन्दलाल ।।टेक।।

(१५) बंसरी वालो मचल रह्यो म्हार आंगना रे
आंगना में देखू तो कान्हो पांच बरस को
घर में देखूं तो कान्हो झूले पलना रे
अनी बंसी वाला का तीन ठिकाना
गोकुल, मथुरा, बरसाना।
अनी बंसी वाला के तीन लुगाया
राधा, रुकमणी, सतभामा।

श्रनी बंसी वाला के कोई मत नौतौ
ऊतौ खावे माखन मिसरी, मांगे दखणा रे
बंसरी वालो मचल रह्यौ म्हार श्राँगना रे ।

(१६) कानाजी पूछे ये गुवालन, थारी मटकी में कईं कईं
"म्हारी मटकी में दूध छे काना, त्हारे काँई पड़ी
चले जाश्रो बन के वासी
हो चले जाश्रो मुरली वाले, मैं ना बोलू नंद के मोहना से।"
कानाजी पूछे ये गुवालन, त्हारी मटकी में कईं कईं
"नहीं हे मूँडा पे मूँछ चले जाश्रो बन के वासी, हो
चले जाश्रो" ।।टेक।।

कमर त्हारी लचलची, ये एड़ी श्रलन्ता केस
भँवर त्हारा तीन कमानी मोया चारी देस
गुवालन झुमका वाली
बाजूबंद बेरखावाली, श्रंजन बिना श्रंखिया काली
देखन को तू भोत रूपाली
श्रोढ़न को बसन्ती साड़ी, ऐ झीना घूंघट वाली
में पूछूं परनी के कुँवारी
"कौन का थे छो डिकरा, ने कईं त्हारो नाम
दान लेवानो खातर होय तो, श्रावजो गोकल गांम
चले जाश्रो बनवासी"—
"नन्द बाबा ना डीकरा, श्रीकृष्ण म्हारो नाम
दान लिया बिना जाने नी दूँगा, नन्द बाबा नी श्रान"
गुवालन झुमका वाली ए बाजूबन्द बेरखा वाली ।।टेक।।
"त्हारा घर काना नौलख गऊवा दुवे छे म्हारे बालवुली
में हूँ दासी कंस राजा की, दूँगा थापड़ की,
चले जाश्रो ०—
"त्हारे है श्रलबेली गुवालन, त्हारो है बड़ो गुमान
दान लिये बिन जाने नी दूँगा, ऊबी उतारू मान
गुवालन झुमका वाली" ० —
"तू है कान्हा गाँव का ठाकर में छूं चाकरड़ी
त्हारे म्हारे हेत पणारे, दूध में साखरड़ी—
चन्द्रसखीनी बिन्ती ने सुनजी चित्त लगाय—
राधा कन्नैया को झगड़ो जगावे, बैकुण्ठ नो वास
गुवालन झुमका वाली ०—

(१७) राधे श्याम मेरी रंग दो चुंदड़िया, नन्दलाल मेरी रंग दो चुंदड़िया।
आप रंगो चाहे मोल रंगावो, प्रेमनगर की खुली है बजरिया
चूंदड़ ओढ़े बिन घर नी जाऊं।
ऐसो रंग रंगजो धोबी धोये चाहे सारी उमरिया।।
भई रे भतीजा वार तेवारे, श्रापी उड़इयो चाहे सारी उमरिया।

(१८) कांकरड़ी मत मारो सांवलिया। कांकर मारो तो कछु डर नाहीं
फूट जायगी सिर की गगरिया।
गागर फूटे राम कछु डर नाही, भींज न जाये मेरे सिर की चुंदड़िया
चुंदड़ भीजे राम कछु डर नाही, लचक न जाये मेरी पतली कमरिया
चन्द्रसखी मोहन को मिलनो मिले नी बारम्बार। कांकरड़ी०।।

(१९) बरसाने से चली जो गूजरी कर सोला सिंगार
हरिहर कर सोला सिंगार
नख-सिख से वाने गेहनो पेर्‌यो पेर्‌योजी नोसर हार
पेरी जी वानें कंठ दूलड़ी
एक चंचल, हां एक चंचल गूजरी जी
दहि बेचन को चली
आगे मिल गये सांवरिया घांट रोक्यो आय
माखन सभी लुटायो, तोड़्‌यो जी नोसर हार
तोड़ी है वाकी कंठ दूलड़ी। एक चंचल—

(२०) बजी बजी मुरली बजी जल जमना के तीर
सजनी जल भरने कैसे जाऊं, सजनी उबे मदन मुरार सजनी
ऊ बाट कैसे जाऊं सखी कंकरीली गये हो
।। सजनी ।।
पीछे से आय मोरी मटकी पटकी मोसे मांगे दान ।। सजनी ।।
घर जाने दो कृष्णमुरारी मोड़ हो रही सजनी
घर कैसे जावो राधे देना महि को दान राधे
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण प्रभु हरि राधे श्याम
।। सजनी ।।

(२१) लेता जाजो सांवलिया बीड़ी पान की
कायो चूनों लौंग सुपारी, बीड़ बनीजी पाका पान की।
इस बिड़ियन में सब जग मोय्‌हा, बेटी मोहीजी व्रजभान की।।
आओजी सांवलिया अपन चौपड़ खेलां, बाजी लगांवा गुरु ग्यान की।

हारू तो प्रभु दासी तम्हारी, जीतूं तो बेटी व्रजभान की ।।
चन्द्रसखी भजो बालकृष्ण छव, हरि के चरण गुण गान की ।
लेता जाजो सांवलिया बीड़ि पानन की ।।

(देवास)

(२२) अरे कब से दानी हुए हो लाला, कब कब लीन्हो दान
जाय कहूँगी राजा कंस से खब पिटाऊं तोहे मार
बंधाय देऊं तोरी मुस्की
चन्द्रसखी मोहन को मिलबो, मिलै नि बारम्बार

ऋतु गीत तथा अन्य

संग्रह संख्या (छ)

(१)

नंनद बाई बरजौ मती,
बंसीवाला से खेलूंगी फाग ।
नोमन कान्हा ने रंग बनायो
दस मन केसर घोली
भर पिचकारी मेल पे डारी
तो भीजी मेल अटारी
दूजी पिचकारी चूनर पे डारी
तो भीजी चूनर सारी
गेरी लगी पिचकारी
तीजी पिचकारी मुख पे डारी
तो चोली की रम तोड़ी
चवथी पिचकारी घूंघट मारी
तो घूंघट की रम तोड़ी
नंनद बाई बरजौ मती,
बंसी वाला से खेलूंगी फाग ।

(२)

माथा के म्हारे भम्भर सेबे
तो टीको भोत हजाप ।
किसनजी पोंची तो पेरावो
म्हारा रंग से भर्‌या दोय हात ।।
काची केसर को रंग बनायो
तो कंचन की पिचकारी ।
भर पिचकारी उका मुंह पर डाली
तो भींज रही राधा प्यारी ।।

(३) आसपास त्हारा कोर कांगरा
पीपल गेरी छांया।
म्हाराजा त्हारे सुन्ना रा कलश चढ़ाया
पेली आरती एक घड़ी को—
म्हाराजा त्हारे गंगा सीस-मुकट बेती
नरबदा रंग से भरी, नरबदा रंग से होली ॥
दूसरो आरतो दोय घड़ो को—
म्हाराजा त्हारे भस्मी रो सिनगार
नरबदा रंग से भरी, नरबदा रंग से होली ॥
तीसरी आरती तीन घड़ी की—
म्हाराजा त्हारे आसन पे बले रे मुसाल
नरबदा रंग से भरी, नरबदा रंग से होली ॥
चौथी आरती चार घड़ी की—
म्हाराजा त्हारे कलियन को सिनगार
नरबदा रंग से भरी—
पांचमी आरती पांच घड़ी की
म्हाराजा त्हारे पूजन को अंत नी पार। नरबदा ॥
जुग-जुग जीवो अवन्ति का राजा
म्हाराजा त्हारी रेयत करेरे किलोल
नरबदा रंग से भरी, नरबदा रंग में होली ॥

(४) सिव सिव सदासिव बाग लगावे उमापति।
पार्वती-सिव होली खेलंता जटा-मुकुट गंगा बहती ॥
पांच भांत को रंग बनायो, कंचन की पिचकारी।
काची केसर को रंग बनायो, कंचन की पिचकारी ॥
गड़ पर्वत पे ठाड्या माहादेवजी,
भर पिचकारी उका मुख पे डाली,
हाल से बेहाल कर डाली ॥
अस्सी कली को लेंगी भींज्यो, भींजगई गुलसारी।
हाथ जोड़ ठाड्या पार्वती छमा करो शिवलेरी ॥
टिम-टिम ठिम्-ठिम् ठिमक चमकेता।
भूत पलीत सब आया जुड़के। पार्वती-सिव ॥

(५) नरबदा रंग से भरी, होली खेलो कृष्ण मुरार ॥
कायन को तो रंग बण्यो, तो कायन की पिचकारी।

केसर को तो रंग बणायो, तो कंचन की पिचकारी ॥
भर पिचकारी म्हारा अंग प नाली तो भींज गई गुलसारी ।
कां जो धोऊं सुरख चुंवड़ी, कहां जो धोऊं नवरंग पाग ।
गंगा धोऊं सुरख चुंवड़ी, तो जमना नवरंग पाग ॥
कहां जो सुखाडूं सुरख चुंवड़ी, कहां सुखाडूं नवरंग पाग ।
आंगण सुखाडूं सुरख चुंवड़ी, फड़क सुरख नवरंग पान ॥
(निमाड़)

(६) रंग का ओ रणुबई भर्‌या वो कचोला
कंचन की पिचकारी
छोड़ो हो पोटली न करो सिणगार
खेलो धापीअरजी से होली
पेरी ओढ़ी वो रणुबई सासू पास गया
देवो कुंकुम खेलां होली
हमारा कुंवर रणुबई तप का हो लोभी
नी खेले तिरिया से होली
रंग का गोरा बई भर्‌या वो कचोला
कंचन की पिचकारी
छोड़ो हो गठरी न करो सिणगार
खेलो हो इस्वरजी से होली
पैरी ओढ़ी ने रणुबई सासू कने गया
देवो हो हुकम खेलां होली
हमारा कुंवर रणुबई तप का हो लोभी
नी खेले तिरिया से होली ।
(निमाड़)

(७) अतर भर लायी रे कटोरे रंग दियो ढुलकाय
कायन को यो रंग बण्यो है, तो कायन की पिचकारी
अरस बरस को रंग बण्यो है कंचन की पिचकारी
भर पिचकारी म्हारा मुंह पे डाली, तो भींज गई गुलसारी
बरस दिना का बारा महिना
तो महत मयनु रंग होली
चांदणी की चादर बेल चमेली
अपणाज हाथ ...
(निमाड़)

(८) ढप कयेको बजाये बालम रसिया
ढप काहे को
म्हारी ढप बाजे म्हारो बंगलो गाजे
छज्जो गाजे, हवेलो गाजे
गाजे मेल अठारो

(९) माथे के म्यारे भम्भर सावे
तो टीको भोत हजाप
सूरज सामे पनिया नी जऊं—
म्हारी चुनरी को रंग उड़ जाय।
काना के म्हारे झालज सोवे
तो झुमना भोत हजाप
सूरज सामे पनिया नी जाऊं
म्हारी चुनरी को रंग उड़ जाय॥

(१०) राधा खड़ी कवाड़े ओट
मारे तो बाण बचा लीजो
कै मार्‌या के घायल हुया
कै पड़्या ताल की पाल
नो मार्‌या, दस घायल हुया
सोला पड़्या ताल की पाल
काय की करूं झांझ
काय की करूं कटारी
नैना की करूं झांझ
उमर की करूं कटारी।

(११) माथा में म्हारे मैंमद सोव
तो रखड़ी की छब न्यारी
गोरी का वदन पे किने डारी पिचकारी
जिने डारी जिने म्हारे बताड़ो
नी तर बऊं दोय गारी
सासू रा जाया बाई जी रा बीरा
राजन डारी पिचकारी॥

(१२) झन-झन झारी गंगाजल पानी
पी गया सब मिजवान

नी रङ्ग पिलंग बिछाया मैलां में
सोई गया सब मिजबान
सोड़ सुरंगी राता ओढ़ना
हिंगलू ढलायो मन भायो
सेजा रो सिनगार हुटोलो
म्हारो छैल भंवर नी आयो ॥

(१३) ताती जलेबी नी सरस हुयेली
जीमेगा कृष्ण मुरारी ।
मकन्यो सो हाथी, हाथी उफर अम्बाड़ी
बैठेगा कृष्ण मुरारी ।
हरी हरी चुड़ियां गुलाबी बहियां
पेनेगा राधा प्यारी ।
नरबदा रंग से भरी
खेलेगा कृष्ण मुरारी ॥

(१४) भरलो झोली, फागन होली
सीसी भरी गुलाब की
भेजूं कीनका हाथ ।
भेजन वाला घर नहीं,
देवरिया नादान
उड़े रे गुलाल मचे होली ॥

(१५) अगवाड़े म्हारे सुसुरा सूता
पछवाड़े म्हारी सासू
घर में नंनद कुंवारी
बागा में मिलियो राम
कोयल कललानी ।
कोयल कललानी कईं कारणे
कुंवारी रई गी हो राम
कोयल कललानी ॥

(१६) यो परण्यो लायो रे डोडा एलची
ए तो परण्यो लायो रे
कड़वी गोल, ननदल म्हारी
रंग से भींजई म्हारी चुनड़ी ।

या तो खारी लागी रे
खोपरी, म्हारी नंनदली प्यारी
यो तो मीठी लागे रे
रंग से भींजई म्हारी चुनड़ी ।।

"फाग"

(१७) नैना में बादलिया बरसे रे
ए परण्या की तो आंखां दूखे,
जाणे म्हारो जूतो रे।
छैल भंवर की आंखां दूखे
सुरमो सारू रे।
पतला-पतला फुलका पोया
तोर्‌या की तरकारी
जिमता हो तो जीमो पनाजी
हाजर उबो री ।।

"गैर"

(१८) घड़लो भरवा दीजो आज घड़लो प्यारो लागे रे।
काजलियो सारी ने छोरी
जल भरवा ने चालो रे
आगे म्हारा छैल भंवरजी
बातन मोले रे
लाजा मर गई रे।
म्हारा घुंघटड़ा में गरमी हुईगी रे
होली माथे चाली रे
आगे म्हारा छैल भंवरजी
होली तापे रे।
लाजा मर गई रे ।।

(१६) सखोरी पिया के आवन के सगुन भये
मोरे आंगन में बोले है काग।
भांत भांत का रंग बणाया
तो कंचन की पिचकारी
कितना बरस का कुंवर कन्नैया
तो कितना बरस की राधा प्यारी।

बारा बरस का कुंवर कन्हैया
तो तेरा बरस की राधा प्यारी।
सिर पर घड़ा, घड़े पर झारी
चाल चले मतवाली।
गोरी-गोरी बहियां, हरी हरी चुड़िया
तो चुड़िया से छंब लगावो।।

गणगौर (फुलपाती के गीत)

"रसीयो"

(२०)
कई रे जुवाब करूं रसिया से
दल रे बादल बिच चमके तारो
तो सांझ पड़े पिऊ लागेजी प्यारो
कई रे जुवाब करूं रसिया से—
जोर करूंगी जुवाब करूंगी
तो रसिया रा मेलां (नैना) में रोज रहूँगी
कई रे मिजाज करूं रसिया से—
रसिया जी म्हाने किये बिलमाया
तो लोड़ी[1] कां जाता बड़ी बिलमाया
कई रे गुमान करूं रसिया से—
भम्मर को रस टीका ने लियो
तो टीका को रस सायबजी ने लियो
कई रे जुवाब करूं रसिया से—

राजस्थानी पाठान्तर :—

दोय बादल बिच चमके जी तारा
भो सांझ पड़ो रा पिव लागेजी प्यारा
कांई रे जबाब करो रसीया।।
को रसीयाजी म्हाने किन बिलमाया।
भो बडूडी रे जावतों ने लोड़ी बिलमाया।
माथा रो रस कस मैंमद लियो
मैंमद रो रस कस रखड़ी जो लियो
कांई रे जबाब करो रसीया।।

---

[1]छोटी।

(अनेक आभूषणों के उल्लेख के साथ गीत को बढ़ाया जाता है। वस्तुतः यह गीत मूलतः कहाँ का है, कहना कठिन है।)

"अबोलो"

(२१) जी सायबा, खेलन गई गणगोर
अबोली म्हांसे क्यों लियो जी-म्हारा। राज
जी सायबा, अबोले अबोले देवर जेठ
मारुजी रूस्या नी रसेजी-म्हारा राज
जी सायबा, एक चणा री दोय दाल
दोयन राखो सारखीजी-म्हारा राज
जी सायबा, पड़ गई रेसम गांठ
टुटे पण छुटे नहीं जी-म्हारा राज

"लपेटो"

(२२) माथा ने भम्मर घड़ावजोजी ढोला
टीका में लगर्‌यो डोरो रे
लपेटो रायचन्द ले गयो जी ढोला।
एक अरज म्हारी सुणजो जी ढोला
घड़ी दोय सहेल्या में मेलो रे
लपेटो रायचन्द ले गयो जी ढोला।

"बिन्दली"

(२३) माथा ने भम्मर घड़ाव होजी म्हारा
—सुनोजी म्हारा
खेलतड़ा बींदली गई हो रसिया
बिंदली बिंदली कई करो हो रसिया
बिंदली घड़ई दो दोय चार
होजी म्हारो, सुणोजी म्हारी
खेलतड़ा बिन्दली गई हो रसिया।

"गणगोर"

(२४) खेलण दो गणगोर, भंवर म्हने पूजन दो गणगोर
हो म्हारी सहेल्यां जोवे बाट
बिलाला म्हने पूजन दो गणगोर
मल पूजो गणगोर सुन्दरी

भल खेलो गरणगोर
हांजी म्हाने देवे लाड़न पूत
अंतर प्यारी भल पूजो गरणगोर[1] ।

(२५) म्हारी आयल बाजे—
म्हेलां चढ़ीतारे बिछिया बाजे ।
म्हारी चन्द्रगोरजा, रतनारा थांबा दीखे दूर से
म्हने आवे अचम्भो, लोढ़ा रा मेलां
साजन क्यों गया ।
म्हारी आयल बाजे—

"आरती"

(पूजा गीत—चैत और सावन दोनों में गाते हैं)

(२६) आज सूरज भल उग्यो, रंग रातो जी
दुनिया में हुआे है उजास, म्हादेव आरती जी
एक बरस का सूरज हुआ, रंग रातो जी
गोद्‌या में लई हलराव, म्हादेव आरती जी
दोय बरस का सूरज हुआ, रंग रातो जी
पालरणा में लई हलराव, म्हादेव आरती जी
तीन बरस का सूरज हुआ, रंग रातो जी
सेर्‌या में रमवा ने जाय, म्हादेव आरती जी
चार बरस का सूरज हुआ, रंग रातो जी
पाटी सी लई भंरणवा जाय, म्हादेव आरती जी
पांच बरस का सूरज हुआ, रंग रातोजी
बासक कागद मोकल्या, म्हादेव आरती जी
सूरज की सगई करांवा, रंग रातोजी
सुरणो हो हिमाजल देव, म्हादेव आरती जी

[1]राजस्थानी पाठान्तर :
खेलरण दो गरणगोर, भांवर म्हाने पूजरण दो गरणगोर
हांजी म्हांरी सईयां जोवे बाट
बिलाला म्हाने खेलरण दो गरणगोर ।

(आगामी पंक्तियों में आभूषरण का क्रमशः नाम लिया गया है । इस गीत को राजस्थान की सम्पत्ति माना जा सकता है ।)

हमारा गोरल बई नानेरा, रंग राती जी
सूरज की सगई मंडावां, म्हादेव आरती जी
नी म्हारे धन श्रो नी म्हारे दाय जी
कुंकु ने कन्या हाजर करां रंग रातोजी
नी म्हारे सूर्या गाय, म्हादेव आरती जी
दुनिया में हुई ऐसी रीत, रंग रातोजी ॥

"तंबोल"

(रात्रि के समय गाया जाता है)

(२७) माता कोर्‌या श्रो कोर्‌या, अम्मर चांदलो[1]
सोवे [1]वऊ रणु को लीलाड़
म्हारो चांदलो लागे सुवावणो
माता अखी[2] हो चूड़ो, अम्मर चांदलो
अखी हो ईस्वरजो को राज
म्हारो चांदलो लागे सुवावणो।

"तंबोल"

(२८) रणु बई रथ सिणगार्‌या, हो मासाजी।
हो फूफाजी।
तो को तो रभवा[3] ने जावां, हो मासाजी।
जाश्रो बाई, जावो बेन्या, रमी घर श्रावजो
(तो) नीर देखी ने बई माथो मती धोवजो।
चिकनी सिल्ला देखी ऐड़ी मती घिसजो।
(तो) तुलसा[4] रा क्यारा बई हाथ मती धोवजो।
पराया पुरस देखी हंसी मत करजो।
(तो) बाट छोड़ी ने उबट मती जावजो।

"तंबोल"

(२९) दोय डूंगर [5]बिच बाट, कां चाल्या रणुबई हरकताजी[6]
सासरे मेल्या दूर, पीयर चाल्या रणुबई हरकताजी
माता बई जोवे बाट, भोजायां ने थाल परोसी मेल्या जी
भोजायां जोवे बाट सेल्यां[7] ने खेल संजोई मेल्या जी
सेल्यां जोवे बाट वोराजी ने बूपच्या[8] संजोई मेल्याजी

[1]शोभित होता है, [2]अक्षय, [3]भ्रमण, [4]तुलसी, [5]पहाड़ी, [6]प्रसन्नतापूर्वक, [7]सहेलियां, [8]वस्त्र।

दोय डूंगर बिच बाट का चाल्या रणुबई अनमनाजी
पीयर मेल्या दूर, सासरे चाल्या रणुबई अनमनाजी
सासु जोवे बाट, जेठानी ने रसोयां संजोई मेल्याजी
जेठानी जोवे बाट, देराणी बासीदो[१] संजाई मेल्याजी
देराणी जोवे बाट, ननदल ने राड़[२] मचाई मेल्याजी ॥

(३०) सगला सातीड़ा[३] के चोरा[३] बिराजे
तो ईश्वर ने जटा बिराजे, हो सैया।
सगला सातीड़ा ने कंठी बिराजे
तो ईश्वर ने माला बिराजे, हो सैया।
जाओ रणुबई कूंके[५] नी आवता
तो जोगी जमई नी आवता, हो सैया।

"आणो" (तंबोल)

(३१) ईस्वरजी तम किना हो नखेतर[६] में
आया हो राज।
म्हारी सासुजी आया हो सावण मास
अबे आणो लई जावां जी।
ईस्वरजी, म्हारी गोरलबाई तो घणा हो नानेरा[७]
अबी आणो नी भेजां जी।
ईस्वरजी, म्हारी गोरलबई को माथो हो दुखे
अबी आणो नी भेजां जी।
म्हारी सासुबई, लावांगा अदवा-सदवा सूंठ
अबे आणो लई जावां जी।
ईस्वरजी म्हारी गोरलबई तो घणा हो निंदालू[८]
अबो आणो नी भेजां जी।
म्हारी सासुबई, पावे पावे ढोल्या[८] ढलावां[९]
अब आणो लई जावां जी।

"गूजरी" (तीज की)

(तीज की परिक्रमा के समय गाया जाता है)

(३२) तू तो धार नगर से आई हो-गूजर गिदोलनी।
तू तो ईश्वर जी की साली हो गूजर गिदोवली।

[१]जूठन, बास, [२]लड़ाई, [३]साथी, [४]जरी की पगड़ी, [५]कूंक-गर्भ [६]नक्षत्र, [७]छोटी, [८]निद्रा लेने वाली, [९]पलंग बिछावें।

(३३) ल्हारी सीस बगड़िया नारेल हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारी आंख लिंबू की फांक हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारी नाक सुआ केरी चोंच हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारो हयड़ो संचे ढल्यो हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारा हाथ चंपा केरी डाल हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारो पेट पीपल रो पाने हो-गूजर गिंदोलनी।
ल्हारा पांव देवल रो खंब हो-गूजर गिंदोलनी।[1]

"आरती"

(३४) कुकूं नारेला की आरती हो
तम पूजो गोरल बई गोर
गोर पूजी ने बर मांग जो हो
ईश्वरजी सरी का भरतार
राता सा घोड़े बी बेठ्या हो
उनका हाथ में लाल कबाण
रावल देवल सोवता हो
सब देवत में सिरदार

"चौमासा"

(३५) म्हारे हिवड़ा हंस घड़ाओ जी
म्हारे मन भर बरसन दोजी चोमासो
स्याले-स्याले आपकी, उन्हाले बापकी
चौमासे नानरिया खंदा दोजी
स्याले लाडूं सूंठ का
उनाले लाडूं गूंद का
चौमासे घेवरिया छटा दोजी
स्याले टीकी सुन्ना की
ऊनाले ठीकी रूपा की
चौमासे हिंगलू घुन्ना दोजी
स्याले चुनरी मोलावो
उनाले रूपारो पौमचो
चौमासे लेरियो रंगई दोजी

[1]पाठान्तर देखिये—निमाड़ी लोकगीत, पृष्ठ ४।

(३६)

सावन आयो म्हाराराज ।
सावन बरसे सेवरा,
भावो गेर गंभीर ।
कुण बीरो चाल्यो चाकरी ने
कुण बीरो गढ़ गुजरात ?
मोटो बीरो चाल्यो चाकरी ने
छोटो बीरो गढ़ गुजरात ।
कुण बीरो लायो चूनरी ने
कुण बीरो बलनी रो बीर ?
मोटो बीरो लायो चूनरी ने
छोटो बलनी रो बीर ।
कुण बेन्या ओढ़े चूनरी ने
कुण बेन्या बलनी रो बीर ?
मोटा बई पेरे चूनरी ने
छोटा बेन्या बलनी रो बीर ।

(३७)

म्हारो बीरो लेवाने आयो हो राज ।
जद म्हारो बीरो कांकड़ आयो
कांकड़ दूब हरियानी हो राज ।
जद म्हारो बीरो बांगा आयो,
मालन कुबला लुवाया हो राज
जद म्हारो बीरो सेरो आयो,
सुन्ना रा कलस धराया हो राज ।
जद म्हारो बीरा ने टीका काढ़्या
मोती अखत नाख्या हो राज ।

"करकसा नार"

(३८)

धन-धन रे पुरुष त्यारा भाग
करकसा नार मिली ॥
नवा कुआ को जल भर लायी
आवंरा दियो भुकाई ।
तीन लात चूला के मारी
फेर करी चतराई ॥

डांडो खेंच बलीण्डो बाल्यो
ओर सुपड़ा को खुंणियो ।
आदो डांडी चाटू की बली
तोनी सीजी हांडी ।
आवता पावण देखो के
चूलो दियो बुझाय ।
पांच जणी से वांता लागी
आटो कुतरो खाय ॥
आठ सेर का आठ पकाया
नो सेर को एक ।
ऊ मंगली आठी खई गये ।
फुलवन्ती को एक ॥
खराब रांड से फेरा फिरियो
ने बंड लोग में बासो ।
की गया कबीर दासा सुण भई सावो
किण बिद होवे घर बासो,
करकसा नार मिली ।

"मक्का की राबड़ी"

(३९) मालवा को प्यारो भोजन धन मक्का की राबड़ी
ले टोपली दलवा बैठी घटी घूजी बावड़ी-मालवा
हातो टूट्यो पाल्यो फूट्यो, कईं विचारी माकड़ी
कड़ी बेच खुंगाली बेची भेंस लाया बापड़ी-मालवा
सासूजी जद बोवण बेठ्या हांडी भरदी आवड़ी
चाटूजी जद चूटन लाग्या, खदबद बोली राबड़ी-मालवा
सासू-बऊ जद जोमन बेठी थाली लीनी राजगड़ी
बरफी सरका टुकड़ा जमग्या, कईं जेलेबी बापड़ी-मालवा
अस्सी बरस को डोकरो बोल्यो अच्छी लागे राबड़ी
आल्या-दिवाल्या सबी भरीद्या मूंडो तले ने जाबड़ी-मालवा

"निमाड़ी राबड़ी"

(४०) घणी मीठी लागे मकई की राबड़ी
झक् मारे जलेबी पूरी पापड़ी

सूपड़ा स झाड़ी-भूड़ी घट्टी में मचड़ी
टूट्यो खीलो फाटी माकड़ी-रे मीठी लाग
चालनी स चालई चुलई चूला प चढ़ाई
नीचे से लगई दुई लाकड़ी-रे घणी मीठी
चाटू स घालई चुलई थाली म निकलई
ऊपर से बंधी जी की पोपड़ी-रे घणी मीठी
बाई का लेवक बाल खेलन क चली गया
घई दुई न नानी खाण क बठी गई
खई खई न फूणी जसी सांडनी-रे घणी मीठी
बाई को सुवामी बारो मारो लण चली ग्यो
एकली तन मन से भीड़ी पड़ी बापड़ी-रे घणी मीठी
राबड़ो खात खात सुवामीजी न देखी लियो
बाई तो समझी अबे मार मार से
असी कोरा कामकी भूगीजी की थोबड़ी-रे घणी मीठी
चार पयर बई न कर्‌यो बिसराम
मार की बोक चमक बठी गी
मूती मूती न भींजी गोबड़ी-रे घणी मीठी

बड़वाह (निमाड़)

(४१) आभू खाय मझंरी बालम छोटो।
माथा ने भम्मर घड़ावा रसिया
एजी टीका रोरे म्हारे कई टोटो ॥१॥
हमरा ससराजी के काय को टोटो
घर बिन्दली ने बालम छोटो ॥२॥
म्हारा काना ने झालज घड़ावो रसिया।
एजी झुमणा रोरे म्हारे कई टोटो ॥३।
हमारा जेठी के काय को टोटो
घर बिन्दली ने बालम छोटो ॥४॥
गला ने गलसन घड़ाओ रसिया।
एजी माला रोरे म्हारे कई टोटो ॥५॥
हमारा देवरजी के काय को टोटो।
घर बिन्दली ने बालम छोटो ॥६॥
बैया ने बाजूबंद घड़ाव रसिया।
एजी झबिया रोरे म्हारे कई टोटो ॥७॥

हमारा नन्दोई जी के काय को टोटो
घर बिन्दली ने बालम छोटो ॥८॥
म्हारा पगल्या ने तोड़ा घड़ावो रसिया
एजी बिन्दिया रोरे म्हारे कई टोटो ॥

(४२) देखोजी सावलिया म्हने भूली मती जाजो,
बिना भगती के म्हारे, तारो हो राम ॥
कथा सुनू तो म्हारा कान घणा दूखे
निन्दा सुणवा में मन राजी हो राम ॥१॥
भजन करूं तो म्हारो मूंडो घणो दूखे
धरम करूं तो म्हारा हात घणा दूखे
चोरी करवां से मन राजी हो राम ॥३॥
ग्यारस करूं तो म्हारे भूख घणी लागे
गांकर सूं मन राजी हो राम ॥४॥
तीरथ करूं तो म्हारा पांव घणा दूखे
घर घर से फिरवा से राजी हो राम ॥५॥
सुणो हो गिरधारी भूली मती जाजो
बिना भगती के म्हारे तारो राम ॥

"ओढ़नी"

(४३) ठंडी राते आया कृष्णजी, राधेजी ने ओढ़नी री खांत,
कृष्णजी लई दो ओढ़नी जी ।
गेल्यो हो राधेजी तम बावला, म्हारे सोले से नार
कां से लई दां ओढ़नी जी ।
भली हो जिबई म्हारी, मायने जन्मी ने दियो क्योनी फेर
भली हो परणई म्हारा बाप ने, बर मिल्या गायां रा गुवाल
इतरो तो सुणी कृष्ण रिस भर्‌या
गया हाट बजार-कृष्ण०
हेड़ो हेड़ो हो बजाज ओढ़नी, हमने हे ओढ़नी रो चाव
कृष्णजी मोलावे ओढ़नी ।
ओढ़नी रा लागे रुपया डेढ़ सो, मोरां लागे पचास,
कृष्णजी मोलावे ओढ़नी ।
ओढ़नी रा देस्या रुपया डेढ़ से, मोरांरो अन्त न पार,
कृष्णजी मोलावे ओढ़नी ।

चारी पल्ले हो कृष्णजी हीरा जड़्या बीच माय मोती केरा फूल
कृष्णजी मोलावे ओड़नी ।
ओड़नी तो लई कृष्ण घर आया, ओड़ा राधेजी नार,
कृष्ण लाया ओड़नी जी ।
भली वो जिवई म्हारी माडूली, बर मिल्या राज दरबार,
कृष्णजी लाया ओड़नो ।
भली हो परणई म्हारा बाप ने, बर मिल्या कृष्ण भगवान ।
कृष्णजी लाया ओड़नी ।
गावे गवावे, गंगा न्हावसी सुणिया ना पछताता जाय
कृष्णजी लाया ओड़नी ।
कुंवारी जो गावे अछोवर पावसी, परणी पुत्र खेलाव
कृष्णजी लाया ओड़नी ।
बूढ़ी जो गावे गंगा न्हाव सी, एवाती रो अखण्डा एवात
कृष्णजी लाया ओड़नी ।

लोकोन्मुखी संतपरक लोकगीत

संग्रह संख्या (सात)

"बनजारी"

(१) लियो पिया को नाम हो, ए आई बनजारी मैं तो नाम की ।
सुन्न-सागर में घरी हमारो, त्रिकुटी माय दुकानजी
साधु-संत वां सोदा आया, सत लाया अनमोल ॥१॥
तन तमारो ताकड़ी, मन हमारो सेर
सुरत-नुरत की डांडी हात में, तौलन को कई फेर ॥२॥
भवसागर एक नदी बहत है, लख चौतीसी धार जी ।
नुगरा नर तो बही गया ने संत उतरग्या पार जी ॥
रामानन्द का म्हने कबीरा, किन बिद उतरो पार ।
बोलता पुरख की सेवा करलो, बिरला उतरग्या पार हो ॥
आई बनजारी मैं तो नाम की ॥

(इन्दौर '५६)

"चुंदड़ी"

(२) नव महना भ हुई तय्यार रे, चुंदड़ी बड़ी अनमोल रे
पियर भ पेरी-ओढ़ि मगन रही मन भ
रह्यो माया को नशो म्हारा मन भ ।टेक॥
माया म भूली गई सासरा को ध्यान रे
आगु लेगाख आया मिजवान रे ॥टेक॥
न्हाई धोई न करी तय्यार रे
म्हारा लाकड़ा को घोड़ी ऊबी आंगण ॥टेक॥
चार बराती लई न चाल्या
खूब कर्‌यो वो मिलाप रे ॥टेक॥

पाछी स रड़ पीयर का लोग रे
लीजे सौवन चुंवड़ी ग्रोढ़ी रे ।।

(निमाड़)

(३) कासे लायो ग्यान ध्यान ने कासे लायो बाणी
किनका धरिया ध्यान अगम रहने कैसे जाणो
संत बड़ा सो जान बात कोई बिरला जाणी
बूजे बिरला संत नाम की रोपी वो निसाणी ।।टेक।।
गौरा से लागो ग्यान ध्यान रे परा से लायो बाणी
मूंवरा धरिया ध्यान अगम म्हन उनमुन से जाणी
रेवी घरे चंदा, चंदा घरे सूरज, जि घर के रण जगाणी
हिलमिल जलती जोत, घोरे वां डंका निसाणी ।।
कौन देश का हंसा कहिये, कई दो रे सेवाणी
कई गया रे, सायब कबीर, गति कोई बिरला जाणी ।।

(कस्तूरबा ग्राम)

(४) एरण ऊपर एरण धमके, सुरत संढासी जड़ाई
पांचो प्रकार बल घड़वाने लागा, लुवा ने ताव देवाई
ऐसी धुंध लागी रे भाई, एक अखंड नज धारां ।।
तन की तोप, मनछा की दारू, ज्ञान की गजल ठेराई
ज्ञान का गोला भरवाने लागा, भरम की बुरज उड़ाई ।।
सत का सेल म्हारा गरु ने भेज्या, किण बिद झेलो लड़ाई
किला भरम का जुगत से तोड़ो, नवखंड फिरे दुवाई
सत का प्याला म्हारा गरुजी ने भेज्या, भर-भर पियो
म्हारा भाई ।
पीयो पियाला होवे उजाला, तन मन दीखे म्हारो सांई ।।
गरु कबीर साहब दया तमारी, मै मूरख गम पाई
रामानन्दजी का सरणा में आया तो निरभै हरिगुण गाई ।।

(क० ग्राम)

(५) मैं सबद कहूं निवाणी सुण लो ज्ञानी ।
लौ लगी कुए के अन्दर जलता पाणी ।
एक कुए के अन्दर छायी वेल कमल की अंकुर भूल ।
मछली को लग गई आग खायगी गिरणी ।।

बियाबान जंगल में कुआ गहरा
वां निपजै माणिक मोती लाल और हीरा ।।
एक लाल लेने को आया था बणजारा
बादल में लग गई आग सोच करे बिचारा ।।
एक बियाबान जंगल में तपसी तापे अंबर भूला
जल गई रे गोदड़ी तपसी सोटा भूला ।।
एक बियाबान जंगल में झाड़ी गहरी
कमर में रह गया दस्ता चली कुराड़ी ।।
सब देवन में देव बलधारी
म्हारो रामो राजकुमार आप अवतारी ।।
(क० ग्राम)

(६) काया नगर में हार हीरारा
सिव-सक्ती सोचे आया
तन मन में बाबा तू ही निरंजन
जठे देखूँ वठे तूई रे तूई
तेरे है पार बिरला पाया ।। टेक ।।
प्रेम दलाली म्हारा परखण आया
नरक परख वारो रंग लाया ।। टेक ।।
अदर गलीचे म्हांरा सत गुरू बैठ्या
भाव पलटवारो रंग लाया
गुरूजी का सरने गोरख जती बोल्या ।।

'तन मांजणो'

(७) कंई तन मांजणो रे,
एक दन माटी में मिल जाणो ।
छेला बणी ने चल्या बाग में,
धर पगड़ो में फूल ।
लाग्या तमाचा मौत का रे—
गया चौकड़ी भूल ।
कंई तन मांजणों रे—
जब लग तेल दिया में बाती
जगमग जगमग होय
चुकी गयो तेल खतम हुई बाती

लई चलो लई चलो होय
कंई तन मांजणो रे—
हाड़ बले जैसे सूकी लाकड़ी
केस जले जैसे घांस
कंचन काया यूं बले
कोई नी आवे पास
कंई तन मांजणो रे—
घर की तिरिया झुरमुर रोवे
बिछड़ी म्हारी जोड़ी ।
प्रभुदासजी यूं उठ बोल्या
जिन जोड़ी तिन तोड़ी ॥
कंई तन मांजणो रे—

'पालनो' (सिंगाजी)

(८) झुलनो बांध्यो म्हारी माता गोर का बार ।
सिंघाजी पालणा झूली र्‌या ।
तो बाबा कायन जनम लिया
गरू म्हारा कायन लिया अवतार
सिंघाजी पालणा झूली र्‌या ।
तो बाबा एकदासी का जनम लिया
दुवादसी लियो अवतार
तो बाबा कायन केरा पालना
कायन लागा लम्बा डोर
बाबा अगर चन्दन का पालना
रेशम लाग्या लम्बा डोर
बाबा दलुपति जाकी बिनती
गरू म्हारा राखो सरणा धार ।

(९) लागी होय सो जाणजो, म्हारा भाई ।
लागी होय सो जाण जो ।
मारग माय एक घायल घूमे
घाव नजर नहीं आवे ।
ज्ञान कंठा पेरी ने बैठा,
हिरदा में काल जमाई ।

अंका ने लागी, बंका ने लागी
लागी सजन कसाई।
बलक बुकारा ने ऐसी लागी,
छोड़ चले बावसाई ।।
ध्रुव ने लागी, प्रह्लाद ने लागी
लागी मीरा बाई।
गोपीचन्द भरथरी ने ऐसी लागी,
तन पे भभूत रमाई ।।
कहे मछन्दर सुणो हो गोरख
सुन्न में धजा फेराई ।।
लागी होय सो जानजो म्हारा भाई
लागी होय सो जान जो ।।
(नाथ बाबा, देवास)

(१०) गुरु पैया लागू, नाम लिखाय दीजो रे।
करू बंदगी सबद सुनाई दीजो रे।
बहुत दिना से म्हारो मनवो हैरानो,
सबदारी जोत जगाई दीजो रे।
बाहर जाऊं आंगनो ना दिखे,
हिरदा में दिवलो लगाई दीजो रे।
माथा बोझ सिल्ला जू लागे
पल में पार लगाई दीजो रे।
धरमदास अरज गुसाईं
हंसा रा बंद छुड़ाई दीजो रे।
(नाथ बाबा, देवास)

"हेली"

(११) हेली म्हारी, बार-बार समझाऊं
यो अवसर फिर नहीं आवसी।
करले सोले सिनगार म्हारी लाड़ली,
मनक जमारो फेर नहीं आवसी ।।
हेली म्हारी, संग रा साथीड़ा उठ चल्या अधरात
कण से करू ओलखाण म्हारी हेली
म्हारी मेहरम रो साधू नहीं मिल्यो ।।

हेली म्हारी करले सोले सिनगार
दिन रईग्यो थोड़ो
धन घड़ी धन भाग,
संत आया पामणा ।।
कांई करूं कुरबान,
तन करूं कुरबान, यो अवसर फिर नहीं आवसी
कड़वी बेलारी कड़वी तुमड़ी, करणबद मीठी होय
आवे सदगुरु, सबदा से मीठी बाबणे,
पाई रूपा की गौड़तो सुणजो चित्त लगाय ।।

"आणो"

(१२) आणो आयो रे परिब्रह्म को
अरे सासरिया को जाणो—
आणो आयो रे परिब्रह्म को ।
चालो म्हारी सांत की सई होंण
अरे आपण न्हावण जावा
अरे बेगा मंदर सिधारां
आणो आयो रे परिब्रह्म को ।
चालो म्हारी सांत की सई होंण
अरे अपण माथो गुथावां
अरे अपण गूथ्यां ने कंई गूंथ्या
अरे मोत्या मांग पुरावां
आणो आयो रे परिब्रह्म को ।
चालो म्हारी सांत की सई होंण
अरे खासी बाग लगाई
चम्पा चमेली बोय मोगरो
अरे खासो गजरो बणायो
आणो आयो रे परिब्रह्म को ।
चालो म्हारी सांत की सई होंण
अरे खासी चोली सिवाड़ी
कई रे सिव्या रे कई सिवणा
अरे देवा अंग लगाई
आणो आयो रे परिब्रह्म को ।

"हालरो"

(१३) सोंहं बालो हालरो

अरे जाकी निरमल जोत

सोहं बालो हालरो—

कि सबद घात को पालणों

अरे पाट्या तीन सौ साठ

ऐसा खिल जड़ाव कि जापे ठड़ियो ठाट

सोहं बालो हालरो—

आगासी झुलबाला बांधियो

अरे लागी तिरवेणी डोर

अरे जुगत से झूला चलाविया

हेंच्या 'मनरंग' मोर

सोहं बालो हालरो—

नहिं रे बालूड़ा या सोवतो नहिं जागतो

अरे नहिं जाया रे दूध

सदा रे सिव जाकी संग में

अरे खेले वाजारूण को पूत

सोहं बालो हालरो—

अणहद घुंघरू बाजिया

आज मांग्या छ मेव

अरे सुरता करो हो विचार

अष्ठ कमल जिया दल चढ्या

लागा सांकल डोर

सोहं बालो हालरो—

नदी सुक्ता का घाट प

अरे बैठ्या ध्यान लगाय

आवत देख्या हो पिंजरा

अरे लिया गोद उठाय

सोहं बालो हालरो—

(१४) म्हारो जलम न दूजी बार,

ओ म्हारी प्रेम सुहागण अन्तरी

काया ओ कलस कुम्हार को

कई घड़िया ते मुड़ी-मुड़ी जाय

अरे कंई रे भरोसो इनी माटी को
ऐसो फोकट फेरा खाय— म्हारो०
अरे ससरो संबागी ओ संग भयो
पांचो देवर म्हारी लार
पठ में बसे ओ ननदल मोहेली
ते कारण छोड़्या भरतार—म्हारो०
अरे प्राण गयो ओ काया तू न गयो
तू छे निपट गिंवार
अरे भट रे मुंडी म्हारा गुण नाहिं—म्हारो०
पांव बंध्या मीरा घुंघरू
हाथ लीबी करताल
अरे दास कबीरा जाको बिनती
ऐसा मिल्या हरी का दास—म्हारो

(१५) नुगरी हो म्हारा कंई जस गाऊं
महल बण्यो जिवड़ा रेहण पायो रे
पेरत अंग संवारत पागा
संवारत पागा रे
एक दन मास बटेगो म्हारो कागारे—
कायो सुपारी न चावत बिड़िया
चावत बिड़िया रे
एक दन मुख में जायगी किड़िया रे
पानी का बुन्द स यो पिन्डा पाल्यो
यो पिन्डा पाल्यो रे
एक दन या जंगल बिच राल्यो रे
कहत कबीरा सुणो मन म्हारा
सुणो मन म्हारा रे
एक दन हाल बेहाल हो जायगा म्हारा रे।

(१६) म्हारा हंसा रे
लोभी जिवड़ा रे
काया री बाड़ी मेली मती जाओ।
हंसा तू रे अपुरब आवा दोय जणा
अब अंत अकेला क्यों जावा रे—
म्हारा हंसा रे—

हंसा तू रे अपुरण पिया दूध रे
अब जाता पियो तम नीर रे
हंसा माय बाप सेव्या दोय जणा
अब माय बाप छोड़ी क्यों जाता रे
हंसा यही रे बिनती। धरमादास की
तम राखो चरणाधार।

(१७) यो जीव पावणो रे, राख्या से नी रेवे
सुगणा सायब म्हन मेलो नक जाय रे
वागो सिवाडूँ रहारा जरकसी
माथे कसूमल पाग
भरी सभा में जई बैठो रे
असा गावत छतीस राग—सुगणा ।।
खांड सुवाड़ी गुड़ लापसी
घेवर रे करूँ पकवान
घीऊं तपाऊँ अकारा
और खारा परसूँ अचार—सुगणा ।।
ऊँची अटारी मालिया रे फूँला चुनी सेज
झूला झुलाऊं ने पंखा डोलँ वीर
बार-बार रहारी बिन्ती करूँ रे
म्हाके संग लई चाल
दास धरमी की या बिनती
रखजो चरणा लगाय—सुगणा ।।

(१८) मन रे मान्धाता बिच जई रहयो
माया जाण न देवे।
पचमड़ी पांडो बसे
पांचो करे असनान।
छतीस मूरत जां रमी रहया
बोका अम्मर नाम।
आसी बड़ जीव जाणजी
बाकी सीतल छाया।
जां रे मादेव तप प बठ्या
ओकी अगण्या बुझाय।
गढ़ प हाथी जोलिया
गड़ प माड्यो छ रोल।

अबीर कुंकू यहां सी निसर्‌या
गड़ प हुई बगा बोल।
रेवा कँवरे क्यऊँ झरमले
जिन घर कपला हो गाय
गऊ मुख अमरत वो झरे
झरे गंगा माय।
अणहद बाजा बाजिया
सतगुरु दरबार।
सयना भगत म्हारी बिनती
राखो सरण लगाय॥

(१९) दुख सुख तन मनी लावणा
रघुनाथ न लिखाया
कोई टाल्या नई टले।
नल वो सरीका राज बई
जिन घर दमिता हो राणी
चोश्र लई बाज हो ले गई
मछ कूदे जल पाणी।
हरिचन्द सरीका राजवई
जिन घर तारामती राणी
अपणा हो सत के कारणे
भरे डोम घर पाणी।
सीता सरकला सतवंती
जिनका रामचन्दर स्वामी
रावण हरि ले गई
सुन्दर बिलखाणी।
महाबीर सरीखा महाबली
सीता की सोध लगाई
सनीचर मरवन होर्‌या
पाय तेल लंगोटा
अणहद बाजा बाजिया
सतगुरु दरबार,
सयना भगत म्हारी बिनती, राखो सरण लगाय।

(२०) निरगुण धाम सिंगाजी, म्हारी अखंड पूजा लागी।
अखंड जोत भरपूर जहं, झिलमिल बरसे नूर।

जो बल ज्ञान महासूर जी, पांचे बिरला सूर ।
गुरू गयन की महिमा जागी ।।
अकर मकर बैपार जां, निरंकार अधिकार ।
जां सोई सबद इकतरा जां, आद अंत आंकार ।
दरसन पावो भागी ।।
तम तन काया को खोजो, खोजे बिन कैसे सूजे
जग मारग पाया सूधा, जद निरंकार को पूजे
माया-ममता भरमणा त्यागी ।।
सुफल कमल के माहीं जां, अणहद नाद बजाई ।
बाबा सिंगाजी रम र्‌ह्या जां मिटे करम की ।
निरगुण की माया गाई ।।

(२१) क्रोधानल कां से आयो
दुष्ट म्हाने क्रोधानल कां से आयो
म्हने हात को हीरो धन गंमायो
दुष्ट म्हाने हाथ को धन गंमाया—

(२२) सतीयारा डेरा हवा बाग में
कणिपत सेंवा हिंगलाग
बावड़ लोने बीड़ो पान को······
कणिपत मेल्या सासू-सूसरा, है म्हारी सतियार
कणिपत मेल्या मायन-बाप, हो मोटा का जाया
बावड़ लोने बीड़ो पान को······
हांसत मेल्या सासू-सूसरा, रोयत मेल्या मायन-बाप
मोटा का जाया बावड़ लोने बीड़ो पान को······
कणियारी घसी अम्मर पाल, हे म्हारी सतियार
बावड़ लोने बीड़ो पान को······
सज नारी घसी अम्मर पाल, मोटा का जाया
बावड़ लोने बीड़ो पान को······
कणिपत मेल्या ऊंडा ओवरा, कणिपत मेली सूरजपोल
मोटा का जाया—
कणिपत मेल्या देवर-जेठ, कणिपत मेल्या नाना बालूड़ा
मोटा का जाया—
अरे घोड़े चढ़ी ने बाग मरोड़ी, म्हारी सतियार
कणिपत सेवी हिंगलाज, मोटा का जाया
बावड़ लोने बीड़ो पान को—

कुमार गन्धर्व द्वारा तैयार की गई मालवी गीतों की कुछ स्वर-तालिकाएँ

१

'मामेरा'

रे बोरा सबके पैला नोतो भेजो
    प्रभुरो क्यो आयो
ओ बैन्या म्हारा नखराली भावज
मांथो न्हायो, छांवले बैठ सुखायो
हाथा माथ कांगसी, नवरंग नाड़ा,
सीस गुंथाया ने चालो
चार जनी मिल चट्यो टाल्यो
पांच जनी मिल गूंथ्यो
बारे बेड़ा से पगल्या धोया
पनघट रेलो आयो
जब छुन्द गाली ने गाड़ी में बैठी
जब म्हने घोरी हांक्या।

ताल : दादरा

साख री ग री	री म म ग	री सा री ग री
रे बी ऽ रा	स ब का ऽ	पै ऽ ला ऽ ऽ
०	×	०
सा सा री नि —	सा री ग री	री म म ग
नो ऽ तो ऽ	भे जो ऽ ऽ	प्र ऽ भू ऽ
×	०	×
री सा री ग —	री सा सा —	
रो ऽ क्यो ऽ	आ ऽ यो ऽ	

२

'गंगाजी'

या मटकी सोरम जी से भरी है
या मटकी गंगाजी से भरी है
भरत भरत लागो तड़को
म्हारो हार टूटो नवसर को —
हार के कारण देवर लड़त है
जेठ लड़े म्हारा घरको
म्हारो हार टूटो नवसर को—
हार के कारण सासू लड़त है
सायब लड़े म्हारा मनको
म्हारो हार टूटो नवसर को—

म प — या ऽ ऽ	नि— –नि— म ऽ ट ऽ	सा — — की ऽ ऽ	सा—सा—सा सो ऽ र ऽ म
×	०	×	०
नि सा— जी ऽ ऽ	री—सा— से ऽ ऽ ऽ	नि सा — भ ऽ री	नि —ध— है ऽ ऽ ऽ
या ऽ ऽ गा ऽ ऽ	म ऽ ट ऽ जी ऽ से ऽ	की ऽ ऽ भ री ऽ	गं ऽ ऽ ऽ है ऽ ऽ ऽ
			सा
ग ग — भ र ऽ	ग— ग — त ऽ भ ऽ	री ग—री र त ऽ ऽ	नि—सा — ला ऽ गो ऽ
नि सा— त ड़ ऽ	री ग म ग को ऽ ऽ ऽ	म— — ऽ ऽ ऽ	ग —री — म्हा ऽ रो ऽ
			प
नि सा— हा ऽ ऽ	ग —री — र ऽ टू ऽ	नि सा — टो ऽ ऽ	नि— ध ध — ना ऽ ऽ ऽ ऽ
नि नि — स र ऽ	सा — — — को ऽ ऽ ऽ	— — —	— — —

३

'तीज'

दल रे बादल बिच चमके तारो
तो साँझ पड़े पिउ लागेजी प्यारो।
कईं रे जुवाब करूं रसिया से
जो करूंगी जुवाब करूंगी
तो रसिया रा मेला में रीज रहूंगी
कईं रे जुवाब करूं रसिया से···

साल मात्रा—धुन

री री —	म — म प	प ध म	प — प —
द ल ऽ	रे ऽ बा ऽ	द ल ऽ	बी ऽ च ऽ
प ध —	प ध म —	म प —	प — ध —
च म ऽ	क्यों ऽ है ऽ	ता ऽ ऽ	ता ऽ रो ऽ
×		×	०
प — —	ध — ध —	ध — —	नि — ध —
साँ ऽ ऽ	झं ऽ प ऽ	ड़े ऽ ऽ	पी ऽ उ ऽ
प — —	ध — सां —	नि — —	ध — — —
ला ऽ ऽ	गे ऽ ऽ ऽ	प्या ऽ ऽ	रो ऽ ऽ ऽ
नि — —	ध — म —	प नि —	ध — म —
कईं ऽ ऽ	रे ऽ ऽ ऽ	बा ऽ ऽ	बे ऽ क ऽ
प नि —	ध — म —	म — प —	प — — —
रू ऽ ऽ	र ऽ सि ऽ	या ऽ ऽ ऽ	से ऽ ऽ ऽ

४

'संजा'

संजा तो मांगे हर्‌यो हर्‌यो गोबर
कासे लऊं बई हर्‌यो हर्‌यो गोबर
म्हारा बिराजो गवली घरे जाय
ले श्रो संजा हर्‌यो हर्‌यो गोबर
(इत्यादि)

ध सा सा री | ग म ग री | री ग री सा
सं ऽ जा तो | मां ऽ गे ऽ | ह र्‌यो ह र्‌यो

सा—सा ध |
गौ ऽ ब र |
०

ध सा सा री | ग म ग री | री ग री सा
कां ऽ से ल | ऊं ऽ ब ई | ह र्‌यो ह र्‌यो
× | ० | ×

सा—सा ध | ध सा—री | ग म ग री
गो ऽ ब र | म्हा रा ऽ बि | रा ऽ जी ऽ

री ग री सा | सा— —ध | ध सा सा री
गव ली घ रे | जा ऽ ऽ य | लै ऽ वो ऽ

ग म ग री | री ग री सा | सा—सा ध
सं ऽ जा ऽ | ह र्‌यो ह र्‌यो | गौ ऽ ब र

●

५

'संजा'

संजा बई का सासरे जावांगा
खाटो रोटो खावांगा

सा सा सा री सा सा ध | सा रा
सं जा बई का सा स रे | जा वां

सा री ग | री सा री ग
गा ऽ ऽ | खा टो रो टो

सी सा सा— |
खा वां गा ऽ |

●

माच की प्रमुख धुन

बोल : पियुजी हमारा छैला
पियुजी गयारे परदेस
भरे जाजम कां तो बिछावां जी...

स्वर-तालिका

नि नि नि नि नि | सा | सा सा रे सा नी सा सा
पि यु ऽ जी ऽ | हृ | मा ऽ रा ढ़े ऽ ला ऽ

ध नी ध ऽ प म | ग म ग रे सा ग म ग म
पि यु ऽ ऽ जी हृ | मा ऽ ऽ रा ऽ पि यु जी ग

रे रे रे रे ग रे ग म | प प प प
या ऽ ऽ रे ऽ ऽ प र | दे ऽ ऽ स

सा ग रे | सा रे सा नी ध नी ध प ध प
अ रे ऽ | जा ऽ ऽ अ म ऽ ऽ का ऽ ऽ

प ध म प म ग | ग म ग रे सा रे
ऽ ऽ जी ऽ ऽ बि | आ वां ऽ ऽ ऽ ऽ

सा सा सा सा
जी ऽ ऽ ऽ

कुमार गन्धर्व द्वारा प्रस्तुत[1] लोकधुन का राग विस्तार

लोकधुन

री म म म प प प —। म प म ग री —म प—

। म प म ग री -, — — —। सा री प म म ग री—।

ग ग ग ग

री री सा री ग री —सा सा, ग। री री

ध

सा री ग री सा सा —। सा सा सा री म म म

ग ग ग

ग—। री री सा री ग री—सा सा ग।

ग ग

री री सा री ग री —सा सा—।।

उक्त स्वर-रचना झूले के एक गीत की धुन की है। अब उक्त लोकधुन से जो राग निर्मित होता है, उसका स्वरूप इस प्रकार है—

सीधा आरोह-अवरोह

सा ग म प म ध नि सां। सा ध नि प

ध म प ग म री ग सा।

रागयुक्त आरोह—अवरोह

सा ग री सा नि, सा ग म प,

म ध प म प म ग म ध नि सा।

सा ध नि प ध म ध प ध प म ग

म प ग म री सा।।

शास्त्र

इस धुन प्रमाण राग में दोनों गंधार, दोनों धैवत और दोनों निषाद लगते हैं। इसका आरोह-अवरोह स्वरूप वक्र है। अवरोह पूर्ण वक्र है। सा ग री सा नि, सा ग म प इस टुकड़े के प्रयोग से यह राग एक अस्तित्व रखता है। शुद्ध

[1]'भारतीय संगीत का मूलाधार (लोक संगीत') सम्मेलन पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक, २०१० वि०, पृ० ३११-३१८।

गंधार वादी होकर, संवादी शुद्ध धैवत है। तीव्र निषाद का प्रयोग ग री सा नि सा इस टुकड़े के साथ बहुत ही सुन्दर लगता है, मगर आरोह-अवरोह में उसका उपयोग ठीक नहीं। वादी गंधार होकर भी पंचम स्वर पर न्यास एक वैचित्र्य निर्माण करता है। उसे अवश्य करना चाहिये जिससे राग की हानि नहीं पहुँचती। इस राग का गाने का समय रात्रि का है, जिसकी आत्मा (पकड़) निम्न स्वर-रचना से स्पष्ट होती है—

सा ग री सा नी सा ग
म ध प म ग, म री ग सा।

राग विस्तार :

सा—, ग री सा नि सा—, । सा ग — —, म प म, प ग— —, म री ग सा। ग री सा ।। सा ग म प—। म ध प म ग— —। म री ग सा, ग री सा नि सा—। ग म प— —, म ग—। म ध नि प — —। ध म प ग— —। म ध प म ग— —। म प ग म री ग सा, ग री सा ।। सा ग म ध प म ग— —। म ध नि प, ध म प—, म ध प म प म ग— —। म प ग म री ग सा, ग री सा ।। म ध नि सा। नि री सा नि ध—। नि सा ध नि प, ध प म ग— —। म प ग म री ग सा, ग री सा नि सा ।। म ध प म प म ग— —। म ध नि सां। ध नि प—, ध म प म ग—, ग प ग म री ग सा—ग री सा। नि—री सा ।। सा ग म ध प म ग, म ध नि सां ध, नि प, ध ग प ग म री ग सा, ग री सा नि सा ।।

मालवी के रूप

'रतलामी' मालवी

'अणी हिन्दुस्तान में ज्यादातर खेती ही सब लोग करे है, और यो देश खेती ही को देश है। अणी देश का किसान आपणी खेती भगवान का भरोसा पर रखे है। अणी वास्ते जद कदी कम पाणी बरसे या कदी पाणी बरसे ही नीं तो काल पड़वा सरीखो मौको हो जावे है। पुराणा जमाना में अणी समय में राजा लोगां को राज थो तो वी लोग भी आपणा लोगां के सुख और आपणा लोगां में कंई दुख-दरद है उणके अठी कई तरह से सान-संवार नीं करता था। पण जदी अणी देश को राज आपणा लोगां के हाथ में आ गयो, जद आपणी ही सरकार ने आपां में कई दुख-दरद हाई रया है, ईणा सब दुख-दरद मिटावा वास्ते निगाह दौड़ाई, पाँच बरस में आपां-लोगों को दुख-दरद जेसू पाणी की कोताई धान की कम पैदावारी और भी कई बातों को दुख मिट जावे अणी तरह की बात ठहराई व आपणा लोगां वा बात बताई, अणी बात में चम्बल नद सुं कई-कई और कणी-कणी तरह सुं फायदो हो सकेगा वो खास करीने बतायो। चांबल नद सुं अणी मालवा की व साथ-साथ मारवाड़, मेवाड़ का लोगों की खेती और नरी बाता की उन्नति होगा।'

'मन्दसौरी' मालवी

'बात-की-बात ने करामात-की-करामत ने बौड़ी को कांटो अठारा हाथ। वणीं कांटा पर एक कोड़ी बैठा। वा कोड़ी ब्याणो। वणीं के एक ऊँट व्यो। उ ऊँट असो व्यो के वणीं के ठाकुरजी ने पगनी बणाया। पण वणीं की गर्दन अतरी लाम्बी की दी के उ लक्षमण झूला तो गर्दन लम्बी करे तो रामेशवरजी रू'कड़ा खाई जा।

एक दिन वणी ऊँट ने भूक लागी तो वणी ने गर्दन लम्बी कोदी ने रामेशरजी के राजा का बाग का नाम रू'कड़ा का पत्ता खाड्यो। अबे रामेशरजी का राजा ने चौकी पैरा बाग में बेठाड्या ने अणी चोर को पतो लगाड्यो पण ऊँट हाते नी आयो। फिर एक दिन फेर वणीं ने गर्दन लम्बी की दी। तो एक सपाई ने गर्दन पकड़ी ली दी। अबे ऊँट दरप्या ने पाछी गरदन छोटी की दी तो उ सपाई भी गर्दन के हाते लक्षमण झूला में आड्यो। अबे उ सपाई घबराणो ने ऊँट तो क्यों के हे ऊँट राजा मूँथारो कई नी बगाड़ूगा मने थू फेर रामेशरजी मे मौकली दे ने थारी एक निशानी मने दयं दे। ऊँट ने वाको फाड़योन एक तल काडी ने दी दो और कयो के अणी तल ने थारा राजा के दाजे और अणी ने बारा ने बारा चौबीस कोस का घेरा में बावजे तो अणी तल का फल बहु

जागा। वणीं शपाई ने फेर वा गर्दन पकड़ी ने उ पाछो वणी के गाम में आइग्यो। फेर वणीं ने राजा ती क्यो के राजाशा राजाशा फरयाद है। तो राजा बोल्यो के कई बात है चोर पकड़ाणा के कौनी तो फेर शपाई ने ऊँट की बात की ने उ तल राजा ने दी दो। राजा ने बारा-बारा चौबीस कोश का घेरा में उ तल वायो। उनारा दना में वणी तल का रुंकड़ा कैणीदे हाथी बँधवा लागा।'

'आदर्श मालवी'

'काल कुंवार सुदी पाँच का दन आपकी चिट्ठी म्हारे मिली। बाँची ने गद-गद हुई ग्यो ने जदे मालूम पड़ी कि अरे यो तो कवि सम्मेलन को नेवती है। अबे क्यों म्हारा से केवाडो ग्रांदा के जणे आँख मिली ने भय्या पर कट्या पंछी से पाँख मिली।'

यो जाणी ने कि यो जोग नरा दन में आयो है··· अने ऊ भी फिर अवन्तिका में—म्हारो हिरदो खूब हरक्यो है साँचो श्याम तमारा प्रेम के म्हने अबे परख्यो है।

भय्या, जरूर अऊँगा। बजाते ने गाते-गाते दर्शन करूँगा भलई अई ने माथे-माथे। कई करूँ कलम बन्द नी होती—पण म्हारो बेबखत को बेकणो तमारा बखत की बरवादी नी करे वास्ते यांज कलम बन्द करी रियो हूँ······'

मालवी के अन्य उदाहरण

(क) 'म्हने पेतॉलीज मालवी ती मोह थी। पण जद से आपरा मराकरया-गीद री पौथी देखी म्हने और बी बड़ावा मिल्यो नी मालवी नी सेवा करवाने म्हरो मन बड़्यो।

मालवी ना लेख, छन्द ने वारतां कणी तरे नी होवा चइये, जणी की बजू ध्यान ती ने औशान ती विचार करयो जाय।'

(ख) 'उज्जैन गया ने दहापचोल ना घाट पे हापड़िया ने धोती पसाड़ी ने होणा रूपा रा टीन्ना काड़्या। बांधी मगर मुआ में आया तो जलेबी खादी। जलेबी खादी ने बाईसा नो हवेली देखी। कतरी माटी रे दादा के जी को एक-एक खाँबा एक दो लाख को वेगा तो आखी हवेली एक मोर की तो वेगीज।'

(ग) चतरभुज माखो। आपने यो नाम सुन्यो है? आप इकासे कदी मिल्या हो? नी मिल्या? अभी तक नी मिल्या? तो फिर समजीलो के आप अबी पैदाज नी हुआ।

या बुरो मानने की बात नी है। बाहेर का बड़ा-बड़ा आदमी हुणखे देखणे सुणणे की इच्छा रखे ने आप घर का बड़ा लाग हुणसे नी मिलो। ने क्यों तो बी अपणा यांकाज है? या बात जरूर है यां को आदमी यांज नी पुजाय पण

हूँ कू आप चतरभुज का यां एक बखत जहने देखो । ने फिर आप हाथ जोड़ी ने पांव पड़ता हुआ धन्य धन्य केता बाहरे नी आओ तो म्हारो नाम बदली दीजो ।

अरे साहब ऊ आदमी हेज ऐसो । एसो सिम्पल है उका में के कई कूं । हूं वी भोत दिन तक उका बारा में सुणतो रियो । मिलणे की बात कूं वी आपकी तरेज टालता रियो । पण फिर तो तीन जणा म्हारे खेंचीन नां लइग्या । बड़ी तारीफ करी । हूं खिचतो चल्यो गयो ।...'

(घ) मालवी बोली में जो साहित्य है, वो बिखर्यो हुवो है, एक जगे नी है, इससे हमने अपना साहित्य की विशेषता का बेये उतनी भान नहीं होने पायो है । "मालव" लोग इस देश में भोत पुराना जमाना से है, इनको गणतन्त्र इतिहास में अपनो खास महत्व और पुरानीन रखे है । सिकन्दर का दांत खट्टा करने वाला मालवी लोग था, महाभारत और पुराण में मालवी लोगों की कई कथा-गाथा भरी हुई है, तब उनको भाषा, उनको साहित्य कई पिछड़्योज रियो होयेगा, या तो हुईज् नी सके, पर मालवा ने बड़ा उलट-पुलट, हवा का फेर-फार देख्या, ऊने अपनो साहित्य भी वे बचई नी सक्या, पर जिस अवन्ती भाषा के मालवा ने जन्म दियो और जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री आदि पनपी, फैली वा भाषा ज् आज मालवी का नाम से चली आवे है । जो उदा-हरण पीछे का मिले हैं उनमें और आज की मालवी में भोत फरक नी पड़्यो है । जितना फरक नगर और गाँव की बोली में दिखे है, उतनोज् पुरानी और नई में है । फिर बी इसमें वोज् ओज्, वोज् शक्ति और विचार के हृदय का साथ प्रकट करने की क्षमता है ।'

लोक-साहित्य-संकलन स्थानों की सूची

उज्जैन : गोंदिया, लेकोड़ा, टंकारिया, आसमपुरा, मंगरोला, नागदा, राजोदा, आलोट, बड़नगर, मेरुगढ़, सैला, ताजपुर, तराना, कायथा, धरमपुरी, पीपल्या, नरबल ।

शाजापुर : टांकनी, चांपनी, सिनगार चोरी, नेंणावद, आगर, सुसनैर, गोलवो, सुन्दरसी, नलखेड़ा, कनास्या, सारंगपुर, मक्सी, रणथंभौर, रिंगणोद, करेड़ी, बेरछा, देदंलो, कैसोनो, अवन्तीपुर, बड़ोदिया ।

देवास : टोंकखुर्द, नवेरी, भंवरासा, सोनकच्छ, अल्लाबदा, अकोदिया, अगलरी, बेलरो, नागदा, बालागढ़, दतानामताना, सिया, बिलावली, पालनगर, राजोदो, बालोदो ।

इन्दौर : औजलपुर, हरसौला, हातोद, करालिया, पिवलाय, गवली पलासिया, नयापुरा, राऊ, बेटमा, कालाकुंड, पाल्या, कुशलगढ़, गौतमपुरा, सावेर ।

धार : मांडू, मणासा, सितामऊ, प्रतापगढ़, नालधा ।

रतलाम : सैलाना ।

भेलसा : भाटनी, उदयपुर, ग्यारसपुर, सांधी बरेड़ ।

राजगढ़ : नरसिंहगढ़, कोटला ।

निमाड़ : खुजाहो, धरमपुरी, धाभनोद, खलघाट, मोरगड़ी, महेश्वर, मंडलेश्वर, चोली, मोहना, नावड़ा-ठावड़ी, ठीकरी, बरूफाटक, ऊन, बरूड़, भीलगाँव, राजपुर, खरगोन, धोर्‌या, अकबरपुरा ।

पं० राहुल सांकृत्यायन के पत्र की प्रतिलिपि

हैपीवेली

मसूरी, ५-११-५४

प्रिय परमारजी,

आवन्ती और मालवी काल-भेद से एक ही भाषा के दो नाम हैं ।...

आश्मकी का ही क्या और भी नाम उसमें छूटे हो सकते हैं । हो सकता है, आवन्ती और आश्मकी में कुछ अंतर रहा हो, पर आज के भेद को देखने से जान पड़ता है, वह बहुत कम रहा होगा । .....

आपका

राहुल

पर्यवेक्षण पत्र संख्या : १

ग्राम परिचय-पत्र

अध्ययनकर्ता का नाम

तिथि :

१. ग्राम का नाम । २. जिला । ३. प्रान्त ।
४. ग्राम का नाम किस वस्तु, जाति या व्यक्ति पर पड़ा ? (ग्राम में प्रचलित धारणा का उल्लेख करिये)
५. ग्राम में बसने वाली प्रमुख जातियाँ
६. ग्राम के प्रमुख उत्सव
७. मेले
८. क्या ग्राम में कोई पेड़, पशु, पक्षी या किसी चिन्ह की पूजा होती है ?
९. क्या ग्राम में कोई नाटक मंडली है जो भगत, ख्याल, नौटंकी या माच का आयोजन करती है ।
१०. प्रमुख गायकों, नाट्य अभिनेताओं के नाम
११. ग्राम के प्रमुख नृत्य (स्त्री एवं पुरुष नृत्य)
१२. क्या ग्राम में कोई घटना हुई थी ? प्रकाश डालिये
१३. ग्राम के कुछ पढ़े लिखों के नाम
१४. ग्राम में पढ़े लिखे किस दिशा से आते हैं ? किसलिये आते है ?
१५. ग्राम के प्रमुख उद्योग धन्धे

पर्यवेक्षण पत्र संख्या : २

लोक-साहित्य

क्षेत्र— जिला— प्रान्त—

अध्ययनकर्ता का नाम—

द्रष्टव्य :—(१) लोक-साहित्य के अन्तर्गत गाँव में प्रचलित लोक गीत, लोक कथाएँ, लोकोक्तियाँ एवं अन्य मौखिक साहित्य आते हैं ।

(२) संकलनकर्ता लिपिबद्ध करते समय अपनी ओर से शब्दों में परिवर्तन न करे । जैसा सुने वैसा ही लिखे । जो शब्द समझ में न आये उसे पूछे, पर संतोषप्रद उत्तर न मिलने पर भी अपनी ओर से कोई हेर-फेर न करें ।

(३) जिससे जो सामग्री प्राप्त करें उनका नाम, पता, जाति और सामग्री के प्रयोग आदि की जानकारी पत्र के अन्त में लिखें।

(४) प्रत्येक संकलनकर्ता कम से कम दो गीत, दो कथाएँ या दो दर्जन लोकोक्तियाँ संकलित करे।

(५) पत्र में स्थान न होने पर अन्य पत्र का प्रयोग करें।

पर्यवेक्षण पत्र संख्या : ३

भाषा

पर्यवेक्षण क्षेत्र— जिला— प्रान्त—

पर्यवेक्षक—

लिखित गद्य-खंड का पर्यवेक्षण कर क्षेत्र की भाषा अथवा बोली में अन्तर करिये :—

सन्ध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले से ही फर्श बिछा रक्खा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के-तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। हाँ, वह स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ जरा दूर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था, तब दबे हुए सलाम से उनका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरवयुक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहाँ भी पंचायत शुरू हुई। फर्श की एक-एक अंगुल जमीन भर गई। पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वे ही लोग पधारे थे जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई तावड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुँआ निकलता था या चिलमों के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुण्ड के झुण्ड जमा हो गये थे।

अनूदित गद्य-खंड में से निम्नलिखित जानकारी भरिये :—

	वचन		हिन्दी में प्रयुक्त रूप	विवरण
	एक वचन	बहु वचन		
सर्वनाम				
विशेषण				
क्रियाएँ				
(भूतकालीन)				
(भविष्यकालीन)				
(वर्तमानकालीन)				

प्रत्यय	लक्षणीय प्रवृत्तियाँ

पर्यवेक्षण पत्र संख्या ४

परम्परा से प्रचलित धार्मिक, अनुष्ठानिक एवं सामाजिक
आकृतियाँ और प्रतीक चिन्ह

पर्यवेक्षण क्षेत्र — जिला— प्रान्त —

संकलनकर्ता का नाम :

आकृति अथवा प्रतीक का रेखांकन	अंकित करने का अवसर	विवरण

आकृति तथा प्रतीक-निर्माण के लिये प्रयुक्त सामग्री का विवरण :

पर्यवेक्षण पत्र संख्या ५

आभूषण एवं वेशभूषा

पर्यवेक्षण क्षेत्र— जिला— प्रान्त—

पर्यवेक्षक :

आभूषण धारण करने का स्थान	आभूषण का नाम	आकृति का रेखांकन	विवरण

वेशभूषा

१. पुरुष-वस्त्र के नाम :—

२. स्त्री-वस्त्र के नाम :—

पर्यवेक्षण पत्र संख्या ६

गुदनाकृतियाँ

पर्यवेक्षण क्षेत्र— जिला— प्रान्त—

गुदना धारण करने वाले का नाम : स्त्री, पुरुष : जाति

पर्यवेक्षणकर्ता :

क्रम संख्या	स्थान : अंग का नाम	आकृति का रेखांकन	आकृति का प्रचलित नाम	विशेष

द्रष्टव्य : पत्र के पृष्ठ का प्रयोग भी किया जा सकता है।

पर्यवेक्षण पत्र संख्या ६

गुदनाकृतियाँ

पर्यवेक्षण क्षेत्र— जिला— प्रान्त—

गुदना धारण करने वाले का नाम : स्त्री, पुरुष : जाति

पर्यवेक्षणकर्ता :

क्रम संख्या	स्थान : अंग का नाम	आकृति का रेखांकन	आकृति का प्रचलित नाम	विशेष

द्रष्टव्य : पत्र के पृष्ठ का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

सहायक ग्रन्थ सूची

हिन्दी

१. कविता कौमुदी (पाँचवाँ भाग), पं० रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग, सं० १९८६

२. राजस्थानी भाषा, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, उदयपुर, १९४९

३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९४४

४. हिन्दी साहित्य का आदि काल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पटना, १९५२

५. नाथ सम्प्रदाय, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद, १९५०

६. हिन्दी काव्य-धारा, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५

७. पुरातत्व निबन्धावली, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९२७

८. आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें, राहुल सांकृत्यायन, पटना, १९५३

९. भारतीय लोक-साहित्य, श्याम परमार, दिल्ली, १९५४

१०. मालवी लोकगीत, श्याम परमार, इन्दौर, २००९

११. मालवी और उसका साहित्य, श्याम परमार, दिल्ली, १९५४

१२. मालवा की लोक कथाएँ, श्याम परमार, दिल्ली, १९५४

१३. मालव जनपद और उसका क्षेत्र विस्तार, सूर्यनारायण व्यास, मालव लोक-साहित्य, उज्जैन, १९५४

१४. राजस्थान रा दूहा, नरोत्तम स्वामी, १९३५

१५. गोरखबानी, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, इलाहाबाद, सं० २००३

१६. उत्तर भारत की संत परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, सं० २००८

१७. हमारे प्राचीन लोकोत्सव, मन्मथराय, १९५३

१८. धरती गाती है, देवेन्द्र सत्यार्थी, दिल्ली

१९. बाजत आवे ढोल, देवेन्द्र सत्यार्थी, दिल्ली
२०. मालवा में युगान्तर, डॉ० रघुवीरसिंह, इन्दौर
२१. गुरुज्ञान गुटका, गुमानन्द महाराज, रतलाम, सं० १९९२
२२. तत्वज्ञान गुटका, केशवानन्द महाराज, रतलाम, सं० १९९२
२३. नित्यानन्द विलास, नित्यानन्द महाराज, रतलाम, सं० १९९४
२४. सागर का इतिहास, गणेशदत्त इन्द्र, सागर, १९५१
२५. हिन्दी शब्द सागर, (ना० प्र० सभा)
२६. मालवी कहावतें, रतनलाल मेहता, उदयपुर
२७. पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ, व्रजविलास श्रीवास्तव, दिल्ली, १९५५
२८. हिमालय की लोक कथाएँ, ई० एस० ओकले, तारादत्त, इलाहाबाद, १९५६
२९. प्रगतिवाद, शिवदानसिंह चौहान
३०. प्राचीनमुद्रा (अनु) राखालदास वंद्योपाध्याय, ना०प्र०स०, सं० १९८१
३१. छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय, श्यामचरण दुबे, १९४०
३२. सुहागगीत, विद्यावती कोकिल, प्रयाग, १९५३
३३. मानव, विन्ध्यवासिनी देवी, पटना, १९५४
३४. ढोला मारूरा दूहा, ना० प्र० सभा, सं० १९९१
३५. राजस्थान के लोकगीत (दो भाग), कलकत्ता
३६. संत सिंगाजी, सुकुमार पगारे, खण्डवा, १९४६
३७. जीवन विहार, काका कालेलकर, बम्बई, १९४७
३८. राजस्थानी लोकगीत, पारीक, प्रयाग, सं० १९९७
३९. निमाड़ी लोकगीत, रामनारायण उपाध्याय, जबलपुर, १९४९
४०. प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय, पटना
४१. हुएनसांग का भारत भ्रमण, अनु० ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश'
४२. हमारा ग्राम साहित्य, रामनरेश त्रिपाठी प्रयाग, १९४०
४३. ग्राम साहित्य, (भाग तीसरा) रामनरेश त्रिपाठी, दिल्ली
४४. ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, डॉ० सत्येन्द्र, आगरा, १९४९
४५. बीजक कबीर, इलाहाबाद, १९५४
४६. पृथिवीपुत्र, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली, १९४९
४७. भोजपुरी ग्रामगीत भाग २) कृष्णदेव उपाध्याय ,प्रयाग सं० २०००
४८. मेवाड़ की कहावतें, लक्ष्मीलाल जोशी, उदयपुर
४९. बालमुकुन्द गुरु तथा कालूराम उस्ताद के छपित मांचों की प्रतियाँ जिनकी सूची यथास्थान दी गई है।

मराठी

१. अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री गीतें, कमलाबाई देशपांडे, पुणें, १९४८
२. साहित्याचें मूलधन, कालेलकर व चोरघडे
३. लोक साहित्यांच लेणे, मालती दांडेकर, सतारा, १९५३
४. स्त्री गीतें (दो भाग), सानेगुरू
५. सावित्री नें गाणें, पार्वतीबाई गोखले
६. स्त्री गीत रत्नाकर, पार्वतीबाई गोखले
७. रुक्मणी स्वयंबर, एकनाथ
८. ज्ञानेश्वरी
९. महाराष्ट्र सारस्वत, भावे
१०. महाराष्ट्र शब्दकोष, पूना, १९३१

संस्कृत-पाली

१. ऋग्वेद
२. ब्रह्मसंहिता
३. महाभारत
४. नाट्यशास्त्र
५. थेरी गाथा
६. काव्य मीमांसा
७. कथा सरित्सागर

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

१. अजन्ता, अगस्त १९५२, जनवरी १९५४, जून, १९५५।
२. अवन्तिका, अगस्त, १९५३।
३. आजकल, लोक कथा अंक, १९५४।
४. आलोचना, जुलाई १९५२।
५. कल्पना, फरवरी, १९५१, ५३, मई, १९५१।
६. जनपद (हिन्दी जनपद परिषद का प्रत्येक अंक)।
७. दक्षिण भारत, जनवरी १९५४।
८. नई धारा, अप्रैल, १९५५।
९. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १७, अंक ३ तथा भाग १८, अंक १-२।
१०. पाटल, मार्च १९५४

११. प्रेरणा, अक्टूबर, १९५४

१२. राजस्थान (रा० रि० सो०, कलकत्ता) सं० १९९२ के अंक ।

१३. राजस्थान भारती, बीकानेर, ५१, ५२, और ५३ के अंक ।

१४. लोकवार्ता (टीकमगढ़), प्रत्येक अंक ।

१५. लोककला (उदयपुर),सभी अंक ।

१६. विशाल भारत, फरवरी, १९२९ ।

१७. विक्रम (मासिक), उज्जैन, श्रावण, २००७, वैशाख, २००९, माघ, २९१० ।

१८. विन्ध्यभूमि, मार्च १९५४ तथा लोकसंस्कृति अंक, अगस्त, १९५५ ।

१९. वाणी (खरगोन, निमाड़) मई-जून, १९५३ ।

२०. वीणा, जून १९५० तथा पौष २०१२ ।

२१. सम्मेलन पत्रिका (लोकसंस्कृति अंक), २०१० ।

२२. हंस, फरवरी, १९२९, सितम्बर, १९४०, सितम्बर १९४३ ।

२३. हिन्दुस्तान साप्ताहिक (लोक साहित्यांक) २ मई १९५४ ।

२४. जागरण, नई दुनिया, नवप्रभात (इन्दौर के दैनिक), मध्यभारत सन्देश (लश्कर) में समय-समय प्रकाशित हुई सामग्री ।

मराठी

१. सत्यकथा (मासिक), अक्टूबर, १९५२ ।

२. प्रसाद (मासिक), अप्रैल १९५२ ।

३. सह्याद्रि (मासिक), खण्ड ३७, अंक १ ।

रिपोर्टस् (हिन्दी)

१. मालव लोक साहित्य परिषद, उज्जैन द्वारा प्रस्तुत निमाड़ पर्यवेक्षण रिपोर्ट, १९५३ ।

२. प्रतिभा-निकेतन, उज्जैन द्वारा प्रस्तुत लोकोड़ा सर्वे रिपोर्ट, १९५२ ।

ENGLISH.

1. A memoir of the C. I. including Malwa and adjoining Provinces, two volumes; Malcolm, London, 1824.

2. The Sanskrit Drama, A. B. Keith, 1948.

3. Annals and Antiquities of Rajasthan, Tod, Oxford, 1920.

4. A study of Orissan Folklore, Kunjbehari Das, Vishva-Bharti, 1953.

5. American Folklore (Pocket Book); Edited by B. A. Botkin, 1950.

6. Chember's Twentieth Century Dictionary, 1946.

7. Dictionary of World Literature, Shiple.

8. Encyclopedia of Social Sciences.

9. Encyclopedia of Religion & Ethics, Pastings.

10. Encyclopedia Britanica (14th Edition)

11. Folk Songs of Southern India; C. E. Gover, 1872.

12. Folk Songs of Chattishgarh, Elwin, Oxford U. Press.

13. Folk tales of Mahakoshal, ,, ,, ,,

14. Pindusta n Standard, Puja Annual, 1952.

15. Illusion and Reality, Christopher Caudwell, Indian Addition, 1947.

16. Imperial Garetees of India, Central India, 1908.

17. Jungle Tribes of Malwa, C. E. Luard, 1909.

18. Japanese Peasant Songs, John F. Arby.

19. Linguistic Survey of India, G. A. Grierson, 1885.

20. Meet my people, Devendra Satyarthi, 1952.

21. Oxford classical Dictionary, 1826.

22. Ocean of Story, Penser.

23. Prehistoric Ancient and Hindu India, R. D. Benerjee.

24. Aborigintal Tribes of Central provinces, Hislop, 1866.

25. Report on the causes of Central India Agency, 1931.

26. The Hand Book of Folkore, P. S. Burne, 1914.

27. The Golden Bough, Frazer, London, 1932.

28. The Pighlands of Central India, Foreryth, 1989.

JOURNALS & REPORTS

G. R. Pradhan; Folk songs fron Malwa, the Journal of the department of Sociology, Bombay; Vol. VII and XI.

Shyam Parmar; 'Garba Festival in Malwa & Gujarat' Bharat Jyoti, November 24, 1947, Bombay.
'Basant Puja' BJ Jan. 1947.
'Peasant Folk Songs'; BJ Dec. 5, 1948.
'Folk Songs of Savan in Malwa' Amrit Bajar Patrika (Allahabad) Oct. 1950.
'Sanja Puja' Hindustan Standard (Delhi) Dec. 7, 1952.
Socio-Economic Survey of Bagh Caves, Pratibha-Niketan, Ujjain, 1953.